हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक

[संयुक्ताङ्क]

भाग २५ जनवरी-दिसम्बर
अङ्क १–४ १९६४

प्रधान सम्पादक
बालकृष्ण राव

प्रबन्ध सम्पादक
विद्या भास्कर

सहायक सम्पादक
डॉ० सत्यव्रत सिन्हा

मूल्य संयुक्तांक १०·०० रु०

वार्षिक १० रुपये

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

अनुक्रम

●

हिन्दी-समालोचना के विकास में एक नवीन एवं उपेक्षित अध्याय

• विजयकुमार शुक्ल

सरस्वती के प्रकाशन (सन् १९००) के पश्चात् हिन्दी समालोचना के क्षेत्र में अनेक विकास की अवस्थाएँ परिलक्षित हुयीं। भारतेन्दु-युग में जो भी समालोचना का रूप था, वह मात्र प्रस्तावित रूप था। सरस्वती के प्रथम वर्ष के सम्पादक-मण्डल में थे श्री जगन्नाथदास, श्री श्यामसुन्दरदास, श्री राधाकृष्ण दास, श्री कार्तिकेय प्रसाद एवं श्री किशोरीलाल। उक्त नामों में 'सरस्वती' के द्वारा समालोचना को गति देने के निमित्त श्री श्यामसुन्दरदास का नाम ही उल्लेखनीय है। वर्षभर बाद एकमात्र श्री श्यामसुन्दरदास ही सम्पादक भी रह गये थे। सन् १९०३ में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी सम्पादक हुए। द्विवेदी जी, सम्पादक होने के बाद से ही समस्त लेखकों एवं कवियों के लिये उपलब्धि बन गये और उनको ही केन्द्रीय बिंदु स्वीकार करके साहित्य में रचना-प्रवृत्ति बढ़ी और साथ ही समीक्षा के क्षेत्र में भी चेतना आयी।

समालोचना शुक्ल जी के पूर्व अत्यन्त सीमित रूप में ही रही। कहने का आशय यह कि वह अपनी परिभाषा में निर्दिष्ट होकर विस्तृत न हो पायी। लाला भगवानदीन सन् (१८६६-१९३०) शुद्ध टीकाकार ही बने रहे, मात्र भावार्थ एवं सन्दर्भ में ही परिमित रहे। उनके द्वारा इतना अवश्य हुआ कि प्राचीन अग्राह्य कवियों को उन्होंने पाठक एवं ग्राहक दिये। पं० कृष्णबिहारी मिश्र (सन् १८६५-१९५९) 'देव-बिहारी' में प० पद्मसिंह शर्मा (सन् १८७६-१९३२) 'बिहारी सतसई' में देव और बिहारी की क्रमशः श्रेष्ठता संस्थापन के संदर्भ में 'निर्णयात्मक' समीक्षा का रूप प्रतिष्ठित किया। उक्त दोनों में तुलनात्मक अध्ययन-प्रवृत्ति की प्रधानता है जिसके कारण समालोचना को एक नयी दिशा मिली। क्रमशः समालोचना-गुण मूलतः प्रकारों में संविभाजित होकर विकसित हुआ। व्याख्यात्मक, सैद्धान्तिक, निर्णयात्मक समीक्षा जो एक व्यावहारिक मूर्त्त रूप मिला।

मिश्रबन्धुओं ने वृत्त-संकलन का प्रबन्ध 'मिश्रबंधु विनोद' चार जिल्दों में प्रस्तुत किया और 'हिन्दी नव-रत्न' उनके द्वारा प्रस्तुत मान्य कवियों के निर्णयात्मक एवं शास्त्रीय संदर्भ में व्याख्यात्मक समीक्षा प्रधान मात्र परिचय-संकलन है जो तत्कालीन परिस्थितियों की दृष्टि से उचित है। समालोचना की स्थिति तभी बोधगम्य हो सकती थी जब आलोच्यवस्तु-सम्बन्धी मान स्थिर हों। मिश्रबन्धुओं द्वारा मान स्थिर नहीं हो पाया और न शास्त्रीय विवेचन ही। इसी संदर्भ में आचार्य शुक्ल कहते हैं कि "मिश्रबन्धुओं की अपेक्षा पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र

साहित्यिक आलोचना के कहीं श्रेष्ठ अधिकारी कहे जा सकते हैं। मिश्र जी ने जो कुछ कहा है, शास्त्रीय विवेचन के साथ कहा है।" इस प्रकार इस समय तक समालोचना अपने गुण-रूप में विकास की दिशाएँ मात्र खोज रही थी।

समीक्षा में गद्य-पद्य के सैद्धान्तिक-विवेचन की आवश्यकता का अनुभव अध्येता के रूप में डॉ० श्यामसुन्दरदास (सन् १८७५-१९४५) ने किया। उन्होंने स्फुट रूप से निबंधों के माध्यम से पाश्चात्य सैद्धान्तिक मान-मतों का परिचय कराया। समय-समय पर और बाद में सन् १९२२ में उनका 'साहित्यालोचन' नामक शास्त्रीय समीक्षा का सैद्धान्तिक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। यह ग्रंथ साहित्य की समस्त विधाओं के सिद्धान्तों को प्रस्तुत कर सका और समालोचना के व्यवहार पक्ष को परिपुष्ट करने में आधार बना। यह ग्रन्थ सैद्धान्तिक-समीक्षा का प्रबन्ध रूप भी कहा जाता है लेकिन है यह मात्र विधाओं के अध्ययन की इकाइयों की माला मात्र। दूसरे शब्दों में सैद्धान्तिक समीक्षा का प्रबन्धाभास मात्र है। डॉ० श्यामसुन्दरदास कृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य', साहित्य इतिहास का प्रबन्ध रूप है। बाबू पदुमलाल बख्शी (सन् १८९४) जो सरस्वती के (सन् १९२०-२७) सम्पादक भी रहे, ने 'हिन्दी-साहित्य विमर्ष' (सन् १९२३) एवं 'विश्व-साहित्य' (सन् १९२४) लिखा जिनमें पाश्चात्य काव्य-समीक्षा-पद्धति का विवेचन ही अभीष्ट रहा। उक्त दोनों कृतियाँ स्फुट निबंधों के संकलन हैं जो बख्शी जी द्वारा समय-समय पर लिखे गये थे।

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी कालिदास की समालोचना (सन् १९०१), कालिदास और उनकी कविता (सन् १९२०), समालोचना समुच्चय (सन् १९२८), विचार-विमर्श (सन् १९३१) आदि में समालोचना-तत्व[१] विकसित किया लेकिन उसके स्वरूप-विकास में उनका विशेष महत्व नहीं। द्विवेदी जी का वस्तुतः महत्व गद्य-भाषा स्वरूप के परिमार्जन[२] में ही है। वे साहित्य-समाज के लिये केन्द्रीय व्यक्ति सरस्वती के माध्यम से बने।

उपर्युक्त अध्ययन का निष्कर्ष हुआ कि समालोचना में गुण का प्रकार विकसित हुआ। आलोच्य को केन्द्रीय-भूमि पर रखकर समालोचना का अभ्यास किया गया। व्याख्या के अभाव में तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति के संदर्भ में प० कृष्णबिहारी मिश्र एवं प० पद्मसिंह शर्मा ने निर्णयात्मक का स्वरूप-बोध कराया लेकिन 'निर्णय' सांगोपांग अध्ययन-क्रम के अभाव में निराधार ही रहा। तुलना में श्रेष्ठता सिद्धि समालोचना में आग्रह बनकर एकांगी है और समालोचक की मनोनुकूलता का परिचायक है।

निबंध-विद्या में समस्त ज्ञान-विज्ञान विषयक सामग्री का सहज संयोजन होता है—समालोचना भी निबंधों में प्रस्तुत हुई विषय-गुण-रूप में। समालोचना निबंध में राजनीति, अर्थ-शास्त्र, चिकित्साशास्त्र की भाँति एक विषय मात्र थी। निबन्ध की सीमा में परिसीमित होने के कारण समालोचना की गुणात्मकता (Qualitativity) में वृद्धि अवश्य हुई, किन्तु उसका द्विवेदी-युग में प्रबन्ध-रूपात्मक विकास नहीं हो सका। द्विवेदी-युग के रचनात्मक वैभव में एवं इतिवृत्त के विकास के सन्दर्भ में समालोचना-प्रबंध (Epic Criticism) के विकास के अभाव पर आश्चर्य उत्पन्न होता है। समालोचना हुई लेकिन रचना वस्तु-निर्माण के अनुरूप स्वरूप-विकास नहीं हुआ। मेरे इस कथन पर आविलम्ब आचार्य शुक्ल का नाम आ

जाना चाहिये। किन्तु पहले हमें समालोचना का प्रस्तुत काल-विभाजन[३] भी देख लेना चाहिये—

(१) समालोचना का प्रवर्तन-काल — (भारतेन्दु-युग)
(२) समालोचना का संवर्धन काल — (द्विवेदी-युग)
(३) समालोचना का विकास-काल — (शुक्ल-युग)
(४) समालोचना का प्रसार-काल — (शुक्लोत्तर-युग)

डॉ० वेंकट शर्मा के उपर्युक्त काल-विभाजन को डॉ० नगेन्द्र[४] ने समर्थन दिया है। इस काल-विभाजन के अध्ययन-संदर्भ में ही आचार्य शुक्ल की स्थिति का अध्ययन करना उचित होगा। इसमें कहीं भी विवाद नहीं कि भारतेन्दु-युग आधुनिक-युग की प्रायः समस्त गद्य-पद्य की विधाओं का 'प्रवर्तनकाल' है। यहाँ इसे स्पष्ट कर देना उचित होगा कि भारतेन्दु-युग निस्सन्देह ब्रजभाषा-काव्य-धारा के अतिरिक्त खड़ीबोली गद्य-पद्य की विधाओं का प्रस्तावित रूप था। इसमें भी शंका नहीं की जा सकती कि द्विवेदी-युग 'संवर्धन काल' की दिशाओं का सूचक है और उसमें आचार्य शुक्ल के माध्यम से समस्त विकास की स्थितियाँ विद्यमान हैं। डॉ० वेंकट शर्मा ने 'द्विवेदी-युग का समय केवल उनके सम्पादन-काल (सन् १९०१-२०) को ही विशेषतः माना है। यहाँ कहना यथेष्ट होगा कि द्विवेदी-युग का समय-निर्धारण उनके सम्पादक-पद मात्र के सत्रह वर्षों को आधार मानकर नहीं किया जा सकता। आचार्य द्विवेदी जब सन् १९०३ में सम्पादक हुए तो उन्हें औपन्यासिक जासूसी, ऐयारी, तिलस्मी प्रवृत्ति से मुक्ति लेने के लिये और अनेक वर्षों तक संघर्ष करना पड़ा। तब कहीं प्रेमचन्द (१६ में) ने सामाजिक आदर्शवादी (इतिवृत्त के परिप्रेक्ष्य में) उपन्यास लिखना आरंभ किया। द्विवेदी जी के अनेक वर्षों के प्रयत्न का परिणाम था—गुप्त जी कृत 'भारत-भारती' और हरिऔधकृत' 'प्रिय प्रवास'। काव्य एवं कथा-साहित्य के अतिरिक्त अन्य विधाओं में प्रवृत्ति को 'द्विवेदी जी मोड़ दे सके सन् १९१३ में, जबकि, प्रियप्रवास प्रकाशित हुआ। समालोचना के क्षेत्र में सन् १९१३ में 'मिश्रबन्धुविनोद' के प्रकाशन के बाद ही द्विवेदी-युगीन समालोचना को विकासमूलक संवर्धन की दिशाएँ मिलीं। डॉ० वेंकट शर्मा आचार्य शुक्ल के प्रलोभन को संवरण न कर सके और उन्हें 'युग-बोधक व्यक्तित्व' का रूप देने के निमित्त अन्य प्रवृत्तियों की ओर ध्यान न दे, इतिहास-समय एवं युग-प्रवृत्ति की ओर भी उन्होंने अपनी दृष्टि-दोष का परिचय दिया है। आचार्य शुक्ल तो द्विवेदी-युग के शीर्षस्थ समालोचक हैं जिनमें समस्त समालोचना के गुण केन्द्रीय-रूप पा गये हैं। आचार्य शुक्ल की काव्यगत मान्यताओं की पृष्ठभूमि द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तमूलक आदर्शवादी व्यावहारिक काव्य-रचनाओं पर निर्भर है। द्विवेदी-युग की प्रवृत्तियाँ आचार्य शुक्ल के माध्यम से सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति पाती है, इसलिये मेरी सम्मति में द्विवेदी-युग से अलग तटस्थ रूप देकर 'शुक्ल-युग' की मान्यता निर्मूल है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि द्विवेदी-युगीन समालोचना प्रवृत्ति की परिसमाप्ति आचार्य शुक्ल द्वारा ही होती है। इसका स्पष्ट विवेचन आचार्य शुक्ल के संदर्भ में किया जायगा। मेरी सम्मति में समालोचना का काल-विभाजन इस प्रकार ही सम्भव है—

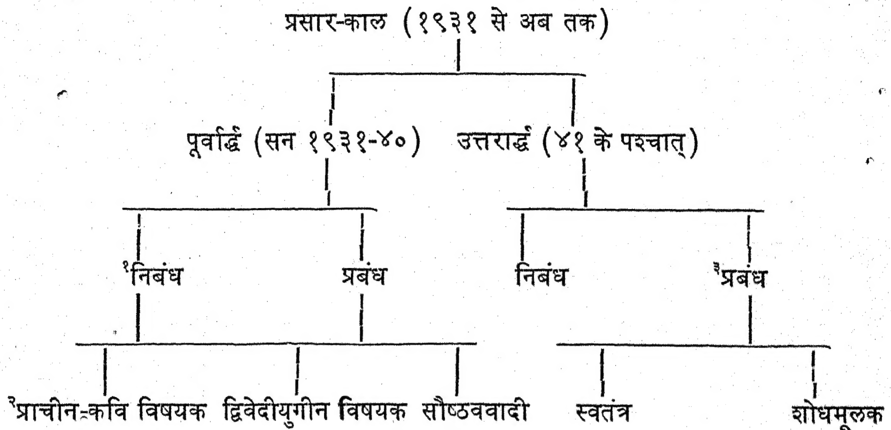
१. प्रस्तावित या प्रवर्तन-काल — (भारतेन्दु-युग)
२. संवर्धन-काल एवं विकासकाल — (द्विवेदी-युग)
३. प्रसार-काल—१ (पूर्वार्द्ध) — (बीसवीं शताब्दी का चतुर्थ दशक सन् १९३१ से)
२. (उत्तरार्द्ध) — (बीसवीं शताब्दी का पंचम-दशक सन् १९४१ से)

आचार्य शुक्ल समालोचना के विकास-काल के सर्वश्रेष्ठ समालोचक हैं। उनके द्वारा समालोचनातथ्य का व्यावहारिक विकास निबंधों में, भूमिकाओं में, इतिहास के सन्दर्भ में यत्र-तत्र इसी प्रकार यथोचित स्थानों में हुआ। आचार्य शुक्ल हिन्दी के प्रथम समालोचक हैं जिन्होंने काव्यगत भाव स्थिर करने के निमित्त अपने युग-प्रवृत्तिमूलक (द्विवेदी-युगीन) आदर्शवाद के सन्दर्भ में सामाजिक अभिव्यक्तिमूलक लोकसंग्रह भावना की प्रतिष्ठा समालोचना में की। इस 'मान' की प्रतिष्ठा के लिये उन्होंने सैद्धान्तिक निबंध लिखे (कतिपय-चिन्तामणि एवं रस मीमांसा में संकलित हैं) एवं 'भूमिकाओं' में ('तुलसी ग्रंथावली', 'जायसी ग्रंथावली', 'भ्रमरगीत सार' की) उन्होंने व्यावहारिक रूप भी दिये। ये भूमिकाएँ भी समालोचना की स्फुट-मुक्तक शैली कही जायँगी। इनमें उसके प्रतिपादित सिद्धान्तों के संदर्भ में हुए व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक एवं ऐतिहासिक विवेचन द्वारा समीक्षा का व्यावहारिक दृष्टान्त-मूलक आदर्श प्रस्तुत हुआ। यह कहना अनुचित न होगा कि आचार्य शुक्ल में सैद्धान्तिकता है, आलोच्य-वस्तु-रूप को उपस्थित करने के लिये व्याख्यात्मकता है और चूँकि काव्यगत दार्शनिक चिन्तन की सैद्धान्तिक गरिमा है इसलिये उनके व्यवहार में सजगता का प्रतिफल है—निर्णयात्मकता। मैं समझता हूँ कि समालोचना को आचार्य शुक्ल ने जितना पारिभाषिक विस्तार एवं अर्थ-बोध अपनी स्थापनाओं के सन्दर्भ में दिया है, शायद उनके पूर्व के किसी समालोचक ने नहीं दिया है। सैद्धान्तिक व्याख्यात्मक एवं निर्णयात्मक समालोचना के ये प्रकार-विशेष आचार्य शुक्ल में एकाकार एवं केन्द्रीभूत होकर प्रस्तुत हुए हैं। उनमें तीनों गुण एक दूसरे के अनुपूरक हैं। निरूपण से यह स्पष्ट होता है कि उनके द्वारा गुण व्यापक हुआ लेकिन वस्तु निबधों में भूमिकाओं में या इतिहास के वृत्त-संकलन-संदर्भ में एक सुनिश्चित प्रारूप नहीं पा सका। उनमें समालोचना है लेकिन वस्तु-शिल्प नहीं। उनका इतिहास समालोचना का प्रवंध नहीं है। उनके इतिहास में समालोचना न हो तो भी इतिहास-वस्तु को, जो भी है, उतने को क्षति न पहुँचेगी। इस प्रकार आचार्य शुक्ल गुण एवं धर्म में शुद्धतः समालोचक हैं।

आचार्य शुक्ल ने इतिहास में 'समालोचना के विकास' के अन्तर्गत लिखा है कि 'साधनाओं एवं कलाओं का तांता'[५] लग गया। बस यहीं से प्रसार काल का पूर्वार्द्ध बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक से शुरू हो जाता है। आचार्य शुक्ल ने मान्यताएँ स्थिर कीं समालोचना की लेकिन समालोचना की कसौटी के लिए क्या किया? उन्होंने आदर्शवादी काव्य-सिद्धान्त तो प्रतिपादित किये लेकिन समालोचना को शास्त्रीय रूप से वस्तोन्मुख बनाने की दृष्टि से क्या किया? डॉ० श्यामसुन्दरदास ने विधाओं के शास्त्रीय रूप दिये, लेकिन उनमें निहित आत्मगत गुण-विवेचन

की दार्शनिकता नहीं है। आचार्य शुक्ल से अध्येता पाता है कि काव्य ऐसा होना चाहिए या ऐसा ही काव्य आदर्शवादी हो सकता है जो साधारणीकरण प्रधान हो, जिसमें रागात्मिका वृत्ति हो, प्रकृति-चित्रण हो, जीवन का दार्शनिक-विवेचन हो और सर्वप्रधान गुण-लोकसंग्रहमूलक भावना की प्रधानता हो। उक्त काव्यमूलक तत्व वैचारिक रूप से उन्हें द्विवेदी-युग की प्रवृत्ति से ही मिले। समालोचना में समालोचक का क्या स्वरूप हो और समालोचनादर्श कैसा हो, यह उनमें नहीं है। उनका समालोचनादर्श मात्र काव्यगत सम्बन्धी अपनी रुचियों में केन्द्रित है। इसका कारण भी था—वह यह कि उन्होंने समालोचना-प्रबन्ध (Epic cirticism) नहीं लिखा। यदि वे समालोचना-प्रबन्ध लिखते तो समालोचनाओं से सम्बन्धित विभिन्न मान्यताओं के संदर्भ में अपने समालोचक की स्थिति भी बताते। उनकी टकराहट दार्शनिकों, चिन्तकों एवं विचारकों से है क्योंकि वे विचारक थे; और अपनी विचार-धारणा की प्रतिकूलता ही में कृती-रचनाकार के सर्वथा विपरीत होते यथा अनुकूलता में समर्थन देते हुए दिखते हैं। उनकी समालोचना में उनकी अपनी काव्यगत मान्यताओं की कसौटी के अनुरूप कृति या कृती के गुण-दोष-का विवेचन है। उनका समालोचक दार्शनिक या चिन्तक है।

उपर्युक्त कथन का आशय यही है कि आचार्य शुक्ल एवं उनके पूर्व के समालोचक वस्तु-विकास के अभाववश केवल स्वयं की उद्भूत मान्यताओं में पाश्चात्य या परम्परागत भारतीय काव्य-शास्त्र या नाट्य-शास्त्र की स्फुट व्याख्या में प्राचीन कवियों पर (केवल निराधार) श्रेष्ठता या लघुता के सिद्ध करने में निबन्ध की सीमाओं में ही निबद्ध रह आये। 'सम्बद्ध विचार तथा विषयवाली व्यापक रचना' जिसे हम प्रबंध कहेंगे, आचार्य शुक्ल के माध्यम से भी समालोचना में विकसित नहीं हुआ। प्रश्न यही है कि सूर, तुलसी, जायसी तथा सूर के अध्ययन में प्रबन्धात्मकता क्यों नहीं है? आचार्य शुक्ल काव्य में प्रबन्ध के आग्रही हुए और जीवन के सांगोपांग अध्ययन के लिये काव्य में प्रबंध-संदर्भ में लोक संग्रह-मूलकता की आवश्यकता को उन्होंने अनिवार्य कहा लेकिन समालोचना को प्रबन्ध-संदर्भ में रखकर सांगोपांग अध्ययन की प्रवृत्ति की आवश्यकता को अनिवार्य क्यों नहीं माना? काव्य में वे प्रबंध का जब आग्रह रखते हैं तो आज का अध्येता उनकी इस मान्यता के संदर्भ में आश्चर्य करता है कि उनके समीक्षादर्श में प्रबन्ध-स्वरूप क्यों नहीं आया? समालोचना को आचार्य शुक्ल ने दार्शनिकता दी, मनोवैज्ञानिक संदर्भ दिया लेकिन वस्तु-शिल्प में (काव्य के लिये प्रबन्ध का आग्रह करते हुए भी) सांगोपांग अध्ययन की दृष्टि नहीं दी। बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक में 'सम्बद्ध विचार तथा विषयवाली व्यापक' समालोचना का उद्घाटन हुआ। यहीं से प्रसार-काल का आरम्भ होता है। इस प्रकार प्रसार-काल दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध। यदि डॉ० वेंकट शर्मा की तरह विभाजन माना जायगा तो युग-विभाजन में एक प्रवृत्ति के दो प्रधान व्यक्तियों के नाम पर दो युग बन जायँगे। आचार्य शुक्ल को द्विवेदीयुग प्रवृत्ति की समालोचना में सैद्धान्तिक प्रतिपादक एवं व्याख्याता के रूप में देखना चाहिए। प्रसार-काल का समय सन् १९३१ से रखना अनुचित न होगा। इसके पूर्व ही आचार्य शुक्ल की अधिकांश कृतियों का प्रकाशन हुआ और जो द्विवेदी-युग प्रवृत्ति प्रधान समालोचनाएँ सन् १९३१ के बाद भी निबंध या प्रबंध रूप में प्रकाशित हुईं, उन्हें प्रसार-काल में ही रख लेना अनुचित न होगा। प्रसार-काल मेरे अनुसार इस प्रकार होगा—



१. प्रसार-काल के पूर्वार्द्ध तक समालोचनाओं में निबन्ध का लेखन यथावत् होता आया, उदाहरणार्थ पण्डित नन्ददुलारे बाजपेयी अभी तक निबन्ध के माध्यम से समालोचना-गुण का विकास करते आ रहे हैं।

२. प्रसार-काल की पूर्वार्द्ध की रचनाओं में प्रबंध (?) के अन्तर्गत प्राचीन कवियों के अध्ययन में प० कृष्णशंकर शुक्ल कृत 'केशव की काव्य-कला' डॉ० द्विवेदी कृत 'कबीर' उल्लेख्य हैं। प्रसार-काल में द्विवेदी-युगीन विषयक साहित्यिक समालोचना में प्रबन्धत्व के स्वरूप का विकास स्वर्गीय पण्डित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' कृत महाकवि हरिऔध (सन् १९३४) एवं गुप्त जी की काव्य-धारा (सन् १९३७) से होता है। इसी प्रकार प्रसार-काल की पूर्वार्द्ध की समालोचनाओं में सौष्ठववादी समालोचना-प्रबंध के रूप में डॉ० नगेन्द्र कृत 'सुमित्रानन्दन पंत' को स्थान दिया जाना चाहिये।

३. प्रसार-काल के उत्तरार्द्ध में जो सन् १९४० के बाद प्रकाशित हुए, समालोचना-प्रबंध रूप में स्वतंत्र समीक्षा का लेखन भी सम्पन्न हुआ—जैसे डॉ० सत्येन्द्र कृत गुप्तजी की काव्य-कला या डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी कृत महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास एवं गुप्तजी का कारुण्यधारा डॉ० नगेन्द्र कृत साकेत एक अध्ययन एवं सियारामशरण गुप्त, विशम्भर मनिक कृत सुमित्रानन्दन पंत, गंगा प्रसाद पाण्डेय कृत महाप्राण निराला आदि। प्रसार-काल में समालोचना-प्रबंध में ऐतिहासिक एवं शोधमूलक अध्ययन की प्रवृत्ति आयी। डॉ० बड़थ्वाल के शोध के पश्चात् डॉ० रामकुमार वर्मा कृत कबीर का रहस्यवाद, डॉ० वार्ष्णेय कृत आधुनिक हिन्दी साहित्य (सन् १८५०-१९००), डॉ० श्रीकृष्णलाल कृत आधुनिक हिन्दी साहित्य (सन् १९००-२५), डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा कृत सूरदास तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त कृत तुलसीदास जैसे सैकड़ों शोधग्रंथों एवं इतिहास-ग्रंथों को स्थान दिया जाना चाहिए।

डॉ० वेंकट शर्मा कृत समालोचना के विकास विषयक शोध-ग्रंथ की विशेषताओं का उद्घाटन करते हुए डॉ० नगेन्द्र के विचार द्रष्टव्य हैं—"लेखक का अध्ययन व्यापक है। ×× अपने

मूल विषय से सम्बद्ध वाङमय का उसने प्रत्यक्ष ज्ञानार्जन किया है और छोटे-बड़े आलोचकों की पृथक् आलोचना अत्यन्त सहृदयता के साथ, सँभालकर की है। आधारभूत सिद्धान्तों के विवेचन तथा हिन्दी-आलोचना के विकास के प्रत्येक चरण की प्रमुख प्रवृत्तियों और उनके प्रतिनिधि लेखकों के विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन के कारण यह ग्रन्थ निश्चय ही आधुनिक आलोचना का सर्वांगपूर्ण और प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत करता है।"[६]

उपर्युक्त प्रस्तावना से उद्धरण लेने की आवश्यकता इसलिये भी हुई कि प्रतिनिधि लेखकों की कृतियों पर हुई समालोचना के संदर्भ में कहे गये (जाने वाले) विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन प्रधान इस प्रामाणिक ग्रन्थ में जो समालोचन विषयक सामग्री,[७] प्रस्तुत होना चाहिए डॉ० वेंकट शर्मा ने नहीं प्रस्तुत की है। मेरे विषय से सम्बन्धित आवश्यक सामग्री की मात्र सूचना समीक्षाग्रन्थ-सूची में दी गई है, वह भी गलत है। समीक्षा ग्रंथसूची में उल्लिखित होने के कारण यह भ्रम उत्पन्न होता है कि शोधकर्त्ता ने उक्त उल्लिखित पुस्तकों पर कार्य किया होगा।

समालोचना के प्रबन्ध रूप देने का कार्य सर्वप्रथम स्वर्गीय गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' (सन् १८९९-१९५९) द्वारा सम्पन्न हुआ। 'महाकवि हरिऔध' हिन्दी समालोचना का पहला समालोचना-प्रबंध है। इसे तृतीय-संस्करण में लेखक द्वारा 'चरितमूलक-समालोचना' कहा गया है। हरिऔध जी के जीवन के परिप्रेक्ष्य में उनके साहित्य की व्याख्यात्मक समालोचना गिरीश जी ने की है और जीवन तथा समग्र साहित्य को एक सूत्र में आबद्ध करके उसे संगठनात्मक ठोस रूप प्रदान किया है। सम्भवतः स्व० गिरीश जी ने सर्वप्रथम हिन्दी-समालोचना में उद्‌घोषणा की 'यदि क्षुद्र मनोविकारग्रस्त समालोचनाओं का बल घटे'[८] तो निश्चय ही समालोचना का स्तर गिरने से बच सकता है और रचनात्मक गतिविधियों में उत्पन्न अवरोध समाप्त हो सकता है। स्व० गिरीश जी को समीक्षा के क्षेत्र में अनुत्तरदायित्वपूर्ण स्तर का अनुभव हुआ होगा या हो सकता है कि रचनाकारों की प्रवृत्तियों के संदर्भ में समालोचक-पद पर अधिष्ठित होकर वे सहानुभूति प्राप्त करना चाहते रहे हों। जो हो, यह उद्‌घोषणा रचनाकारों के उत्तरदायित्व की दिशा का उतना बोध नहीं देता जितना कि उस समय के समालोचकों से भिड़ने या निपटने का बोध देता है। यह उद्‌घोषणा एक ऐसा स्वर है जो समालोचना को एक नया पारिभाषिक-संदर्भ देता है। गिरीश जी ने स्पष्ट किया है (देखिए, उद्धरण पृष्ठ संख्या ११-क्रमांक-१) कि वे इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु लोगों से मिले। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे गिरीश जी की "जर्नलिस्टिक योग्यता"[९] कहा है।

स्व० गिरीश जी कृत 'महाकवि हरिऔध' का लेखन-समय दिसम्बर १९३२ है और प्रकाशन समय सन् १९३४ है। तृतीय-संस्करण के फ्लैप में कहा गया है—"महाकवि हरिऔध आधुनिक हिन्दी साहित्य की उन कृतियों में एक आदरणीय स्थान का अधिकारी है, जिसने हिन्दी समीक्षा को भी एक नवीन दिशा दी है—एक नया मोड़ दिया है। हिन्दी में चरितमूलकसमीक्षा का श्रीगणेश करनेवाले इस ग्रंथ में इसके लेखक ने स्वर्गीय हरिऔध जी के जीवन के प्रकाश में उनकी रचनाओं को देखा और उनके व्यक्तित्व तथा उनकी कृतियों के बीच अभिन्नता स्थापित करके उनके काव्य-प्रेमियों को अध्ययन एवं रसास्वादन के लिये एक नयी दृष्टि दी है।" इस सन्दर्भ में यह भी उल्लिखित है कि स्वर्गीय गिरीश जी ने अपने इस कार्य को ऐतिहासिक प्रयत्न ही

माना है। यही कारण है, कि शोध-ग्रन्थों में मूल्यांकन के अभाव में उन्होंने शोधकर्ताओं की भर्त्सना की है।[१०] यही नहीं समालोचना के इतिहासज्ञों को ज्ञात नहीं कि उन्होंने 'प्रेमपत्र'[११] नामक समालोचना-पत्र सन् १९३३ में प्रकाशित किया और इसके वे सम्पादक हुए। 'महाकवि हरिऔध' जीवित कवियों पर लिखा गया प्रथम जीवनी-समालोचना प्रबंध है। जीवित कवियों पर इस ग्रन्थ के पूर्व पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित स्फुट आलोचनात्मक निबंध ही लिखे गये थे। इस ग्रन्थ से पूर्व प्राचीन कवियों पर भी स्फुट निबन्धों में लिखने का मात्र अभ्यास हो रहा था। इस प्रकार यह हिन्दी-समालोचना का प्रथम ग्रन्थ है जिसमें जीवन के सन्दर्भ में समग्र साहित्य-वस्तु का अध्ययन सम्पन्न हुआ। इसकी अपनी कतिपय विशेषताएं हैं जो इसके पूर्व प्रकाशित कृतियों में नहीं है। वे विशेषताएँ हैं—सम्पूर्ण प्रबंध में इकाई (Unity), अध्ययन में केन्द्रीयता (Centeralization), जिनके कारण कि समग्र अध्ययन में एकरूपता (Uniformity) है। सांगोपांग अध्ययन की प्रवृत्ति का आरम्भ इसी कृति से होता है। पण्डित कृष्णशंकर शुक्ल कृत 'कविवर रत्नाकर' का प्रकाशन महाकवि हरिऔध के बाद सन् १९३५ में हुआ। शुक्ल जी कृत केशव की काव्य-कला का प्रकाशन-समय सन् १९३३ है। शुक्ल जी की दोनों कृतियों में प्रबंधाभास मात्र है, वस्तु शिल्प का अभाव है एवं सांगोपांग अध्ययन में एकरूपता नहीं है। दोनों ग्रंथों की विषय-सूची में विशेष अन्तर नहीं है। विषय-सूची में बिखराव है, स्फुटता है। रस, छंद अलंकार, भाव-व्यंजना की मात्र शास्त्रीय पद्धति का व्यवहार है। प्रत्येक विषय एक-दूसरे से असम्बद्ध हैं। महाकवि हरिऔध जीवित कवियों का प्रथम समीक्षा ग्रंथ (सन् १९३४) तो है ही, केवल उसे 'केशव की काव्य कला' (सन् १९३३) की विषय-सूची की दृष्टि से देखना चाहिए। कविवर रत्नाकर (सन् १९३५), जीवित कवियों पर महाकवि हरिऔध के पश्चात् प्रकाशित हुआ। महाकवि हरिऔध के माध्यम से हिन्दी-समालोचना निम्न प्रकार की विषय-सूची में प्रथम बार प्रस्तुत हुआ—

प्रथम खण्ड —"(१) हरिऔध जी की लोकप्रियता (२) हरिऔध के स्वभाव की विशेषताएँ (३) हरिऔध के व्यक्तित्व पर वाह्य प्रभाव।"

द्वितीय खण्ड —"(१) हरिऔध की श्रीराधाकृष्ण-विषयक प्रारम्भिक धारणाएँ (२) उपन्यासकार के रूप में हरिऔध (३) प्रियप्रवास के श्रीकृष्ण (४) प्रियप्रवास में नारीमित्र (५) प्रियप्रवास में प्रकृति का चित्रण (६) प्रियप्रवास का सन्देश (७) रस कलस में हरिऔध की नारी-सौंदर्य-कल्पना (८) रस-कलश में हरिऔध की काव्य-कला के साधन।"

तृतीय खण्ड—"(१) प्रियप्रवास की भाषा (२) प्रियप्रवास में ईश्वर भावना (३) प्रियप्रवास के श्रीकृष्ण (४) प्रियप्रवास में नारी-मित्र (५) प्रियप्रवास में प्रकृति का चित्रण (६) प्रियप्रवास का सन्देश (७) प्रियप्रवास में हरिऔध की काव्य-कला के साधन।"

चतुर्थ खण्ड—"(१) हरिऔध की काव्य-कला के क्षेत्र में एक नवीन-विकास (२) चौपदों की भाषा, छन्द और शैली (३) चौपदों में ईश्वर, मनुष्य तथा प्रकृति के मित्र

(४) चौपदों में हरिऔधजी की काव्य-कला के साधन (५) हरिऔध जी का विवेचनात्मक गद्य।"

पंचम खण्ड—"(१) हिन्दी साहित्य में ईश्वर-भावना और हरिऔध (२) हिन्दी साहित्य में मानव-चित्र और हरिऔध (३) हिन्दी साहित्य में प्रकृति-चित्रण और हरिऔध (४) शेष।"

महाकवि हरिऔध की विषय-सूची के सांगोपांग स्वरूप में ठोसपन है। वहीं पर यह भी स्पष्ट करना अनुचित न होगा कि प० कृष्णशंकर शुक्ल कृत दोनों कृतियों की विषय-सूची में वस्तु-शिल्प नहीं है और समालोचक द्वारा एक कृती रचनाकार पर लिखे गये भिन्न-भिन्न स्फुट निबंधों के संकलन मात्र हैं[१२]—जैसे आचार्य नंददुलारे बाजपेयी कृत 'जयशंकर प्रसाद'।

महाकवि हरिऔध की 'विषय-सूची' के देखने से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ सम्पूर्ण 'हिन्दी-समालोचना' के प्रबन्ध-शिल्प को तो प्रथम बार निर्विवाद रूप से प्रस्तुत करता ही है, साथ ही आज होने वाले सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्वमूलक शोध-ग्रन्थों की भी पीठिका है तथा शोध-स्वरूप का भी प्रथम वैज्ञानिक रूप है। महाकवि हरिऔध में प्रथम बार एक कृती रचनाकार की कृतियों का अध्ययन किया गया है, साथ ही उसके व्यक्तित्व के पार्श्वों से कृतित्व-पक्ष[१३] को भी उद्घाटित किया गया है। समस्त व्यक्तित्व के अध्ययन में प्रामाणिक जीवनी ही गिरीश जी को अनुसंधानक रूप देती है। अनुसंधान की प्रवृत्ति की प्रधानता से सम्पन्न होने के कारण ही वे अंतिम निर्णय पर पहुँचने में प्रयत्न शून्य दिखते हैं। इसीलिये वे सतर्क होकर 'सहायक-सामग्री'[१४] के प्रस्तुतीकरण की बात कहते हैं। समकालीन साहित्यकार पर निर्णय देना स्वयं को विवादग्रस्त स्थितियों में डालना होगा, यह समझकर वे कदाचित् निर्णय देकर भी अन्तिम निर्णय की घोषणा नहीं करते। 'सहायक-सामग्री' के संदर्भ में हरिऔध जी का प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत करना गिरीश जी की शोध-वृत्ति का परिचायक है।

प्रसार-काल पूर्वार्द्ध के अन्तर्गत गिरीश जी ने प्रबंध-समालोचना की द्वितीय कृति द्विवेदी-युगीन कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-कृतियों पर लिखी, जैसा कहा जा चुका है कि इसका प्रकाशन सन् १९३७ में हुआ है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे 'निर्णयात्मक समीक्षा-ग्रन्थ' कहा है। यह कृति छात्र हितकारी पुस्तक-माला से प्रकाशित हुई और इसी संस्था ने श्रीरामनाथ सुमन की 'प्रसाद की काव्य साधना' बाद में प्रकाशित की। 'महाकवि हरिऔध' से भिन्न इसका अस्तित्व है। आचार्य शुक्ल के अनुसार "प० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' कृत गुप्त जी की काव्य-धारा में बाबू मैथिलीशरण गुप्त की समस्त कृतियों का सूक्ष्म एवं मार्मिक उद्घाटन हुआ।"[१५] 'गुप्त-जी की काव्य-धारा' में निष्कर्ष एवं निर्णय है। अपने समालोचना-स्वरूप में 'महाकवि हरिऔध' से अधिक आगे है। इसमें समालोचक की जागरूकता है और अपने पथ अविष्कृत करने के लिये सर्वप्रथम समालोचक अपने सम्मुख विभिन्न परिस्थितियाँ रखता है और तब कृतियों का अध्ययन प्रस्तुत करता है। स्व० गिरीश जी ने महाकवि हरिऔध का लेखन 'कलात्मक-आलोचना के क्षेत्र में एक प्रयोग' कहा है और गुप्तजी की काव्य-धारा पर भी अपने मत को स्पष्ट किया है। "आज से २०।२१ वर्षों पूर्व मैंने 'गुप्त जी की काव्यधारा' लिखकर वैज्ञानिक आलोचना के क्षेत्र में एक प्रयोग किया था।"[१६] इस समीक्षा-ग्रन्थ में गिरीश जी ने

गुप्त जी के प्रति पूर्ण आदर भाव रखकर भी उनके साहित्य के प्रति अनासक्त भाव से उसकी समीक्षा की है। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं--"वैज्ञानिक समालोचना में आलोच्य के प्रति पूर्ण आदर का भाव रखकर भी आलोचक अनासक्त भाव से अपना भिन्न मत प्रकट करता है। मेरा यह दावा रहा है और उसे आज मैं यहाँ स्पष्टतापूर्वक व्यक्त कर रहा हूँ कि 'गुप्त जी की काव्यधारा' में जो कुछ लिखा गया है, अत्यन्त अनासक्त एवं तटस्थ भाव से लिखा गया है।"[१७]

'गुप्त जी की काव्यधारा' गिरीश जी का एक विस्तृत समीक्षा-ग्रंथ है जिसमें मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित प्रायः सभी काव्य-ग्रंथों की समालोचना की गयी है। पुस्तक को अध्यायों में बाँटा गया है और इसमें कुल चालीस अध्याय हैं। प्रारंभ में 'समीक्षा का सूत्र' अध्याय है जिसमें लेखक ने यह बतलाने का प्रयास किया है कि गुप्त जी के काव्य-ग्रंथों में समीक्षा करने की ओर उनकी रुचि किस तरह विकसित होती गयी। पुस्तक के आरम्भ में (गुप्त जी का प्रथम साक्षात्कार) उनके साहित्य के सम्बन्ध में विभिन्न अवसरों पर होने वाले विचार-विमर्शों का उल्लेख किया गया है। इसके बाद के अध्यायों में क्रमशः गुप्त जी की रचनाओं की प्रवृत्तियाँ, सामाजिक और साहित्यिक प्रकृतियों की घनिष्ठता, सामाजिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि तथा सामाजिक आदर्श आदि बातों का विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है। गुप्त जी की 'कल्पना और अनुभूति' का संगम-स्थल कौन सा है, इसका उल्लेख भी लेखक ने एक अध्याय में किया है। 'गुप्त जी समाज द्वारा निर्मित हैं, अथवा वे उसके निर्माता हैं' इसका विवेचन करते हुए गिरीशजी लिखते हैं--"अधिकांश में वे समाज के प्रचलित आदर्श के अधीन ही रहकर कार्य करते रह गये। ऐसी अवस्था में, जैसा कि पहले हम कह आये हैं, उन्हें समाज का निर्माता न कहकर उसकी उत्पत्ति ही कहेंगे।"[१८] इसके उपरान्त गिरीश जी ने गुप्त जी के काव्य-ग्रन्थों की विस्तृत समीक्षा की है।

उपर्युक्त विश्लेषण का तात्पर्य इतना ही है कि डॉ० वेंकट शर्मा एवं डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र जैसे शोधकर्ताओं ने समालोचना के बहिर्मुखी पक्ष मात्र को देखकर वस्तु-संकलन किया और युग-सन्दर्भों में विकसित समालोचना के विकास को नहीं देखा। यही कारण है कि उनके 'चरितमूलक समालोचना' के विवेचन में 'महाकवि हरिऔध' का उल्लेख तक नहीं है। डॉ० वेंकट शर्मा ने समालोचना का काल-विभाजन जिस प्रकार किया है, वह इतिहास-परिप्रेक्ष्य के अनुसार वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं है। मैं यह कह आया हूँ कि आज के प्रसार-काल में सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन की प्रवृत्ति के लिये हमें उसके अत्यन्त आरंभिक समय को भी देखना होगा। इसी दृष्टि से विकास-काल को मैंने द्विवेदी-युग के अन्तर्गत रखा है। आचार्य शुक्ल को द्विवेदी युग से अलग देखना उचित नहीं। मैं नहीं मानता कि 'प्रसार-काल की समालोचनाओं का मूल प्रेरक भी काव्य-साहित्य ही रहा है।' यहाँ मेरा कहना होगा कि प्रसार-काल के पूर्वार्द्ध से ही गद्य-पद्य की समस्त विधाओं पर समालोचकों की दृष्टि गयी थी और उत्तरार्द्ध तो काव्य को उतना नहीं जितना कि गद्य समालोचना को प्रभावित कर सकी। किसी भी गद्य या पद्य की विधा के साहित्य का इतिहास यदि लिखा जाय तो यह ध्यान रखना पड़ेगा कि सम्पूर्ण गद्य या पद्य की मूल प्रवृत्तियों से वह अलग तो नहीं है।

स्वर्गीय गिरीश जी प्रसार-काल के पूर्वार्द्ध के प्रथम समालोचक हैं जिन्होंने समालोचना

में प्रबन्धत्व की प्रथम रूपरेखा प्रस्तुत की एवं उनके ही द्वारा 'चरितमूलक-समीक्षा' या जीवनी समालोचना, कलात्मक एवं वैज्ञानिक समालोचना, निर्णयात्मक समालोचना तथा व्याख्यात्मक समालोचना आदि शब्दों का प्रयोग अपने समालोचना-सन्दर्भों में किया और पारिभाषिक दृष्टि से विकसित किया।

संदर्भ संकेत

१. "उक्त सभी 'सरस्वती' में विभिन्न तिथियों में प्रकाशित निबन्धों के संग्रह हैं।"—डॉ० वेंकट शर्मा, हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास, पृष्ठ २००।

२. "यद्यपि द्विवेदीजी ने बड़े-बड़े कवियों को लेकर गम्भीर साहित्य-समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया पर नयी निकली पुस्तकों की भाषा आदि की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा उपकार किया।"—आचार्य शुक्ल (इति०)

३. डॉ० वेंकट शर्मा, हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास, पृष्ठ १४०।

४. डॉ० वेंकट शर्मा, वही, प्रस्तावना।

५. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हि० सा० का इतिहास, पृष्ठ ६२४।

६. डॉ० वेंकट शर्मा, हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास, प्रस्तावना।

७. गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' (१) आलोचक प्रवर रामचंद्र शुक्ल, रामनारायण लाल इलाहाबाद। (२) गुप्त जी की काव्यधारा, छात्र हितकारी पुस्तकमाला, प्रयाग, १९३६। (३) महाकवि हरिऔध, रामनारायण लाल, इलाहाबाद १९३४।"—डॉ० वेंकट शर्मा, हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास, पृष्ठ ५१७।

१. आलोचक प्रवर रामचंद्र शुक्ल के स्थान पर समीक्षक प्रवर श्री रामचंद्र शुक्ल गिरीश जी का समालोचना प्रबंध है। शोधकर्त्ता द्वारा इसमें प्रकाशन-तिथि का उल्लेख नहीं।

२. गुप्त जी की काव्य-धारा सन् १९३७ में प्रकाशित हुई।

३. महाकवि हरिऔध का प्रथम प्रकाशन सन् १९३४ में अरुणोदय पब्लिशिंग हाउस, प्रयाग, द्वारा हुआ और द्वितीय संस्करण १९४६में रामनारायण लाल, इलाहाबाद में प्रकाशित हुआ। स्पष्ट है कि 'समीक्षाग्रंथ सूची में उल्लिखित कृतियों' के पढ़ने तक का श्रम नहीं किया गया है।

८. "कई वर्ष हुए, मैंने 'महाकवि हरिऔध' का लेखन-कार्य आरम्भ करने पर सोचा कि वर्तमान काल के अन्य कृती ग्रंथकारों की कृतियों का भी एक साधारण अध्ययन प्रस्तुत करने से सम्भवतः उन क्षुद्र मनोविकारग्रस्त समालोचनाओं का बल घटे, जो आजकल अनुत्तरदायित्व-पूर्ण लेखकों की लेखनी से प्रसूत होकर, हिन्दी-साहित्य के कलेवर को दूषित कर रही हैं। ईसी विचार से प्रेरित होकर मैंने प्रसाद जी, रत्नाकर जी, गुप्त जी, ठाकुर गोपालशरण सिंह तथा श्री रामनरेश त्रिपाठी के दर्शन किये।"--(गुप्तजी की काव्य-धारा, पृष्ठ ११, पंचम संस्करण।

९. 'विचार वितर्क', समीक्षकों की समीक्षा, पृष्ठ ३३, प्रथम संस्करण, सुषमा-साहित्य मंदिर, जबलपुर।

१०. "हिन्दी में चरितमूलक-समीक्षा का पहला ग्रंथ 'महाकवि हरिऔध', जिसका प्रणयन

मैंने सन् १९३२ में किया, सन् १९३४ में प्रकाशित हुआ। इस क्षेत्र में द्वितीय-ग्रंथ 'गुप्त जी की काव्यधारा' है जिसका सन् १९३७ के लगभग प्रकाशन हुआ। 'गुप्त जी की काव्यधारा' के बाद 'प्रसाद की काव्य-साधना' का प्रकाशन हुआ। इन तथ्यों को प्राप्त करने का कोई उद्योग न करके, हिन्दी के कोई-कोई समीक्षक जीवित कवियों से सम्बन्धित समीक्षा का श्रीगणेश 'प्रसाद जी की काव्य-साधना' से मानते हैं। बात यहीं तक नहीं है, हिन्दी में ऐसे विद्वान् भी हैं जो मेरे ग्रन्थ 'महाकवि हरिऔध' का लेखक प० नन्ददुलारे बाजपेयी घोषित करते हैं। जहाँ कुएँ ही में भाँग पड़ी है, वहाँ किस बात के लिए क्या कहा जाय!!"

११. "यह मासिक-पत्र अभी थोड़े ही समय से प्रकाशित होने लगा है किन्तु, अल्प-जीवन में ही आलोचना के क्षेत्र में इसने अपनी उपयोगिता प्रमाणित कर दी है। वर्तमान हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियों को ठीक दिशा में ले चलना ही इस पत्र का प्रधान उद्देश्य है। निकट भविष्य में यह पत्र अपनी निष्पक्ष शैली और सहानुभूतिपूर्ण विचार-धारा के सहारे अपने लिये एक महत्वपूर्ण स्थान बना लेगा।"—(अरुणोदय पब्लिशिंग हाउस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'प्रेम-पत्र' के लिये विज्ञापन, महाकवि हरिऔध के प्रथम संस्करण में प्रकाशित)।

१२. पंडित कृष्णशंकर शुक्ल की दो समालोचना-कृतियाँ उल्लेखनीय हैं—१. केशव की काव्य-कला २. कविवर रत्नाकर। दोनों का प्रकाशन क्रमशः संवत् १९९० (सन् १९३३ ई०) एवं संवत् १९९२ (सन् १९३५) में हुआ। उक्त दोनों का उपक्रमणिका भी देखना आवश्यक है। १—कवि का संक्षिप्त परिचय, २—ग्रंथ तथा टीकाकार, ३—भाव-व्यंजना, ४—वाह्य-चित्रण, ५—प्रबंध-रचना तथा चरित्र-चित्रण, ६—केशव के संवाद, ७—अलंकार, ८—भाषा, ९—रामचंद्रिका तथा संस्कृत ग्रंथ, १०—माध्यमिक सिद्धांत, ११—कुछ उद्वेगजनक बातें, १२—कविप्रिया तथा संस्कृत के आचार्य, १३—आचार्यत्व तथा पांडित्य, कविवर रत्नाकर: १—काव्य-भूमि, २—अभिव्यंजन शैली, ३—विभाव-व्यंजना, ४—भाव-व्यंजना, ५—व्यक्ति-भावना, ६—अलंकार, ७—भाषा, ८—उद्धवशतक, ९—गंगावतरण।

१३. इस ग्रंथ का उद्देश्य हरिऔध की जीवनी प्रस्तुत करना है, किन्तु एक कवि की जीवनी ही क्या, यदि वह उसके काव्य-विकास के स्वरूप और रहस्यों को उद्घाटित न करे। —महा० हरि० पृ० १९, प्र० सं०।

१४. "मैं यह अवश्य कहूँगा कि कवि के जीवन-काल में कोई अंतिम निर्णय नहीं हो सकता। वास्तव में किसी निर्णय पर पहुंचना मेरा लक्ष्य उतनी मात्रा में नहीं है, जितनी मात्रा में इस कार्य में सहायक कुछ सामग्री प्रस्तुत कर देना है,।"—म० ह०, पृष्ठ २० प्र० सं०।

१५. हिन्दी सा० का इतिहास, आचार्य शुक्ल, पृष्ठ ५६२।

१६. गुप्त जी की काव्य-धारा, पृष्ठ ३।

१७. वही, पृष्ठ ४।

१८. वही, पृष्ठ ७८।

हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत

• देवराज

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की एक छोटी सी कमेटी की बैठक में, एक प्रसिद्ध पंडित द्वारा संपादित मीमांसा की एक पुस्तक (शालिकनाथ की 'प्रकरण पंचिका') को लेकर प्रश्न उठा—पुस्तक का मूल्य कितना रखा जाय? एक सज्जन ने एक हिन्दी पुस्तक का उदाहरण पेश करके राय दी कि ज्यादा से ज्यादा १५ रुपये मूल्य रहे। लेकिन एक दर्शन के प्रोफेसर ने कहा—पुस्तक का मूल्य पच्चीस या तीस रुपये रखना चाहिए, हर हालत में पुस्तक की पाँच-सौ प्रतियाँ बिक ही जायँगी। कुछ वर्ष पहले प्रयाग के किताब महल ने धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' का प्रकाशन किया था। मूल्य तीस रुपया रखा गया था। इस समय वह संस्करण खत्म हो चुका है। हाल ही में आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी से 'हेवज्रतंत्र' (अंग्रेजी, दो भाग) निकला है जिसका मूल्य पाँच पौंड, पाँच शिलिंग है यानी लगभग पचहत्तर रुपये।

मीमांसा की उक्त पुस्तक के संपादन के लिए विद्वान् पंडित को तीन हज़ार रुपये दिये गये। प्रश्न है, संस्कृत की प्राचीन पुस्तकों का इतना महत्त्व क्यों समझा जाता है? प्रायः संस्कृत के शास्त्रीय विद्वानों में अपनी जानकारी का बड़ा गर्व रहता है। जैसा कि एक पंडित ने प्रस्तुत-लेखक से कहा, पुराने ग्रन्थों को पढ़ाने में उन लोगों को एक-एक पद का अर्थ स्पष्ट करना पड़ता है। मतलब यह कि संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों में कहीं एक पद का भी अनपेक्षित समावेश नहीं होता। परिभाषाओं पर टीका करते हुए टीकाकार अक्सर 'पदकृत्य' करते हैं, जिसका मतलब होता है परिभाषा के प्रत्येक पद की सार्थकता की व्याख्या।

पंडितों को शास्त्रीय संस्कृत ग्रन्थों की जानकारी का गर्व होता है, यह शायद उतने आश्चर्य की बात नहीं है। कहा जा सकता है कि संस्कृत के विद्वान् दकियानूसी किस्म के लोग होते हैं, जो परम्परा से चिपके रहना पसन्द करते हैं। लेकिन यहाँ एक दूसरी विचित्र चीज हमारे सामने आती है; योरप के सैकड़ों पंडितों ने जीवनव्यापी साधना द्वारा संस्कृत वाङ्मय के विभिन्न ग्रन्थों के अनुवाद, संपादन आदि किये हैं। यहाँ यह याद रखा जा सकता है कि गुलाम भारत के बुद्धि-जीवियों में आत्म-गौरव की भावना जाग्रत करने में विदेश के उन अनेक विद्वानों का विशेष हाथ था जिन्होंने भारतीय संस्कृति के महनीय तत्वों से परिचय करके, उनकी व्याख्या, प्रशंसा आदि शुरू की। पिछले डेढ़-पौने दो-सौ वर्षों में संस्कृत, पालि आदि के सैकड़ों ग्रन्थों का योरपीय भाषाओं में अनुवाद और प्रचार जहाँ एक ओर योरपीय मनीषा की गुणग्राहकता का प्रमाण है, वहाँ दूसरी ओर हमारी पुरानी संस्कृति की सप्राणता और महत्व का सबूत भी है।

ऊपर के वक्तव्यों का यह मतलब नहीं लगाना चाहिए कि सिर्फ भारतीय संस्कृति ने ही महत्वपूर्ण विचार व ग्रन्थ उत्पन्न किये। प्रसिद्ध जर्मन पंडित मैक्समूलर ने जहाँ एक ओर ऋग्वेद

का संपादन और भारतीय वाङ्मय के कई अंगों पर ग्रन्थ-लेखन किया है वहाँ काण्ट की 'क्रिटीक ऑव् प्योर रीज़न' का अनुवाद भी किया है। संस्कृत वाङमय के प्रसिद्ध इतिहासकार विण्टर नित्स ने संस्कृत के ललित साहित्य की प्रशंसा करते हुए भी दबे शब्दों में यह राय प्रकट कर दी है कि वह साहित्य यूनानी ललित साहित्य से हीनतर पड़ता है। मतलब यह कि योरप के जिन पंडितों ने संस्कृत वाङमय को लेकर बहुत-सा काम किया है वे स्वयं योरप की वैसी धरोहर के महत्व के प्रति उदासीन नहीं थे। संस्कृत के पंडितों को आज तक जैसा प्राचीन ग्रन्थों और उनसे संबंधित पांडित्य पर गर्व है, वैसा ही गर्व मध्य युग तक यूनानी तथा लैटिन वाङमय के ज्ञाताओं में होता था। यदि वहाँ आज यह गर्व अपने को नवीन की अवज्ञा में प्रकट नहीं करता—जैसा कि मध्ययुग तक होता था—तो इसका कारण यह है कि संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में, पिछली तीन-चार शताब्दियों के योरप की उपलब्धि प्राचीन लेखकों और विचारकों से किसी भी अंश में कम नहीं है। और कुछ क्षेत्रों में तो—जैसे विज्ञान, दर्शन और कथासाहित्य में—उनकी उपलब्धि प्राचीनों की तुलना में ज्यादा बढ़ी-चढ़ी जान पड़ती है। यों कहना चाहिए कि इधर के योरप की सबसे बड़ी उपलब्धि विभिन्न विज्ञानों और वैज्ञानिक-शोध का अभूतपूर्व प्रसार है। किन्तु विज्ञान के उदय से योरपीय संस्कृति में जिस नई प्राणवत्ता का प्रस्फुरण हुआ उसने वहाँ के जीवन के किसी भी पहलू को—व्यक्तिगत और सामाजिक, भौतिक और आत्मिक तथा नैतिक और सामाजिक—अछूता नहीं छोड़ा। पिछले तीन-चार सौ वर्षों में पश्चिमी देशों ने जैसी सर्वांगीण प्रगति की है वैसी अतीत के बहुत कम युगों में हो सकी थी—शायद कभी भी नहीं हुई थी।

इस सब के बावजूद योरपीय संस्कृति के नेता न सिर्फ यूनान के लेखकों और विचारकों का ही निरन्तर अध्ययन करते रहे हैं, बल्कि उन्होंने अपनी जिज्ञासा और शोध की परिधि में, विशाल एशिया की भी समस्त परम्पराओं को खींच लिया है। जहाँ विगत शताब्दी के योरपीय पंडित भारतीय वेदान्त पर मुग्ध थे, वहाँ इधर के दार्शनिक जिज्ञासु जटिल महायान के संप्रदायों और उनसे प्रभावित ज़ेन अथवा ध्यान-संप्रदाय का सतर्क अनुशीलन कर रहे हैं।

इस अनुशीलन की प्रेरक मनोवृत्ति सिर्फ ऐतिहासिक नहीं है। योरप के पंडितों ने पहले पालि-साहित्य में निबद्ध बौद्ध धर्म और दर्शन का विस्तृत अध्ययन किया, बाद में उनका ध्यान महायान संप्रदायों की ओर खिंचा। जापानी पंडित सुजुकी ने 'लंकावतार-सूत्र' का अनुवाद भी किया है और एक मोटी पोथी में उसका अलग से विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। इस समय श्री सुजुकी ज़ेन सम्प्रदाय के सबसे बड़े मर्मज्ञ माने जाते हैं; उनकी सम्मति में ज़ेन का मूल 'लंकावतारसूत्र' में है। अनेक पश्चिमी विद्वानों ने ज़ेन का मर्म समझने-समझाने का प्रयत्न किया है और यह प्रयत्न दिन-प्रतिदिन अधिक विशद और गहरा होता जा रहा है। ज़ेन के ये प्रेमी उसमें जीने लायक दृष्टि की खोज कर रहे हैं—उनकी रुचि केवल, या मुख्यतया भी, सांस्कृतिक इतिहासकारों की रुचि नहीं है।

इधर हम लोगों में हिन्दी का प्रेम बड़ी तेजी से बढ़ रहा है। फिर भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो कहते हैं 'अभी—हिन्दी में है ही क्या !' भले ही हमें यह सम्मति बुरी लगे, पर उसमें सचाई का काफी अंश है। हिन्दी की जो कुछ भी उपलब्धि है वह मुख्यत: ललित साहित्य के क्षेत्र से संबंधित है। सब प्रकार के शास्त्रीय साहित्य में हिन्दी के अधिकांश विद्वान् संस्कृत अथवा

अंग्रेजी साहित्य को उपजीव्य बना कर चलते हैं। संस्कृत और अंग्रेजी की जानकारी से वंचित हिन्दी विद्वान् शायद ही कोई महत्वपूर्ण चीज लिख पाते हों। जहाँ तक ललित साहित्य का प्रश्न है, उसके लेखक भी, छायावाद-युग के प्रारम्भ से, कुछ दूर तक संस्कृत कवियों विशेषतः कालिदास से प्रभावित होते रहे हैं और उससे ज्यादा मात्रा में अंग्रेजी तथा योरपीय साहित्य से। इसके साथ ही हमें सखेद यह स्वीकार करना पड़ेगा कि स्वयं हिन्दी वाङमय और हिन्दी साहित्य किसी भाषा के महत्वपूर्ण लेखकों के उपजीव्य नहीं हैं। स्वयं हिन्दी के महत्वपूर्ण लेखक भी अपने से पूर्व के साहित्य से कम ही प्रेरणा लेते हैं। इसके विपरीत हिन्दी का छोटा इतिहास प्रायः एक पीढ़ी के दूसरी, यानी विगत पीढ़ी के प्रति, विद्रोह का इतिहास है।

संस्कृत, अंग्रेजी और हिन्दी के इस अन्तर को हमें ठीक से समझ लेना चाहिए। बाल्मीकि, कालिदास, भवभूति और बाणभट्ट आदि से परिचित विद्वान् जैसी ठोस रसज्ञता का दावा करते हैं वैसा सूर, तुलसी आदि के ज्ञाता प्रायः नहीं कर पाते। हिन्दी के आलोचक प्रायः अंग्रेजी में कच्चे होते हैं और वे बँगला, मराठी आदि के उन विद्वान् समीक्षकों की तुलना में जो अंग्रेजी पर अच्छा अधिकार रखते हैं, प्रायः हीनताबुद्धि का अनुभव करते हैं। हिन्दी में ऐसे समीक्षक तो और भी कम हैं जो अंग्रेजी और संस्कृत दोनों का अच्छा ज्ञान रखते हों। इस दृष्टि से भी शुक्ल जी का वैदूष्य जितना व्यापक और गहरा था वैसा उनके बाद के समीक्षकों में प्रायः देखने को नहीं मिलता। संस्कृत-साहित्यशास्त्र पर भी जितने बढ़िया ग्रन्थ मराठी में मिल सकेंगे वैसे हिन्दी में कठिनता से ही मिलेंगे। श्री गणेश त्र्यंबक देशपांडे लिखित 'भारतीय साहित्य शास्त्र' (हिन्दी अनुवाद) संभवतः इस विषय का हिन्दी में सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। श्री देशपांडे के विवेचन, विषय-वस्तु के गहरे परिचय और अन्तर्दृष्टि के द्योतक हैं। इस दृष्टि से डॉ० नगेन्द्र और स्वर्गीय श्री विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि का कार्य अवश्य ही श्लाघनीय है, पर वह संस्कृत-साहित्यशास्त्र के ज्यादा गंभीर और समीक्षात्मक मंथन की भूमिका मात्र है। इस क्षेत्र में सम्भवतः पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ज्यादा बारीक काम कर सकते थे, पर उन्होंने अभी तक किया नहीं। डॉ० नगेन्द्र और विश्वेश्वर जी ने हमें संस्कृत-साहित्यशास्त्र का परिचय दिया है, उसे ठीक से उपजीव्य बनाते हुए नये चिन्तन में समाहित करना मौलिक विचारक प्रतिभाओं का काम होगा। मौलिक-चिन्तन की दृष्टि से शुक्ल जी के कुछ लेखों तथा निबंधों को छोड़कर हिन्दी में प्रायः कहीं भी ऐसा-कुछ नहीं लिखा गया है जिसका अनुवाद दूसरी भाषाओं के विद्वानों को सचमुच उपादेय जान-पड़े। आज के अधिकांश समीक्षक प्रायः योरपीय विचारों से प्रभावित रहते हैं, किन्तु यह प्रभावित होना अक्सर अनुयायी कोटि से आगे नहीं जा पाता। हिन्दी के साहित्यकार इलियट, सार्त्र आदि के समीक्षात्मक विचारों तथा जीवन-दर्शन से प्रभावित होते रहे हैं, लेकिन उनमें से शायद किसी ने भी यह सोचने का भी साहस नहीं किया कि वह स्वयं ऐसे विचार उत्सृष्ट करें जिनसे इलियट और सार्त्र की श्रेणी के लेखक थोड़ा-बहुत सीख सकें। यह देखकर आश्चर्य होता है कि विदेशी विचारकों के न्यूनाधिक सतही और अधूरे परिचय के बलपर उनकी उद्धरणी पर आधारित निबंध और पुस्तकें लिखने वाले समीक्षक, जिन्होंने अभी तक व्यवस्थित ऊहापोह के साथ अपने विचारों को पल्लवित करना नहीं सीखा है, हिन्दी में खासी ख्याति पा जाते हैं। स्वर्गीय श्री नलिन विलोचन शर्मा का 'इतिहास-दर्शन' जो हिन्दी पदावली के विकास की दृष्टि से निस्सन्देह महत्वपूर्ण है,

एक ऐसी ही रचना है। अंग्रेजी के वैलेक और वारेन जैसे अपेक्षाकृत मामूली प्रतिभा वाले लेखकों की साधारण कृतियों पर आधारित यह पुस्तक यदि अंग्रेजी में अनुवादित होकर उक्त लेखकों के पास पहुँचे तो वे चौवालीस करोड़ हिन्दुस्तानियों की राष्ट्रभाषा के संबंध में क्या धारणा बनायेंगे, यह सोचने की बात है।

यह दशा हिन्दी के समीक्षा-साहित्य की है, जो इधर थोड़ा-बहुत विकसित होता रहा है। इस स्थिति पर हमें ईमानदारी से और ठंडे दिल से विचार करना चाहिए। शास्त्रीय साहित्य की स्थिति तो इससे कहीं बदतर है। यह आश्चर्य की बात है कि संस्कृत का——और यूनान जैसे प्राचीन देशों का ——शास्त्रीय साहित्य आज भी हमें अपनी बौद्धिक जटिलता और गहराई से चकित करता एवं प्रेरणा देता है। मध्ययुग की हिन्दी में पुष्ट गद्य लिखने की परम्परा नहीं थी, उस समय प्रायः किसी भी देशी भाषा में महत्वपूर्ण शास्त्रीय साहित्य नहीं लिखा जा रहा था। रीतिवादी कवि पद्य में अलंकार शास्त्र लिखते थे और वहाँ वे प्रायः संस्कृत ग्रन्थों का अनुकरण करके संतुष्ट रहते थे। दर्शन आदि विषयों पर उक्त भाषाओं में ग्रन्थ-रचना की प्रथा थी ही नहीं और आज अभी तक इस देश के अपेक्षाकृत बड़े विद्वान् अंग्रेजी में ग्रन्थ-रचना करते हैं। संस्कृत साहित्य-विषयक शोध का प्रारम्भ और विकास मुख्यतः योरप में हुआ, किन्तु इधर उस तरह का ज्यादा काम भारतीय विद्वानों द्वारा अंग्रेजी में किया जा रहा है। इसके अनेक कारणों में एक यह भी है कि हिन्दीभाषी जनता के बीच वैसे शोध-साहित्य और विचार-साहित्य की माँग नहीं है। और इसका एक मतलब यह है कि देशी भाषाओं के पाठक और कुछ हद तक लेखक भी, जिनमें इस समय साहित्यिक-लेखकों की प्रधानता है, उच्च कोटि के शास्त्रीय और शोध-साहित्य के प्रणेताओं को विवेकपूर्ण आलोचना एवं प्रशंसा का प्रोत्साहन नहीं दे पाते। देशी भाषाओं में विमर्श तथा विवाद का विषय बनने वाले प्रश्नों और समस्याओं की संख्या थोड़ी ही रहती है और उन थोड़ी समस्याओं पर भी ज्यादा गहरे विचार की गुंजायश नहीं रहती। यह स्थिति उस आलोचना के क्षेत्र में भी है जो थोड़ी-बहुत प्रगतिशील दिखाई पड़ती है, शास्त्रीय साहित्य का क्षेत्र तो प्रायः सूना ही दीखता है। हिन्दी का ही उदाहरण लीजिए। ले-देकर दर्शन का एक पत्र 'दार्शनिक' निकलता है किन्तु उसकी खपत अखिल भारतीय-दर्शन-परिषद् के सदस्यों तक सीमित है। इन सदस्यों की संख्या सौ के आसपास ही होगी। हिन्दी के साहित्यिक लेखक संभवतः उक्त पत्र के अस्तित्व से भी परिचित नहीं हैं। पत्र ठीक से छप नहीं पाता और उसके संपादक अच्छे निबंध जुटाना कठिन पाते हैं। इससे मिलती-जुलती या कुछ बेहतर दशा, आलोचना-साहित्य की है। यदि पूछा जाय कि पिछले चार दशकों की हिन्दी आलोचना ने साहित्य से संबंधित कितने प्रश्नों पर कितना गहरा चिन्तन किया है, तो शायद थोड़ा भी संतोषप्रद उत्तर नहीं मिल सकेगा। इस अवधि में हिन्दी आलोचना क्रमशः छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नवीनतावाद के तंग दायरों में उत्साह के साथ उछल-कूद करती रही है, खेद की बात यह है कि इनमें से किसी भी वाद पर सच्चे अर्थ में क्लासिकल कही जा सकने वाली एक भी पुस्तक नहीं लिखी जा सकी है। शायद कुछ लोग हमारे इस वक्तव्य को अनुदार एवं अत्युक्तिपूर्ण कहना चाहेंगे। लेकिन बात वैसी नहीं है। यह वक्तव्य ज्यादा से ज्यादा मेरे अधैर्य का द्योतक हो सकता है। इस समय मेरे मन में इरविंग बैबिट की 'रूसो एण्ड रोमैण्टिसिज़्म', ल्यूकैक्स की 'स्टडीज इन योरोपियन

रियलिज़्म', राल्फ फाक्स की 'द नावेद ऐण्ड द पीपुल' तथा इलियट आदि के निबंध-संग्रह हैं जिनकी तुलना में हिन्दी के समीक्षा-ग्रन्थ निश्चय ही नहीं ठहर सकेंगे। बैबिट और इलियट की कृतियों में जितनी तरह के प्रश्नों से उलझने का प्रयत्न हुआ है, वैसा-कुछ हिन्दी में दिखाई देना अभी कई दशकों तक संभव नहीं दीखता। और इसका एक मतलब यह भी है कि यदि कोई कहीं भूल से ऐसे प्रश्न उठाने लगे, जो प्रचलित वादों की परिधि में नहीं आते, तो उन पर कहीं भी वाद-विवाद और चर्चा की संभावना दिखाई नहीं पड़ेगी।

स्थिति काफी नाज़ुक और शोचनीय है। इधर अनेक विचारशील लेखक उसका अहसास करने लगे हैं। भक्ति-विह्वल होकर राष्ट्र-भाषा के पक्ष में कुछ लिख देना और भाषण करना कठिन नहीं है, लेकिन सचमुच महत्वशाली चिन्तन और लेखन करना निश्चय ही कठिन कार्य है।

हम जानते हैं कि इस संबंध में हिन्दी के अनेक विद्वान् प्रस्तुत लेखक से कम चिन्तित नहीं हैं। कभी-कभी हमारे कतिपय लेखक इस बात को लेकर खीझते दिखाई पड़ते हैं कि हिन्दी के अधिकांश पाठक उन विचारों से कम परिचित और उनका विरोध करते दीखते हैं जो योरपीय आलोचना में प्रायः सर्वविदित और सर्वमान्य हो चुके हैं। ये लेखक बड़े उत्साह से और कभी-कभी गर्व से भी उन पश्चिमी विचारों का हिन्दी में अनुवाद करने लगते हैं। मेरी राय में हमारे लेखकों को इस तरह के प्रयत्न से अब विरत हो जाना चाहिए। श्री श्यामसुन्दरदास ने अपने समय के या उससे दो चार दशक पूर्व के पश्चिमी विचारों को लेकर जिस तरह के निबन्ध लिखे, अब, आज के पश्चिमी विचारों की अपेक्षा में, वैसे निबंध लिखना हमें शोभा नहीं देता। अब जरूरत इस बात की है कि हमारे महत्वपूर्ण लेखक स्वयं अपनी जीवन-दृष्टि और अपनी साहित्य-सम्बन्धी दृष्टि को पाने या कमाने की कोशिश करें, और इस मोह में पड़े बिना कि उनके विचार कहाँ तक पश्चिमी चिन्तन से मेल खाते या न खाते दिखायी पड़ते हैं, उन्हें ईमानदारी और शक्ति के साथ अपनी रचनाओं में प्रतिफलित या प्रतिष्ठित करें। अन्ततः पश्चिमी विचारों और दृष्टियों का कच्चा अनुकरण व अनुवाद न व्यक्तिगत रूप में ही और न राष्ट्रीय गौरव तथा अभिमान की दृष्टि से ही, हमारे लेखकों को शोभा देता है। अब समय आ गया है कि देश की राजनैतिक स्वतन्त्रता के बाद, हम विचारों के क्षेत्र में अपने को क्रमशः औपनिवेशिक मनोवृत्ति से मुक्त करें और यह मानकर चलें कि हम, एक समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा के उत्तराधिकारी होने के नाते, और इस नाते भी कि एशिया के राष्ट्रों के बीच योरपीय विचार-साहित्य से सबसे गहरा परिचय हम भारतीयों ने प्राप्त किया है, इस लायक हैं कि आत्म-विश्वास और जिम्मेदारी के साथ जीवन और जगत् के संबंध में निःशंक होकर सोच सकें। यदि आज पश्चिम के विचारक बौद्ध-दर्शन और उसके ध्यान सम्प्रदाय से प्रेरणा ले सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि हम, अपनी परम्परा से अपनी विच्छिन्नता घोषित किये बिना, यह महसूस न कर सकें कि हम आधुनिक हैं। अब हमारे बीच 'आधुनिकता', 'वैज्ञानिकता' आदि शब्द केवल नारों के रूप में प्रचलित और स्वीकृत नहीं रहने चाहिए, उनके पीछे जाकर हमें देखना चाहिए कि कहाँ तक ये चीजें एक समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा वाले देश की आत्मिक जरूरतों को पूरा करने की योग्यता रखती हैं। उस परम्परा के आलोक में इन विभावनों पर नई रोशनी डालना—उन्हें फिर से परिभाषित करना—भी हमारे चिन्तन के अनेक कामों में से एक होगा। किसी भी क्षेत्र में समस्याओं का गहरा परिचय पाने

के लिए तत्सम्बन्धी परम्परा की गहरी जानकारी आवश्यक होती है। वर्तमान भारतीयों के दुर्भाग्य से उनकी मूल्यवान् परम्परा एक ऐसी भाषा (संस्कृत) में रक्षित है जिसका समुचित परिचय लम्बी तपस्या माँगता है। फलतः साहित्य शास्त्र, दर्शन आदि के चिन्तन में उससे उपयुक्त प्रेरणा लेना हम कठिन पाते हैं। हमारे बहुत-से लेखक यह महसूस करना चाहते हैं कि वे आधुनिक योरप की परम्परा से सुपरिचित हैं, पर यह धारणा सही नहीं है। हिन्दी में बहुत से लेखक इधर अस्तित्ववाद का नाम लेने लगे हैं किंतु उनमें से शायद ही किसी ने सार्त्र, हेडेगर आदि के प्रमुख ग्रंथ (जैसे 'बीइंङ ऐण्ड नथिंग्नेस', 'एग्ज़िस्टेन्स एण्ड बीइङ्', आदि) पढ़े होंगे। हमारे गद्य-साहित्य के विशेष पुष्ट न बन पाने का एक प्रमुख कारण यह स्थिति है कि हमारे लेखक या विचारक किसी भी क्लासिकी परम्परा से---आधुनिक योरप के वैचारिक क्लासिज़्म से भी---सुपरिचित नहीं हो पाते। अधिकांश हिन्दी लेखकों में विदेशी रचनाकारों के नाम लेकर सामयिक वाहवाही पाने या रौब डालने की जितनी प्रवृत्ति रहती है उतनी यह चिंता नहीं कि दस-पाँच वर्ष गहरा और जिम्मेदार चिंतन करके कोई ठोस विचार या पुस्तक प्रस्तुत करें।

हमारे ललित-साहित्य के लेखकों में भी दृढ़ विचारतत्व की कमी उनके कृतित्व के सुसंघटित और सशक्त रूप में प्रस्तुत किये जाने में बाधक होती है। योरप में विचार-साहित्य और ललित-साहित्य अपनी प्रगति में प्रायः समानान्तर चलते हैं, वहाँ का सामाजिक-जीवन भी मूल्यों सम्बन्धी विघटन और परिवर्तन को प्रतिफलित करता रहता है। विशेषतः मध्यवर्ग का जीवन क्रमशः विचारगत परिवर्तनों को व्यावहारिक धरातल पर प्रतिफलित करने लगता है। इसके विपरीत हमारे देश में दर्शन आदि विचारों का क्षेत्र बहुत-कुछ सूना दिखायी देता है। हमारे मध्यवर्गीय जीवन पर अभी तक परम्परागत मान्यताओं और मूल्यों का शासन है। परम्परा का प्रभाव आवश्यक रूप में अहितकर या अप्रगति का सूचक नहीं होता, बशर्ते कि परम्परा को विवेक के साथ ग्रहण किया जाय। मूल्यों के विघटन की स्थिति, फिर चाहे वह कितनी ही आधुनिक क्यों न हो, श्लाघनीय चीज़ नहीं है। रचनात्मक चिन्तक और जिम्मेदार लेखक विघटन की स्थिति की चेतना जगाते हुए भी ऐसा प्रयत्न करते हैं कि परम्परा के महत्वपूर्ण मूल्यों को फिर से नये विश्लेषण और चिंतन द्वारा उपलब्ध किया जाय। हिन्दी के समीक्षक इतनी गहराई में न उतरते हुए लेखक से या तो योरपीय साहित्य के अनुकरण की माँग करते हैं, या फिर, विघटन की स्थिति को अनदेखा करते हुए, यह शिकायत करते हैं कि लेखक अपने देश के जीवन से प्रेरणा नहीं ले रहा है। पहली माँग करने वाले यह भूल जाते हैं कि विघटन की भारतीय चेतना स्वभावतः यहाँ की नैतिक-आध्यात्मिक परम्परा के सन्दर्भ में ही अपने को प्रकट करेगी और उसी सन्दर्भ में विघटन का समाधान भी खोजेगी। दूसरी माँग के समर्थक इस स्थिति की उपेक्षा करते हैं कि उक्त विघटन की अनुभूति एक विश्वव्यापी स्थिति है जिसका असर, बढ़ते हुए उद्योगीकरण के साथ, हमारे जीवन पर निरन्तर प्रसरित हो रहा है।

चिन्तकों द्वारा विघटन के बौद्धिक हेतुओं का विश्लेषण और प्रचार न हो सकने के कारण भारतीय साहित्यकार का काम ज्यादा कठिन और नाजुक बन जाता है। अधिकांश लेखक खुद भी अर्धशिक्षित रह जाते हैं, फलतः वे अपनी कृतियों को उपयुक्त चिन्तनात्मक (अर्थात् दृष्टि के द्वारा नियन्त्रित) दृढ़ता और एकता नहीं दे पाते। (यह कमी अज्ञेय जैसे प्रबुद्ध लेखक की रचनाओं

में भी पायी जाती है, उन रचनाओं में क्रमशः एक सुचिन्तित दृष्टि का प्रकाशन और विस्तार नहीं पाया जाता।) डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'क ख ग'—में प्रकाशित अपने विचारपूर्ण निबन्ध में लिखा है, "सामंजस्य के प्रसंग में पूरा महत्व दृष्टि का होता है। और अब समस्या लेखक की जीवन-दृष्टि की है, संस्कार और संवेदन के अन्तरंग क्षेत्रों की है, उसकी सर्जनात्मकता के विशिष्ट स्वरूप की है'—(पृष्ठ २६, २७) हमारी सम्मति है कि अब हिन्दी में केवल उद्धरणों पर—विशेषतः पश्चिमी चिन्तकों के उद्धरणों पर—आधारित लेखन को प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिये। उद्धरणी वही उपयुक्त होती है जहाँ लेखक का उद्देश्य किसी विचारक या परम्परा के मतवाद का निरूपण या तत्सम्बन्धी अन्वेषण होता है। हिन्दी समीक्षा और उसके शास्त्रीय साहित्य की अग्रगति की दृष्टि से भी हम पाठकों के सामने निम्न सुझाव रखना चाहेंगे।

(क) हिन्दी में विद्वत्तापूर्ण प्रतिपादक कोटि के शोधग्रन्थों की बेहद कमी और इसीलिए जरूरत है। प्रतिपादन का आधार मूल रचनाओं अथवा आकर-ग्रन्थों का साक्षात् परिचय होना चाहिए। संस्कृत के अलंकार शास्त्र का इतिहास लिखने का अर्थ है भरत, दण्डी, भामह, वामन, अभिनव गुप्त आदि की कृतियों का विशद अध्ययन करके उनके संबंध में लिखना। इस तरह के अध्ययन के बिना उक्त आचार्यों द्वारा उठाये गये प्रश्नों और प्रस्तुत किये हुए हलों की समुचित अवगति नहीं हो सकती। दूसरे विद्वानों द्वारा लिखे हुए तत्सम्बन्धी साहित्य को पढ़ कर स्वयं उनके मन्तव्यों पर लिखने में प्रवृत्त होना एक तरह की अनधिकार चेष्टा है। अंग्रेजी में श्री सुशील कुमार दे द्वारा लिखित 'हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयटिक्स' एक प्रामाणिक ग्रन्थ है वह इसीलिए। किन्तु इस तरह की दस पुस्तकें पढ़कर भी कोई व्यक्ति इस योग्य नहीं बन सकता कि अलंकार-शास्त्र पर स्वयं प्रामाणिक ग्रन्थ लिख सके। तथाकथित सेकण्डरी या आश्रित-साहित्य का ठीक उपयोग यह है कि उसके जरिये हम मूल साहित्य को समझने में सहायता लें। हिन्दी में जहाँ तक मुझे ज्ञात है, दे की पुस्तक की कक्षा का अलंकारशास्त्र का कोई इतिहास उपलब्ध नहीं है। वैसे ही हिन्दी में दासगुप्त, हिरियन्ना, जदुनाथ सिनहा जैसे दर्शन के इतिहास भी दुर्लभ ही हैं। हमारा सुझाव है कि हिन्दी का वह प्रत्येक लेखक जो महत्वपूर्ण समीक्षक या विचारक बनना चाहता है, विश्व-विद्यालय की डिग्रियाँ लेने के बाद कम से कम किसी एक क्लासिक कोटि के ग्रन्थ का अनुवाद (जिसके साथ लम्बी परिचयात्मक भूमिका रहनी चाहिए) अथवा व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न करे। विदेशी लेखकों के उद्धरण देकर विचारक बनने की महत्वाकांक्षा का परित्याग करके यदि हमारा औसत आलोचक किसी महत्वपूर्ण समीक्षा ग्रंथ का अनुवाद तैयार करने की कोशिश करे तो इससे उस आलोचक और हिन्दी साहित्य दोनों को ही स्थायी लाभ होगा। उदाहरण के लिए हमारे वैसे आलोचक-लेखक, सार्त्र और इलियट के निबन्धों का विश्वसनीय अनुवाद करने के प्रयत्न में, उन लेखकों के विचारों का जितना निकट और प्रामाणिक परिचय प्राप्त कर सकेंगे, वैसा किसी दूसरी प्रक्रिया से उस हद तक संभव नहीं होगा। दूसरे इस तरह के कार्य से हमारी भाषा शीघ्र ही महत्वपूर्ण ग्रंथों से सम्पन्न हो जायगी। इस तरह के ग्रंथ हिन्दी में सुलभ होने पर वे साधारण पाठक भी, जो अंग्रेजी पुस्तकें पढ़ना सुकर या सम्भव नहीं पाते, अपनी ज्ञानवृद्धि कर सकेंगे। उस दशा में वे लोग नये विचारों और नये लेखन को अधिक सहानुभूति देना भी सीखेंगे। साथ ही हमारे आलोचक और लेखक क्रमशः सोचने और लिखने के सतही धरातल से उबर कर ज्यादा जिम्मेदारी

और गम्भीरता से विचारात्मक प्रतिक्रिया करने के अभ्यस्त बनेंगे। यदि प्रस्तुत लेखक के बस की बात होती तो वह उक्त कोटि के भूमिका-संयुक्त अनुवादों तथा अध्ययनों को अनेक रद्दी विषयों पर लिखे जाने वाले शोध-प्रबन्धों का स्थानापन्न माने जाने का नियम बना देता। कोई कारण नहीं कि हिन्दी का शोधी-छात्र, उपयुक्त विषयों के अभाव में किसी अल्पज्ञात लेखक या ग्रंथ पर प्रबन्ध लिखने को बाध्य हो, जब कि वह संस्कृत से किसी आचार्य अथवा अरस्तू, क्रोचे जैसे मनीषियों के किसी ग्रंथ का अनुवाद करके अपने को और हिन्दी-साहित्य को अधिक लाभान्वित बना सकता है।

(ख) अनुवादों आदि के रूप में तैयारी नये महत्वपूर्ण चिन्तन और लेखन की आवश्यक भूमिका मात्र है। प्रश्न है, अपने प्राचीन आचार्यों एवं योरप के नये-पुराने विचारकों का मुँह जोहना छोड़ कर आज के भारतीय स्वयं अर्थपूर्ण चिंतन करना कब तक और कैसे सीखेंगे? ऊपर हमने औपनिवेशिक मनोवृत्ति का उल्लेख किया था। इस मनोवृत्ति पर हावी होने का एक और शायद एकमात्र, तरीका है प्राचीन भारतीय वाङ्मय का अच्छा परिचय और इतिहास के परिप्रेक्ष्य में उसके महत्व का समुचित बोध। प्राचीन भारत के दार्शनिक और साहित्य-मीमांसक सचमुच ही बड़े प्रतिभाशाली थे। दर्शन का क्षेत्र जीवन के मूल्य हैं और साहित्य-मीमांसा का विषय कलात्मक सौष्ठव और सौन्दर्य। विभिन्न वैज्ञानिक क्रांतियों ने विचारजगत् में अनेक उथल-पुथल पैदा किये हैं, फिर भी मूल मानव-प्रकृति में विशेष परिवर्तन न होने के कारण, मानवीय जीवन की माँगों में उतना अन्तर नहीं पड़ा है। हम जानते हैं कि नये युग-परिवेश में जीवन की माँगों का रूप बदलता भी है, लेकिन यह बदलना मुख्यतः बाहरी समंजन या समायोजन को लेकर होता है, या फिर इस स्थिति को ले कर कि नया परिवेश हमारी कुछ मौलिक जरूरतों के कुंठित होने का कारण बन जाता है। नये परिवेश द्वारा उत्थापित कुंठाएँ हमारी अवरुद्ध जरूरतों को नये रूपों में सामने लाती हैं।

हम एक राष्ट्र या जाति के रूप में नये स्वतंत्र चिंतन के अभ्यस्त बनें, इसके लिए यह जरूरी है कि हम, अपनी समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर की पृष्ठभूमि में, आत्मवान् और आत्मविश्वासी हों। निश्चय ही आज हमारे लिए पश्चिम के विचारों से परिचित होना बहुत जरूरी और लाभप्रद है, किंतु वैसा लाभ एक आत्म-सम्पन्न और आत्म-गौरवी राष्ट्र या व्यक्ति ही प्राप्त कर सकता है। उद्धरणी के मोह से बच कर आज हमारे विचारक-लेखकों को स्वयं अपने पैरों पर खड़े होने की आदत डालनी चाहिए। हम अपने विचारों के लिए उतने ही आदर की कामना करें जितने के, अपनी पहुँच, पकड़ और संघटन की विशेषताओं से वे पात्र बन सके हैं। पुराने या नये आचार्यों की दोहाई देकर अपने विचारों की स्वीकृति चाहने की प्रवृत्ति वस्तुतः गंभीर लेखकों का स्वभाव नहीं होता। वास्तव में आज हर तरह के विचारों के क्षेत्र में इतनी अराजकता है कि हम किसी भी विचार को सर्वस्वीकृत या स्वयंसिद्ध मानकर नहीं चल सकते। किसी निबंध या पुस्तक की सीमा में हमारे किसी विचार का उतना ही महत्व होता है जितना, हमारे द्वारा जुटाये गये साक्ष्य एवं युक्तियों के आधार पर, उसका प्रत्यक्षीकरण हो सका है। बड़े लेखकों का विशेष महत्व इसमें होता है कि वे अपनी विशिष्ट, अपेक्षाकृत नयी बात को बड़े विस्तार और गहराई में, तरह-तरह के तथ्यों और युक्तियों से पुष्ट करके, कहते हैं। इसके विपरीत छोटे लेखक, जिन्हें विशेषतः अपने युग की अखबारी कोटि की सच्चाइयाँ स्वयंसिद्ध मान्यताएँ जान पड़ती हैं, इधर-उधर के दो-एक उद्धरण देकर अपने को कृतकृत्य महसूस करने लगते हैं।

भारतीय काव्य-शास्त्र में रसविघ्न

• नगेन्द्र

भारतीय काव्यशास्त्र में रस-विघ्न अर्थात् रसभंग के कारणों का विवेचन कवि तथा सहृदय-रस के स्रष्टा और भोक्ता—दोनों की दृष्टि से किया गया है। वस्तुतः काव्यगत रसभंग भी साधन ही होता है, अन्ततः तो रसभंग सहृदय की चेतना में ही होता है क्योंकि जहाँ रस की स्थिति होगी वहीं तो रसभंग होगा। इस प्रकार काव्यगत रसभंग भी सहृदयगत रसभंग का एक प्रमुख कारण ही बन जाता है।

(क) कवि की दृष्टि से—

आनन्दवर्धन ने कवि की दृष्टि से रसभंग के मुख्यतः पाँच कारण माने हैं—

विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः ।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ।।
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम् ।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ।।[१]

अर्थात्—(१) विरोधी रस के सम्बन्धी विभावादि का ग्रहण कर लेना।
(२) (रस से) सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन करना।
(३) असमय में रस को समाप्त कर देना अथवा अनवसर में उसका प्रकाशन करना।
(४) (रस का) पूर्ण परिपोष हो जाने पर भी बार-बार उसका उद्दीपन करना।
(५) व्यवहार का अनौचित्य।

आगे चलकर इनका व्याख्यान एवं विस्तार रसदोषों के रूप में हुआ और यह संख्या प्रायः दुगुनी हो गई।

व्यभिचारि-रस-स्थायिभावानां शब्दवाच्यता ।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभाव-विभावयोः ।।
प्रतिकूलविभादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अंगस्याप्यतिविस्तृतिः ।।

अंगिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः।
अनंगस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः॥

अर्थात् व्यभिचारिभावों, रसों अथवा स्थायी भावों का अपने वाचक शब्द द्वारा कहना, (स्वशब्दवाच्यता) अनुभाव और विभाव की कष्ट-कल्पना से अभिव्यक्ति, (रस के) प्रतिकूल विभाव आदि का ग्रहण करना, तथा (रस की) बार-बार दीप्ति, (रस का) अनवसर में विस्तार कर देना, अनवसर में विच्छेद कर देना, अप्रधान (अंग रस) का भी अत्यधिक विस्तार कर देना, (अंगी) प्रधान रस को त्याग देना (भूल जाना), प्रकृतियों (पात्रों) का विपर्यय कर देना और अनंग (अर्थात् जो प्रकृत रस का उपकारक नहीं है,) का कथन, इस प्रकार के रस में रहने वाले दोष होते हैं।[२]

मम्मट द्वारा विस्तारित रस के इन व्यवधानों में तीन-चार ही नये हैं यथा--स्वशब्द-वाच्यत्व, विभाव और अनुभाव की कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति, अंगी की उपेक्षा, और अनंग का कथन--और इनमें से अंतिम दो भी, एक प्रकार से, ध्वनिकार के 'वस्तुनोऽन्यस्यवर्णनम्' में अंतर्भुक्त हैं।

उपर्युक्त रस-विघ्नों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि, यद्यपि अधिकांश का अनुसंधान मुक्तक में भी किया जा सकता है फिर भी इनमें से अनेक ऐसे हैं जिनकी सार्थकता प्रबन्ध के संदर्भ में ही हो सकती है। इसीलिए विद्वानों ने अंतिम सात दोषों की कल्पना प्रायः प्रबन्ध के संदर्भ में ही की है। दूसरी बात यह है कि इनमें से कोई भी दोष अपरिहार्य नहीं है--प्रत्येक के परिहार का उपाय सम्भव है। यह स्थापना संस्कृत-काव्यशास्त्र के आचार्यों की व्यवहार-बुद्धि का सुन्दर प्रमाण है--दोष की कल्पना सर्वथा निर्भ्रान्त तो है, किन्तु कहीं भी वह रूढ़ नहीं होने पाई। ऐसा बहुत ही कम हुआ है कि किसी ऐसे छन्द अथवा काव्य को, जिसकी सरसता सिद्ध एवं असंदिग्ध है, केवल एकाध परिगणित दोष की अवस्थिति के कारण ही तिरस्कृत कर दिया गया हो। प्रत्येक दोष के पृथक् विवेचन से उसका स्वरूप और प्रभाव और भी स्पष्ट हो सकेगा।

सामान्य रसदोष--

१. स्वशब्दवाच्यता--रस अथवा भाव का अपने वाचक शब्द द्वारा कथन रसास्वाद में बाधा उत्पन्न करता है। इसके पीछे तर्क यह है कि काव्य में रस अथवा भाव की व्यंजना ही होती है, कथन नहीं; कथन से केवल तथ्य-बोध होता है, प्रत्यक्ष प्रतीति तो व्यंज़ना के द्वारा ही सम्भव है। भाव के विषय में तथ्य-बोध परोक्ष ज्ञान रूप होने के कारण बुद्धि की क्रिया है और उधर भाव की साक्षात्कारात्मक प्रतीति आस्वाद-रूप होने के कारण चित्त की क्रिया है। अतः रस या भाव का अभिधान रसास्वाद का साधक तो हो ही नहीं सकता, चित्त की क्रिया में बुद्धि का संक्रमण हो जाने के कारण उल्टा बाधक ही हो जाता है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि भाव का वाचक शब्द के द्वारा कथन न कर अनुभावों के द्वारा अभिव्यंजन--अर्थात् मूर्तरूप में उपस्थापन करना चाहिए। 'लक्ष्मण को क्रोध आ गया' या 'उर्मिला ने लज्जा का अनुभव किया'--यह सुनकर केवल तथ्य-बोध होता है, किन्तु जब हम यह सुनते हैं कि 'लक्ष्मण के नेत्र लाल हो गये' या 'उर्मिला के नयन झुक गये' तो हमें कल्पना के द्वारा क्रोध अथाव लज्जा

की स्थिति का साक्षात्कार हो जाता है और यह साक्षात् अनुभव सम्बद्ध भाव की प्रतीति में सीधा योगदान करता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में पहले से अर्थ-बोध और दूसरे से बिम्ब-ग्रहण होता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में—विशेषकर आधुनिक काव्यशास्त्र में—बिम्ब को काव्य का प्रमुख माध्यम माना गया है। काव्य की अभिव्यक्ति और अनुभूति का मुख्य माध्यम बिम्ब ही है। अतः उपर्युक्त दोष-कल्पना निश्चय ही दृढ़ और मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित है, इसमें संदेह नहीं। किन्तु 'स्वशब्दवाच्यत्व' का रूढ़ अर्थ में और निर्विवेक रूप से आरोपण करने पर काव्य के विवेचन तथा मूल्यांकन में त्रुटि हो सकती है। यहाँ अभिप्रेत वास्तव में यही है कि रस के प्रसंग में बिम्ब-विधान साधक और तथ्य कथन बाधक होता है। जहाँ केवल तथ्य कथन है वहाँ रस-प्रतीति निश्चय ही बाधित हो जाती है—

सीता भी नाता तोड़ गई, इस वृद्ध ससुर को छोड़ गई।
उर्मिला बहू की बड़ी बहन! किस भांति करूं में शोक सहन?

—साकेत, पृ० ११८, २०९५ वि०

उपर्युक्त छन्द में 'शोक' का—तथ्य का कथन मात्र है, अतः रस-प्रतीति बाधित है। इसी प्रकार—

"कौशल्या क्या करती थी? चुपचुप धीरज धरती थीं।"—साकेत, पृ० ७८

यहाँ भी 'धृति' का कथन है अभिव्यक्ति नहीं; इसलिए 'भाव' की प्रतीति नहीं हो सकी और अंततः रस का परिपाक भी असिद्ध रहा।[३]

यहाँ तक तो ठीक है किंतु इसके आगे भाव या रस के नाम मात्र के उल्लेख से ही रसभंग की कल्पना अव्यावहारिक एवं असमीचीन है :—

मानस-मंदिर में सती पति की प्रतिमा थाप।
जलती-सी उस विरह में बनी आरती आप॥

—साकेत, पृ० १९५, संवत् २००५

या— प्रलय में भी बच रहे हम, फिर मिलन का मोद,
रहा मिलने को बचा सूने जगत की गोद।
ज्योत्स्ना-सी निकल आई! पार कर नीहार,
प्रणय-विधु है खड़ा नभ में लिये तारक-हार॥

—कामायनी, प्र० सं०, पृ० ९२

साकेत के छंद में 'विरह' और कामायनी की पंक्तियों में 'प्रणय' का स्वशब्दवाच्यत्व स्पष्ट है, किन्तु क्या यहाँ रसभंग है? दोषपरिहार का उपाय भी यहाँ व्यर्थ है—अर्थात् शब्द-परिवर्तन से—'जलती सी उर-अग्नि में' या कोई अन्य संशोधन कर देने से भी स्थिति में विशेष सुधार नहीं होता। इसी प्रकार —

हँस सीता कुछ सकुचाईं, आँखें तिरछी हो आईं।
लज्जा ने घूँघट काढ़ा,—मुख का रंग किया गाढ़ा॥ —साकेत, पृ० ७६

अथवा— गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक।
भ्रू-लता थी कान तक बढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल।
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गदगद् बोल॥ —कामायनी, पृ० ९४

उपर्युक्त पदों में केवल 'लज्जा' के स्वशब्दवाच्यत्व से रसभंग मान लेना अरसिकता का परिचायक होगा। ये पद सर्वथा निर्दोष नहीं हैं, किन्तु स्वशब्दवाच्यत्व इनमें रस का बाधक नहीं है। यहाँ यह तर्क भी कारगर नहीं हो सकता कि कहीं-कहीं भ्रांति का निवारण करने के लिए भाव का स्पष्ट उल्लेख आवश्यक हो जाता है क्योंकि यहाँ तो किसी प्रकार की भ्रांति की संभावना ही नहीं है। अतः वस्तुस्थिति यह है कि भाव का कथन मात्र ही रसभंग का कारण होता है, जहाँ अनुभाव आदि के द्वारा बिम्ब-विधान पूर्ण है वहाँ भाव का नामोल्लेख मात्र अनिवार्यतः बाधक नहीं हो सकता। हिन्दी-काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत अनेक उदाहरणों का विश्लेषण कर इस तथ्य को प्रमाणित किया जा सकता है—

रस का स्वशब्दवाच्यत्व—

(१) हौं बलि चलि वाको छिनक लीजै आजु निहार।
उमगत है चहुँ ओर छबि मानहु रस शृंगार॥
—रसमंजरी में उद्धृत, पृ० २४८

(२) मुख सूखहिं लोचन स्रवहिं शोक न हृदय समाय।
मनहुँ करुण रस कटक लै उतरा अवध बजाय॥
—काव्यदर्पण में उद्धृत, पृ० ३०२

स्थायी का स्वशब्दवाच्यत्व—

(१) टूटे टाटि घन घने घूम-घूम सेन सने,
झींगुर छगोड़ी साँप विच्छिन की घात जू;
कंटक कलित तून बलित बिगंध जल,
तिनके तलप तल ताको ललचात जू।
कुलटा कुचील गात अंधतम अधरात,
कहि न सकत बात अति अकुलात जू;
छेड़ि में घुसे कि घर ईंधन के घनस्याम,
घर-घरनीनि यह जात न घिनात जू॥ —रसमंजरी में उद्धृत, पृ० २५०

(२) शरदनिशा प्रीतम प्रिया, विहरति अनुपम भाँति।
ज्यों-ज्यों रात सिरात अति, त्यों त्यों रति सरसाति॥
—सिद्धान्त और अध्ययन में उद्धृत, पृ० १६५

व्यभिचारी का स्वशब्दवाच्यत्व—

(१) निसि जागी लागी हिये प्रीति उमंगत प्रात।
उठि न सकत आलस बलित सहज सलोने गात।। —जगद्विनोद

(२) जानि गौरि अनुकूल, सिय-हिय-हर्ष न जात कहि।
—काव्यदर्पण में उद्धृत, पृ० ३०२

उपर्युक्त सभी छंदों में रस का सम्यक् परिपाक नहीं है, यह ठीक है; किन्तु उसका दोष स्वशब्दवाच्यत्व को नहीं दिया जा सकता। रस-विषयक दोहों में वास्तव में श्रृंगार और करुण-रस गौण हो गये हैं और उत्प्रेक्षा अलंकार प्रमुख; परन्तु श्रृंगार और करुण के कथन मात्र से रस में विघात नहीं होता। इसी प्रकार स्थायी भाव-सम्बन्धी दोहों में भी 'घिनात' और 'रति' शब्दों की स्थिति मात्र से रसभंग नहीं होता। केशव के कवित्त के विषय में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की टिप्पणी हैं—"रसिकप्रिया में इसमें बीभत्स-रस का उदाहरण दिखाया गया है। 'घिनात' का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन हो जाने से दोष आ गया है। हाँ, 'असूया' संचारी भाव की व्यंजना अवश्य है"—(पृ०२५०)। इसमें संदेह नहीं कि इस छंद में संदर्भ की दृष्टि से असूया की व्यंजना ही प्रमुख हो गई है क्योंकि केशव को सभी रसों का श्रृंगारपरक वर्णन अभीष्ट है, फिर भी यह मानना असंगत होगा कि 'घिनात' शब्द की अवस्थिति के कारण बीभत्स रस का उचित परिपाक यहाँ नहीं हो सका है। वक्ता की दृष्टि से निश्चय ही 'असूया' की व्यंजना अभीष्ट है, किंतु असूया की यह व्यंजना 'बीभत्स' रस के द्वारा की गई है और इसमें कोई दोष भी नहीं है क्योंकि बीभत्स और श्रृंगार के आलम्बन भिन्न हैं—प्रथम की आलम्बन प्रतियोगिनी नायिका और दूसरे का आलम्बन नायक है। 'जुगुप्सा' और ईर्ष्या का विषय एक ही है—नायिका; किन्तु ये दोनों अविरोधी भाव हैं—ईर्ष्या प्रायः घृणा का रूप धारण कर ही लेती है। अतः 'ईर्ष्या' की पुष्टि यहाँ 'जुगुप्सा' द्वारा हो रही है। कहने का अभिप्राय यह है कि विवेच्य छंद में बीभत्स रस का परिपाक निश्चय है (यह दूसरी बात है कि उसकी स्थिति गौण है)—और 'घिनात' की स्वशब्दवाच्यता रस-भंग नहीं करती। 'सिद्धान्त और अध्ययन' में उद्धृत दोहा अपने आप में सरस नहीं है, फिर भी उसका सारा दोष 'रति' की स्वशब्दवाच्यता के मत्थे मढ़ना अनुचित होगा। यही स्थिति व्यभिचारी भावों के विषय में भी है। 'रसमंजरी' में उद्धृत पद्माकर का दोहा रतिश्रांता रमणी का सुन्दर चित्र उपस्थित करता है और विभाव अर्थात् आलम्बन तथा उसके उद्दीपक अनुभावों के सजीव चित्रण द्वारा, 'आलस' में स्वशब्दवाच्यत्व के रहते हुए भी, श्रृंगार-रस की सफल व्यंजना करता है। 'काव्यदर्पण' में प्रस्तुत उदाहरण स्वयं विशेष रूप से सरस नहीं है परन्तु उसके लिए भी 'हर्ष' शब्द उत्तरदायी नहीं है। काव्यप्रकाश के उदाहरण और उसके संशोधन के विश्लेषण से भी यह धारणा पुष्ट होती है, खण्डित नहीं होती।—देखिए काव्यप्रकाश (ज्ञानमंडल) पृ० ३५८

उपर्युक्त विश्लेषण का सारांश यह है कि स्वशब्दवाच्यत्व दोष की उद्‌भावना का वास्तविक उद्देश्य रस की व्यंजना पर बल देना है और रस की व्यंजना तभी सिद्ध हो सकती है जबकि रस के अभिधान को निषिद्ध कर दिया जाए। अतः यहाँ हमें वास्तविक आशय को ही ग्रहण करना चाहिए—शब्द-मात्र का प्रयोग दोषकारक नहीं है, व्यंजना का अभाव और रस का कथन-मात्र

दोष है; एक-आध वाचक शब्द के रहने पर भी यदि बिम्बविधान स्पष्ट और पूर्ण है तो वहाँ दोष नहीं मानना चाहिए क्योंकि अधिकांश प्रसंगों में रस की व्यंजना प्रायः एक शब्द से सिद्ध या असिद्ध नहीं होती। इसीलिए 'हिन्दी कवियों ने इस दोष पर विशेष ध्यान नहीं दिया है'।

२. विभावों और अनुभावों की कष्ट-कल्पना––रस का आधार है स्थायीभाव और स्थायीभाव की उद्‌बुद्धि के कारण हैं विभाव तथा अभिव्यक्ति के साधन हैं अनुभाव। परिणामतः रस की अभिव्यक्ति और सहृदय द्वारा उसकी प्रतीति विभाव तथा अनुभाव पर ही मुख्यतया निर्भर रहती है। अतः विभाव-अनुभाव की स्पष्ट प्रतीति रस-परिपाक के लिए अनिवार्य है और इनकी प्रतीति में बाधा होने से रस का बोध भी अनिवार्य है।

परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलति भृशं परिवर्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः॥

अर्थात् (यह नायक कामिनी के वियोग में) बेचैन हो रहा है, (इसका) विवेक नष्ट हो गया है (कर्त्तव्याकर्त्तव्य का इस समय इसको कोई ध्यान नहीं है), यह (चलते हुए या उठ-उठ कर) गिर पड़ता है, और (ज़मीन पर) बार-बार लोटता-पोटता है। इस प्रकार इसके शरीर की बड़ी भयंकर दशा हो रही है। यह बड़े खेद की बात है। (परन्तु) हम इस (दशा) में क्या (सहायता) करें (यह समझ में नहीं आता)।

यहाँ (वर्णित किये हुए) बेचैनी आदि अनुभाव (न केवल शृंगार रस में ही अपितु) करुण (आदि पद से भयानक तथा वीभत्स रस) आदि में भी हो सकते हैं। इसलिए कामिनी-रूप (आलम्बन) विभाव (यहाँ अभिप्रेत है,) कठिनाई से प्रतीत होता है। (अतः यहाँ विभाव की कष्ट-कल्पना रूप दोष है।)"––**काव्यप्रकाश (ज्ञानमण्डल), पृ० ३६०**

अथवा–– उठति गिरति फिर-फिर उठति, उठि-उठि गिरि-गिरि जाति।
कहा करौं कासे कहौं, क्यों जीवैं यह राति॥

इसमें यह नहीं मालूम होता कि किस कारण से स्त्री की यह दशा हुई, इसमें साधारण व्याधि और विरह की व्याधि में अन्तर स्पष्ट नहीं है। ––**सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १६६**

३. विवक्षित रस के प्रतिकूल विभावादि का वर्णन––प्रतिकूल विभावादि के द्वारा रस-विरोध की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। साहित्यदर्पण में इसका निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया गया है––

"मानं मा कुरु तन्वंगि! ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम्।"

हे तन्वंगि! यौवन की अस्थिरता का विचार कर मान करना उचित नहीं है (सा० द०, विमला टीका, पृ० २४९)। हिन्दी में सेठ कन्हैयालाल ने माइकेल मधुसूदन दत्त का छंद और पं० रामदहिन मिश्र ने बच्चन की पंक्तियाँ उद्धृत की हैं––

(१) मधु कहता है ब्रजवाले! उन पद-पद्मों का करके ध्यान,
जाओ जहाँ पुकार रहा है श्री मधुसूदन मोद-निधान।

करो प्रेम-मधु-पान शीघ्र ही यथासमय कर यत्न-विधान,
यौवन के सु-रसाल-योग में काल-रोग है अति बलवान।।
—रस० मं०, पृ० २५६

(२) इस पार प्रिये मधु है तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा?—काव्यदर्पण, पृ० ३०३

यहाँ तर्क यह है कि 'यौवन की अस्थिरता' या 'उस पार' का चिंतन तो शांत रस का उद्दीपन है, श्रृंगार के प्रसंग में उसका वर्णन प्रस्तुत रस के परिपाक में बाधक होता है। इसमें संदेह नहीं कि संस्कृत की पक्ति में मान के प्रसंग में यौवन की अस्थिरता का चिंतन श्रृंगार में बाधक है। इसी प्रकार (१) और (२) में भी यदि श्रृंगार की विवक्षा मान कर चलें तो वहाँ भी रस बाधित है, परन्तु विरहिणी ब्रजांगना के छंद में 'मधुरा भक्ति' और बच्चन की कविता में रुग्ण प्रेमिक कवि के अवसाद-जन्य 'निर्वेद' की अभिव्यक्ति स्वीकार कर लेने पर उपर्युक्त रसबाधा का निराकरण हो जाता है।

प्रबन्धगत रसदोष—

(४) **रस की बार-बार दीप्ति**—किसी रस का परिपाक हो जाने के उपरांत भी उसका पुनः-पुनः वर्णन वैरस्य उत्पन्न करता है। परिपुष्ट रस का बार-बार वर्णन परिम्लान कुसुमपरिमल के समान वैरस्य का कारण हो जाता है। संस्कृत में 'कुमारसंभव' के चतुर्थ सर्ग में वर्णित रति-विलाप और हिन्दी में 'साकेत' के नवम सर्ग में या 'प्रियप्रवास' के कतिपय सर्गों में विप्रलम्भ की पुनः-पुनः दीप्ति इसका उदाहरण है। ध्वनिकार ने 'परिम्लान-कुसुम' का दृष्टांत देकर प्रस्तुत दोष के वास्तविक स्वरूप का बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रकाशन किया है। रस का परिपोषण हो जाने के पश्चात् फिर उसकी बार-बार दीप्ति से वैचित्र्य और चमत्कार की हानि हो जाती है और श्रोता या पाठक का चित्त ऊबने लगता है, अतः इस प्रकार के प्रसंग निश्चय ही रस में बाधक होते हैं।

(५) **अनवसर में विस्तार**—प्रसंग के विरुद्ध या उससे असंबद्ध रस का विस्तार भी रस-भंग का प्रमुख कारण है। जीवन और उसके प्रतिलेख काव्य में भी अवसर के अनुकूल व्यवहार का नाम ही औचित्य है, अतः प्रसंग से असम्बद्ध या उसके विपरीत रस का वर्णन भी उचित नहीं माना जा सकता। ऐसे रस के विस्तार की तो बात ही क्या? उदाहरण के लिए 'वेणीसंहार' नाटक के द्वितीय अंक में अनेक वीरों के मरण का प्रसंग आरम्भ होने पर दुर्योधन और भानुमती के संभोग श्रृंगार का वर्णन इसी प्रकार का दोष है। हिन्दी में 'रामचन्द्रिका' के अंतर्गत दशरथ-मृत्यु से उत्पन्न शोक के प्रसंग में राम का कौसल्या के प्रति उपदेश 'अकाण्ड-प्रथन' का ही निदर्शन है।

(६) **अनवसर रस का विच्छेद**—असमय में ही रस का विच्छेद जैसे—संस्कृत में 'महावीरचरित' के द्वितीय अंक में, राम तथा परशुराम के संवाद में वीररस के चरमोत्कर्ष की स्थिति में, राम का यह कथन कि 'मैं अब कंकण खोलने जा रहा हूँ।' इस प्रकार अचानक ही प्रसंग का परिवर्तन रस-परिपाक की व्यवस्था को छिन्नभिन्न कर देता है और उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है।

इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार के प्रसंग में प्रायः रसभंग की आशंका रहती है, परन्तु कभी-कभी, विशेषकर नाटक में, कुशल कलाकार इसका कलात्मक प्रयोग भी करते हैं। रोमानी नाटकों में इस प्रकार के प्रयोग विशेषतः दृष्टिगत होते हैं। काव्य में भी जहाँ कवि नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है, इस प्रकार के प्रयोग प्रायः चमत्कार की वृद्धि करते हैं। उदाहरण के लिए कामायनी के 'कर्म' सर्ग में श्रद्धा और मनु के संभोग-श्रृंगार की चरम परिणति का प्रसंग लीजिये—

दो काठों की संधि-बीच उस निभृत गुफा में—अपने।
अग्निशिखा बुझ गई जागने पर जैसे सुख-सपने।।

—कामायनी, प्र० सं०, पृ० १३६

यहाँ 'निर्वेद' के द्वारा सहसा संभोग-श्रृंगार का विच्छेद हो जाता है परन्तु कवि ने ऐसा सचेष्ट होकर किया है—प्रसंग का अचानक परिवर्तन ही उसे अभीष्ट है। रामचरितमानस में भी—'आइ गये हनुमान ज्यों करुना में वीर रस।' में रसभंग नहीं होता, अभीष्ट रस परिवर्तन ही होता है।

(७) **अंक की अत्यन्त विस्तृतिः**—अंगभूत रस अथवा पात्र या प्रसंग की अत्यन्त विस्तृति भी रस के सम्यक् परिपाक में बाधक होती है। रसदोष संख्या ५ और इसमें भेद यह है कि वहाँ असम्बद्ध या विरोधी रस के विस्तार की बाधा है जबकि यहाँ सम्बद्ध एवं अंगभूत रस के अत्यधिक विस्तार का भी निषेध किया गया है। इस प्रकार अनुपात भंग हो जाने से अंग और अंगी की सममिति नष्ट हो जाती है; अंग को अंगी के अधीन ही रहना चाहिए, किंतु महत्व बढ़ जाने से वह स्वतंत्र हो जाता है और संहति विच्छिन्न हो जाती है। अंग से अभिप्राय केवल अंगभूत रस का ही नहीं है, अंगभूत पात्र और वस्तु का वर्णन-विस्तार भी रस में बाधक होता है। मम्मट ने इस प्रसंग में संस्कृत के 'हयग्रीववध' काव्य में प्रतिनायक हयग्रीव के क्रियाकलाप का विस्तृत वर्णन और विश्वनाथ ने 'किरातार्जुनीयम्' के आठवें सर्ग में सुरांगनाओं का विलास-वर्णन उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। काश्मीरी कवि भर्तृमेण्ठरचित 'हयग्रीववध' काव्य में हयग्रीव की जलक्रीड़ा, वन-विहार, रतोत्सव आदि का इतने अधिक विस्तार के साथ वर्णन किया गया है कि नायक विष्णु के क्रियाकलाप का वर्णन उसके सामने फीका पड़ जाता है। सामान्यतः नायक के प्रतापातिशय की व्यंजना के लिए प्रतिनायक के ऐश्वर्य्य का वर्णन काव्य में काम्य होता है किन्तु उसका अतिविस्तार नायक के प्रताप को आच्छादित कर लेता है—अतः वह तो बाधक ही होगा। यहाँ प्रसिद्ध बंगला काव्य 'मेघनादवध' का अनायास ही स्मरण हो आता है, उसमें मेघनाद का प्रतापातिशय राम-लक्ष्मण के तेज को निश्चय ही क्षीण कर देता है। ऐसी स्थिति में क्या 'मेघनाद-वध' काव्य में रस का बाध माना जाये ? इस प्रश्न के दो उत्तर हो सकते हैं। एक तो यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र एवं सांस्कृतिक परम्परा की दृष्टि से राम-लक्ष्मण को प्रमुख पात्र मानने पर तो, रस में बाधा माननी ही पड़ेगी और अनेक विद्वानों ने —स्वयं रवीन्द्रनाथ ने भी—उस पर आरम्भ में यह आक्षेप किया था, आज भी अनेक विद्वान् ऐसा ही मानते हैं। किंतु दूसरा और अधिक समीचीन उत्तर यह है कि 'मेघनादवध' की रचना पाश्चात्य काव्यपरम्परा के अनुसार हुयी है, वह शोकान्त काव्य है जिसका नायक मेघनाद है, अतः उसके प्रताप का वर्णन रस-परिपाक में बाधक नहीं है। 'किरातार्जुनीयम्' में सुरांगनाओं की श्रृंगार-क्रीड़ाओं का प्रस्तार अंगी रस के उचित परिपोष में निश्चय ही बाधक होता है। हिन्दी में

'पद्मावत' के अंतर्गत कहीं अस्त्र-शस्त्र और कहीं व्यंजन आदि का वर्णन, 'रामचरित-मानस' में स्थान-स्थान पर नीति, भक्ति और ज्ञान आदि का विवेचन, 'प्रियप्रवास' में प्रकृति के वर्णन, 'जयद्रथ वध' में 'स्वर्ग-वर्णन' और 'कामायनी' के दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक विवेचन इसी कोटि में आते हैं। वास्तव में, इस प्रकार के वर्णन **अपने आप में** दोष नहीं हैं—औचित्य की सीमा के भीतर वे काव्य का उत्कर्ष करते हैं। इसीलिए महाकाव्य के लक्षणों में जीवन के विभिन्न सुन्दर एवं रोचक प्रसंगों का साग्रह अंतर्भाव किया गया है—कुंतक ने तो रसमय प्रसंगों के वर्णन को प्रकरण-वक्रता का एक प्रमुख भेद माना है। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि कवि-कल्पना के उन्मुक्त विलास के लिए प्रचुर अवकाश प्रदान करने वाले ये वर्णन अपने आप में रस के बाधक न होकर साधक ही होते हैं। किन्तु, औचित्य की सीमा का उल्लंघन करने पर वे निश्चय ही दोष बन जाते हैं, यह भी उतना ही सत्य है।

(८) **अंगी की उपेक्षा**—प्रमुख रस, पात्र अथवा कथा-प्रसंग की उपेक्षा भी रसभंग का कारण होती है। मम्मट ने 'रत्नावली' नाटिका के चतुर्थ अंक में उदयन द्वारा सागरिका के विस्मरण प्रसंग को प्रस्तुत दोष के उदाहरण रूप में उपस्थित किया है। सिंहलेश्वर के कंचुकी बाभ्रव्य के आ जाने पर उदयन विजयवर्मा का वृत्तान्त सुनने में इतना तल्लीन हो जाता है कि प्रमुख पात्र सागरिका (रत्नावली) को एक साथ भूल जाता है। इस तरह शृंगार रस के परिपाक में विच्छेद हो जाता है। वस्तुतः यह दोष इससे पूर्ववर्ती दोष का परिणाम है—अंग की स्तुति से अंगी के महत्व की क्षति स्वाभाविक ही है। अनेक प्रबन्धों में जहाँ नायकत्व के विषय में संदेह रहता है, अंगी की उपेक्षा ही तो संदेह का कारण होती है। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में चाणक्य के प्रबल चरित्र-चित्रण में नायक चन्द्रगुप्त की उपेक्षा निहित है; प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' नामक उपन्यास में ज्ञानशंकर के चरित्र का प्राबल्य अंगी प्रेमशंकर ने महत्त्व को स्थान-स्थान पर बाधित कर देता है; साकेत के उत्तरार्द्ध में राम की महिमा से अभिभूत कवि और उसके साथ पाठक भी अंगी उर्मिला को भूल जाता है। इस प्रकार विवक्षित रस की हानि होती है, इसमें संदेह नहीं।

(९) **प्रकृति का विपर्यय**—आनन्दवर्धन ने इसे ही वृत्ति या व्यवहार का अनौचित्य कहा है। प्रबन्धकाव्य के पात्रों का अपना-अपना विशिष्ट स्वभाव तथा चरित्र होता है जिसका निर्वाह कवि के लिए आवश्यक है। संस्कृत नाट्यशास्त्र में दिव्य, अदिव्य तथा दिव्यादिव्य, ये तीन प्रकृति-भेद और फिर धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत एवं धीर-प्रशांत—ये चार चरित्र-भेद माने गये हैं। प्रत्येक पात्र के व्यवहार का वर्णन अपनी प्रकृति तथा चरित्र के अनुकूल ही होना चाहिए, अन्यथा रसभंग की आशंका हो सकती है। उदाहरण के लिए उत्तम पात्रों का विवृत शृंगार, धीरोदात्त नायक की कायरता, तथा धीर-प्रशांत के औद्धत्य आदि का वर्णन रस में व्याघात उत्पन्न कर देता है। 'रघुवंश' में शिवपार्वती का सम्भोग, 'मेघनादवध' में राम-लक्ष्मण की 'भीरुता', 'पद्मावत' में नागमती और पद्मावती की ग्राम्य सपत्नी—कलह, 'रामचरित मानस' में रावण की सभा में अंगद की अशिष्टता, 'साकेत' में दशरथ और कैकेयी के प्रति लक्ष्मण की उद्दण्डता, 'कामायनी' में इड़ा के प्रति मनु का पाशव-व्यवहार आदि प्रकृति-विपर्यय के निदर्शन हैं—इनमें व्यवहार के अनौचित्य के कारण रसभंग होता है।

(१०) **अनंग-कथन**——अप्रासंगिक वर्णन से भी रस में व्यवधान उपस्थित हो जाता है। वास्तव में अप्रासंगिक चर्चा तो सामान्य व्यवहार में असत्य हो जाती है, काव्य की तो बात ही क्या? ऐसे प्रसंगों का वर्णन जिनका प्रस्तुत कथा या विवक्षित रस के साथ कोई सम्बन्ध ही न हो,-निस्संदेह ही रस का बाधक होता है। परन्तु यह कोई महत्त्वपूर्ण रस-विघ्न नहीं है, सामान्य रूप में तो इसका अन्तर्भाव अकाण्ड-प्रथन में ही हो जाता है और स्वतंत्ररूप में यह दोष इतना स्पष्ट रहता है कि कोई विवेकशील कवि इस प्रकार की ग़लती प्रायः नहीं करता। इसीलिये संस्कृत के आचार्यों को ले-देकर इसका एक ही उदाहरण मिल सका है : 'कर्पूरमंजरी' में राजा द्वारा नायिका तथा स्वयं अपने वसन्त वर्णन की उपेक्षा कर बन्दिजन-कृत वसन्त-वर्णन की प्रशंसा।

जैसा कि हमने प्रसंग के प्रारम्भ में ही संकेत किया है, अंतिम सात दोषों का सम्बन्ध मुख्यतः प्रबंध काव्य से ही है——मुख्यतः ही, अनिवार्य्यतः नहीं क्योंकि रीतिकाल के दास आदि कवि-आचार्यों ने, जिनके लिए मुक्तक ही काव्य का आदर्श रूप था, स्वतंत्र छन्दों के द्वारा ही इन सभी रस-दोषों को उदाहृत किया है।

पुनः पुनः दीप्ति——

पंकज पाइँन पैंजनियाँ, कटि घाँघरो किंकिनियाँ जरबीली।
मोतिन हार-हँमेल बलीन पै, सारी सुहावनी कंचुकी नीली।
ठोड़ी पै स्यामल-बुंद अनूप, तारोनँन की चुनियाँ-चटकीली।
ईंगुर की सुरखी दुरकी नथ, भाल में बाल के बेंदी छबीली।

उपमादि के बिना एक ही रस की बार-बार दीप्ति——शोभा प्रदर्शित करना भी एक 'रस-दोष' है, यह दास जी ने यहाँ कहा है। किसी रस का परिपाक हो जाने पर, उसका प्रसंग समाप्त हो जाने पर फिर उसी का वर्णन करना 'दीप्ति' करना कहलाता है। दास जी के इस उदाहरण में यही दोष है, क्योंकि आप द्वारा यहाँ परिपुष्ट और उपभुक्त श्रृंगार रस फिर से दीप्त किया जाने के कारण मींड़े हुए पुष्प के समान अशोभन हो गया है, अतः उपर्युक्त दोष है।[४]

अकाण्ड-प्रथन (असमै जुक्ति कथन)——

सजि सिँगार सर पै चढ़ी, सुन्दरि निपट सुबेस।
मंनों जीति भुब-लोक सब, चली जितंन दिबि-देस।।

"यहाँ सहगामिनी देखिकें सांत-रस बरनिबौ उचित हो, सिंगार-रस नाहीं, ताते 'अस-मइ' कथन दोष है।"[५]

अकांड-छेदन ——राम-आगमन-सुनि कह्यौ, राम बंधु सों बात।
कंकन मोहि छुराइबौ, उतै जाहु तुम तात।

"इहाँ कंकन-छुराइबे कौ मोह त्याग श्रीराम कौ परसराम पै- उनके निकट जाइबौ उचित हो, सो न कहयौ, ताते कादरता प्रघट जाँनी जात है।[६]"

अंग की प्रधानता——दासी सों मंडन-समैं, दरपन मांग्यों बाम।
बैठि गई सो सामने, करि आनन अभिराम।।

"इहाँ नायिका अंगी है, दासी बाकी अंग है, सो इहाँ अंगी कों—नायिका कों छाँड़ि अंगदासी की शोभा बरनिबौ दोष है।"[७]

अंगी की उपेक्षा —पीतम-पठै सहेट कों, खेलन अटकी जाइ।
तकि तिहि आवत उतैं ते, तिय मन-मन पछिताइ॥[८]

—यहाँ खेल के कारण नायिका द्वारा अंगी नायक की उपेक्षा विवक्षित है।

इसमें सन्देह नहीं कि दास ने सभी दोषों को मुक्तक में घटा दिया है फिर भी उदाहरणों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त सात दोषों का वास्तविक क्षेत्र प्रबंध ही है, मुक्तक नहीं। और, इसका प्रमाण यह है कि दास का कोई भी छंद दोष के स्वरूप का पूर्णत: प्रकाशन करने में समर्थ नहीं है। 'अकाण्ड-छेदन' का उदाहरण तो मम्मट के इस वाक्य का अनुवाद मात्र है—"अकाण्डे छेदो यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्के राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढ़े वीररसे कंकणमोचनाय गच्छामि इति राघवस्योक्तौ।"[९]

—परन्तु यहाँ तो वीररस का परिपाक ही नहीं होता, उसका अकांड-छेदन फिर कैसे होगा? इसी प्रकार 'अंग की प्रधानता' और 'अंगी की उपेक्षा' के उदाहरणों में भी अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं होती। अत: सब मिलाकर यही मानना अधिक संगत है कि अंतिम सात रस-दोषों का सम्बन्ध मुख्यत: प्रबन्धकाव्य के साथ ही है।

रस-दोषों का वर्णन यहीं समाप्त हो जाता है। किन्तु मम्मट ने अपनी कारिका में 'ये ही रस दोष हैं' ऐसा न कहकर यह कहा है कि "इस प्रकार के रस-दोष होते हैं"—दोषा: स्युरीदृशा: ७।६२॥ इसका अर्थ यह हुआ कि इनके अतिरिक्त, इसी प्रकार के अन्य कारण भी रसभंग के हो सकते हैं। इसी के आधार पर परवर्ती आचार्यों ने देश, काल आदि के अन्यथा वर्णनों का भी समावेश कर लिया है क्योंकि इनसे काव्य की असत्यता प्रतीत होने लगती है—और जब काव्य के वर्णन में प्रत्यय ही न हो तब तो रस का प्रश्न ही नहीं उठ सकता।—

अन्यदौचित्यं देशकालादीनामन्यथा यद्वर्णनम्। तथा सति हि काव्यस्यासत्यता प्रतिभासेन विनेयानामुन्मुखी कारासंभव:। —सा० द०, विमला टी०, पृ० २५०।

वस्तुत: उपर्युक्त सभी रस-विघ्न अनौचित्य के ही विविध प्रकार हैं—और, जैसा कि आनन्दवर्धन ने कहा है—अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का अन्य कोई कारण नहीं है तथा औचित्य के अतिरिक्त रस के परिपोष का दूसरा कोई रहस्य नहीं है—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

इसी के आधार पर महिम भट्ट ने दोष के लिए 'अनौचित्य' शब्द का ही प्रयोग किया है और क्षेमेन्द्र ने औचित्य सिद्धान्त का विकास किया है।

(ख) सहृदय की दृष्टि से

सहृदय की दृष्टि से रस-विघ्नों का मार्मिक विवेचन सर्वप्रथम अभिनवभारती में किया

गया है। यह सिद्ध करने के उपरान्त कि प्रत्येक स्थिति में आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है:—'सर्वथा रसनात्मक वीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः' अभिनवगुप्त अत्यन्त स्पष्ट तथा सूक्ष्म गंभीर रीति से रस-विघ्नों की व्याख्या करते हैं। ये विघ्न सात हैं—प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावनाविरहो नाम स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशः निजसुखादिविवशीभावः प्रतीत्युपायवैकल्यम् स्फुटत्वाभावो अप्रधानता संशययोगश्च।—(अभिनवभारती, गायकवाड़ संस्करण, पृ० २८०)। इस उद्धरण की व्याख्या के विषय में थोड़ा मतभेद है। आचार्य विश्वेश्वर के मत से सात विघ्न इस प्रकार हैं—(१) ज्ञान (प्रतीति) के अयोग्य होना अर्थात् रस की सम्भावना का अभाव; (२) स्वगत (सामाजिकगत) रूप से अथवा परगत (नटगत) रूप से देशकाल विशेष का सम्बन्ध; (३) अपने (व्यक्तिगत) सुखादि के वश (सामाजिक का) हो जाना; (४) प्रतीति के उचित उपायों का अभाव; (५) स्फुट प्रतीति का न होना; (६) अप्रधानता तथा (७) संशय का योग। उधर पं० रामदहिन मिश्र के अनुसार संख्याक्रम इस प्रकार है—(१) प्रतिपत्ति में अयोग्यता अर्थात् सम्भावना-विरह; (२-३) अपने और पराये के नियम से देश और काल का आवेश होना; (४) अपने सुख आदि से ही विवश हो जाना; (५) प्रतीति के उपायों की विकलता और उसका स्फुट न होना; (६) अप्रधानता और (७) संशय-योग अर्थात् संदेह उपस्थित हो जाना।[10] मूल-भेद दोनों में यह है कि आचार्य विश्वेश्वर ने स्वगत-परगत नियम से देशकाल के आवेश को एक विघ्न और प्रतीति-उपाय-वैकल्य तथा स्फुटत्व के अभाव को दो पृथक्-पृथक् विघ्न माना है; और पं० रामदहिन मिश्र ने स्वगत नियम से देशकाल के आवेश और परगत भाव से देशकाल के सम्बन्ध को दो पृथक् विघ्न तथा प्रतीति उपाय-वैकल्य और स्फुटत्वाभाव को एक माना है।[11] इन दोनों विकल्पों में तो दूसरा ही अधिक मान्य है क्योंकि प्रतीति के उपायों की विफलता और स्फुट प्रतीति का अभाव दो अलग तथ्य न होकर एक ही तथ्य के कारण और कार्य हैं अर्थात् उपायों की विफलता का परिणाम ही तो प्रतीति की अस्फुटता है। एक विकल्प यह भी है कि विघ्नों की संख्या ही सात न मानी जाए जैसा गायकवाड़ संस्करण में है जहाँ कि 'सप्त' शब्द ही पाठ के अन्तर्गत नहीं है। किन्तु हमारा विचार यही है कि स्वगत तथा परगत भाव से देशकाल के आवेश की कल्पना को अलग-अलग मानने में कोई दोष नहीं है।

प्रतीति में अयोग्यता अथवा संभावना-विरह—जहाँ वर्ण्य विषय की पाठक या श्रोता के मन में प्रतीति ही न हो सके, वह उसे असम्भव समझे और स्वीकार करने में असमर्थ रहे वहाँ रसानुभूति नहीं हो सकती। जहाँ संवेद्य विषय के प्रति मन में प्रत्यय ही न हो सके वहाँ विश्रांति की तो बात भी क्या? यह पहला विघ्न है। अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में घटना के तीन रूपों का उल्लेख किया है—घटित, सम्भाव्य तथा असम्भव; और इन तीनों में सम्भाव्य को काव्य के लिए सबसे अधिक उपयुक्त माना है। उनके मत से घटित इतिहास का विषय है सम्भाव्य काव्य का; असम्भाव्य के लिए इतिहास में तो अवकाश है ही नहीं, काव्य में भी उसके लिए कोई स्थान नहीं है। कवि की दृष्टि से आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ आदि ने वृत्ति के अनौचित्य या प्रकृति के विपर्यय की व्याख्या के अन्तर्गत इस विघ्न का संकेत किया है। उनका कथन है कि समुद्र-लंघन आदि कृत्यों का वर्णन दिव्य पात्रों के संदर्भ में ही करना चाहिए, सामान्य पात्रों के प्रसंग

में नहीं। विश्वनाथ ने इसी संदर्भ में स्पष्ट लिखा है कि देशकालादि के अन्यथा वर्णन से काव्य में असत्यता का प्रतिभास होने लगेगा और पाठक का उसके प्रति उन्मुखी भाव ही नहीं हो सकेगा। यह वास्तव में कवि की दृष्टि से उपर्युक्त रसविघ्न की कल्पना है।

२. स्वगतभाव से देशकाल का आवेश—नाट्य का प्रेक्षण करते समय यदि सामाजिक को प्रस्तुत प्रसंग में स्वगत सुख-दुःख आदि की प्रतीति होने लगे तो उसकी रसानुभूति अधिक हो जायेगी। प्रमाता यदि नाट्यगत शोक से संताप, भय से भीति, रति से आनन्द आदि का स्वयं अनुभव करने लगेगा तो लौकिक-भावों से सम्बद्ध नाना प्रकार की इच्छाएँ और प्रतिक्रियाएँ उसके चित्त में उत्पन्न हो जायेंगी—कटु भावों के त्याग की इच्छा उसके मन में जगेगी, मधुर भावों की पुनरावृत्ति की वह कामना करेगा, रति, भय आदि का वह गोपन करेगा और उत्साह आदि का प्रकाशन। इस प्रकार देशकाल से परिबद्ध उसके अपने रागद्वेष चित्त की विश्रांति भंग कर देंगे।

३. परगत भाव से देशकाल का आवेश—रस की प्रतीति परगत भाव से होने पर भी रसानुभूति में विघ्न उपस्थित हो जायेगा। यदि प्रमाता को यह प्रतीति होगी कि रंगमंच पर उपस्थित व्यक्ति ही रति, शोक, क्रोध आदि का अनुभव कर रहा है, तब भी उसे अपने भीतर सुख, दुःख, मोह और तटस्थता आदि का ज्ञान होने लगेगा। प्रमाता सामने उपस्थित व्यक्ति को मूल मात्र रामादि भी मान सकता है और नट भी, परन्तु दोनों परिस्थितियों में वह व्यक्ति प्रमाता से भिन्न ही रहेगा और उसका अनुभव परगत ही होगा। प्रमाता यह अनुभव करेगा कि पात्र या नट सुख से आविष्ट है या दुःखग्रस्त है; दूसरे को सुखी या दुःखी देखकर मानव-स्वभाव के कारण उसके अपने मन में भी निश्चय ही किसी न किसी प्रकार के प्रत्यक्ष संवेदन का उदय होगा जिसके परिणामस्वरूप चित्त की विश्रांति अनिवार्यतः भंग हो जायेगी।

उपर्युक्त दोनों विघ्नों का आधार है व्यक्तिबद्ध अर्थात् देशकाल से आबद्ध भाव की प्रतीति जो पात्र और परिस्थिति के अनुसार सुखमय, दुःखमय या मोहयुक्त होने के कारण रसानुभूति से नियमतः भिन्न होती है। इन दोनों विघ्नों के निराकरण का उपाय है साधरणीकरण जो काव्य में गुणालंकार और नाट्य में चतुर्विध अभिनय के द्वारा सिद्ध होता है। गुणालंकार और चतुर्विध अभिनय वे साधन हैं जो कवि या नट की कल्पना से उद्भूत होकर सामाजिक कल्पना को उद्बुद्ध करते हुए उसकी चेतना को व्यक्ति संसर्गों से—देशकाल के बन्धन से—मुक्त कर देते हैं। काव्य-कौशल और नाट्य-कौशल के द्वारा उद्बुद्ध कल्पना से आविष्ट प्रमाता को यह प्रतीत नहीं होता कि "अस्यैव, अत्रैव, एतर्ह्येव च सुखं दुःखं"[१२] —अर्थात् इसी व्यक्ति को यहाँ ही और इसी से सुख या दुःख होता है।

४. निज सुखादि का आवेश—अपने सुखदुःख आदि से विवश हुआ व्यक्ति किसी अन्य वस्तु में—काव्य या नाट्य प्रसंग में—ध्यान एकाग्र कैसे कर सकता है? यदि सामाजिक अपने सुख-दुःख से आविष्ट होकर—किसी प्रकार के पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर—प्रेक्षागृह में जाता है या काव्य के मनन में प्रवृत्त होता है तो भी उसे रसानुभूति नहीं हो सकेगी। ऐसी स्थिति में तो उसकी सहृदयता ही पूर्वाग्रह से दूषित रहेगी, अर्थात् अपने में खोया हुआ होने के कारण यह काव्य या नाट्य के प्रभाव को ही ग्रहण करने में अक्षम होगा, अतः रसास्वाद का प्रश्न ही नहीं उठेगा। इस स्थिति में और स्वगत भाव से काव्यगत या नाट्यगत संवेदन की प्रतीति में अन्तर यही है कि

यहाँ सहृदय अपने व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुःख से आविष्ट है और वहाँ वह काव्य या नाट्य द्वारा अभिव्यक्त रति या शोक आदि के साक्षात्कार से स्वयं भी उसी प्रकार के भाव का अनुभव करता है।

इस विघ्न के अपाकरण का उपाय भी काव्य और नाट्य के सौन्दर्य में निहित है। कला में ऐसी शक्ति है कि वह प्रमाता के चित्त को व्यक्तिगत रागद्वेष और हर्षविषाद आदि से मुक्त कर देती है—अरसिक और शुष्क जीवन के नीरस व्यापारों में लीन व्यक्ति भी प्रेक्षागृह में जाकर गीत, नृत्य तथा काव्य-सौन्दर्य आदि के प्रभाव से अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख को भूलकर चित्त के वैशद्य का अनुभव करता है। वस्तुतः यह साधारणीकरण व्यापार का ही दूसरा पक्ष है—पहला पक्ष है विभावादि को देशकाल के बंधन से मुक्त करना और दूसरा पक्ष है प्रमाता के चित्त को व्यक्ति- संसर्गों से ऊपर उठाना।

५. उपायों की अक्षमता और परिणामस्वरूप प्रतीति की स्फुटता का अभाव—प्रतीति के उपायों का अर्थ है अभिव्यक्ति के साधन अर्थात् काव्य के क्षेत्र में व्यंजना और नाट्य के क्षेत्र में रंग-कौशल तथा अभिनय आदि। जैसा कि हम आरम्भ में ही सिद्ध कर चुके हैं, रस का शब्द द्वारा कथन नहीं होता वरन् व्यंजना द्वारा साक्षात्कारात्मक प्रतीति होती है। अतः कवि और नाट्यकार ऐसे साधनों का प्रयोग करते हैं जिनसे अर्थ का सामान्य बोध या अनुमान मात्र होकर न रह जाये, वरन् साक्षात् प्रतीति सम्भव हो सके। ये उपाय यदि अपूर्ण रह जाएँ तो निश्चय ही रस की प्रतीति बाधित हो जायेगी। इस प्रकार अभिव्यक्ति की असमर्थता भी रस का एक प्रमुख विघ्न है। वास्तव में कविगत रस और सहृदयगत रस का माध्यम अभिव्यंजना ही तो है और यदि वह अपूर्ण है तो सम्प्रेषण-सिद्धान्त के अनुसार न रस का सम्प्रेषण हो सकेगा और न अभिव्यक्तिवाद के अनुसार रस की व्यंजना ही। रसास्वादन की प्रक्रिया में अभिव्यंजना का महत्त्व असन्दिग्ध है—क्रोचे आदि अभिव्यंजनावादियों ने उसे ही कला का पर्याय माना है—उसकी पूर्णता ही सौन्दर्य है और अपूर्णता ही विकृति।

अभिव्यक्ति का प्रश्न कवि से सम्बद्ध है, अतः प्रस्तुत रस-विघ्न का सम्बन्ध भी आरम्भ में कवि के साथ ही मानना चाहिए। किन्तु अन्त में प्रतीति का कर्त्ता तो सहृदय ही होता है, अतः इस विघ्न का परिणाम भी अन्ततः उसे ही भोगना पड़ता है। कवि की दृष्टि से विवेचित स्वशब्दवाच्यत्व दोष प्रायः इसी कोटि के अन्तर्गत आता है।

६. अप्रधानता—रस की अप्रधानता का अनुभव छठा रस-विघ्न है। वस्तुतः रस के प्रपंच में स्थायीभाव की स्थिति ही मुख्य होती है क्योंकि विभाव, अनुभाव तो अचेतन हैं और व्यभिचारी भाव चेतन होते हुए भी परमुखापेक्षी हैं। इसलिये यदि इनमें से कोई प्रमुख हो जाये और स्थायीभाव गौण अर्थात् काव्य अथवा नाटक के किसी प्रसंग से प्रमाता के चित्त में स्थायी भाव का सम्यक् उद्बोध न हो सके तो वहाँ भी रस बाधित हो जाता है। अभिनवगुप्त की दृष्टि सर्वथा विषयपरक है अतः उन्होंने काव्य में विभाव पक्ष की अपेक्षा भाव पक्ष पर ही अधिक बल दिया है। प्रस्तुत संदर्भ में जहाँ तक सामान्य स्थापना का प्रश्न है, वहाँ तक तो मतभेद के लिए कोई अवकाश नहीं है, किन्तु इससे यह भ्रांति नहीं होनी चाहिए कि काव्य में विभाव, अनुभाव का स्वतंत्र चित्रण या व्यभिचारी की स्वतंत्र व्यंजना रस की अभिव्यक्ति एवं अनुभूति के लिए

सर्वत्र एवं सर्वथा अपर्याप्त रहती है। संस्कृत तथा हिन्दी में ऐसे असंख्य सरस छन्द हैं जिनमें मुख्यतः विभाव का चित्रण है, अनुभाव-चित्रण के माध्यम से भी रस की प्रतीति कराने वाले अनेक छंद सहज सुलभ हैं और व्यभिचारी द्वारा रस की प्रतीति का उत्कृष्ट प्रमाण तो अधिकांश छायावादी काव्य ही है। अभिनव जैसे रसमर्मज्ञ को यह सामान्य तथ्य अज्ञात नहीं था, उनका उद्देश्य केवल भावपक्ष को रेखांकित करना ही है। विभिन्न काव्यों में—प्रसिद्ध काव्यों में भी—ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं जहाँ कवि आलम्बन के नखशिख आदि के अलंकृत वर्णन में या उद्दीपन-प्रकृति, नगर आदि के विस्तृत वर्णन में उलझ गया है और इस प्रकार के विवरण निश्चय ही रस में बाधक हो गये हैं। वास्तव में आनन्दवर्धन और मम्मट आदि ने भी कवि की दृष्टि से रस-विघ्नों का विवेचन करते हुए 'सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का विस्तार से वर्णन अथवा 'अंग की अत्यन्त विस्तृति' के अन्तर्गत इसका वर्णन किया है। आनन्दवर्धन ने स्पष्ट लिखा है कि "कभी-कभी कवि विप्रलम्भ शृंगार आदि का वर्णन प्रारम्भ कर चमत्कार-प्रदर्शन के मोह से विस्तार के साथ पर्वत आदि के वर्णन में प्रवृत्त हो जाते हैं" और इस प्रकार रस की हानि कर बैठते हैं।

अभिनव गुप्त ने इस संदर्भ में रसों की भी परस्पर प्रधानता-अप्रधानता का उल्लेख किया है, साथ ही गुणालंकार आदि की अपेक्षा रस की अप्रधानता का भी संकेत किया है। उनका कथन है कि जिन रसों का सम्बन्ध पुरुषार्थ चतुष्टय के साथ है वे प्रमुख हैं और शेष गौण; प्रबंधकाव्य तथा रूपक के विभिन्न भेदों में रस के परिपाक में इसका भी ध्यान रखना आवश्यक होता है क्योंकि इस क्रम का विपर्यय हो जाने से भी रस में बाधा पड़ जाती है। इसी प्रकार गुण अथवा अलंकार की अपेक्षा रस की गौणता भी एक निश्चित विघ्न है क्योंकि प्रमाता का ध्यान स्वभावतः ही अप्रधान को छोड़ प्रधान की ओर दौड़ता है—अतः जहाँ गुण अथवा अलंकार का प्राधान्य है, वहाँ भी रस की प्रतीति में निश्चय ही बाधा पड़ती है।

७. **संशययोग**—रस के अवयवों की वास्तविक स्थिति के विषय में शंका उत्पन्न हो जाने पर भी रस की प्रतीति खण्डित हो जाती है। वास्तव में अनुभाव, विभाव और व्यभिचारी भावों का स्थायी भावों के साथ सम्बन्ध नियत नहीं है : एक ही अनुभाव का—उदाहरण के लिए 'कम्प' का—सम्बन्ध भयानक और शृंगार जैसे विरोधी रसों के साथ हो सकता है, एक ही विभाव जैसे व्याघ्र भयानक और रौद्र दोनों का कारण हो सकता है; श्रम चिंता आदि व्यभिचारी अनेक रसों में हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में यदि इसके विषय में सन्देह उत्पन्न हो जाये तो रसानुभूति में निश्चय ही विघ्न उपस्थित हो जायेगा। इसीलिये भरत सूत्र में 'संयोग' शब्द का स्पष्ट ग्रहण है क्योंकि 'संयोग' के द्वारा संदर्भ के साथ रसावयवों का सम्बन्ध निश्चित हो जाता है और संशय-जन्य बाधा मिट जाती है। मम्मट आदि ने (कष्टकल्पना व्यक्तिरनुभावविभावयोः)—अर्थात् 'विभाव-अनुभाव की कष्ट कल्पना' के अन्तर्गत इसी बाधा को कवि की दृष्टि से प्रस्तुत किया है।

रस-विघ्न का प्रसंग यहाँ पूर्ण हो जाता है। इस विवेचन के दो पक्ष हैं—कवि की दृष्टि से अथवा विषयगत और सहृदय की दृष्टि से अथवा विषयगत, यद्यपि तत्त्व-दृष्टि से रस-विघ्न की सत्ता विषयगत ही मानना चाहिए क्योंकि रस की स्थिति वस्तुतः सहृदयगत ही है और रस-विघ्न भी वहीं होगा जहाँ रस है। परन्तु व्यवहार-दृष्टि से उपर्युक्त वर्गीकरण उपयोगी हो सकता

धारणा का नहीं।[३]" उचित ज्ञान नहीं होता, कला के रूप में सौंदर्य या रस मात्र भाव तथा संवेदना पर ही आश्रित नहीं है, वरन् उसमें विचारों का भी एक विशिष्ट स्थान है। काव्य के प्रतीकों अथवा कवि-प्रतिभा पर आश्रित नवीन प्रतीकों का स्थायित्व इसी तथ्य पर आधारित है। एक वाक्य में कहें तो रसोद्रेक, भाव, संवेदना तथा विचार से समन्वित मानव-वृत्तियों की समरसता है। इसी समरसता पर आनंद की सृष्टि होती है। प्रतीक का स्थान इस आनंदानुभूति में उस एलक्ट्रान (Electron) के समान है जो किसी तत्त्व के केन्द्रक (Neucleus) का विस्फोट कर, शक्ति रूप आनंद का प्रादुर्भाव करते हैं। उपनिषदों में "आनंद ब्रह्म है", ऐसी भी स्थापना की गयी है।[४] अतः तार्किक-पद्धति से रस, जो आनंदस्वरूप है, वह ब्रह्म का पर्याय है। अस्तु, रस ही ब्रह्म है।

अनुभाव का प्रतीक रूप

अनुभाव, भाव-जाग्रत के पश्चात् होनेवाले अंगविकारों को कहते हैं। ये अंगविकार हृद्गत भावों के वाह्य रूप हैं। अनेक अनुष्ठानों में जिन अंगमुद्राओं का स्वरूप प्राप्त होता है, वे मूलतः अंगविकार ही हैं। रस-सिद्धान्त में अनुभावों के अन्तर्गत इन अंगमुद्राओं की भावना का सुन्दर समाहार प्राप्त होता है, अतः अनुभावों को इस रूप में देखने पर उनका प्रतीकात्मक महत्त्व ही अधिक स्पष्ट होता है। अंगज, स्वभावज, कायिक, मानसिक तथा वाचिक अनुभावों के श्रेणीबद्ध विभाजन, प्रतीकात्मक दृष्टि से, एक वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि के परिचायक हैं। अंग-विकार या मुद्राएँ अधिकतर अंगज या कायिक होती हैं जो स्वभाव अथवा मानसिक स्थिति पर आश्रित रहती ह। नायिका-भेद में इन अनुभावों का भी यदा-कदा सहारा लिया गया है जिसका सुन्दर रूप विदग्धा और प्रौढ़ा के रूपों में देखा जा सकता है।[५] प्रतीकात्मक दृष्टि से वाचिक प्रकार का महत्त्व वाणी का ही रूप है। अंगमुद्राओं के अतिरिक्त हम कभी कभी अपने भावों तथा विचारों का प्रकाशन वाणी द्वारा भी करते हैं। आदिमानवीय स्थिति में वाणी के शब्द (प्रतीक) प्रेषणीयता के माध्यम थे और यहाँ पर भी इनका महत्त्व इसी रूप में है। रसोद्रेक की प्रक्रिया में ये अनुभाव (अंगज तथा वाचिक) अपनी विशिष्टता के कारण सहायक होते हैं। इस दृष्टि से, अनुभावों का रसात्मक एवं प्रतीकात्मक महत्त्व एक साथ स्पष्ट हो जाता है।

साधारणीकरण और प्रतीक

अभिनव गुप्त का साधारणीकरण सिद्धान्त अभिव्यक्तिवाद का एक प्रमुख अंग है। क्रोशे का अभिव्यंजनावाद और अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद कई तत्वों में समानता प्रदर्शित करता है। साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है और जब यह अनुभूति भाषा के भावमय प्रयोग के द्वारा अपना विस्तार करती है तब साधारणीकरण की क्रिया का रूप स्पष्ट होता है।

कवि अपनी भावाभिव्यक्ति में प्रतीकों का सहारा लेता है, वह ऐन्द्रिक अनुभवों पर ही विम्बग्रहण करता है और फिर, बिम्बों के सहारे प्रतीक-सृजन के महत् कार्य को सम्पन्न करता है। कला और साहित्य प्रत्यक्षानुभव (Perception) को विम्ब रूप में ग्रहण कर, उसे अनुभूति में

परिवर्तित करता है, तभी वह प्रतीक की श्रेणी में आता है। अतः प्रतीक के स्वरूप में प्रत्यक्षानुभव और अनुभूति, दोनों का समन्वित रूप प्राप्त होता है।[६] काव्य के विचार तथा भाव मूलतः अनुभूतपरक होते हैं। जब भी कवि इस अनुभूति को वाह्य रूप देना चाहेगा, तब वह भाषा के प्रतीकों के द्वारा, उस विशिष्ट अनुभूति का साधारणीकरण करेगा। यह एक सत्य है कि हमारी अनेक ऐसी अनुभूतियाँ होती हैं जो अपनी पूर्णाभिव्यक्ति केवल प्रतीकों के द्वारा ही कर सकती हैं। अतः डॉ० नगेन्द्र का यह मत प्रतीकात्मक दृष्टि से अनुशीलन योग्य है—"कवि अपने समृद्ध भावों और अनुभूतियों (मेरा स्वयं का जोड़ा शब्द है) के बल पर अपने प्रतीकों को सहज ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरों के हृदय में भी समान भाव जगा सकें।"[७]

अनुभूति का क्षेत्र मूल रूप से संवेदानात्मक होता है। प्रतीक उसी सीमा तक संवेदन-युक्त होंगे जिस सीमा तक उसमें अनुभूति की अन्विति होगी। संवेदना अनुभूति तथा विम्ब ग्रहण, जो मन की विविध क्रियाएँ हैं—इन सब की क्रिया-प्रतिक्रिया प्रतीक के सूक्ष्म मानसिक तथा बौद्धिक धरातल की परिचायिका हैं। इस क्रिया के द्वारा प्रतीक 'अरूप' की रूपात्मक अभिव्यंजना प्रस्तुत करता है। मेरे विचार से यही अभिव्यक्तिवाद है। यह विवेचन क्रोशे के इस कथन से भी समानता रखता है कि अनुभूति ही अभिव्यक्ति है।[८]

भट्टनायक ने साधारणीकरण को भावकत्व की शक्ति माना है जिसके द्वारा भाव का आप से आप साधारणीकरण हो जाता है। परन्तु अभिनव गुप्त ने व्यंजना शक्ति में साधारणी-करण का सामर्थ्य माना है। जहाँ तक प्रतीक के अर्थ का प्रश्न है, उसका अर्थ व्यंजना तथा लक्षणा शक्तियों पर आश्रित होता है। भाषागत प्रतीक, व्यंजना के द्वारा ही अर्थ व्यक्त करते हैं। अतः शब्द-प्रतीक की व्यंजना तथा लक्षणा शक्तियों पर ही साधारणीकरण की क्रिया अवलम्बित है।

ख—ध्वनि और प्रतीक

शब्द शक्ति और प्रतीक

यदि रस, काव्य की आत्मा है तो ध्वनि, काव्य शरीर को बल देनेवाली संजीवनी शक्ति है। घंटे के "टन्" के बाद जो सुमधुर झंकार निकलती है और जो शनैः-शनैः वायुतरंगों में विलीन हो जाती है—यही झंकार ध्वनि का रूप है। इसी प्रकार काव्य में वाच्यार्थ के द्वारा जो व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है, वही ध्वनि है। इस प्रकार ध्वनिवादियों ने शब्द-शक्ति का विशद विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस विश्लेषण के द्वारा प्रतीक और शब्द शक्ति के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है।

भारतीय मनीषा ने शब्द-शक्ति के विश्लेषण द्वारा भाषागत-प्रतीक-दर्शन की भूमि प्रस्तुत की है। भाषागत प्रतीक दर्शन यह सिद्ध करता है कि भाषा का गठन और विकास प्रतीकों के संगठन एवं अर्थबोध का इतिहास है। शब्द-शक्तियों के द्वारा भाषा की उस शक्ति का पता चलता है जो किसी भी भाषा के सबल रूप का द्योतक है। शब्द-शक्तियों पर ही प्रतीक का भवन निर्मित होता है और जिसकी आधारशिला पर ही अर्थ का प्रस्फुटन होता है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में शब्द की तीन शक्तियाँ मानी गयी हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इनमें सर्वोच्च स्थान व्यंजना शक्ति का माना जाता है। (काव्य की दृष्टि से)

इसी व्यंजना (Suggestiveness) द्वारा व्यक्त व्यंग्यार्थ को 'ध्वनि' कहा गया। जहाँ तक अभिधा का प्रश्न है, वह तो केवल शब्द का प्राथमिक अर्थ है जो शब्द से परे किसी अन्य अर्थ का वाहक बनने में असमर्थ है। लक्षणा भी शब्द की वह शक्ति है जो प्राथमिक अर्थ से द्वितीय अर्थ की ओर अग्रसर होती है, परन्तु व्यंजना शक्ति, काव्य की दृष्टि से, उच्चतम शक्ति कही जाती है। सत्य में, काव्यानुभूति की अभिव्यक्ति शब्द की व्यंजना एवं लक्षणा शक्तियों पर आश्रित है। दूसरे शब्दों में, ध्वन्यात्मक काव्य में इन दो शक्तियों द्वारा, अर्थ-ध्वनि का रूप मुखर होता है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने, इसी से यह विचार व्यक्त किया है कि प्रतीक का सम्बन्ध शब्द-शक्ति की ध्वनि-शैली से है।[९] प्रतीक की यह ध्वन्यात्मक परिणति शब्द के व्यंग्यार्थ का विकसित रूप है। यदि शब्द व्यंग्यार्थ का ध्वनन न कर सका तो वह प्रतीक का रूप नहीं हो सकता है। अलंकारों के क्षेत्र में शब्द की लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का पूरा प्रयोग किया गया है। इस पर हम आगे विचार करेंगे। रीतिकाव्य में अधिकांश प्रतीकों की योजना अलंकारों के आवरण में अथवा कवि-समय के प्रकाश में ही हुयी है। इन शब्द-शक्तियों का वैविध्यपूर्ण विस्तार छायावादी, रहस्यवादी तथा प्रयोगवादी कविता में प्राप्त होता है। पश्चिमी काव्य-शास्त्र में काव्य-भाषा की उच्चतम प्रकृति, शब्द के व्यंग्यार्थ में ही समाहित मानी गयी है। बर्नार्डी (Bernardi) ने भाषा को बुद्धि का प्रतीकात्मक रूप कहा है।[१०] यदि हम इस कथन पर मनन करें तो यह स्पष्ट होता है कि काव्य-भाषा में प्रयुक्त शब्दों का व्यंग्यार्थ ही उसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। यही काव्य के शब्द-प्रतीक की ध्वनि है। इसी व्यंग्यार्थ पर कवि अनेक शब्द-प्रतीकों का सृजन करता है। अतः कवि की सृजन-क्रिया भाषा और शब्दों के रूढ़ि रूप का ही पालन नहीं करती है, वरन् उसकी सृजनात्मक क्रिया अपने विकास के साथ नवीन शब्दों पर आश्रित काव्य-भाषा का नव-निर्माण भी करती है।[११] आधुनिक काव्य में हमें ऐसे नव शब्दों तथा प्रतीकों का सुन्दर स्वरूप प्राप्त होता है।

स्फोट-सिद्धांत और प्रतीक

शब्द-प्रतीक किसी भाव अथवा वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है जो विचारोद्भावना में सहायक होते हैं। शब्द के सुनने पर अर्थ की प्रतीति कैसे होती है, इस समस्या पर ही स्फोट सिद्धान्त का प्रणयन हुआ है **जो शब्द और उसके अर्थ की दूरी को निकट लाता है।** वैयाकरणों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन वैज्ञानिक रूप से किया है।

स्फोट उस सम्मिलित ध्वनि-बिम्ब को कहते हैं, जो किसी शब्द के विभिन्न ध्वनियों के संयोग से प्रादुर्भूत होता है और उस ध्वनि-बिम्ब के पृथक्-पृथक् वर्णों से भिन्न-भिन्न अर्थों का बोध होता है। बिम्ब-ग्रहण और शब्द का अन्योन्य सम्बन्ध है, अतः यह कहना अधिक न्यायसंगत होगा कि बिम्ब-ग्रहण के बिना शब्द का अस्तित्व ही खतरे में आ जाता है। इन्हीं बिम्बों की आधारशिला पर शब्द-प्रतीकों का सृजन होता है। शब्द की अंतिम ध्वनि उच्चरित हो जाने पर, ध्वनि-बिम्ब या स्फोट ही शब्द के सम्पूर्ण अर्थ का बोध कराता है। ध्वनिकार का मत है कि जिस प्रकार ध्वनि के और उसके स्फोट के सुनने पर ही उस शब्द का अर्थ ध्वनित होता है, उसी प्रकार काव्य में शब्द के वाच्यार्थ के द्वारा जो व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है, वही काव्य है। प्रतीक की दृष्टि से शब्द का वाच्यार्थ महत्त्व नहीं रखता है, परन्तु उसका व्यंग्यार्थ ही आवश्यक तत्त्व है। डॉ० नगेन्द्र का मत है कि अर्थबोध शब्द के स्फोट पर ही

आश्रित रहता है।[१२] शब्द-प्रतीक का अर्थ स्फोट और व्यंग्यार्थ की मीलित क्रिया से ध्वनित होता है।

शब्द का अभिधेयार्थ एक ही रहता है, परन्तु जब वह शब्द, प्रतीक का कार्य करता है तब वही शब्द व्यंजनात्मक हो उठता है। सत्य व्यंग्यार्थ में चमत्कार नहीं होता है, पर उसमें एक तरह की जीवनगत मर्मस्पर्शिता होती है और प्रतिभाजन्य जागरूकता। इसी से ध्वनिकार ने शब्द-ध्वनि की परिणति के अनुसार काव्य के तीन भेद माने हैं, यथा—ध्वनि-काव्य (उत्तम-काव्य), गुणीभूत काव्य (मध्यम) और अधम काव्य (चित्रकाव्य)। जहाँ तक प्रतीक का प्रश्न है, ध्वनि काव्य ही सत्य प्रतीकात्मक शैली को अपनाता है। गुणीभूत काव्य में वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ से समानता प्रदर्शित करता है, वहाँ पर प्रतीक की स्थिति संदिग्ध रहती है, क्योंकि वस्तु तथा शब्द का वहाँ पर समान धरातल रहता है।

ग—रीति-सम्प्रदाय और प्रतीक

रीति और प्रतीक

'रीति' शब्द भारतीय काव्य-शास्त्र में उस विशिष्ट पद रचना को कहते हैं जिसके द्वारा कवि अपने भावों तथा विचारों को किसी विशिष्ट शैली या फार्म (Form) में अभिव्यक्ति प्रदान करता है। इसी से रीति या शैली को मनोविकारों की अभिव्यक्ति का नाम दिया गया है।[१३] अंग्रेजी शब्द 'स्टाइल' रीति का समान अर्थ देता है। इसी शैली के अन्तर्गत उन माध्यमों का समावेश होता है जो कवि या कलाकार रीति प्रदर्शन में प्रयुक्त करता है। इसमें रूपक, उपमा और प्रतीक आदि का भी समावेश है, परन्तु रीति-काव्य का सर्वस्व नहीं है। यहाँ पर प्रतीक का जो भी विवेचन होगा, वह केवल शैली या रीति के प्रकाश में होगा। अतः यह विवेचन काव्य की दृष्टि से एकांगी ही कहा जायगा। इस दृष्टि से रीति, कवि स्वभाव और उसके मनोभावों की प्रतीक मानी जा सकती है जो केवल रूपात्मक ही है।[१४]

दण्डी, वामन और भामह जैसे संस्कृत आचार्यों ने रीति-तत्त्वों का विस्तृत विवेचन किया है। उसमें यदाकदा ऐसे संदर्भ भी प्राप्त होते हैं, जो प्रतीकात्मक शैली की ओर संकेत करते हैं। परन्तु यहाँ प्रतीकात्मक शैली प्रतीकवाद नहीं है, वह तो प्रतीक दर्शन का एक अंगमात्र है। प्रतीक को केवल एक शैली मानना, उसके व्यापक अर्थ को संकुचित करना है। रीति-काव्य में अधिकतर प्रतीक का रूप शैलीपरक तो अवश्य है, पर साथ ही उस प्रतीक का एक भावात्मक एवं संवेदनात्मक रूप है जो उसे अर्थ प्रदान करता है। यहाँ यह मंतव्य नहीं है कि प्रतीक का शैलीपरक रूप है ही नहीं, पर भावों तथा विचारों का रसात्मक सन्निवेश ही प्रतीक का प्राण है।

शब्द-गुण और अर्थ-गुण

वामन ने गुणों की संख्या १० मानी है और इन गुणों को दो भागों में विभाजित किया है। वे हैं—शब्दगुण और अर्थगुण। ये दोनों गुण काव्य के आवश्यक अंग हैं जिस पर रीति का प्रासाद निर्मित हुआ है। ये गुण हैं—ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सुकुमारता, उदारता, अर्थव्यक्ति और कांति। इन विभिन्न गुणों के विवेचन से यह बात स्पष्ट होती है कि शब्द और अर्थ

का अन्योन्य संबंध ही प्रतीक की व्यंजना-शक्ति को मुखर करता है। इन गुणों में श्लेष, माधुर्य और अर्थव्यक्ति का, प्रतीक की दृष्टि से, विशेष महत्व है क्योंकि प्रतीकार्थ श्लेषपरक भी हो सकता है और उसमें माधुर्य तथा कांति का समावेश अपेक्षित है। शब्द-प्रतीक उसी समय गुणयुक्त होते हैं जब वे औचित्यपरक अर्थव्यंजना कर सकने में समर्थ हों। वामन के अनुसार-गुण मानसिक दशा के द्योतक हैं जो काव्यात्मा 'रस' से सम्बन्धित हैं। मन की क्रियाओं में विचार की क्रिया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, अतः गुण और विचार मन की क्रियाएँ हैं। विचार का कार्य प्रतीकीकरण है और प्रतीक का कार्य उस विचार तथा भाव की अर्थव्यक्ति है जिसका प्रतीकीकरण हुआ है। अतः अर्थव्यक्ति जो एक गुण है, उसका यथार्थ स्वरूप वस्तु के विशद संदर्भ के प्रयोग में समाहित है। काव्य में प्रतीक की स्थिति उसी सीमा तक अपेक्षित है जिस सीमा तक वह शब्द-प्रतीक अपने व्यंग्यार्थ को—अर्थ व्यक्ति को, एक विशिष्ट 'रीति' के द्वारा अभिव्यंजित कर सके। काव्यात्मक शब्द का सौंदर्य अर्थव्यक्ति के विस्तार में निहित है जो अलंकारों का भी क्षेत्र है। रीति की दृष्टि से शब्द का सौन्दर्य, उसके रूपात्मक एवं शैलीपरक रूप में निहित है जो अर्थ को सुन्दर विधि से प्रकट कर सके।

दूसरा गुण कांति है जिसके द्वारा शब्द-प्रतीकों के प्रयोग में उज्ज्वलता तथा भावोद्रेक करने की क्षमता आती है। श्लेष गुण प्रतीक को स्थिर कर सकता है, यदि उस शब्द के द्वारा दो या अधिक पक्षों में समानता व्यंजित हो। इसका विवेचन अलंकारों के अंतर्गत किया जायगा।

अरस्तू ने भी चार अवगुणों की प्रधानता दी है, यथा—समासों का अनुचित प्रयोग, अप्रचलित शब्दों का प्रयोग, विशेषणों का प्रयोग और रूपक का वर्ण्य विषय से अलग प्रयोग[१५]—जिनके द्वारा शैली की गरिमा नष्ट हो जाती है। प्रतीकात्मक दृष्टि से जो बात रूपक के लिए कही गयी है, वह प्रतीक के लिए भी सत्य है। प्रतीक की अर्थ-व्यंजना उसी समय सफल हो सकती है जब वह अपने वर्ण्य-विषय से पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर ले। यह मत मम्मट से भी साम्य रखता है।[१६]

घ—वक्रोक्ति और प्रतीक

वक्रता और प्रतीक

कुंतक का वक्रोक्तिवाद काव्य की आत्मा को वक्रोक्ति या कथन की वक्रता मानता है। यदि निष्पक्ष रूप से देखा जाय तो काव्य में वक्रोक्ति का स्थान एक स्वाभाविक गुण है। कविता में किसी भी भाव को **स्वाभाविक** वक्रता के साथ ही प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ मैंने वक्रता के साथ 'स्वाभाविक' शब्द को जोड़कर कष्ट-कल्पना पर आश्रित वक्रता से भिन्न करने का प्रयत्न किया है। इसके प्रथम भामह ने सभी अलंकारों में वक्रता को अभिन्न माना है। यह सत्य भी है कि मूलतः सभी अलंकारों के वक्रोक्ति का समावेश अवश्य रहता है, चाहे वह स्वाभाविक हो अथवा कष्ट-कल्पना पर आश्रित हो।

अरस्तू ने अपने ग्रंथ 'पोयेटिक्स' में एक स्थान पर कहा है कि "प्रत्येक वस्तु जो अपनी स्वाभाविक सरल बोलने की विधि से विलग हो जाय, वह काव्य है।"[१७] यह कथन वक्रोक्ति के रूप से समानता रखता है। दूसरी ओर कुछ रोमांटिक कवियों—जैसे वर्ड्सवर्थ तथा कॉलरिज

का वक्रोक्ति से विरोध था। वे ग्राम्य-जीवन की साधारण भाषा के प्रति अधिक आकृष्ट थे।[१८] परन्तु इनके काव्य में भी स्वाभाविक तथा सरल वक्रता का समावेश अवश्य था जिसे उन्होंने ग्रामीण जगत् की निष्कपट सरलता की संज्ञा दी है।

इस प्रकार वक्रोक्ति, अलंकार और काव्य-भाषा का एक आवश्यक गुण है। प्रतीक के लिए भी वक्रोक्ति का एक विशिष्ट स्थान है, जो उसके प्रतीकार्थ की सापेक्षता में ही ग्राह्य है। यह तथ्य रीतिकाल तथा आधुनिककाल में प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होता है। प्रतीक की वक्रता उसके अर्थ में निहित है। यदि प्रतीक की वक्रता में, प्रस्थापना (Proposition) का स्वरूप मुखर न हो सका, तो वह प्रतीक न रहकर केवल शब्द या वस्तुमात्र ही रह जायगा।

अलंकार और वक्रोक्ति

कुंतक की परिभाषा से स्पष्ट होता है कि सालंकृत शब्द ही काव्य की शोभा हैं। वक्रोक्ति ही शब्द और उसके अर्थ को सालंकृत कर, अर्थ-गरिमा को द्विगुणित कर देता है। अलंकारों में शब्द की वक्रता काव्य-प्रस्थापनाओं को रससिक्त कर देती है। विविध प्रकार के काव्यालंकार वक्रोक्ति के रूप हैं। जहाँ तक रस का सम्बन्ध है, कुंतक ने उसे वक्रता पर आश्रित माना है और उसे 'रसवत् अलंकार' में समाहित किया है।[१९] अतः रस का उद्रेक वक्रता पर अवलंबित है। परन्तु रस के लिये केवलमात्र वक्रता आवश्यक नहीं है। शब्द-प्रतीक की भावभूमि में वक्रता की स्वाभाविक परिणति ही उसे अलंकारगत-प्रतीक की श्रेणी तक ला सकती है। अंत में, यह **अलंकृत शब्द-वक्रोक्ति** का औचित्य इसी तथ्य में समाहित रहता है कि वह किस सीमा तक 'रसानुभूति' में सहाय हो सका है। अप्रस्तुत-विधान, अलंकार का अभिन्न अंग है। जब अप्रस्तुत स्वतन्त्र रूप से अलंकारों के आवरण में प्रयुक्त होते हैं,तो उनकी सफलता का रहस्य वक्रोक्ति भी कहा जा सकता है। मेरे विचार से जिन अलंकारों में प्रतीक की स्थिति सम्भव है (जैसे यमक, श्लेष, अन्योक्ति, और समासोक्ति, आदि), उनमें किसी सीमा तक रसानुभूति की परिणति वक्रता पर आश्रित रहती है।

कुंतक ने अलंकारों के वाच्य तथा प्रतीयमान, दो रूप माने हैं। जहाँ तक रूपक का सम्बन्ध है, वह वाच्य भी हो सकता है और प्रतीयमान भी। प्रतीक की दृष्टि से वाच्य का स्थान नगण्य है, क्योंकि वाच्य अलंकारों में उपमान और उपमेय का अभेदारोप तो अवश्य रहता है, पर यह अभेदा-रोप स्पष्ट शब्दों में केवल वाच्यार्थ तक सीमित रहता है।[२०] किन्तु प्रतीक में यह अभेदारोप केवल उपमान या अप्रस्तुत रूप में स्वतन्त्र व्यक्तित्व के समान व्यंग्य-मुखेन रहता है। उसका अर्थ वाच्य पर निर्भर न हो, व्यंग्यार्थ पर आश्रित रहता है। अस्तु, प्रतीक के लिए प्रतीयमान अलंकार ही महत्वपूर्ण है, परन्तु इनमें भी प्रतीक की स्वतन्त्र स्थिति अपेक्षित है। बहुत से परम्परागत रूढ़ि वक्रता के प्रतीक (यथा कविपरिपाटी) वाच्यार्थ से भिन्न रूढ़ि अर्थ को ही व्यंजित करते हैं। इनका भी क्षेत्र प्रतीयमान ही होता है चाहे वे अलंकारों के आवरण में क्यों न प्रयुक्त हुए हों?

अभिव्यंजनावाद और प्रतीक

वक्रोक्तिवाद, वाणी की विलक्षणता के कारण भावों की विलक्षणता मानता है, यह मत

एकांगी है। भाव तथा भाषा का अन्योन्य सम्बन्ध है। भावों को प्रकट करने के लिए ही हम वाणी या भाषा का प्रयोग करते हैं, अतः भाव प्राथमिक वस्तु है और भाषा द्वितीय। प्रतीक में भी भाव तथा भाषा का समन्वित रूप ही प्राप्त होता है। क्रोशे का अभिव्यंजनावाद भाषा के इसी रूप का विवेचन करता है। बोशों ने कहा है—"अभिव्यक्ति के लिए भावात्मक संवेदना आवश्यक है और संवेदना के लिए अभिव्यक्ति। इसी से अभिव्यक्तिवाद भाषा की आधारशिला पर आधारित है।[२१]

क्रोशे के अभिव्यंजनावाद में और कुंतक के वक्रोक्तिवाद में समानताएँ हैं, जो प्रतीक की स्थिति की ओर संकेत करती हैं। दोनों के लिए अभिव्यंजना का समान महत्व है। दोनों वस्तु तथा भाव की अपेक्षा उक्ति में काव्यत्व मानते हैं। दोनों कलाशास्त्री आत्मा की क्रिया को ही कला का क्षेत्र मानते हैं अर्थात् अध्यात्मपरक क्रिया पर जोर देते हैं। दोनों सौन्दर्य की श्रेणियाँ नहीं मानते हैं, पर उसे सहजानुभूति की एक क्रिया मानते हैं।[२२] इन समानताओं में जहाँ एक ओर आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता है, वहीं अपेक्षाकृत वस्तु की गौणता। प्रतीक की दृष्टि से यह मत नितांत सत्य नहीं है। प्रतीक की आधारशिला वस्तु ही होती है जो किसी अन्य अर्थ की ओर संकेत करती है। अभिव्यंजना में भी प्रतीक वस्तुपरक ही होते हैं पर अपने प्रतीकार्थ में उस वस्तु से परे अन्य अर्थों तथा वस्तुओं की व्यंजना करते हैं। प्रत्येक भाव तथा विचार की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को ध्यान में रखकर मूर्त्त विधान (अमूर्त्त का) करना अच्छा होता है[२३] पर मूर्त्त विधान (प्रतीक) को अतिरंजित कर देना, अभिव्यंजना को कृत्रिम बना देता है। आत्माभिव्यंजना एक आध्यात्मिक क्रिया है और इसी से जो भी प्रतीक इस क्रिया में सहायक होंगे, वे मूर्त्त रूप होते हुए भी अमूर्त्त की व्यंजना अवश्य करेंगे। यही प्रतीकात्मक-अभिव्यंजना, काव्य की सबसे बड़ी शक्ति है।

ङ—अलंकार और प्रतीक

शब्द-प्रतीक और अलंकार

विगत विवेचन के प्रकाश में यदा-कदा अलंकारों और उनमें प्रयुक्त शब्दों की ओर संकेत किया गया है। पंडितराज जगन्नाथ ने एक स्थान पर कहा है—"रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" अर्थात् रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करनेवाला शब्द ही काव्य है।[२४] पाश्चात्य विचारक लांगिनस ने सब्लाइम (Sublime) पर विचार करते समय भव्यता (सब्लाइम) का उदय अलंकारों की सत्ता में माना है। अलंकार भव्यता की वृद्धि करते हैं, यह कथन पंडितराज जगन्नाथ के 'रमणीय अर्थ' के समकक्ष ज्ञात होता है। रमणीय अर्थ प्रदान करने के दो साधन हैं—व्यंजना और अलंकार। जहाँ तक प्रतीक शब्दों का प्रश्न है, उनका स्थान समान रूप से अलंकार और व्यंजना पर आश्रित है। व्यंजना शक्ति पर हम विचार कर चुके हैं, अतः अलंकार और प्रतीक का विवेचन अपेक्षित है।

अलंकार, काव्य के गुण माने गये हैं। आचार्य विश्वनाथ ने अलंकारों के बारे में कहा है कि "शोभा को बढ़ानेवाले और रसादि के उपकारक जो शब्द, अर्थ के अनित्य धर्म हैं, वे अंगद (आभूषण विशेष) आदि की तरह अलंकार कहे जाते हैं।[२५] परन्तु प्रतीक की महान् भावभूमि को ध्यान में रखते हुए अलंकार की यह परिभाषा एकांगी कही जायगी।

अलंकार की मूल प्रेरणा का रहस्य क्या है? उनकी प्रेरणा का मूलभूत स्रोत भावों तथा संवेदनाओं में निहित है। जब मानव मन में भावनाएँ सजग होती हैं, तब वे आवेग का रूप धारण करती हैं और ये आवेग इतने तीव्र होते हैं कि वे कवि के मानस-लोक को उद्वेलित कर देते हैं। अमूर्त्त आवेग इस प्रकार मूर्त्त रूप में अभिव्यंजित होते हैं। अलंकार भी एक रूपात्मक अभिव्यक्ति है। इसी से क्रोशे ने अलंकार, प्रतीक, यथार्थ—सबको अभिव्यंजना की विधियाँ माना है।[२६] सत्य में, तत्व (content) को शक्तिशाली रूप में अलंकार ही रख सकने में समर्थ है। अभिव्यक्ति के विशेष माध्यम शब्द हैं जो अलंकारों में सुन्दर विकास प्राप्त करते हैं। शब्द ही वस्तु तथा पात्र के बोधक होते हैं। अलंकार, वस्तु और पात्र में निहित मनोवैज्ञानिक सौंदर्य को स्पष्ट करने के साधन हैं, केवलमात्र अलंकरण के उपकरण नहीं हैं।[२७] अनेक ऐसे काव्यालंकार हैं जिनमें शब्द-प्रतीकों के अर्थ-विस्तार पर ही रस का उद्रेक होता है। यह कवि की प्रतिभा पर निर्भर करता है कि वह प्रतीक को अलंकार के आवरण में कितने बड़े संदर्भ का वाहक बना सका है। अलंकार में प्रतीक केवल चमत्कारिक वस्तु नहीं है, पर उनका महत्व विचारों तथा भावों को रमणीय रूप देने में है। अलंकार अभिव्यक्ति के माध्यम हैं, उनके साध्य नहीं।

अलंकार और प्रतीक के इस विवेचन के प्रकाश में कुछ ऐसे काव्यालंकार दृष्टिगत होते हैं जिनमें प्रतीक की स्थिति सम्भव है। अतः उनका विवेचन यहाँ अपेक्षित है।

रूपक और प्रतीक

अनेक विचारक रूपक और प्रतीक में कोई भी भिन्नता नहीं पाते हैं। अनेकों के अनुसार प्रतीक ही रूपक हैं और वे केवल रूपक से ही आविर्भूत होते हैं,[२८] इस मत का विश्लेषण अपेक्षित है।

रूपक में उपमान तथा उपमेय की अभिन्नता तथा तद्रूपता रहती है। एक प्रकार से रूपक में दोनों का समान महत्त्व है। परन्तु उनकी तद्रूपता में भी विलगता का स्पष्ट आभास मिलता है। यह बात प्रतीक के लिए सर्वथा असत्य है। प्रतीक का अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व होता है और साथ ही वह पूरे संदर्भ को अपने अंदर समेटने में समर्थ होता है। प्रतीक में उपमान तथा उपमेय (प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत) की सत्ता नहीं रहती है, वहाँ तो केवल उपमान ही प्रतीक की स्थिति को स्पष्ट करता है। उपमान में उपमेय अन्तर्भूत हो जाता है और केवलमात्र उपमान ही पूरे संदर्भ को किसी भाव या विचार का वाहक बना, किसी अन्य अर्थ की व्यंजना करता है। तभी वह प्रतीक हो जाता है। अतः डॉ० धर्मवीर भारती का यह मत कि "औपम्यमूलक प्रतीक-योजना रूपक की मूल प्रकृति है जिसमें प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का अभेद रहता है[२९]" पूर्ण रूप से सत्य नहीं है। यह ठीक है कि प्रतीक में भी प्रस्तुत और अप्रस्तुत का अभेदत्व रहता है, परन्तु यह अभेदत्व रूपक से सर्वथा भिन्न है। रूपक में यह अभेदत्व उपमान तथा उपमेय की व्यक्त योजना के कारण वहीं पर कथन कर दिया जाता है। दूसरी ओर प्रतीक के अभेदत्व में उपमान तथा उपमेय का अलग-अलग कथन नहीं किया जाता है। अप्रस्तुत पर जितना ही अधिक स्वतन्त्र प्रतीकत्व होगा, वह उतने ही विस्तृत अर्थ का व्यंजक होगा। इस प्रकार, प्रतीक रूपक की सापेक्षता में व्यक्त और अव्यक्त का एक साथ अपने में अन्तर्लय कर लेता है। वह अपने में ही कार्य कारण (Cause and effort)

का प्रतिरूप होता है। वह मूर्त्त और प्रतिमूर्त्त की तरह अकेला कार्य करता है।[३०] यहीं प्रतीक की स्वतन्त्रता है और उसके व्यक्तित्व की विशालता।

श्लेष और प्रतीक

दूसरा अलंकार श्लेष है जिसमें प्रतीक की स्थिति प्राप्त होती है। श्लेष में शब्द के अनेक अर्थ ध्वनित होते हैं, परन्तु शब्द का प्रयोग एक बार ही होता है। यहाँ पर शब्द-प्रतीक की दशा स्पष्ट होने लगती है और अंत में, वह किसी भाव में स्थिर हो जाता है। इस प्रकार, अर्थसमष्टि के अभिव्यक्तिकरण में प्रतीक किसी शब्द-विशेष का आश्रय ग्रहण करता है। यह शब्द उस सप्तखंड के समान है जिसके अर्थ की अनेक रश्मियाँ इष्ट दिशाओं में गतिशील होती हैं। इस भाँति, शब्द अनेकार्थी होकर विस्तृत संदर्भ को अपने विशाल बाहुपाशों में आवद्ध कर लेता है। इस तरह, प्रतीक के लिए शब्द का वैशिष्ट्य अपेक्षित है। अनेक सादृश्यमूलक अलंकारों की (यथा यमक, श्लेष, प्रतीप, अपह्नुति) अभिव्यक्ति किसी शब्द-विशेष के माध्यम से ही होती है। श्लेष में (यमक में भी) प्रतीकवाद की स्थिति वहीं सम्भव है, जहाँ शब्दों के अर्थ, व्यंजना की प्रतिष्ठा करते हुए, किसी भाव या विचार में स्थिर हो जाते हैं। श्लेष में सभी शब्दों का ध्येय इसी भाव तथा विचार को व्यंजित करने के लिए होता है और ये शब्द केवल एक प्रमुख शब्द के दो संदर्भों को सादृश्य के आधार पर स्थिर कर, प्रतीकात्मक व्यंजना प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणस्वरूप, 'घनश्याम' शब्द लिया जा सकता है। यह शब्द उसी समय प्रतीकात्मक रूप धारण करेगा जब वह मेघ के साथ-साथ किसी अन्य वस्तु, भाव तथा व्यक्ति की गतिशीलता में स्थिर हो जाय। सेनापति के श्लेष-वर्णन में ऐसे प्रतीकों की सुन्दर योजना प्राप्त होती है।[३१] सूरदास तथा केशव में भी हमें श्लेषगत-प्रतीकों का यदा-कदा संकेत मिल जाता है।

यमक और प्रतीक

श्लेष में शब्द की पुनरावृत्ति नहीं होती है, परन्तु यमक में शब्द की बार-बार आवृत्ति होती है। इस आवृत्ति में वह शब्द अनेक अर्थों की व्यंजना अलग-अलग करता है। इसके साथ इन अर्थों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं रहता है, वरन् ये किसी चित्र, भाव तथा विचार को स्थिर करने वाले अंग रहते हैं। इस प्रकार, श्लेष की ही तरह शब्द-प्रतीक की गतिशीलता किसी अर्थ में स्थिर हो जाती है। सूर के कूटों में इस प्रकार के यमक प्रतीकों की सुन्दर योजना प्राप्त होती है।

रूपकातिशयोक्ति और प्रतीक

इस अलंकार में शब्द-प्रतीकों की पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त होती है। इन प्रतीकों की संख्या भी अधिक हो सकती है जो केवल अप्रस्तुत या उपमान की गणना पर निर्भर करती है। अतः रूपकातिशयोक्ति में प्रतीक का रूप अधिकतर अप्रस्तुतपरक ही रहता है। इसी से, इन प्रतीकों को 'अप्रस्तुत-प्रतीक' की संज्ञा दी जा सकती है। इन प्रतीकों का प्रतीकार्थ एकपक्षीय होता है, वे केवल एक ही अर्थ की व्यंजना करते हैं। श्लेष-प्रतीकों के समान दो पक्षीय व्यंजना नहीं करते हैं। इन प्रतीकों का परिगणन-मात्र ही किसी योजना में होता है, जो समष्टि रूप

में किसी भाव या चित्र रूप में व्यंजना करते हैं। इसी से, इस अलंकार में एक साथ अनेक प्रतीकों की स्थिति संभव है, केवल एक प्रतीक पूरे संदर्भ का समावेश अपने अंदर नहीं करता है। अतः प्रत्येक प्रतीक का संदर्भ अत्यंत संकुचित होता है।

अन्योक्ति और प्रतीक

अन्योक्ति में प्रतीक की स्थिति नितांत स्वतन्त्र रूप में उभर कर आती है। अन्योक्ति में उपमान तथा उपमेय की एकाकारिता होती है। वह वस्तु तथा पदार्थ जिसे अन्योक्ति का माध्यम बनाया गया है, उसका मुख्य धर्म ही बढ़कर सारे संदर्भ को अपने अंदर **क्रमशः** समेट लेता है। इस प्रकार वस्तु पूरे संदर्भ का प्रतीकीकरण करने में समर्थ होती है। दूसरे पर कही गयी उक्ति उस वस्तु या अप्रस्तुत में इस प्रकार से एकीभूत हो जाती है कि अप्रस्तुत का प्रस्तुत रूप में अवतार होता है।[३२]

अन्योक्ति में प्रतीक का चयन किसी भी क्षेत्र से लिया जा सकता है चाहे वह चेतन-जगत् हो अथवा अचेतन। जिस अप्रस्तुत में जितना भी प्रतीकत्व होगा, उस पर की गयी अन्योक्ति उतनी ही मार्मिक होगी।[३३] यही कारण है कि कमल, भौंरा, हंस और काग आदि पर अप्रस्तुत का बोझ इतने अधिक समय से लदा हुआ है कि वे रूढ़िअर्थ में बिल्कुल स्थिर हो गये हैं।

कथा-रूपक (Allegory) और प्रतीक

कथा-रूपक के द्वारा कवि या लेखक एक अत्यन्त महत् संदर्भ का प्रतीकीकरण करता है। इसमें किसी प्रस्थापना या 'सत्य' को व्यंजित किया जाता है। इस व्यंजना के माध्यम भौतिक पदार्थ भी हो सकते हैं और व्यक्ति भी। परन्तु कथा-रूपक के सभी पात्र चाहे वे मानवेतर प्रकृति से लिए गये हों अथवा मानवीय व्यक्तित्व से युक्त हों, उनका प्रयोग किसी 'सत्य' को व्यंजित करना ही होता है और वह भी किसी कथा के परिवेश में। इस दृष्टि से सम्पूर्ण पौराणिक तथा धार्मिक कथाएँ 'कथा-रूपक' शैली में लिखी गयी हैं। इन कथाओं के प्रतीकात्मक अर्थ का ध्येय, कथा के 'महत्-प्रतीकार्थ' या सत्य को मुखर करना होता है। इस 'महत्-प्रतीकार्थ' को कथा के तंतुओं से अलग करना ही उस कथा के 'सत्य'का अवगाहन करना है।

कथा-रूपक में प्रत्येक पात्र का अपना विशिष्ट प्रतीकार्थ होने के कारण अरबन ने कथा-रूपक को उपमा का बौद्धिक विकास माना है।[३४] मेरे विचार से कथा-रूपक में उपमा का बौद्धिक विकास तो अवश्य प्राप्त होता है पर उस विकास में बुद्धि के साथ-साथ अनुभूति का भी उचित समावेश रहता है। बिना अनुभूति के उपमा का प्रतीकत्व पूर्ण अर्थ व्यक्त करने में असमर्थ रहेगा। यहाँ उपमा का अर्थ केवल तुलना है, जो सादृश्य के आधार पर होती है। परन्तु प्रतीक की भावभूमि में वह वस्तु जिसकी तुलना की जाती है, उसका सर्वथा अभाव रहता है। केवल इसी रूप में उपमा के प्रतीकत्व को हम कथा-रूपक में स्थान दे सकते हैं।

अस्तु, कथा-रूपक के द्वारा प्रतीकात्मक-दर्शन अपने उच्च रूप में प्राप्त होता है। कथा-रूपक के इस प्रतीकात्मक-विस्तार में बाह्य तत्त्व क्रमशः महत्-तत्त्व (Significance) में एकीभूत होते प्रतीत होते हैं और अंत में, वे पूर्णरूप से 'महत्तत्त्व' के व्यंजक बन जाते हैं।[३५] इस प्रकार, कथा-

रूपक में चिंतनपरक अर्थ और भौतिक आरोपण का समानांतर विकास संभव होता है। फिर भी, कथा-रूपक के महत्-प्रतीकार्थ के प्रति बोशों का एक आश्चर्यजनक निष्कर्ष है। वह कहता है—"कथा-रूपक अपने मूलरूप में दोषयुक्त प्रतीकवाद है जिसमें 'रूप' और 'तत्त्व' (Form and Content) की असमानता रहती है।"[३६] इस कथन में जो दोषयुक्त प्रतीकवाद का संकेत किया गया है, वह निराधार है। उपर्युक्त विवेचन इसका प्रमाण है। प्रतीकवाद का सुन्दर विकास हमें कथा-रूपक में ही प्राप्त होता है। संसार के अनेक महाकाव्य तथा काव्य इसी शैली में लिखे गये हैं, जो युगों-युगों से अपने प्रतीकों द्वारा ही सांस्कृतिक चेतना के अभिन्न अंग बन सके हैं। ये कभी भी चिरन्तन न हो पाते और इनका सांस्कृतिक महत्त्व न जाने कब का रसातल में चला गया होता, यदि इनका प्रतीकवाद दोषयुक्त होता। अब रही तत्त्व और अर्थ की बात ! कथा-रूपक में प्रतीकवाद दोषयुक्त नहीं है, अतः उसमें तत्त्व-समावेश का रूप भी अत्यन्त अर्थ-गर्भित है। बिना अर्थ के, 'तत्त्व' का स्थायित्व नहीं रह सकता है और बिना रूप के तत्त्व की अभिव्यंजना कैसे हो सकती है ? असमानता का रूप तो धरातल की वस्तु है, सत्य है उनका सूक्ष्म स्तर पर गृहीत अर्थ। कथा-रूपक में 'रूप-तत्त्व' की सार्वभौमिकता, उसके 'तत्व पर ही आश्रित रहती है—दोनों एक दूसरे के पूरक होकर ही कथा-रूपक में कार्य-कारण की शृंखला में अनुस्यूत रहते हैं।

मानवीकरण

मानवीकरण, आरोपण की प्रवृत्ति का एक विकसित रूप है। मानव की संवेदना समस्त चराचर विश्व को एक मानवीय चेतना एवं क्रिया से संवलित देखता है, जो आदिमानवीय स्थिति में भी प्राप्त होती है। मानवीकरण की क्रिया, प्रकृति जीव और जगत् के तादात्म्य और एकात्मभाव की महत् क्रिया है। साहित्य में मानवीकरण की प्रेरणा का स्रोत संवेदना के प्रत्यक्षीकरण के लिए होता है।[३७]

भारतीय दर्शन में भी जड़ जगत् को भी चेतनयुक्त देखने की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। सारे उपनिषद्-साहित्य में इसके अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। मेरे विचार में इसका कारण वह एकात्मभाव है जो ब्रह्म की चेतन-क्रिया का स्पंदन समस्त सृष्टि-प्रसार में देखता है। इसीसे, उपनिषदों में सूर्य से परे या उसके अंदर पुरुष की कल्पना की गई,[३८] सृष्टि-प्रसंग में चेतन-शक्ति को 'विराट् पुरुषात्मा' की संज्ञा प्रदान की गयी जिसके विभिन्न अंग सृष्टि के विभिन्न अवयव हैं।[३९] अतः मानवीकरण जहाँ एक ओर जड़ और चेतन को एक सूत्र में बाँधता है, वहीं वह किसी धारणा अथवा भाव का प्रतिरूप भी होता है और कहीं-कहीं तत्व-चिंतन का रूप भी मुखर करता है। अस्तु, मानवीकरण का हमारे दर्शन में एक आध्यात्मिक तथा तात्विक महत्त्व भी है।[४०]

मानवीकरण का क्षेत्र प्रकृति की घटनाओं तथा व्यापारों के दैवीकरण में भी प्राप्त होता है और साथ ही मानवीय भावों तथा धारणाओं के व्यक्तित्व प्रदान करने में भी। यह प्रवृत्ति हमें आदिकाव्य से लेकर आधुनिक-काव्य तक समान रूप से प्राप्त होती है।

मानवीकरण का काव्य-रूप उसी समय सफल माना जायगा जब उसमें अनुभूति-प्रवणता का समावेश प्राप्त हो। अनुभूति एक आत्मिक क्रिया है जिसमें समस्त चराचर विश्व आत्मिका-एकत्व-भाव में अन्तर्निहित हो जाता है। इस दशा में मानव अपने दुःख-सुख को वाह्य प्रकृति पर आरोपित

कर उसे संवेदनशील बना देता है। वह अपनी सीमित परिधि को तोड़कर आत्मिक अनुभति को समस्त चराचर में प्रसारित करता है। यहाँ पर जड़ भी मानव का सहयोगी बन जाता है। इसी से गोपियों ने अपनी विरहानुभति को इतना व्यापक रूप प्रदान किया कि यमुना को ही विरहिणी का रूप दे डाला। यहाँ पर ऐसा ज्ञात होता है कि वस्तु का निलय मानवीय रूप में सम्पन्न हो, अनुभूति की प्रांजलता में साकार हो उठा है। कदाचित् इसी से प्रेसकाट ने मानवीकरण क्रिया में पदार्थ और मानव का एकीभूत संस्कार माना है।[४१] इस दृष्टि से रस्किन का 'पैथेटिक फैलसी' (Pathetic Fallacy) वाला सिद्धांत निराधार प्रतीत होता है और फिर जब हम प्रकृति के उल्लासपूर्ण चित्रों में चेतना का आरोप करते हैं तब हम उसे दोष की संज्ञा नहीं देते हैं, फिर विषाद चित्रों पर ही ऐसा दोषारोपण क्यों? अतः पैथटिक फैलसी के स्थान पर डॉ० रामकुमार वर्मा ने जो 'सिम्पैथटिक फैलसी' की अवतारणा की है, वह रस्किन के एकांगी दृष्टिकोण से कहीं विस्तृत है?[४२] परन्तु चाहे वह सिम्पैथटिक या पैथटिक फैलसी हो, दोष तो वह दोनों दृष्टियों से है। मैं तो इसे दोष या फैलसी ही नहीं मानता हूँ। वह तो दोष तब हो सकता है जब उसे दोषयुक्त रूप में प्रस्तुत किया जाय। यह दोष ही गुण हो जाता है, जब उसके द्वारा चेतना का विस्तार अपनी अर्ध्वगामी प्रवृत्ति का परिचय देता है। मानवीकरण तत्त्व चिंतन का मधु है, सार है—वह अद्वैत-दर्शन की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से वह काव्य का गुण है।

संदर्भ-संकेत

१. काव्य-संप्रदाय, द्वारा अशोककुमार सिंह, पृ० २७

२. दे०, बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय २, ब्राह्मण ५, पृ० ५८२-५९५।

३. आर्ट, द्वारा क्लाइव बेल, पृ० १८

४. तैत्तिरीयोपनिषद् में आनंदमय आत्मा और ब्रह्म की समानता, दे० पृ० १९१ तथा २०८ (उपनिषद् भाष्य खंड २)।

५. नायिका भेद के अधिकांश प्रकारों का अध्ययन प्रतीक रूप में किया जा सकता है, जो एक अलग ही शोध का विषय है।

६. द वर्ल्ड एज़ स्पैक्टिकिल, द्वारा म्यूलर, पृ० ८६

७. रीतिकाल की भूमिका, द्वारा डॉ० नगेन्द्र, पृ० ४९

८. द एसंस ऑफ एस्थटिक, द्वारा क्रोशे, पृ० ४२

९. साहित्य-शास्त्र, द्वारा डॉ० रामकुमार वर्मा, पृ० ११८

१०. एस्थटिक, द्वारा क्रोशे, पृ० ३२८

११. एस्थटिक एंड लैंग्वेज, सं० विलियम इल्टन, पृ० १०३ पर दिये कालिंगवुड का कथन।

१२. रीतिकालकीभूमिका, द्वारा डॉ० नगेन्द्र, पृ० १५०

१३. रीतिकाल की भूमिका, पृ० ६५

१४. भारतीय साहित्य शास्त्र, द्वारा श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० २०१

१५. वही, पृ० २१८-१९

050 - 12

१६. भारतीय साहित्य शास्त्र, द्वारा श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० २१९

१७. पोयेटिक्स, द्वारा अरस्तू, पृ० ७५, उद्धृत भारतीय साहित्य शास्त्र से।

१८. रोमांटिक साहित्य शास्त्र, देवराज उपाध्याय, पृ० १११

१९. रीतिकाल की भूमिका—वक्रोक्ति संप्रदाय

२०. भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० ३२५

२१. बोशो (Bosanquest) श्री लेक्चर्स आन एस्थटिक, पुस्तक ए माडर्न बुक ऑफ़ एस्थिटिक, द्वारा रेडर, पृ० १९७

२२. रीतिकाल की भूमिका, पृ० १२५

२३. काव्य में अभिव्यंजनावाद, द्वारा श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', पृ० १२४

२४. काव्य संप्रदाय, द्वारा अशोककुमार सिंह, पृ० ७८

२५. वही, पृ० ८०

२६. एस्थटिक, द्वारा क्रोशे, पृ० ६८

२७. साहित्य-शास्त्र, द्वारा रामकुमार वर्मा, पृ० ११९

२८. द फिलॉसफी ऑफ़ फाइन आर्ट्‌स, द्वारा हीगल, पृ० १३८

२९. सिद्ध-साहित्य, द्वारा डॉ० धर्मवीर भारती, पृ० २८४

३०. थियरी ऑफ़ लिटरेचर, द्वारा वारन और वेलक, पृ० १९२

३१. दे०, हिन्दी अनुशीलन में प्रकाशित मेरा शोध लेख "सेनापति के श्लेषप्रतीक"—वर्ष १४, अंक ३, प्रका० तिथि, ३० सितम्बर १९६२

३२. हिन्दी कविता में युगांतर, द्वारा सुधीन्द्र, पृ० ३६४

३३. काव्य में अभिव्यंजनावाद, द्वारा लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', पृ० ११९

३४. लैंग्वेज एंड रियाल्टी, द्वारा अरबन, पृ० ४७१

३५. द फिलॉसफी ऑफ़ फाईन आर्ट्‌स, द्वारा हीगल, पृ० १३२

३६. हिस्ट्री ऑफ़ एस्थटिक, द्वारा बोशो, पृ० ४४

३७. साहित्य शास्त्र, द्वारा डॉ० वर्मा, पृ० ६६

३८. कठोपनिषद्, अध्याय १, बल्ली ३, पृ० ९७।११ तथा बृहद्० उप०, पृ० ८७१-८७८ (खंड १ तथा ४)

३९. ऐतरेयोपनिषद्, अध्याय १, खंड १, पृ० ३२-४१ (उपनिषद् भाष्य, खंड २)

४०. दे०, साहित्य शास्त्र, द्वारा डॉ० रामकुमार वर्मा, पृ० ६६

४१. पोयेटिक माइंड, द्वारा प्रेसकाट, पृ० २२९

४२. साहित्य-शास्त्र, द्वारा डॉ० वर्मा, पृ० ७२

छायावाद की मानसिक पृष्ठभूमि

• लक्ष्मीकान्त वर्मा

•द्विवेदी-युग का विश्लेषण

छायावाद को यद्यपि द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया नहीं कहा जा सकता फिर भी जो कुछ भी छायावाद की विशेषता है वह भारतेन्दुत्तोत्तर काल की सापेक्षता में देखा जा सकता है। छायावाद को द्विवेदी युग की काव्यशैली की प्रतिक्रिया कहना उतना ही ग़लत है जितना कि भारतीय नव्य-चेतना को अंग्रेजों की उदार नीति का प्रस्फुटन कहना। महावीरप्रसाद द्विवेदी और भारतीय नव्य-चेतना के नये विकसित आयामों को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी-युग का सम्बन्ध द्विवेदी जी से उतना नहीं है जितना कि उस व्यापक मानववाद से है जो लगभग अर्द्धशती तक आधुनिक शिक्षा और विकसित चेतना के फलस्वरूप विकसित हुआ था। भारतेन्दु काल में ही भारतीय जनमानस में एक प्रकार की नयी अभिजात्य प्रवृत्ति जन्म ले चुकी थी। समस्त देश में राष्ट्रीयता की लहर के साथ-साथ अभिजात्य के प्रति एक सहज आकर्षण भी जागृत हो गया था। कर्म, राग, वैराग्य, और धर्म-दर्शन सब में जो बदलते वातावरणों के अनुसार स्वाभिमान का स्वर फूटा था। वह एक ओर तो भारतीय-जीवन को उसके पूर्व प्रतिष्ठित पद पर पुनरासीन करना चाहता था और दूसरी ओर एक प्रकार का समझौता भी करना चाहता था। प्रतिष्ठा तो ऐतिहासिक गौरव को देना चाहता था और समझौता करना चाहता था उन अमर्यादित रूढ़ियों से, जो उसके वश के बाहर थीं। पुनरुत्थान युग के प्रतिनिधि कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त में यह प्रवृत्ति हमें स्पष्ट लगती है। एक ओर वह कहते हैं —

जब तक न भारत पूर्व के पद पर पुनरासीन हो – भारत भारती

और दूसरी ओर वही कहते हैं —

ब्राह्मण बढ़ावे बोध को, क्षत्रिय बढ़ावे शक्ति को
सब वैश्य निज वाणिज्य को त्यों शूद्र भी अनुरक्ति को—भारत भारती

सहज और सुगम माध्यम से स्वाभिमान और स्वतन्त्रता दोनों के प्रति जागरूक रहने की माँग में, जो चीज स्पष्टतः सिद्ध होती है वह है आभार सहित विद्रोह की। भारतेन्दु का विद्रोह कुछ अर्थों में मैथिलीशरण गुप्त के विद्रोह से भिन्न था। मैथिलीशरण गुप्त तो ऐसा लगता है कि

समाज की विकृतियों को समाज से अलग न फेंक कर उन्हें झाड़-पोंछ कर फिर से सजा देना चाहते हैं, ताकि वह देखने में बुरी न लगे। पुनरासीन करने में और वर्ण-व्यवस्था को ज्यों का त्यों पड़ा रहने देने में उन्हें कोई कष्ट नहीं होता। सहसा नींद से उठते हुए देश के सामने समस्याएँ अनेक थीं। इन समस्याओं का निराकरण भी चाहिये था। समस्त चेतना पर, जो रूढ़ियों का कलेवर जबर्दस्ती चढ़ा हुआ था उससे मुक्ति तो चाहते थे किन्तु वह उनको छोड़कर नये मार्ग का अन्वेषण भी नहीं करना चाहते थे। उसका एकमात्र कारण यह था कि यह कवि 'मैटर आफ फैक्ट' के कवि थे। इन्होंने कहीं भी एक द्रष्टा की दृष्टि (Visionary Vision) का प्रमाण नहीं दिया है। वे अ[illegible]धा दृष्टि के कवि थे। इस युग के कवि इसलिये अपनी नव्य-चेतना को मानव की सापेक्षता में देखते हुए भी व्यवस्था के प्रति विद्रोह न करके उसके प्रति हीन भावना को प्रश्रय देते हैं। वे स्पष्ट देख पड़नेवाली कुरूपता से तो त्रस्त हैं किन्तु उसके स्थान पर नयी पद्धति को ग्रहण करने में असमर्थ रह जाते हैं। यही कारण है कि ठाकुर गोपालशरण सिंह की दृष्टि समाज की कुरीतियों के प्रति तो जाती है किन्तु उसके निराकरण के माध्यमों को मानवीय संगति देने में असमर्थ रह जाते हैं।

भगवान हिन्दू जाति का उत्थान कैसे हो भला
नित यह कुरीत दहेज वाली घोंटती इसका गला
सुकुमारियाँ ये भोगती हैं यातना कितनी बड़ी
जो पूर्ण यौवन काल में भी है बिना ब्याही पड़ी
अगणित कुटुम्बों का किया इस राक्षसी ने नाश है
तो भी बुझी न अभी अहो इसकी रुधिर की प्यास है।

इस सम्पूर्ण कविता में केवल विवश-दर्शक वस्तु स्थिति को कठोर सत्य (Hard fact) के रूप में देखता है। दृष्टि (Vision) का सर्वथा अभाव है। अभिजात्य अभिव्यक्ति के लिए उचित परिप्रेक्ष्य भी नहीं है? परिणाम यह होता है कि चाहे मैथिलीशरण गुप्त हों अथवा ठाकुर गोपालशरण सिंह उनके पास वह ऊँचाई नहीं है, जो इन कठोर सत्यों से उबर कर भी कुछ आगे देख सके। या वस्तु स्थिति को ही ऐसा देखे कि उसकी अनुभूति मात्र वर्णन न बनकर एक अन्तस् को उघार देनेवाला सत्य हो सके। इसी प्रकार की एक अन्य रचना श्री रूपनारायण पाण्डेय की है—

ब्रह्म देव फिर उठो देश का हित करने को।
रोग शोक दारिद्र्य दुःख दुर्गति हरने को।
देखो सारा विश्व फिर क्या है सच्ची सभ्यता।
पराकाष्ठता धर्म की और भाव की भव्यता।

स्पष्ट है कि जिस स्तर पर पुनरुत्थान काल के कवि देश और जीवन की समस्याओं को देखते हैं उसमें विशिष्टता किसी भी प्रकार की नहीं है। समस्त मनोवृत्ति में केवल एक दीनता मिलती है और कहीं-कहीं उद्घोषण मिलता है। ऐसा लगता है जैसे इनके पास हाय-हाय करने के

सिवा और कुछ है ही नहीं। यद्यपि यह सत्य है कि ब्रजभाषा और रीति परम्परा को छोड़कर नयी दिशा में ये कवि अग्रसर हो रहे थे किन्तु किसी पूँजी के साथ ? यह प्रश्न जटिल है। रामनरेश त्रिपाठी जैसा कवि भी इससे मुक्त नहीं है। घर-घर स्कूलों तक में प्रार्थना कराई जानेवाली उनकी यह पंक्तियाँ आज भी उसी विवशता की दीनता प्रस्तुत करती है:—

हे प्रभो आनन्द दाता ज्ञान हमको दीजिये।
शीघ्र सारे दुर्गणों को दूर हम से कीजिये।
लीजिये हम को शरण में हम सदाचारी बनें।
ब्रह्मचारी धर्मरक्षक वीर व्रतधारी बनें।

इन पंक्तियों को पढ़कर ऐसा लगता है कि जिसे हम द्विवेदी काल कहते हैं वह द्विवेदी जी से इतना सम्बद्ध नहीं है जितना की पुनरुत्थान की भावना से उपजी हुयी आत्महीनता से। यही कारण है कि द्विवेदी युग के दो महान् कवि 'मैथिलीशरण गुप्त' और 'हरिऔध' अपने युग के प्रतिनिधि कवि होते हुए भी जब महाकाव्य की रचना करने बैठते हैं तो 'हरिऔध' राधा के व्यक्तित्व की स्वाभाविकता न देखकर उस पर अपने युग की ग्राम-सेविका के व्यक्तित्व को आरोपित करके देखते हैं। मैथिलीशरण गुप्त भी सीता को वन में वनदेवी के समान चित्रित करते हैं। कहीं-कहीं तो सीता का रूप ऐसा लगता है जैसे वन देवी भी नहीं नितान्त कोलिन भीलिन-सी हों। इन कवियों की पकड़ से वह समस्त अभिजात्य तत्त्व छूट जाते हैं जो कि पात्रों की अनुकूलता के साथ होने चाहिये थे। यदि इन कविताओं को उस युग के भाव बोध के साथ सम्पृक्त करके देखें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उनकी रचना विधि और शिल्प-विधान का स्रोत महावीरप्रसाद द्विवेदी नहीं रहे हैं वरन वह समूचा वातावरण रहा है जिसमें उनकी रचना प्रक्रिया प्रभावित थी। इसके विपरीत इन दो महाकाव्यों का महत्त्व इसलिये है कि उनमें समकालीन देश की मनःस्थिति को अभिव्यक्ति मिली है। उनमें पुराने कलेवर और नये बोध को एक सामंजस्य देने की चेष्टा की गयी है। उन काव्यों के पढ़ने से ऐसा लगता है कि एक सामन्तकालीन बुद्धि में जब सहसा मुक्ति की प्रेरणा जागृत होती है तब वह किस प्रकार अतीत के मोह और वर्तमान के स्वप्न को गूंथकर एक काम-चलाऊ आत्मतुष्टि को प्रश्रय मिलता है।

एक बात द्विवेदी-युग के विषय में और कहनी है और वह यह कि उस युग का बड़े से बड़ा कवि भी ग्रामीण लोक-तत्त्व को झाड़-पोंछ कर चमकाने का प्रयास करता है। 'अहह ग्राम जीवन भी क्या है' से लेकर रामनरेश त्रिपाठी के नये नखशिख में हमें वही ग्रामीणता और उसके साथ-साथ देशप्रेम की अकाव्यात्मकता के दर्शन होते हैं। इस युग के प्रायः सभी कवियों में हमें यही दोष अत्यधिक मिलता है। भारतीय संस्कृति के आश्रमवादी जीवन पद्धति और उससे उपजे हुए प्रकृति के साथ साहचर्य इस युग की विशेषता है। चाहे वह श्री श्रीधर पाठक का काश्मीर का वर्णन हो अथवा पंचवटी का वर्णन हो; दोनों की स्थितियों में जिस संस्कृति के प्रति हमारे कवि भावुक होते हैं वह अन्ततोगत्वा ग्रामीण संस्कृति है जिसमें वर्णव्यवस्था है, आश्रम जीवन का आदर्श है और प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व बनाये रखने में अधिक संलग्न है। इसीलिए मैथिलीशरण गुप्त से लेकर श्री रामनरेश त्रिपाठी की समस्त पुनरुत्थान की भावना के पीछे जो कामना कार्य

करती रही है वह इन्हीं आदर्शों की ओर हमें उन्मुख करती है। उसमें शहरी मुहल्लेबाजी या नगर के अभिजात्य तत्त्व भूले से भी नहीं आ पाते।

द्विवेदी-युग के साथ एक कठिनाई और थी। इतिहास क्रम के उस वृत्त को जिसे युरोप या इंगलैण्ड ने शताब्दियों में पार किया था उसे इस युग को अपने अल्प-जीवन काल में ही गुजारने के लिए विवश होना पड़ा था। उस समय की सरस्वती की फाइलों को देखने से पता चलता है कि उस युग में प्रायः साधारण से साधारण हिन्दी लेखक के मन में कहीं न कहीं भारतीय जीवन के उन समस्त संस्कारों को प्रविष्ट करने की इच्छा मिलती है जिससे भारत क्षण भर में आधुनिक हो जाय लेकिन पुनरुत्थानवादी मनोवृत्ति का यह भी मोह था कि कहीं इस प्रयास में उनके हाथ से देश का गौरवपूर्ण अतीत न छूट जाय। राष्ट्रीयता की भावना तीव्र होते हुए भी उसमें एक ओर परम्परा की रक्षा और दूसरी ओर नितान्त नये का मोह दोनों दीख पड़ते हैं। पत्रकारिता के स्तर पर यह विरोधाभास तो खप जाता है किन्तु साहित्य विशेषकर कविता के क्षेत्र में इस बात के कारण ही विभिन्न स्थितियाँ पैदा हो गयी थीं। इसका विभिन्न रूप हमें मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलता है —विशेषकर ऐसे अवसरों पर जब वह भारतीय जीवन के जागरूक परम्परा के रूप में सूरदास को और भारत की कुड़बुड़ाती चेतना के रूप में सोफ़ी और विजय के चरित्र का चित्रण करते हैं। दोनों के संघर्ष में जो सामाजिक चेतना हमें मिलती है उनमें एक टकराहट के प्रति समझौते का मूड ही उभरकर आता है। रामनरेश त्रिपाठी की यह कविता इस व्यंग्य को अच्छी तरह व्यक्त करती है:—

जिसके उरोज मिश्र देश के पिरामिड हों
ध्रुव की निशा सी केश राशि सिर पर हो
ऊंट ऐसी गति हो नितम्ब हों पहाड़ जैसे
चीन की दीवार मेखला सी जिस पर हो
साहब के दिल में दिमाग में दिखाव में भी,
हिन्द की भलाई के ख्याल सी कमर हो
ऐसी नायिकाओं का निवास भगवान करे
हिन्दी के कवित्त प्रेमियों के घर घर हो।

स्पष्ट है कि आधुनिकता के नाम पर देश में जो कुछ भी नया आ रहा है उसके प्रति बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया थी। लेकिन यह भी सत्य है कि लाख पुनरुत्थानवादी होते हुए भी द्विवेदी जी को स्वयं सरस्वती में यदि एक ओर ऐसे मनोभावों को स्थान देना पड़ता था तो दूसरी ओर इन्श्योरेन्स कम्पनियों की आधुनिकता और उपयोगिता पर भी लेख छापना पड़ता था।

किसी भी पुनरुत्थानवादी आन्दोलन के साथ यह विरोधी प्रवृत्तियाँ सदैव समान रूप से काम करती हैं। एक साथ अतीत और वर्तमान को ले चलने में कभी-कभी बड़ी व्यंग्यात्मक स्थितियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। यदि थोड़ा भी संतुलन बिगड़ा तो इस विचारधारा की परिणति कुतर्कों में होने लगती है और कभी-कभी तो वेदों से पुष्पक विमान से लेकर परमाणु बम तक, राकेट से लेकर एक्सरे तक की परम्पराओं को ढूँढ़ने के लिए विवश होना पड़ता है। उस देश या राष्ट्र

के लिए तो यह और भी कठिन हो जाता है जिसमें अतीत का गौरव वास्तव में महान् होता है। द्विवेदी युग में तो इसकी विषमता और भी तीव्र हो जाती है क्योंकि अतीत का गौरव तो भारतेन्दु से लेकर द्विवेदी-युग तक गाया जा चुका था। अब आवश्यकता थी वर्तमान युग को प्रतिष्ठित करने की—और यह प्रतिष्ठा न तो अतीत की अवहेलना से प्राप्त की जा सकती थी और न वर्तमान की। जिस किसी भी रूप में हो उसे स्वीकृत करने से ही मिल सकती है। यही द्विविधा द्विवेदी-युग का मुख्य स्वर है।

प्रस्तुत-विवेचना के बाद हम जिस तथ्य पर पहुँचते हैं वह यह है कि द्विवेदी-युग मूलतः कई प्रकार की मनःस्थितियों के बीच विकसित हुआ है। प्रथम तो यह कि देश की सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिरोध के प्रति जागरूकता, दूसरी यह कि किसी ऐसे कालपुरुष की कल्पना जो व्याप्त गतिरोध के विरुद्ध समाज और देश की भावना को बल दे सके। इतिहास के महापुरुषों पर महाकाव्य लिखने के पीछे दूसरी मनःस्थिति का बहुत बड़ा हाथ है। इसीलिए इस युग की कविताओं में सदाचार, धर्म, ब्रह्मचर्य, विधवा-विवाह, दहेज-प्रथा और बाल-विवाह आदि पर यदि विवशता भरी कविताएँ मिलती हैं तो दूसरी ओर प्रियप्रवास, साकेत आदि ग्रन्थों में प्राचीन महापुरुषों की जीवनियों पर आधारित महाकाव्य की रचनाएँ भी मिलती हैं।

इन दो मनःस्थितियों के अतिरिक्त इस युग के कृतिकारों के मन में एक प्रवृत्ति और भी थी। वह यह कि शीघ्र से शीघ्र पाश्चात्य चिन्तन दर्शन आदि में जितना कुछ नया एवं आधुनिक तत्वों से पूर्ण विचार और चेतना है उसे भी हिन्दी में ढाल दिया जाय। बाबू श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और सरदार पूर्णसिंह आदि के प्रयासों में हमें यह प्रवृत्ति स्पष्ट दीख पड़ती है।

राष्ट्रीय-भावना के स्पष्ट तत्व हमें देखने को मिलते हैं किन्तु इस राष्ट्रीय-भावना के पीछे हिन्दू जाति के उत्थान की चर्चा और स्पष्ट एवं परोक्ष रूप से उसकी स्थापना इस युग के रचनाकारों में विशेष रूप से उभर कर आयी है। दूसरे शब्दों में जातीयता और राष्ट्रीयता दोनों के बीच इतने प्रकार के भ्रम हमें मिलते हैं कि राष्ट्रीय-भावना का कोई भी स्पष्ट चित्र नहीं मिलता। कभी यह राष्ट्रीयता अतीत गौरव के रूप में व्यक्त होती है और कभी यही भावना जातीयता के रूप में व्यक्त होती है। भारतेन्दु-युग में यह राष्ट्रीयता जिस रूप में विकसित हुयी थी और जिसमें हिन्दी, हिन्द और हिन्दू के अभिजात्य तत्वों को प्रतिष्ठित करके राष्ट्रीय जागरण की चेष्टा की गई थी उन्हीं भावनाओं को द्विवेदी-युग में अधिक स्पष्ट रूप में रखने की चेष्टा मिलती है। किन्तु यह स्पष्टता प्राप्त नहीं हुयी। जो भावना बार-बार इस युग के कवियों में उभर कर व्यक्त हुयी है वह प्रायः जातीयता की भावना है।

कहाँ परीक्षित कहँ जनमेजय कहँ विक्रम कहँ भोज
नन्द वेश कहँ चन्द्रगुप्त कहँ हाय कहाँ वह ओज
काल विवस हो गये नृपति वे तो क्यों उनके बालक
ए न उनके सम काकी आज्ञा अपनी कुलघातक—राधाकृष्ण दास

प्रस्तुत कविता में जिन इतिहास के पात्रों का आवाहन करके देश की दयनीय स्थिति का

चित्रण किया गया है उनमें से सभी प्राचीन भारत के इतिहास के पात्र हैं। स्पष्ट है कि हिन्दी के इस आन्दोलन में वह राष्ट्रीयता जिसमें निरपेक्ष मानव का चित्रण हो वह युग काफी बाद में आया है। गान्धी के आगमन के वाद यह भावना जन्म ले सकी--

जैन बौद्ध पारसी यहूदी मुसलमान सिख इसाई
कोटि कंठ से मिलकर कह दो हम हैं भाई भाई---रूपनारायण पाण्डेय

किन्तु राष्ट्रीयता के इस रूप में भी जातीयता का प्राधान्य है। यह नहीं है कि यह दोष रूपनारायण पाण्डेय का ही है। वस्तुतः उस सम्पूर्ण युग के सोचने की प्रक्रिया ही यह रही है। टैगोर से लेकर उनके समकालीन अन्य कवियों एवं चिन्तकों में भी यही प्रक्रिया काम करती थी। कहीं-कहीं जब यह प्रक्रिया अधिक तीव्र होती थी तो उसके भीतर से वास्तविक जातीयता की झलक स्पष्ट दीख पड़ती थी।

कौम करै जो नहिं कसकत सुनि विपति बाल विधवन की है
ताते बढ़ि कै क्रन्दना कान्यकुब्ज कन्यन की है।---प्रतापनारायण मिश्र

कहने का सारांश यह है कि इस युग की सम्पूर्ण राष्ट्रीय-भावना दो किनारों के बीच बहती थी। एक तो जातीयता के नाम पर सबको सम्मान देने की भावना से सम्बद्ध था और दूसरा नग्न जातीयता में था। दोनों भावनाएँ राष्ट्रीय-भावना के साथ-साथ सम्बद्ध रहती थीं। जीवन के अनेक पक्ष थे, जो इस पुनरुत्थान युग में सहसा व्यक्त हुयी थीं। राजनीति के स्तर पर जिस राजनीतिक एकता की लहर जागी थी वह साहित्यिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर जातीयता को भी प्रश्रय देने लगी थी। यह तर्क कुछ संगत भी लगता है। सुधार की दृष्टि से सामाजिक चेतना सम्मिलित और पृथक्-पृथक् जाति के स्तर पर भी समाज की कुरीतियों पर विवश हो गई थी।

बाल विवाह जाल रच पाप कमाया
ब्रह्मचर्य व्रत काल वृथा विपरीत गंवाया
अबला ने चुपचाप उठाय पछाड़ा मुझको
बेटा जनकर बाप बनाय बिगाड़ा मुझको---नाथूराम शर्मा

प्रस्तुत उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि द्विवेदी युग के कवियों की भावभूमि में मानव आपत्तियों और उसके जीवन की विषमताओं को कलात्मक अभिव्यक्ति की अपेक्षा अविधात्मक और गद्यात्मक रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। यह प्रवृत्ति बहुत कुछ खड़ीबोली के नयेपन और सर्वथा परम्पराहीन होने के कारण ही है। कविता की भाषा के उपयुक्त उस समय खड़ीबोली नहीं थी। वह अभी ढल रही थी इसलिए उसकी अभिव्यक्ति में वह परिमार्जित शक्ति नहीं है जो आगे चलकर हमें छायावाद युग में स्पष्ट ही दीख पड़ता है। किन्तु यहीं यह भी प्रश्न उठता है कि क्या भाषा का नयापन अनुभूति के स्तर को भी प्रभावित कर सकता है? शायद उसका भी उत्तर यही है कि प्रभावित तो करता ही है लेकिन यह भी सत्य है कि अनुभूति के स्तर में भी द्विवेदी-युग के अधिकांश कवि वस्तुस्थिति के कवि थे अनुभूति सत्य के व्यक्तित्व तथ्य

के कवि नहीं थे। यही कारण है कि मैथिलीशरण गुप्त जैसा कवि जब साकेत में उर्मिला के नितान्त वैयक्तिक संवेदना को स्वर देना चाहता है तो उसमें भी वह इतिवृत्तात्मकता से मुक्त नहीं हो पाता। यशोधरा में भी उसकी नितान्त रागात्मक अनुभूति बिना राहुल का आधार लिये नहीं व्यंजित हो पाती। "अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी, आंचल में है दूध और आँखों में पानी", जैसी पक्तियाँ मैथिलीशरण गुप्त लिखते हैं तब उनकी दृष्टि मात्र नारी के नारित्व से उद्बोधित न होकर उनके लिए एक राहुल और यशोधरा की कथा चाहिये जिसके माध्यम से वह सत्य को व्यंजित कर सकें।

छायावाद युग शायद इन स्थितियों से मुक्ति पा चुका था। उसके सामने यही संवेदना अधिक अभिजात्य गुणों के साथ व्यंजित होती है। प्रसाद जब चिता या लज्जा या इड़ा का सर्ग लिखने बैठते हैं तो इतिवृत्तात्मक कथा का तथ्यात्मक रूप एक आवरण सा समस्त महाकाव्य पर रहता तो है लेकिन वह नितान्त दैनन्दनीय वस्तुस्थितियों से अपनी अभिव्यक्ति को मुक्त कर लेते हैं और वह अनुभूतियों के सूक्ष्म स्तरों और रागात्मक सम्बोधनों के बीच भावनाओं की गहनता को अधिक पकड़ सकने में सफल होते हैं। भावनाओं की यह मार्मिक व्यंजना अनुभूति के स्तरों का अन्वेषण इसीलिए हमारी मानसिक स्थितियों पर अधिक संवेदानपूर्ण होकर व्यक्त होता है। भावनाओं की सूक्ष्मता और उनकी सघन अनुभूतियों को ग्रहण करने की शक्ति भी इतिवृत्तात्मकता में साहित्य मात्र तथ्यात्मक दृष्टि के बदल जाने के कारण संभव हो सका है। द्विवेदी युग केवल संवेदना को तथ्य के रूप में ही देख सकने में समर्थ था उसके लौकिक पक्ष को पुष्ट करता था। छायावाद की मानसिक पृष्ठभूमि में यह लौकिक तथ्यात्मकता बदल चुकी थी। इसकी अपेक्षा उस युग का सारा भावबोध भावजगत् के द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्वों की गहनता से अनुप्राणित होता था।

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्वमहान्
यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भू मा का मधुमय दान

प्रसाद की उपर्युक्त पंक्तियों में भी विश्व की विषमता और जीवन की जर्जरता और उसके संघर्षात्म द्वन्द्वों की भावना व्यक्त की गयी है लेकिन उनकी भावस्थिति और उनकी अनुभूतिशीलता के स्तर में एक प्रकार की व्यापक मानवीयता का सम्बोधन है और उसमें यह शक्ति है कि वह अपने परिवेश में स्थिति विशेष की पीड़ा क ा न व्यंजित करके एक स्थिति विशेष से विकसित हुयी अनुभति को एक व्यापक एवं गुरुतर परिवेश की पीड़ा के साथ सम्बद्ध कर सके। छायावाद इसीलिए अपने कथ्य में बहुत कुछ झिलमिले और कुहासे जैसा लगता है क्योंकि उसकी पीड़ा एक स्थिति की पीड़ा नहीं है, वह सम्पूर्ण व्याप्ततिक्तता की पीड़ा है। किसी भी चोट अथवा कचोट की संवेदना को द्विवेदीयुगीन कवि एक उपचारक की दृष्टि से देखता है इसीलिए उसमें कहीं न कहीं उपदेशक भी छिपा रहता है। छायावाद की मानसिक पृष्ठभूमि में इस उपचारक की अपेक्षा द्रष्टा का मर्म है और इसीलिये वह उपदेशक न होकर उस पीड़ा या संवेदना को साक्षी बनकर भोगता है।

एक द्रष्टा के रूप में साक्षी बनकर भोगने में और एक वस्तु मात्रा के रूप में व्याप्त विषमताओं के भोगने में बड़ा अन्तर होता है। साक्षी की संवेदना और द्रष्टा की दृष्टि अनुभति को अधिक सघन और विशिष्ट बना देती है।

ऐतिहासिक संदर्भ—किन्तु छायावाद जिस ऐतिहासिक संदर्भ में विकसित हुआ उसका निर्माण द्विवेदी-युग के इतिवृत्तात्मक शैली और भावभेद से उतना ही सम्बद्ध है जितना कि गहन अनुभूतिशीलता के सूक्ष्म स्तरों से। यदि द्विवेदी-युग अत्यधिक इतिवृत्तात्मक रहा है तो यह भी सत्य है कि छायावाद युग आवश्यकता से अधिक कल्पनाशील। कुछ अंशों में उनकी यह कल्पनाशीलता उनको नितान्त स्वप्नलोक की ओर इंगित कर देती है। यही कारण है कि स्वयं उस युग में प्रसाद को छोड़कर अन्य किसी कवि ने किसी भी महाकाव्य के माध्यम या प्रबन्ध के माध्यम से अपनी भावनाओं को व्यंजित करने का प्रयास नहीं किया है। कथा के स्थूलत्व का आकर्षण छायावादी भावबोध के अनुकूल नहीं था। स्थूलत्व से जो विभिन्न भावों और मनःस्थितियों के आयाम विकसित हुए थे, छायावाद उनकी ओर अधिक उन्मुख था। एक प्रकार से यदि देखा जाय तो समूचा द्विवेदीयुगीन भावबोध मानवतावाद (humanitarianism) की दया से द्रवित था। इसके विपरीत छायावाद का स्वर मानववाद (Humanism) की करुणा (Compassion) से द्रवित था। मानवतावाद से मानववाद की यह सूक्ष्म यात्रा अपने में ही एक क्रांतिकारी उपलब्धि थी। मनु जिस चिन्ता से द्रवित होकर प्रलय के बाद हिमाच्छादित शिखरों से चिन्तित हैं वह स्थूलत्व नहीं है वरन् उस स्थूलत्व के भीतर की सूक्ष्म अदृश्य तरलता है—

ऊपर हिम था नीचे जल था, एक तरल था एक सघन
एक तत्त्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन।

यह सूक्ष्म अन्तरभेदी दृष्टि छायावाद के रूप में युगबोध की नयी उपलब्धि थी। इसीलिए उनमें न तो जातीयता है और न छिछली और सतही संवेदनशीलता। छायावाद इसीलिए ज्ञेय न होकर बहुत कुछ अज्ञेय लगने लगा। समकालीन आलोचकों ने उसे सीधा प्रतिक्रियावाद और नितान्त अस्पष्ट काव्य के रूप में निन्दित भी किया। स्वयं रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वान छायावाद की उस मर्मस्पर्शी संवेदना को ग्रहण नहीं कर सके और उन्होंने सीधे पश्चिम से लिए गये प्रभाव के नाम पर छायावाद की निन्दा की। वस्तुस्थिति शायद इतनी आसान नहीं थी उसमें निहित सत्य इससे बड़े वृत्त का द्योतक था जो स्वयं द्विवेदी-युग के उत्तरार्द्ध के कवियों में विशेषकर रामनरेश त्रिपाठी में स्पष्ट रूप से विकसित हो चुका था। छायावाद पर जिस सूक्ष्मता का आरोप लगाया गया था वह स्वयं द्विवेदी-युग में विकसित हो चुका था। रामनरेश त्रिपाठी की नारी सौन्दर्य की निम्नलिखित पक्तियाँ ही यह सिद्ध करती हैं कि द्विवेदी-युग के भीतर स्वयं एक भयंकर विस्फोट हो रहा है।

करुणा सी मृदु, धर्मगीत सी,
शुद्ध कल्पना सी सुख संकुल
शुभ्र उषा सी, दिव्य हास्य सी
रूप सिन्धु सी मणि मंजुल

सजनि कौन तम से परिचित सा
सुधि सा छाया सा आता
सूने से सस्मित चितवन ले
जीवन दीप जला जाता——महादेवी

स्पष्ट है कि इन विम्बों में जो चित्रण है उसमें सहज ही स्थूलत्व से सूक्ष्मता की ओर की प्रवृत्ति गोचर होती है। यह प्रवृत्ति अपने में ही नितान्त महत्वपूर्ण है और यहीं से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण द्विवेदी-युग का भाववोध नये अभिव्यक्ति के माध्यमों की खोज में लीन रहा है। मैथिलीशरण गुप्त जनमानस की सीता को, जो अपने काव्य में चित्रित करते रहते हैं तो वह नितान्त वनवासिनी के रूप में 'कछनी काछे, बुन्देलखण्डी आदिवासिनी सी लगती है। मैं समझता हूँ द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता और स्थूल दृष्टि का उससे अधिक प्रमाण क्या हो सकता है। उर्मिला और लक्ष्मण का संवाद जो साकेत के प्रथम सर्ग में चित्रित किया गया है उसका सम्पूर्ण भावबोध उसी स्थूलत्व की देन है और रीतिकालीन कवि की जो दृष्टि नारी के प्रति बनी थी, उसकी प्रतिक्रिया में स्थूलत्व को ग्रहण करने के वावजूद भी वह रीतिकाल का उच्छिष्ट जैसा लगता है। उसकी सापेक्षता में जब हम रामनरेश त्रिपाठी की नारी सम्बन्धी इन पंक्तियों को देखते हैं तो वह मार्जन सा लगता है जहाँ से द्विवेदीयुगीन कविता अपनी इतिवृत्तात्मक रूढ़ि से निकलकर भाव जगत् के सूक्ष्म स्तरों को प्लावित करने की चेष्टा करती है। छायावाद की यही भावभूमि जब प्रकृति के साहचर्य के साथ व्यक्त होती है तो प्रकृति में ही सौन्दर्य आरोपण करके कवि स्थूल का सूक्ष्म प्रतिविम्ब ग्रहण कर लेता है। इस प्रवृत्ति का भी आभास हमें द्विवेदीयुगीन कविता में इतनी चुपके से आती हुई दीख पड़ती है कि सहसा जब उसकी परिधि तोड़ कर छायावादी नितान्त प्रकृति का आलम्बन स्वीकार करता है तो एक नया भावक्षेत्र ही सामने खुल जाता है किन्तु यह भावक्षेत्र बीज रूप में स्वयं द्विवेदीयुगीन कविता में ही परिलक्षित दीखता है।

फूल पंखड़ी में, पल्लव में प्रियतम रूप विलोक
भा जाता है महामोद से प्रेमी का उर आलोक
कली देख करने लगता है वह उन्मत्त प्रलाप
देखें कब तक इन पत्तों में लुके रहेंगे आप।
× × ×
रूप कहाँ है ? आर्त्त मुखों पर प्रकृति हर्ष का हास
होता है जब उदित, वही है प्रियतम-रूप-विलास
——रामनरेश त्रिपाठी, मिलन से

द्विवेदी युग से छनकर जब यही प्रवृत्ति अधिक अभिजात्य रूप में छायावादी कवियों में व्यंजित हुआ तो उसका सौन्दर्य-बोध सर्वथा परम्परा से उच्छिन्न लगने लगा। जब महादेवी वर्मा इसी भाव को अपने शब्दों में अधिक सशक्त ढंग से कहती है तो लगता है कि जैसे वह बिना किसी परम्परा के बह रही हैं।

सखि कैसे उनको पाऊँ
वे आंसू बनकर मेरे इस कारण ढुल ढुल जाते
इन पलकों के बन्धन में
मैं बांध बांध पछताऊँ
मेघों में विद्युति सी छवि उनकी बनकर मिट जाती
आंखों की चित्रपटी में
जिससे मैं आंक न पाऊँ
वे आभा बन सो जाते शशि किरणों की उलझन में
जिनमें उनको कण कण में
ढूँढ़ पहचान न पाऊँ।

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि रामनरेश त्रिपाठी में जो सूक्ष्मता उनकी अभिव्यक्ति की अकुलाहट बनकर व्यक्त हुई थी छायावादी काव्य में वह अधिक अभिजात्य उपलब्धि बनकर प्रस्तुत हुयी है। जैसाकि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है केवल छायावादी कवि ही नहीं स्वयं द्विवेदी-युग के कवि उस स्थूलता से ऊब चुके थे और वह अभिव्यक्ति के अन्वेषण में संलग्न थे। वे चाहते थे कि उनकी संवेदनाओं को नितान्त जड़ और स्थूल आधार न मिलकर एक विस्तृत भाव जगत् की कल्पनाशीलता मिले, जो उनको और उनकी कला को अधिक सशक्त व्यंजना प्रदान करने में समर्थ हो।

छायावाद ने केवल उस अकुलाहट से मुक्ति के लिए आवश्यक उपकरणों को ही नहीं जुटाया वरन् उसने उन उपकरणों का उपयोग करके एक नयी अभिव्यक्ति की शैली और एक नये शब्द-समूह, मुहावरे और बिम्बविधान को स्वीकार करके उसे सजीव बनाया और उसकी सम्पूर्ण मार्मिक संवेदना को एक सार्थक कलात्मक सृजनशीलता की ओर अग्रसर किया। इन सूक्ष्म अर्थसंदर्भों में निहित भावना में केवल मानव-दीनता नहीं प्रश्रय पा सकी। इसके विपरीत उस दीनता को अनुभूत सत्य के रूप में छायावादियों ने व्यापक मानव करुणा से जोड़कर सम्पूर्ण भावबोध को ऐसी मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया जहाँ से सर्वथा नये आयामों का विकास होना प्रारम्भ हो गया।

इस दृष्टि से छायावाद युग की सम्पूर्ण भाव-भूमि का सार तत्व यदि कहीं अत्यधिक तीव्रता और घनत्व के साथ-साथ व्यंजित हुआ है तो वह श्रीमती महादेवी वर्मा के गीतों में ही हमें मिलता है। प्रसाद यदि उस युग के चिन्तन के प्रतिनिधि हैं, पंत यदि उस युग की किंवदन्तियों को सतही स्तर पर व्यक्त करके संतोष पा जाते हैं, निराला यदि उस युग की सम्पूर्ण चेतना की भावुकता में चिरविद्रोही होकर संतुलन खो बैठते हैं, तो महादेवी छायावाद की मर्मपूर्ण वेदना को आत्मसात करके, उस युग की समस्त दुरूहता, भावुकता, मानसिक आन्दोलनों की सूक्ष्म गहनता और उसकी हाईलाइटस् में अपनी अतृप्ति, अपना असंतोष, अपना विद्रोह, अपना उत्सर्ग अर्थात् अपनी समस्त भाव उर्मियों को मर्मस्पर्शी संवेदना में पिरो कर रखने में समर्थ हुई है। यह भाव ऊर्मियाँ और उनकी संवेदनशीलता कितना सार्थक हुआ है, कितना मूल्यवान रहा है, उसके भीतर किस सीमा तक

भावना का प्रतिनिधित्व हुआ है और वह वहाँ केवल सत् सन्देश (Pletatudes) तक ही सीमित रह गयी है– इन सबका विश्लेषण और उसके निष्कर्ष चाहे जो हों, किन्तु यह सत्य है कि महादेवी छायावाद की नितान्त कोमल भावनाओं की प्रतिनिधि कवयित्री हैं। उनकी नारी-सुलभ भावना ने छायावाद की कोमल अनुभूतियों को एक नये और मौलिक अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर किया है। प्रसाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि भी प्रायः विचारों की गहनता से बोझिल हो गई है। परिणाम यह हुआ है कि उनकी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति भी उलझ गयी है। निराला में प्रवाह है, वेग है, गति है और ओज की विचित्र गरिमा अपनी आभामण्डल के साथ मिलती है किन्तु महादेवी में प्रसाद का बोझीला तत्व अवसाद की झीनी व्याकुलता में सार्थक होता दीख पड़ता है। यही नहीं उन सब के भाव-प्रवाह में प्रखरता की अपेक्षा वक्रता, वेग के स्थान पर लास, गति के साथ कोमलता और ओज के स्थान पर समर्पण बड़ी भावमयी रुचि के साथ व्यंजित हुआ है। पंत का अधिकांश जो मात्र आडम्बर और सत सन्देश के रूप में अकविता बन जाता है वहीं अपनी आन्तरिक संवेदना की मर्म में स्निग्ध होने के कारण एक स्पर्श करने वाला गीत बन कर महादेवी की रचनाओं में सहज रूप में व्यक्त हो जाता है।

इस दृष्टि से देखने पर महादेवी वर्मा का स्थान छायावादी कवियों में अद्वितीय है। एक ओर हमें महादेवी के व्यक्तित्व में छायावाद युग की सम्पूर्ण भावना थिराई हुयी मिलती है तो उसी के साथ उस युग की विषमताएँ और सीमाएँ किस सीमा तक उपलब्धियाँ बन सकती हैं, इसके भी दर्शन होते हैं। महादेवी छायावाद की सफलताओं का प्रतिनिधित्व करती हैं तो उसी के साथ अपने युग की असफलताओं का भी वहन करती है। अन्तर केवल इतना है कि उनकी ये असफलताएँ कवि की असफलताएँ बन कर व्यक्त होती हैं जब कि प्रसाद की रचनाओं में प्रसाद के दार्शनिक व्यक्तित्व की असफलता है, पंत में उनके सन्देश दूत की असफलता है और निराला में विद्रोही की असफलता है। महादेवी की असफलताएँ भी इस दृष्टि से कवि की असफलता होने के कारण मर्मस्पर्शी बन जाती हैं जब कि उसी युग के अन्य कवियों की असफलता में हमें कवि का व्यक्तित्व माध्यम बन कर नहीं छूता। जो व्यक्तित्व माध्यम बनता है वह या तो दार्शनिक का है या सन्देशदूत का है या विद्रोही का है। महादेवी के गीतों का इसलिये विशेष महत्व है। कवि की असफलता में और दार्शनिक की असफलता में भी इसीलिये बहुत बड़ा अन्तर है। कवि या कलाकार अनुभूति के स्तर पर जिस सत्य का साक्षात्कार और जिस उपलब्धि का अंगीकार करता है दार्शनिक उसी सत्य की तर्क संगति में टूट जाता है। कवि को जो भी जीवन-दर्शन देना है वह उसकी आत्मानुभूति के माध्यम से उसकी कृतियों में झलकता है। वह उसकी धड़कनों को देता है, निर्जीव तर्कों को नहीं। महादेवी के काव्य की भी यही विशेषता है। जहाँ वह इन धड़कनों को अंकित करने में सफल हुयी हैं वहीं उनका काव्य भी सफल हुआ है और तब उस काव्य के माध्यम से जितना भी दर्शन झलकता है वह अपने औचित्य के साथ मिलता है। इसीलिये जहाँ वह असफल भी हुयी हैं वहाँ कवि के रूप में असफल हुई हैं, दार्शनिक के रूप में नहीं! ठीक इसी प्रकार वह सन्देश भी देती हैं। जीवन की विडम्बनाओं और मानव-जीवन की विषमताओं के साथ-साथ मानव-संभावनाओं के प्रति अपनी अडिग आस्था का स्वर भी संचारित करती हैं किन्तु जितना कुछ भी वह कहना चाहती हैं या कहती हैं, उसमें उनका कवि-व्यक्तित्व और कविधर्म ही सामने आता है। सन्देश उनकी कविता

और उनके कवि-व्यक्तित्व की हत्या करके आगे नहीं आता। वह उनको साक्षी बना कर प्रस्तुत होता है। ठीक इसी प्रकार उनकी विद्रोही भावना भी है। महादेवी का विद्रोह भी माध्यम की सार्थकता को स्वीकार करके चलता है। महादेवी जानती हैं कि उनके विद्रोह को भी यदि व्यक्त होना है तो उसे माध्यम की विशिष्टता को स्वीकार करके ही व्यक्त होना है। यदि वह उस माध्यम के अनुशासन में नहीं आता तो फिर वह उनके बस की बात नहीं है। मैं समझता हूँ कि छायावाद युग के कवियों में महादेवी ही एक ऐसी कवयित्री हैं जो माध्यम की विशिष्टता उसका सामर्थ्य और उसकी सीमा को स्वीकार करती हैं। यह एक विशेष गुण है जो उन्हें अपने समकालीन कवियों से अलग कर देता है।

किसी भी कलाकार के व्यक्तित्व की छाप उसकी कृति पर तो पड़ता ही है साथ ही जिस युग में वह जीता जागता है उसके अनुरूप उसकी अभिव्यक्ति और उसकी अपनी उपलब्धियाँ भी विकसित होती हैं। छायावाद-युग पुनरुत्थान-युग का परिशिष्ट है क्योंकि वह पुनर्जागरण की वेदना को सीधे नहीं भोगता, वह उसकी सम्पूर्ण वेदना को परोक्ष में भोगता है। यदि प्रसाद उसी वर्तमान की तिक्तता को इतिहास, दर्शन और पुराणों के माध्यम से भोगते हैं तो निराला उसको राम-कृष्ण मिशन, विवेकानन्द और शिवाजी के माध्यम से और पंत नितान्त अव्यवस्थित चलचित्रों की छाया मात्र के माध्यम से। 'भारतमाता, ग्रामवासनी' या 'बापू के प्रति' या 'खादी के फूल' या शान्ति के गायक, के रूप में पंत को भी चाहे मार्क्स का या गान्धी का या अरविन्द का आश्रय लेना पड़ता है। प्रसाद चाणक्य के माध्यम से नाटकों में, मनु श्रद्धा के माध्यम से कामायनी में अपने युग की वेदना अतीत के माध्यम से भोगते हैं। उनको अपने से अधिक सशक्त पात्र की आवश्यकता होती है जो उनका आधार बन सके और जिसके सहारे वह अपने युग की पीड़ा उन पात्रों की शरण में बैठ कर सहन कर सकें। निराला में यही भावना दो विभिन्न रूपों में व्यक्त होती है। वह भी इतिहास के पात्रों में भोगने की चेष्टा करते हैं किन्तु कहीं-कहीं वह राम, कृष्ण अथवा विवेकानन्द का आश्रय छोड़कर कुकुरमुत्ता में 'गुलाब' का 'क्यों बे हरामजादे' सम्बोधित करके अपनी तिक्तता को व्यक्त करते हों तो कहीं 'न आये वीर जवाहरलाल' कह कर उसे व्यक्त करते हैं। पंत भी जब परोक्ष की वेदना को मार्क्स, अरविन्द और गान्धी की आड़ में नहीं भोग पाते तो सीधे ख्रुश्चेव को शान्ति दूत मान कर प्रशंसा गा लेते हैं। महादेवी के साथ यह स्थिति नहीं है। वह युग की वेदना को आश्रयहीन होकर, बिना किसी भी इतिहास पुरुष का शरण ग्रहण किये सीधे अपनी अनुभूतिशीलता के माध्यम से भोगती है। यह सत्य है कि उनके इस संकल्प से दायित्व अधिक बढ़ जाते हैं। महादेवी वर्मा की काव्य कृतियों की इसीलिये माँग भी अधिक बढ़ जाती है। इतिहास पुरुष, या युग प्रवर्तकों के चिरपरिचित आधार को स्वीकार करने से काव्य के अधिकांश को एक ऐसा सन्दर्भ मिल जाता है जिससे उनके कथ्य को समझने में और उनकी अनुभूतियों के विश्लेषण में सहायता मिलती है। इसके विपरीत जो उन माध्यमों को छोड़ कर चलता है, उसकी दुरूहता और गुरुता दोनों ही बढ़ जाती है। विद्रोह और वेदना महादेवी में कम नहीं है किन्तु चाहे इसे नारी-सुलभ शील कहें या अनौपचारिकता। वह समस्त पीड़ा का साक्षात्कार एक कवि के रूप में करती है, उसे कवि के नाते ग्रहण भी करती है और जो कुछ भी उपलब्ध होता है उसे अभिव्यक्ति भी देती हैं। महादेवी का इसीलिये छायावादी कवियों में सब से अलग और कुछ अंशों में सब से विशिष्ट स्थान रहता है।

सम्पूर्ण-युग की भाव चेतना और संघर्ष को ध्यान में रखते हुए महादेवी वर्मा का यह व्यक्तित्व शायद एकदम अकेला है। साथ ही जो उन्हें जानते हैं वह यह भी स्वीकार करेंगे कि महादेवी वर्मा का व्यक्तित्व गान्धी और राष्ट्रीय-आन्दोलन से कम प्रभावित नहीं रहा है लेकिन काव्य के माध्यम और इतिहास के माध्यमों की वृत्तियों को समझ-बूझ कर उन्होंने अलग-अलग रक्खा है।

किसी भी यथार्थ को परोक्ष रूप में भोगने से अनुभूतियों के स्तर पर एक प्रकार का दोहरा तनाव आ जाता है। यह तनाव मानसिक और व्यावहारिक स्तर पर तो रहता ही है साथ ही काव्य एवम् कला में अभिव्यक्ति और शिल्प-नियोजन के स्तर पर भी होता है। निराला की रचनाओं में यही तनाव (Tension) एक प्रकार का बिखराव पैदा कर देता है। यदि वह केवल उस तनाव को व्यक्त करने वाले कवि होते तो शायद इतना अधिक शब्दाडम्बर उनके पास न होता। चाहे बादल राग हो, या जुही की कली, या जागो फिर एक बार या कुकुरमुत्ता, इन सब में हमें यह लगता है कि शब्दों की भीड़ है और भाव उस भीड़ के दबाव में वहीं कहीं सटीक, मिति-भाव वाले होने के बजाय शब्दों का अपव्यय कर देते हैं। प्रसाद में भी यह कमी है लेकिन वह इतिहास के सहारे इतने दूर चले जाते हैं कि वहाँ से उनका यह शब्द-विलास हमें काल-बोध के साथ बुरा नहीं लगता!

महादेवी ने गीतों का माध्यम अपनाया है। एक दृष्टि से उनकी इस प्रवृत्ति में काफी सीमाएँ आ जाती हैं। आत्मानुभूति के स्तर पर गीतों का वैयक्तिक स्वर जहाँ उनके प्रयोग क्षेत्र को सीमित कर देता है, वहीं अपेक्षाकृत, उनके शिल्प को स्वारोपित संयम और अनुशासन भी मिल जाता है। उनकी भाव-भूमि में गहराई का आयामों में विविधता तो मिल जाते हैं किन्तु शायद प्रसाद, निराला, और पंत की भाँति वह फैलाव या बिखराव को प्रश्रय नहीं देती। उनको किसी दर्शन के माध्यम से कोई कथा नहीं कहनी है, न ही विद्रोह की भावना का असंयम ही सह्य है। उनका संस्कार वेदों, उपनिषदों और भारतीय-दर्शनों से सम्बद्ध है, उनकी रुचि, कालिदास, भवभूति राजशेखर आदि से प्रभावित है, उनका कवि मन विशिष्ट और अभिजात्य के प्रति आग्रहशील है और उनकी दृष्टि एक ऐसी स्वप्न दृष्टि है जिसमें कुहासा, अन्धकार और सीमाओं को अर्थ देने की क्षमता है। यही कारण है कि महादेवी ने जो कुछ भी लिखा है वह सर्वथा नया और मौलिक होते हुए सनातन परम्परा से पृथक् नहीं हो पाया है। नया इस अर्थ में है कि उसमें वैयक्तिक स्वर सर्वप्रथम उभर कर आया है और दूसरे यह कि एक व्यापक मानववाद की भूमिका हमें महादेवी के गीतों में देखने को मिलते हैं। यद्यपि यह मानववादी भूमिका अपने वास्तविक संदर्भ में उतना निश्चित प्रारूप नहीं रखता फिर भी द्विवेदी युग के इतिहास मानव या छायावाद युग के अन्य पौराणिक-मानव की कल्पना से भिन्न है। मौलिकता का जहाँ तक प्रश्न है महादेवी की काव्य-रचना को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका शिल्प, शब्द संयोजन समकालीन कवियों से भिन्न तो है ही, साथ ही वह अनुभूति के स्तर पर भी एकदम नयी और अभिजात्य है।

महादेवी अपने समकालीन कवियों से भिन्न होने के साथ-साथ अपनी मर्म, व्यंजना में भी भिन्न हैं। नारि सुलभ कोमलता और भावों की स्निग्धता तो विशेष है ही, इनके साथ-साथ महादेवी का शिल्प अनुभूति की अनुकूलता के साथ प्रायः तादात्म्य हो जाता है। किसी भी कवि के लिये यह गुण उसके कवि व्यक्तित्व का परिचय देता है। यह सत्य है कि महादेवी के पास केवल आत्मानुभूति के वे क्षण हैं जो उनकी अद्वितीय गति को पहचानते हैं और उनकी प्रेषणीयता को

नितान्त मार्मिक बना कर प्रस्तुत करते हैं। छायावाद-युग के अन्य कवियों में हमें यह अनुकूलता अधिकांश रचनाओं में नहीं मिलेगी। ध्वनि, मुद्रा, लहजा और हाव तो हमें प्रायः सभी में मिल जायगा किन्तु ध्वनि के साथ सार्थकता, मुद्रा के साथ संवेदना की गहराई और हाव के साथ भाव की गुरुता शायद इतनी तीव्र नहीं मिलेगी जितनी महादेवी में है। महादेवी की अनुभूति शिल्प और कथा दोनों की दृष्टि से नितान्त वैयक्तिक होते हुए भी मर्मपूर्ण है। उसमें संवेदना की गहराई ही शिल्प की प्रकृति के साथ घुली-मिली-सी लगती है। यह विशेषता किसी कवि के व्यक्तित्व और कृतित्व व दोनों के लिए मूल्यवान है।

किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि महादेवी केवल उन्हीं विशेषताओं के कारण महत्वपूर्ण हैं। सब से महत्वपूर्ण बात तो यह है कि श्रीमती महादेवी वर्मा में भाव और संवेदना के योग्य शब्दों को गला कर उनके तीखे और खुरदुरेपन को नर्मा कर प्रस्तुत करने की शक्ति है। यद्यपि कहीं-कहीं उनके भावों की गहनता के अनुकूल शब्द नहीं आ सके हैं। किन्तु फिर भी उनकी अधिकांश रचनाओं में हमें वह अनगढ़पन नहीं मिलता जो पंत में प्रायः हर तीसरी पंक्ति के बाद अवश्यम्भावी रूप में मिल जाता है। महादेवी की सहज करुणा और उससे द्रवित उनकी चेतना में एक जीवन, संगीत और लय है जो सम्पूर्ण गीतात्मकता को सजीवता और भावों को तरलता प्रदान करती है। यह संयत शैली वास्तव में महादेवी के अन्तरतम की अनगुँज है, जो उनकी रचनाओं में ताजगी पैदा कर देती है। भावना (मूड) के अनुकूल छंद, गीत, लय, और शब्द इन सब का सहज लगना महादेवी की कविताओं में हमें सहज रूप में मिल जाता है।

दूसरी दृष्टि से देखने पर उनका यही गुण उनकी कविताओं से विविधता का गुण छीन लेता है। प्रत्येक गीत में एक प्रकार की सामान्यता है जो कहीं-कहीं पुनरावृत्ति जैसा लगता है। ऐसा लगने का एक मात्र कारण यह है कि महादेवी का शिल्पी प्रत्येक-काव्य को नितान्त सुचारु रूप से प्रस्तुत करने का पक्ष लेता है। निराला में यह बात नहीं है। उनका विद्रोही व्यक्तित्व और प्रयोगशील कवि-मन कभी एक लय, गति, छन्द को तो स्वीकार ही नहीं करता वह उसकी समरसता में व्याप्त सामान्य तत्त्व के प्रति भी विद्रोह कर जाते हैं। मुक्त छन्द के प्रणेता होने के बावजूद उनमें एक गति और लय के अधिकांश गीत या छंद नहीं मिलेगा। वह प्रायः विषयानुकूल और सीमाविविधता के अनुकूल समान छन्दों का तो प्रयोग करते ही नहीं, साथ ही इस बात की भी चेष्टा करते हैं कि विभिन्नता इतनी दूर होनी चाहिये कि विविधता स्वतः सिद्ध हो जाय। महादेवी में यह विविधता केवल समान बन कर रह गयी है। ऐसा शायद इसलिये है कि महादेवी ने गीत ही लिखे हैं और गीत भी ऐसे जो मुख्यतः आत्मपरक हैं। यह सत्य है कि "जागो फिर एक बार" जैसी कविता महादेवी कभी नहीं लिखेगी, ऐसा भी नहीं है कि महादेवी ने जागरण-गीत लिखा ही न हो, अन्तर केवल इतना है कि महादेवी का कवि-मन शायद अधिक परम्परावादी है। इसी कारण जागरणगीत भी महादेवी का केवल अपना गीत बन कर रह जाता है।

जाग बेसुध जाग

अश्रुकण से उर सजाया त्याग हीरक हार
भीख दुःख की मांगने फिर जो गया प्रतिद्वार

शूल जिसने फूल छू चन्दन किया संताप
सुन जगाती है उसी सिद्धार्थ की पद-चाप
करुणा के दुलारे जाग

या

चिर सजग आँखें उनींदी आज कैसा व्यस्त बाना
जाग तुझको दूर जाना।
अचल हिमगिरि हृदय में आज चाहे कम्प होले
या प्रणय के आँसुओं में मौन अलसित व्योम रोले
आज पी आलोक को डोले तिमिर की ओर छाया
जाग या विद्युति-शिखाओं में निठुर तूफ़ान बोले
पर तुझे है नाश पथ पर चिह्न अपने छोड़ जाना।
जाग तुझको दूर जाना।

निराला के जागरण गीत में विद्रोहमय मनुहार है। महादेवी के गीत में एक नये अभियान का आमंत्रण है। इस अभियान गीत का 'तू' या 'तुझ' एक सीमा तक आत्म-सम्बोधन का ही भाव देता है जब कि निराला का गीत पूर्णतः सम्बोधन है और आत्मसम्बोधन के किसी अर्थ में नहीं है। प्रश्न उठता है कि क्या कारण है कि दो समकालीन कवि एक ही समय में जब समान रूप से एक ही भाव को व्यंजित करते हैं तो उनके सम्बोधन में इतना अन्तर क्यों आ जाता है और तब हमें उस प्रश्न का उत्तर मिल जाता है और वह उत्तर यह है कि निराला का व्यक्तित्व मूलतः विद्रोह, खीझ और आक्रोश का समावेश पौरुष उचित स्वर में व्यंजित होता है। महादेवी के साथ वह विद्रोह संस्कार के साथ सम्बद्ध है, इतिहास पुरुष के गुणात्मक काव्य के साथ सम्बद्ध है। निराला का विद्रोह जब तीव्र स्वर में मुखर होता है तब अमूर्तन भी मानवीयता के स्वर में मुखरित होती है। 'जागो फिर एक बार में' ऐसा लगता है कि जैसे वह हमें जगा रहे हैं, हमारे जैसे मनुष्य को सम्बोधन करके उसे जागृत करने की चेष्टा कर रहे हैं और हम जैसे मनुष्य में जो इतिहास है उसे 'फिर' वे संकेत से याद दिला कर आगे बढ़ जाते हैं। महादेवी में मनुष्य के गुणात्मक बोध के प्रति जागरूकता है। जहाँ निराला मानवीय होते हैं वहीं 'महादेवी' अतीत-गौरव के सूक्ष्म-तत्वों का सम्बोधन करके नितान्त वैयक्तिक हो जाती हैं।

वस्तुतः बात यही नहीं है। एक युग और एक विचार के होते हुए अनुभूतियों के सार में यह अन्तर महादेवी और निराला के दृष्टिकोणों का अन्तर है। निराला यथार्थ की स्थूलता के प्रति जागरूक होते हैं। महादेवी के साथ व्यंजना में वह स्थूलता सदैव छूट जाती है। वह उस स्थूल को भी सूक्ष्म तत्वों में देखती है। राम की शक्ति पूजा में निराला के राम मूर्तवत् यथार्थ से परिपूर्ण स्पर्शणीय लगते हैं किन्तु महादेवी के गीतों में जो 'राम या बुद्ध' या वृन्दावन विपिन भी स्पर्शणीय न होकर सूक्ष्म संवेदनीय बन जाता है। महादेवी की यही विशेषता उनको निराला और प्रसाद से भी भिन्न कर देती है। तुलनात्मक स्तर पर पंत तो महादेवी की संवेदनाओं की वृत्ति के बाहर पड़ जाते हैं। शिल्प में यह भिन्नता तो है ही साथ ही अभिव्यक्ति के स्तर पर भी पंत में न तो निराला को ठोस स्थूलता का ही सौन्दर्य मिल पाता है और न महादेवी के सूक्ष्म अमूर्तन का।

प्रसाद में यही संवेदना एक भिन्न स्तर ग्रहण कर लेती है। वह इसी संवेदना को मूर्तिवत् करके देखते हैं। प्रकृति को भी वह मानव रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म मानवीय संवेदना को भी वह मूर्तिवत् कर देते हैं लेकिन वह मूर्तियां मोम जैसी होती हैं। उनमें घनत्व नहीं होता, पानी पर तैरती परछाहियाँ होती हैं जिन्हें हम देखकर के आकार साम्य से पहचान तो सकते हैं किन्तु छू नहीं सकते। कामायनी में तो सूक्ष्म को मूर्तवत् करने की प्रक्रिया हमें मिलती ही है उनके स्फुट गीतों में भी यह तत्व विद्यमान है। एक जागरण गीत प्रसाद का भी है जो निराला और महादेवी दोनों से भिन्न है।

बीती विभावरी जाग री
अम्बर पनघट में डुबो रही——
तारा घट ऊषा नागरी
खग कुल कुल सा बोल रहा
किसलय का अंचल डोल रहा
लो यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल रस गागरी।

प्रसाद के इस विम्ब में एक साथ तीन प्रतिमाएँ एकाकार होकर व्यक्त हो रही हैं। 'उषा', 'भैरवी' और 'प्रभाती'! इन तीनों को मूर्तिरूप देने की चेष्टा में प्रसाद के शिल्प का परिचय मिलता है। राजनीति के यथार्थ को जैसे उन्होंने चाणक्य में मूर्तवत् किया है, मानव की संवेदनाओं और भावों को कामायनी में मूर्तवत् करने का प्रयास मिलता है, ठीक उसी प्रकार गीतों में भी वह प्रकृति की सूक्ष्मता को साकार रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं। महादेवी उसकी सूक्ष्मता को प्रश्रय देती हैं। वही उनका अनुभूत सत्य है जो याचना की प्रौढ़ता में विकसित होकर व्यक्त होता है।

रात के तमहीन पथ में मधुर जिसके श्वास
फैल भरते लघु कणों में भी असीम सुवास
कंटकों की सेज जिसकी आंसुओं का ताज
सुभग हँस उठ उस प्रफुल्ल गुलाब ही सा आज
बीती रजनी प्यारे जागे।

पंत इस से भिन्न भाव के कवि हैं। उनके जागरण गीतों में शुभ-सन्देश और शुभ-कामना अधिक है। न तो निराला जैसी सहज सहधर्मिता है या वह स्थूलत्व है जो हमें स्पर्श के घनत्व का बोध करा सके और न महादेवी की सूक्ष्म तरलता है जो एक साथ संस्कार युग-बोध और नितान्त समसामयिकता की सूक्ष्मता का परिचय दे सके। पंत में अपेक्षाकृत शब्द आडम्बर और शब्दों के मेले का अधिक बोध होता है। महादेवी के गीतों में इसकी अपेक्षा हमें शब्द-संयम मिलता है। यह शब्द-संयम अनुभूति की तीव्रता के साथ पिरोया हुआ होने के नाते मार्मिक व्यंजना को व्यक्त करने में सफल भी हो जाता है। महादेवी जहाँ प्रत्येक शब्द को भाव की संगति के साथ बैठाने की चेष्टा करती है वहीं पंत उन शब्दों को सजा कर रखने मात्र से तुष्टि पा जाते हैं।

प्रस्तुत विश्लेषण में जागरण-गीत का उदाहरण केवल इसीलिये लिया गया है कि यही वह स्थल है जो छायावाद युग के प्रायः समस्त प्रमुख कवियों की सामान्य भाव-भूमि है। ऐतिहासिक और मानसिक दृष्टि से यह युग एक साथ स्थूल और सूक्ष्म स्तरों पर क्रान्तिकारी एवम् नितान्त जागरूकता का युग रहा है। नये जीवन, नयी व्यवस्था, नये समाज की कल्पना के साथ-साथ पुनर्जागरण की भावना तो तीव्र थी ही साथ ही एक प्रकार की मानसिक क्रान्ति भी समस्त भारतीय-जीवन को प्लवित किये थी। यदि राजनैतिक स्तर पर देश के नेताओं और समाज सेवकों ने स्थूल रूप में और कर्म रूप में भोगा था उसे इस युग के कवियों ने वैचारिक एवम् भावना के स्तर पर वहन किया था। इस युग के सभी कवियों ने इस विषय पर लिखा है किन्तु एक भाव-बोध के कवि होने के बावजूद कवि-व्यक्तित्व के आधार पर जो भिन्नता मिलती है उसका अध्ययन करने से उन प्रवृत्तियों और मानसिक स्थितिओं के दर्शन हो जाते हैं जो अपने अनेकता और विविधता के बावजूद समानधर्मी रही है। प्रस्तुत विश्लेषण से छायावाद-युग में चार प्रमुख व्यक्तियों में चार प्रमुख तत्व स्पष्ट दीख पड़ते हैं और इन चारों के संवेत अध्ययन से उस युग-बोध का भी परिचय मिलता है।

महादेवी उस युग के दायित्व के साथ हैं किन्तु उनकी अनुभूति के स्तर में भिन्नता है। इस भिन्नता का एकमात्र कारण उनके संस्कार हैं। निराला की भाँति महादेवी में व्यवस्था के प्रति तिरस्कार करके नये पथ को कला के स्तर पर स्वीकार करने का साहस नहीं है। यह सही है कि उस युग में इन्होंने जो कुछ भी लिखा है उसमें संस्कारबद्धता और व्यवस्था के प्रति मोह के कारण महादेवी के गीतों में विविधता नहीं आ पाई है किन्तु यह भी सत्य है कि महादेवी ने उस विद्रोह को रागात्मक स्तर पर संभव करने की चेष्टा की है। इसीलिये महादेवी में प्रयोग के रूप भी नहीं हैं। वह अपने युग की करुणा की गायिका है। अपने समस्त वेदनाओं के उदात्तीकरण में जो कुछ स्थूल है वह भले ही उनकी पकड़ में छूट गया किन्तु जो कुछ भी यथार्थ है उसकी सूक्ष्म संवेदना को उन्होंने एक कुशल कवि के रूप में ग्रहण किया है। इसी जागरण सत्य को उन्होंने दीप-शिखा की भूमिका में लिखते हुए कहा है :

"जागरण के प्रथम चरण में हमारी राष्ट्रीयता ने अपनी व्यापकता के लिये जिस अध्यात्म का आवाहन किया, काव्य ने सौंदर्य-काया में उसी को प्रतिष्ठित कर दी। कवि ने धर्म के धरातल पर किसी विकृत रूढ़ि को स्वीकार नहीं किया परन्तु सक्रिय विरोध के साधनों का अभाव आ रहा...।"

और अभाव सदैव एक कलाकार के व्यक्तित्व से उपजी हुई माँग का अभाव है क्योंकि कोई भी जागरण की लहर जब कभी भी किसी देश और राष्ट्र में आती है तो वह सामान्य स्तर पर जितना प्रभावित करती है वह कलाकार के भावजगत् से भिन्न होता है। कलाकार उस स्थूलता से संतुष्ट नहीं होता, वह उसकी सूक्ष्मता और भाव के प्रति वैयक्तिक स्तर पर जिज्ञासु होता है। इसीलिये अपनी ही कृतियों की व्याख्या करते हुए वह कहती है:—

"व्यक्तिगत रूप से स्वान्तः सुखाय की मंगल भावना पर भी मेरा विश्वास है और उसके लिये आवश्यक आत्म-निरीक्षण भी। क्षण भर में बीज को वृक्ष देखा देने वाले ऐन्द्रजालिक का वैभव मेरे साथ नहीं और अपनी विकलांगता के बल पर याचना करने वाले भिक्षुक की दरिद्रता भी मेरे पास नहीं। मैं तो विश्वास के साथ तिल-तिल मिट कर कण-कण बनती हूँ। इसीलिये

मेरे निकट बिना मूल्य मिली जय से वह पराजय अधिक मूल्यवान ठहरेगा जो जीवन की पूर्ण शक्ति-परीक्षा ले सके।"

दोनों उद्धरणों के अध्ययन से महादेवी की मानसिक स्थिति का पूर्ण चित्रण हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है। एक ओर राष्ट्रीय जागरण की स्थूलता के प्रति उनका असंतोष और दूसरी ओर कलाकार की आत्मदृष्टि और उसकी आत्मतुष्टि के प्रति विश्वास, इन्हीं दोनों के बीच से जागरण और कला जिज्ञासा के तटों में उनकी अनुभूति के विभिन्न स्तर हमें मिलते हैं। (महा-देवी अत्यधिक भावात्मक अनुभूति को शब्द देती हैं इसलिये उनकी कविताओं में प्रायः तीव्रता होती है किन्तु यह तीव्रता किस सीमा तक निश्चित (Exact), अद्वितीय (Unique) और सार्थक (Significant) है इसका ही विश्लेषण हमें करना है। वाह्य जगत और अन्तर्जगत की दो परिभाषाएं प्रायः छायावाद युग के आलोचना की देन है। यह एक ऐसी शब्दावली है जिसका सार्थक सम्बन्ध सम्भव नहीं हो पाता या तो उसको लेकर हम अनुमान करने लगते हैं या फिर अत्यन्त असंग्रहणीय समझ कर छोड़ देते हैं। वस्तु स्थिति यह नहीं है। प्रश्न उठता है कि किसी भी स्थिति को कलाकार ने किस सीमा तक भोगा है, उसका साक्षात्कार किया है। स्वयम् भोगा हुआ अनुभव कभी कभी हमें एक नये सत्य का दर्शन करा देता है। क्योंकि वह प्रत्यक्ष भोगा जाता है। छायावाद-युग के प्रायः सभी कवियों ने किसी भी स्थिति को प्रत्यक्ष न भोग कर उसको परोक्ष में भोगा है। स्थितियों के प्रत्यक्ष साक्षात्कार में इसीलिये जो ताज़गी होती है वह शायद छायावाद के सम्पूर्ण काव्यान्दोलन में कहीं-कहीं मिलती है। 'अज्ञेय' स्थितियों (Vague) में अनुभूति में भी यह अज्ञेयता आ जाती है, क्योंकि उसका सीधा सम्बन्ध हमसे नहीं होता। लेकिन यदि इस 'अज्ञेय' स्थिति की 'अज्ञेयता' भी कविता हो सकती है तो उसके लिए जिस तीव्र व्यंजना और निश्चित (Exact) भाव की आवश्यकता है उसे पाना भी उतना सरल नहीं है। महादेवी की अधिकांश कविताओं में प्रायः जो द्वन्द्व हमें देखने को मिलता है वह 'ज्ञेयता' और 'अज्ञेयता' का है। अज्ञेय से ज्ञेय की ओर, अपरिमित से परिमित की ओर, अदृश्य से दृश्य की ओर ले जाने की प्रतिक्रिया कला की सहज प्रक्रिया है किन्तु ज्ञेय से अज्ञेय, स्थल से सूक्ष्म की ओर ले जाने की प्रक्रिया विशिष्ट है जो महादेवी में हमें विशेष रूप में मिलता है। इन्हीं के बीच उस रहस्यवादी भावना की भी बात की जाती है जो छायावाद में परोक्ष रूप से आया और एक तीव्र संभ्रम की स्थिति में समूचे भावबोध को छोड़ गया। महादेवी इन समस्त स्थितियों की एक प्रतिनिधि कवयित्री हैं जिनमें भावना है, संवेदनशीलता है, मार्मिक व्यञ्जना है। यह समस्त गुण कहाँ तक सार्थक हो पाये हैं हमें इसी पर विचार करना है। स्वयम् महादेवी के शब्दों—

"कलाकार सब तक पहुँच सके यह एक उजले भविष्य का सुन्दर स्वप्न है। इस अन्धकार के युग में तो सब अपने अपने पथ पर अकेले ही चल रहे हैं अतः अपने चलने की सीमा नापने के लिये स्मृति-चिह्न छोड़ना आवश्यक हो जाता है।"

यदि यह सत्य है और यह मान लिया जाय कि छायावाद का युग एक अन्धकार का युग रहा है तब समस्या और भी कठिन हो जाती है। प्रश्न उठता है कि क्या छायावाद अथवा रहस्य-वाद ने केवल स्मृति-चिह्न छोड़े हैं? यह स्मृति-चिह्न उपलब्धियाँ बन सकी हैं या नहीं।

भारतीय पृष्ठभूमि में फाउस्ट

◉ मायाप्रसाद त्रिपाठी

आंग्ल-साहित्य में जो स्थान शेक्सपीयर का है, भारतीय साहित्य में वही स्थान कालिदास का है, जर्मन-साहित्य में ठीक वही स्थान जान उल्फांग वान गेटे (१७४९-१८३२) का है। तीनों ही विश्वसाहित्य के मूर्धन्य कृती साहित्य देवता गिने जाते हैं।

जिस प्रकार साहित्य-मर्मज्ञों की दृष्टि में ओथेले तथा हैमलेट शेक्सपियर की सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ हैं, उसी प्रकार पद्य-नाट्य फाउस्ट गेटे की सबसे अभिराम, परिनिष्ठित वा अन्यतम कृति है। यह साहित्य-सौष्ठव, जीवन-दर्शन, प्रकृति-रूपायण, भावगाम्भीर्य, अनुभव-प्रौढ़ता, मानव-समस्याओं के सूक्ष्मतम विश्लेषण सभी दृष्टिकोणों से विश्वसाहित्य की अनर्घ्य अमरनिधि है। उसे साहित्य, ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं, नाना-सौन्दर्य-संवेदनाओं, ललित भावविचार-सरणियों, ललित-हृदय तथा समाहित-मस्तिष्क की विविध रागात्मिका, प्रवृत्ति-निवृत्ति तथा निवृत्ति-वृत्तियों की अनुपम विवृतियों का अन्यतम सर्वकालिक और सार्वभौम विश्वकोश कहना विशेष समीचीन होगा। फाउस्ट की इन विशेषताओं के कारण अनेक आलोचकों ने गेटे को शेक्सपियर से ऊँचा घोषित किया है। कुछ भी हो, इसमें तनिक संदेह नहीं कि फाउस्ट के कई स्थलों पर गेटे शेक्सपियर से सचमुच पर्याप्त आगे दृष्टिगोचर होता है।

फाउस्ट के दोनों भागों के अन्तः और वाह्य रूपविधान की मधुरिमा तथा पूर्णता के बहु-संख्यक ऐसे पक्ष हैं, जो भारतीय संस्कृति एवं सिद्धान्त की शालीनता तथा शाद्वलता में और भी ज्योत्स्नामय, आह्लादकर, लावण्य-पर्याकुल, आलोड़नकारी, हृदयस्पर्शी एवं प्रभविष्णु दिखाई पड़ते हैं। समीक्षा की यह धारा तुलनात्मकता की स्वस्थ, रचनात्मक एवं सौरभमयी वीचिमाला से शनैः-शनैः स्वयमेव आपूरित और उन्मीलित होती जायगी।

नाटक में प्रस्तावना की आयोजना कर गेटे ने उस में पर्याप्त मनोरम ढंग से कला के उद्देश्यों का विवेचन प्रस्तुत किया है। नाटककार ने कला-संबंधी तीन मत व्यक्त किए हैं—१. अर्थोपार्जन, २. आनंदविधान किंवा मनोरंजन तथा "कला कला के लिए" (Art for art's sake)। इनमें गेटे ने आचार्य मम्मट की अधोलिखित कारिका—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदं शिवेतरक्षतये।
सद्यः पर-निर्वृतये कान्ता-संमिततयोपदेशयुजे।

के दो सिद्धान्तों को सर्वप्रथम चुना है—वे हैं—अर्थोपार्जन तथा आनंद वा परमानन्द की सद्यः अनुभूति।

किन्तु फाउस्ट के दोनों भागों में अभिव्यक्त भावों, विचारों, सौन्दर्य-सृष्टियों तथा क्रिया-कलापों के समग्रतः अनुशीलन से ऐसा लगता है कि नाटककार ने प्रस्तावना में कला के उद्देश्यों की ओर एक स्पष्ट और सुपुष्ट निर्देश वा इंगित मात्र करके छोड़ दिया है। उसमें नाटक में आगे आनेवाली विषय वस्तु से संपृक्त कला के स्पष्ट रूप से अकथित व्यावहारिक सिद्धान्तों को छानकर संपुटित करना होगा, तभी कला के पूर्ण वा सांगोपांग स्वरूप वा वपुर्विन्यास का भान हो सकेगा। इस विधि से आचार्य मम्मट की सभी बातें गेटे के कला के सिद्धान्त में सन्निविष्ट दिखाई पड़ेंगी।

गेटे की कला की घोषित तथा अघोषित सभी सैद्धान्तिक बातों को समाहृत रूप से तौलने पर विदित होता है कि वे विश्वनाथ कविराज के निम्नलिखित सुप्रसिद्ध मत के सबसे अधिक समीप थे—

चतुर्वर्ग फल-प्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव . . . . ।।

"अल्पबुद्धि वाले लोगों को भी चारों वर्गों के फल की प्राप्ति सुखपूर्वक अल्पप्रयास से काव्य से ही होती है।" फाउस्ट के प्रथम खंड में आवेगों की जयशीलता वा गत्यात्मकता, प्रवणता, ऐहिक आकर्षण और आसक्ति; तथा द्वितीय खंड की विचारों की परिपक्व पैठ, मनीषा, चिरंतन सुख की झलक, वासना का शुद्धीकरण, आत्मा के ऊर्ध्वगमन तथा ब्रह्मानन्द वा लोकोत्तरानंद के लिए संपादित आयोजना उपर्युक्त कथन का समर्थन करने में भलीभाँति समर्थ है।

कविता की पयस्विनी किन परिस्थितियों में स्वयं ही उद्‌गीर्ण हो उठती है, इस संबंध में गेटे की भावनाएँ बहुत कुछ वाल्मीकि के समीप दृष्टिगत होती हैं; यद्यपि फाउस्ट के कई टीकाकारों ने उनकी उक्त भावना का मूलाधार एक पारसीक उपाख्यान बताया है। गेटे ने कहा है कि कविता का जन्म दो प्रणयाबद्ध प्रेमियों के हृदय के मृणाल सुकुमार आदान-प्रदान में होता है। काममोहित क्रौंचमिथुन की प्रणयलीला में हृदयद्रावक मरणान्तक व्यवधान आ जाने पर ही तो आदिकवि की काव्यमयी संगीतमयी वाणी प्रस्फुरित हुई थी—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीसमाः।
यत्क्रौंच मिथुनादेकं त्वमवधीः काममोहितम्।

इस प्रसंग में सुमित्रानन्दन पन्त की चार पंक्तियाँ बलात् स्मरण हो आती हैं—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान,
उमड़कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।

उदयन और वासवदत्ता की प्रणयलीला की स्मृति दिलानेवाले फाउस्ट के द्वितीय भाग को एक दृष्टि में हेलेन वासवदत्ता की ही भाँति, बड़ी अनुकूल, मंत्रमुग्ध, भावप्रवण तथा पटु-शिष्या अंकित की गयी है।

जीवन-दर्शन

वैदिक मन्त्रों की प्रतिध्वनि करते हुए औपनिषदिक अद्वैत वेदान्त की प्राण-प्रतिष्ठा में मग्न फाउस्ट ने ईश्वर को सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, निखिल विश्वस्वरूप, परमरहस्यमय और अगोचर बताया है। दृश्य-अदृश्य सभी सत्ताएँ एवं नामरूप उसी में पर्यवसित वा अवस्थित हैं। सभी अभिधान उसी की संज्ञा हैं। आनंद, हृदय और प्रेम को उसका पर्याय बताते हुए फाउस्ट ब्रह्मानन्द की परम रमणीय संवेदना और उदात्त प्रेम की समानार्थी भक्ति की ओर भी स्पष्ट इंगित करता दिखाई पड़ता है। अन्य स्थलों के अनुशीलन गेटे के आनन्द तथा प्रेम के इस स्वरूप को उपनिषदों के घनीभूत रहस्यवाद के पूर्वाभास तथा सूफियों की भावनाओं के समीप ला देते हैं। समस्त नाटक सर्वप्रथम ज्ञान की स्वर्मन्दाकिनी के अजस्र प्रवाह को लेकर चलता है, तथा आत्मा के—परमात्माविचुम्बित—सर्वोच्च ऊर्ध्व लोक को अन्त और वाह्य का विलयन करने वाले प्रेम वा प्रणय रूपी भक्ति से ओत-प्रोत घोषित करता हुआ पृथ्वी को रचनात्मक कार्यों का अनन्य कर्मठता का स्पृहणीय क्षेत्र अंकित करता है। ज्ञान, भक्ति तथा कर्म का यही सामंजस्य भारतीय दर्शन और जीवन की आस्था में आद्योपान्त व्याप्त है।

फाउस्ट के दोनों भाग के एक नहीं अनेक स्थलों पर गीता के सबसे उदात्त स्वर पूर्ण-मुखरित सुनाई पड़ते हैं। फाउस्ट ने बिना किसी हिचकिचाहट के स्वीकार किया है कि कर्म ही मुक्ति तथा बंधन का है और जीवन का चरम लक्ष्य है—स्वर्गिक सुख की सर्वोत्कृष्ट भावना—

"न कश्चित् क्षणमपि तिष्ठत्यकर्मकृत्"

के सिद्धान्त के अनुसरण में ही पर्यवसित है। आनुषंगिक, वैयक्तिक और जनमांगल्य की उसकी भावनाएँ भी भारतीय श्रेय-प्रेय के समग्र मूलतत्वों को युगपत् लेकर चली हैं।

मानवजीवन में वास्तविक 'बुद्धत्व' और शंकराचार्य के 'स्वात्मावबोधादधिकं न किंचित्' को भलीभाँति स्वीकार किया गया है। द्वितीय भाग में जब गेटे के हृदय का मस्तिष्क के तल पर ऊर्ध्वपातन होता है तो वहाँ उसे 'संन्यास' और समाधि की रूपरेखा केवल सामान्य दर्शन नहीं होते, प्रत्युत् वे उसे पूर्ण मूर्त तथा समुद्भासित दिखाई पड़ते हैं।

फाउस्ट में गीता के दैवासुरी संपत् का भी अच्छा विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है और मानवसत्ता के परिवेश में उसकी बहुविध क्रियाशीलता को भी अंगीकार किया गया है। गेटे सूक्ष्म तथा स्थूल-शरीर की भारतीय भावनाओं से भी पूर्ण सहमत प्रतीत होता है।

आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हुए उसने उसे अमर और सतत विकासशील वा ऊर्ध्वमुखी माना है। बहुसंख्यक तथ्यों के आधार पर ऐसा अनुमान होता है कि पुनर्जन्म के सिद्धांत पर कदाचित् उसे कोई आपत्ति न रही होगी और कदाचित् किन्हीं रूपों में अप्रत्यक्ष ढंग से वह उन्हें मान्यता प्रदान कर चुका था। आत्मा के सतत पवित्रीकरण तथा सुधार की वृत्ति के चिन्तन

और अवगाहन में तत्पर वह 'सामीप्य', 'सालोक्य', 'सारूप्य' तथा 'सायुज्य' के सोपानों पर क्रमशः अवरोहण करता हुआ नाटक के उत्कर्ष-विधान और पल्लवित करने में प्रवृत्त होता है।

फाउस्ट के मानसिक विषाद, संसार की क्लेशमयता के दृष्टिकोण तथा उससे मुक्ति पाकर, शाश्वत सुख और शान्ति की खोज और मुमुक्षा में बौद्धदर्शन का दुःखवाद तथा उसकी विविध संश्लिष्ट भावनाएँ निर्व्याज प्रतिविम्बित होती हैं। हाँ, गेटे और बौद्धदर्शन के निर्वाण में अवश्य अन्तर आभासित होता है। हो सकता है, वह केवल ऊपरी वा बहिरंग हो और उनका अंतिम अंतःरूप एक हो।

मेफिस्टोफिलीज़ तो बौद्धों के मार का साक्षात् अवतार भास होता है। वह फाउस्ट को—मनुष्य को—उसकी मनुष्यता को वासना में फँसाकर मुहुर्मुहुः विपथ करने की चेष्टा करता है और उसमें असकृत् पर्याप्त सफल भी होता है। किन्तु गेटे ने मनुष्य की प्रकृति में जिस दैवी वा उदात्त तत्व को शाश्वत स्वीकार किया है, वह उसे बचाता भी चलता है और अन्ततोगत्वा वही तत्व विजयी होता है तथा नाटक गेटे की अपनी वैयक्तिक और आकलित बुद्धत्व, शान्ति तथा आनंद की भावना से सुप्रकाशित हो उठता है। इस संदर्भ में कवि ने कामिनी के आकर्षण और हृदय की प्रणयलुब्धता सब से असंवरणीय तथा दुर्दमनीय दिखाया है।

फाउस्ट की अनेकानेक पंक्तियाँ तथा गेटे के अन्य अवसरों पर व्यक्त भाव यह भलीभाँति दिखाते हैं कि वह अपने मनन तथा अवधारण द्वारा सांख्य तथा योगदर्शन के अन्तराल में भी उड़ा करता था और वह उनके सिद्धान्तों से सहमत ही नहीं था अपितु उनसे उनके अनुभव वा कल्पना द्वारा तादात्म्य भी स्थापित किया था। ऐसा लगता है कि उन्हें अनिर्वचनीय आध्यात्मिक आनंद, सिद्धियों, इन्द्रिय-निग्रह वा आत्मदर्शन की महत्ता एवं सफलता, उसके माध्यम द्वारा अमर प्रेम की उपलब्धि तथा प्रज्ञाचक्षुता में पूर्ण आस्था, सम्यक् विश्वास तथा अनुभवगत वैयक्तिक विश्राम भी था।

नाटक के प्रथम भाग में फाउस्ट की विषण्ण मानसिक स्थिति मनुष्य की विविध विवशताओं तथा जीवन के घात-प्रतिघातों की पैशाचिक छायाओं और चिन्ता तथा तज्जन्य निराशा के गोरखधंधों में उद्भ्रान्त, संजय के इस श्लोक में गुंजित दीखती हैं—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्
विसृज्य सशरं चापं शोक-संविग्नमानसः।

तदनन्तर द्वितीय भाग के अंक में जीवन के थपेड़ों के बीच कठिन मार्गों की यात्रा के अवसान में उसे एक मधुसूदन अवतीर्ण दृष्टिगत होते हैं—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदन।।
क्लैब्यं मा स्म गम पार्थ नैतत्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदय-दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।।

इस प्रकार उद्बोधनमयी वाणी सुनाकर पांचजन्य उद्घोष की पुनरावृत्ति करते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममोभूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

विचारों की इस शृंखला में फाउस्ट के प्रथम भाग में विभ्रान्त प्रवृत्ति और आसक्तिमयी चिन्ता का बड़ा ही सजीव और चित्रवत् वर्णन तथा विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है—

उसका गहरा कोना है चिन्ता का आवास,
अनीप्सित पाहुन-सी वह,
उस कोने में ही छिपकर, रचती निज दुखविषाद का मायाजाल,
आकुल विक्लव रहती है,
सुख शान्तिघातिनी शाश्वत,
नित नूतन परिधान पहनती मुखपर।

जयशंकर प्रसाद ने भी कामायनी के अपने "चिन्ता" वाले प्रथम सर्ग में ही चिन्ता का ऐसा ही परमकाव्यत्वपूर्ण तथा मर्मस्पर्शी निदर्शन किया है—

ओ चिन्ता की पहली रेखा
अरी विश्ववन की व्याली
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण
प्रथम कंप सी मतवाली!
हे अभाव की चपल बालिके
री ललाट की खलरेखा!
हरीभरीसी दौड़ धूप, ओ
जलमाया की चलरेखा!

एक टीकाकार के अनुसार गेटे ने फाउस्ट में एक स्थल पर हिन्दू, इसाई, यहूदी, बौद्ध, तथा मुस्लिम प्रभृति संसार के सात प्रमुख धर्मों की अपर्याप्तता की ओर इंगित किया है तथा भविष्य के सकल मानव-समाज के लिए एक सर्व-स्वीकार्य सार्वभौम धर्म की कल्पना की है। टीकाकारों में चाहे जो भी मतभेद हो, इतना मानने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई पड़ती कि विश्व-कवि के मस्तिष्क में किसी सार्वधर्म की अवश्य कल्पना रही होगी।

सौन्दर्य-भावना

कला और कला का उत्कर्ष, अभिरामता तथा विभा कलाकार तथा साहित्य-स्रष्टा की सौंदर्य की कल्पना, संवेदना, आवेग, साक्षात्कार तथा वैयक्तिक स्वीकृत आदर्श पर निर्भर होती है। गेटे की सौन्दर्य-कल्पना तथा स्वीकृत आदर्श में हेतुवाद, विवेक, किशलयोल्लसित बौद्धिकता

तथा स्तुत्य किन्तु व्यावहारिकता से रंगीन नैतिकता के विकचरूप उरेहे मिलते हैं। वैसे साधारणतया माना तो यह जाता है कि वह अट्ठारहवीं शती के हेतुवादीयुग की विचारधारा से पूर्ण सहमत था, जिसके मत में मानवजीवन में हेतुवादिता ही अन्यतम सत्य है। परन्तु इसके मूल में पैठने से निर्भ्रान्ति विदित हो जाता है कि इस प्रभाव का उद्गम वस्तुतः ग्रीक मनोवृत्ति और विचार हैं क्योंकि प्राचीन ग्रीकों ने भी हेतुवादिता को अतिशय महत्व दिया है। समवेतरूप से देखने पर भी यही बात प्रतिपन्न होती है। अतः यदि एक स्वर में कहा जाय कि सौन्दर्यकल्पना तथा आदर्श के क्षेत्र में गेटे ने ग्रीक धारणाओं को पूर्णतया अपनाया था तो रंचमात्र भी प्रमाद न होगा। ग्रीक सौन्दर्याभिव्यञ्जन में सर्वत्र हेतुवादिता, नैतिकता तथा बौद्धिकता के तत्त्वों की गहरी छाप दृष्टिगोचर होती है।

परन्तु गेटे की सौन्दर्य की संवेदना, आवेग तथा साक्षात्कार में वैयक्तिक परिष्कार और परिवर्धन भी हुए थे। इसके दो कारण थे। उसने भारतीयों की भाँति सौन्दर्य में, प्रथम, अमरता अथवा चिरंतन प्रत्यग्रता—

"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः":
"वह (हेलेन)
न प्रौढ़, न कभी पलित-आयु है होती,
तो भी उन्मादिनी लोचनों को।
हरी गई यौवन में,
फिर भी तरुणाई की संध्या में
अभिलाष लिये जग इस पर न्योछावर होता;
काल निगड़ से नहीं कभी कवि बँधता।"

एवं द्वितीय, ऊर्ध्वगामिता तथा पवित्रीकरण की संवेदना भी सँजोयी थी। यह उसके प्रेम की अमरता, ऊर्ध्वपातन, निरीहता का एक सामान्य निष्कर्ष है। उसकी चेतना इस बात से ऊपर उठ चुकी थी कि सौन्दर्य वा स्थायी सौन्दर्य का उपभोग ही जीवन का चरम लक्ष्य है। वह यह भलीभाँति देख चुका था कि सौन्दर्योपभोग के ऊपर भी कुछ है—वही जीवन का वास्तविक सार है।

यह यथार्थ है कि उसे कला में प्रकृति की महत्ता तथा भावना-भव्यता (रोमाण्टीसिज्म) के सिद्धान्तों की दीक्षा मिली थी और तज्जन्य वातावरण से वह भलीभाँति प्रभावित था। प्रकृति के नानारूप विन्यासों तथा मनोमोहिनी लावण्यमयी प्राणान्वित कलेवर-सुषमा में, उसके अंकन में उसका मन नितरां रमता था। किन्तु ऐसा लगता है कि सौन्दर्य की पराकाष्ठा का साक्षात्कार उसने ग्रीकों की भाँति, भारतीयों के विपरीत, मानव अवयवों के आदर्श सौन्दर्य और उसके आदर्श समाहरण में ही किया था। आदर्श मानववपुः सौन्दर्य ही उसके सौंदर्यादर्श का मापदंड था। भारतीयों ने आदर्शारोपित प्रकृति में अपने सौन्दर्य की पराकाष्ठा और मापदंड की प्रामाणिकता का साक्षात्कार किया है।

इसमें भी कदाचित् रमणी के वपुः सौन्दर्यका चरम उसके (गेटेके) आदर्श सौन्दर्य का अभिव्यक्त वा आयुष्मिक प्रतीक है। हेलेन जैसे उसका चिरंतन अभिधान है। पता नहीं

क्यों उसने इस परिनिष्ठित रमणी सौन्दर्य में एक प्रकार के अचांचल्य, निस्पृहता वा रागाल्पता का आरोप किया है, जिससे रागातिथाय्य से उद्भ्रान्त पुरुष उसके पीछे लुब्ध, वा मंत्राभिभूत फिरा करता है—

स्वयं अभिनंदित
छवि है एक स्वयं वरदान
आवेगहीन औ' उदासीन।
मृदुशील-चारुता के ही संमुख मानव झुकता है।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि फाउस्ट मध्यकालीन योरोप के उच्चादर्शों के अन्वेषण का जीवन्त प्रतीक है। उसे मानव-जीवन के उच्चतम आदर्श के स्वरूप के दर्शन पूर्ण सौन्दर्य के सर्वोत्क्रिष्ट आदर्श में होते हैं। पूर्ण सौन्दर्य की भावना का विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है। उसमें कोरी कल्पना के ही रंग नहीं होते—उसमें भूत की बौद्धिकता और अनुभवगत बातें भी सन्निविष्ट होती हैं।

गेटे की सौन्दर्यभावना के परिमार्जन, अनुवर्णता, तथा संपूरण में विज्ञान की विविध शाखाओं के तथ्यों, स्वरूपों, ज्ञान और गवेषणा की आह्लादमयी प्रवृत्तियों, आवेगों तथा अंतरात्मा एवं विविध प्रक्रियाओं सहित विकासधारा की उत्फुल्लता तथा सरसता का भी पीयूषवर्षी संचय होता है। सतत विकासशील वर्धमान परिवेशवाली परंपरा से अवाधित धर्म की उत्क्रष्ट चेतना भी उसमें हाथ बटा सकती है। साहित्य-सौन्दर्य की गरिमा में यह अंतिम मणि-कांचन का संयोग उत्पन्न करने में समर्थ हो सकता है—फाउस्ट के कथावृत्त की सरणि इसका निश्चित प्रमाण है। इससे स्पष्ट है कि गेटे का आद्य अभिमत कला वा साहित्य में धर्म को भारतीयों के ढंग से ग्रहण करने का नहीं था, यद्यपि कहीं-कहीं परम्परा-अविच्छिन्न धर्म का रूप प्रकट हो गया है, परन्तु वह मानसगत सर्वोपरिसत्ता को अभिधान प्रदान करने के सदृश एक मूर्त्त, सुकर, तथा सुन्दर चेष्टा वा पद्धति जैसा है।

महान् नाटककार ने विकास संबंधी दार्शनिक और वैज्ञानिक तथ्यों तथा सिद्धान्तों पर बहुत ही समीचीन और तर्कसंगत ढंग से मनन किया था। विकासवाद संबंधी उसकी परिपुष्ट भावनाएँ फाउस्ट के द्वितीय भाग के "(The Classical Walpurgis Night)" (साहित्य प्रसिद्ध वालपुरजिस यामिनी) दृश्य में एक आभासिका (Fantasia) के रूप में ग्रथित मिलती हैं। इसमें लेखक ने विश्व, मानव, उसका सौन्दर्य तथा धर्म संबंधी हृदय तथा मस्तिष्क को समग्रतः समेटकर चलनेवाली भावनाओं तथा मान्यताओं के विकास का विवेचन और प्रतिपादन किया है। उसकी सारी विचार प्रक्रियाओं तथा सैद्धान्तिक निष्कर्षों में सांख्यदर्शन का सादृश्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। यह कदाचित् निश्चित रूप से विश्व को मूर्धन्य प्रतिभाशाली व्यक्तियों के विमर्शों की आनुषंगिकता की स्वाभाविक परिणति है।

जीवन की चिरंतन समस्याएँ

मानव जीवन की गम्भीर चिरंतन समस्याओं तथा उलझनों पर दृष्टिपात करने में फाउस्ट नाटक शकुन्तला, विक्रमोर्वशीय तथा मालविकाग्निमित्र की अपेक्षा हैमलेट के अधिक समीप दिखाई पड़ता है। कालिदास ने मानव की सबसे मूलभूत मनोवृत्ति वा प्रकृति-प्रणय को लिया

है। और उसके विश्लेषण, अंकन, तथा ऊर्ध्वपातन में अपनी कला और प्रतिभा की पराकाष्ठा दिखाई है। जीवन के समस्त कोलाहल, चिन्ताओं, झंझटों, हृदय तथा मस्तिष्क की समस्त उपलब्धियों तथा वात्याचक्रों के परिवेश में वे न घुसे, न घुसने की आवश्यकता ही समझी क्योंकि अपनी विशिष्ट चुनी हुई विषय-वस्तु वा कथावृत्त से ही वे लोकोत्तरानन्द तथा लोकसंग्रह दोनों का ही विधान करने में सफल हुए। सभ्यता तथा संस्कृति की सतत वर्धमती जटिलता से उनका युग उतना आक्रांत न था, जितना गेटे का। यह तो हुई एक बात कालिदास के पक्ष में; किन्तु उन्होंने जीवन की उसकी पूर्ण व्यापकता में देखने की चेष्टा भी न की। यदि उन्होंने मृच्छकटिक, मुद्राराक्षस, शाकुन्तल तथा अपने ज्योतिष आदि विषयक पाण्डित्य के प्रतान तथा जटिलता से वृत्तमय नाटक की रचना की होती तो कदाचित् वे गेटे से आगे दृष्टिगोचर हो सकते थे। किन्तु ऐसा न हुआ और इस प्रकार इस दृष्टिकोण से गेटे का स्थान विश्व-साहित्य में सर्वोच्च है।

मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि

कालिदास तथा रवीन्द्रनाथ के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यह दिखाते हैं कि वे प्रथमतः कवि थे, तदनन्तर नाटककार तथा कथाकार। किन्तु गेटे में उत्कृष्ट कवि, नाटककार तथा कथाकार का ऐसा अनूठा संतुलन दृष्टिगोचर होता है, जो विश्व-साहित्य में कदाचित् सर्वथा अलभ्य है।

प्रकृति और शिक्षा-दीक्षा द्वारा टैगोर का व्यक्तित्व ललितकलाओं, साहित्य, संगीत, चित्रकला आदि से व्याप्त था। कालिदास ललितकलाओं तथा साहित्य के अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं---भूगोल, ज्योतिष तथा व्याकरण के भी अच्छे विद्वान् थे। इस विचार से कालिदास, गेटे के अधिक समकक्ष भासित होते हैं। वैसे गेटे का मानसिक व्यक्तित्व बहुत कुछ इटली के विलक्षण वैज्ञानिक चित्रकार लिओनार्डोडाविंसी के सदृश था। गेटे कला-साहित्य में पारंगत तथा सक्रिय-स्रष्टा तो था ही, इसके ऊपर उसे भौतिक-विज्ञान, रसायन, भूतत्व, भूगोल, ज्योतिभौतिकी (Astrophysics), इतिहास, दर्शन, अर्थशास्त्र, शासन तथा राजनीति में भी अच्छी मेधा तथा दक्षता प्राप्त थी। दूसरे शब्दों में वह आधुनिक सबसे महत्वपूर्ण शास्त्रों---राजनीति, विज्ञान तथा अर्थशास्त्र में पूर्ण पटु और व्यावहारिक ज्ञान से तो संपन्न था ही, साथ ही उनकी अंतरात्मा को भी पहचानता था और उनकी भविष्य की प्रवृत्तियों तथा दिशाओं को समझनेवाला मनीषी था। इस कारण वर्तमान सभ्यता और संस्कृति संबंधी उसकी भविष्यवाणियाँ प्रायः अक्षरशः सत्य होती दीखती हैं। उसकी होमनक्यूलस की कल्पना एकदम सत्य सिद्ध हुई। आज मनुष्य साइकोटेलीविजन द्वारा (लघुतरंगों के माध्यम से) अंतर्यामी हो गया है---(वि० दे० मेरा लेख "मनुष्य अंतर्यामी हो गया है"---"आज" २९-३-१९६४) सभी के मन की बातें तक जान लेता है।

इन्हीं बहुमुखी मेधाओं और प्रतिभाओं के कारण गेटे मानव-जीवन, जन-मांगल्य, भुक्ति-मुक्ति उनकी चिरंतन समस्याओं, सुलझावों, उनके सार्वभौम वा विराटतम रूपों का बहुत अच्छा साक्षात्कार और अंकन कर पाये थे। कालिदास तथा टैगोर उतनी व्यापक भावभूमि में न प्रविष्ट हो सके---न उड़ सके। गेटे की प्रतिभा की व्यापकता वा बहुमुखता का स्रोत स्वयं उसका

अनुपम सर्वतोमुखी व्यक्तित्व—मानसिक रचना थी। इन्हीं सब कारणों से कहा जाता है कि "उसका जीवन वा व्यक्तित्व ही उसकी सबसे पूर्ण और सुन्दर कृति थी।"

जहाँ तक शील, श्लीलता और मर्यादा की वृत्तियों तथा साहित्य में उनके अंकन का प्रश्न है, गेटे कालिदास से ऊपर, रवीन्द्र के तुल्य तथा गोस्वामी तुलसीदास से ऊन था। परन्तु तुलसीदास जी से ऊनता उसके साहित्य-सौष्ठव और सौरभ में तनिक भी किसी प्रकार की अक्षमता वा दोष नहीं उत्पन्न कर पायी है।

गेटे के मानसिक रूपविन्यास और संघटन में भावतत्त्व तथा बुद्धितत्त्व का अपूर्व समन्वय समुद्भाषित है। मोटे रूप से फाउस्ट का प्रथम भाग भावतत्त्व से आलोड़ित है, तथा द्वितीय भाग बुद्धितत्त्व से संवलित तथा शबलित है।

चरित्र-चित्रण

फाउस्ट में पात्रों की संख्या बड़ी भारी-भरकम है; किन्तु उनमें फाउस्ट, मेफिस्टाफिलीज़, ग्रेचेन (वा मारगेरेट), हेलेन, सम्राट्, तथा होमनक्यूलस सर्वोपरि तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। इनमें भी फाउस्ट, मेफिस्टाफिलीज़, ग्रेचेन तथा हेलेन के चरित्रांकन में उसकी प्रतिभा तथा उद्भावना का पूर्णोत्कर्ष तथा अनुपम चारुता दृष्टिगत होती है।

औत्सर्गिक रूप से उसने पात्रों के चरित्रचित्रण में अतिशय सूक्ष्मता, मानव-प्रकृति तथा अन्तर्द्वन्द्वों की अत्यन्त सटीक पकड़, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पद्धति, सांस्कृतिक तथा सुरुचि की अभूतपूर्व प्रौढ़ता, मनोवेगों के स्वाभाविक उद्भव, उत्थान-पतन के नितान्त प्रभविष्णु तथा मर्मस्पर्शी स्वरूप की पूर्णोन्मीलित करने की सफल तथा सर्वथा साधिकार चेष्टा की है।

उसके अंकित चरित्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अत्यन्त जटिल आधुनिक सभ्यता और संस्कृति की परिधि में पृथकत्व और वैयक्तिकता के स्थान में अपनी एक सर्वनिष्ठ जाति वर्ग का अविकल प्रतिनिधित्व ही नहीं करते, प्रत्युत् इन दोनों के ढाँचे में एकदम ठीक बैठ जाते हैं, जैसे वे सवा-सौ वर्ष पूर्व न परिकल्पित हों—वरंच आज हमारे बीच सशरीर चलते-फिरते विद्यमान् हों। इससे आज की बौद्धिक और भावुक, दोनों प्रकार की समष्टियाँ उनसे पूर्ण तादात्म्य का सान्निध्य प्राप्त कर लेती हैं। उसकी इस जाति की सर्जना करनेवाली संप्रेषणीयता (Communicability) से भविष्य भी पूर्णतया परिप्लुत रहेगा।

फाउस्ट गेटे की प्रतिभा की सबसे उत्कृष्ट तथा शालीन सर्जना है। पौरस्त्य-साहित्य में उसकी तुलना करनेवाला कोई पात्र अभी तक तो नहीं दृष्टिगोचर होता। वह विद्वान्, दार्शनिक, कवि, वैज्ञानिक, उन्नायक, किमियागर सभी कुछ है। उसकी सफल तुलना शेक्सपीयर का हेमलेट ही कर सकता है।

उसकी गृहपालित ग्रेचेन कुछ बातों में आश्रमलालित शकुन्तला से मिलती है। ग्रेचेन का उत्कर्ष उसके करुणोत्पादक अंत में होता है और शकुन्तला का कठिन त्याग तथा तपस्या के अनंतर सुखान्त मिलन में। उसकी हेलेन में ऊर्वशी की किंचित् मनोरम छाया ढूँढ़ी जा सकती है।

श्रव्य-काव्य के जिन आराधकों को शकुन्तला का चरित्र सबसे मनोहारी, उदात्त और आदर्शानुप्राणित भासित होता है, उन्हें गेटे की हेलेन की अपेक्षा ग्रेचेन ही अधिक मनोज्ञ एवं संवेदनापेक्षी लगेगी। वैसे ग्रेचेन कुछ स्थलों पर शकुन्तला से किंचित् कठोर और निम्न वृत्तियों से उसकी अपेक्षा कुछ अधिक नियंत्रित और परिचालित प्रतीत होती है। शकुन्तला विश्व नारी-समाजका अत्यन्त सरलतापूर्वक आदर्श बन सकती है; किन्तु ग्रेचेन अपने शुद्धप्रेम की पराकाष्ठा के होते हुए भी वैसा नहीं अंगीकृत हो सकती। उसी प्रकार यदि फाउस्ट के हत्याकर्मों को छोड़ दिया जाय, तो वह दुष्यन्त की अपेक्षा पुरुष-समाज का अच्छा व्यावहारिक आदर्श है। वह द्वितीय शती के बौद्ध दार्शनिक विद्वान् तथा किमियागर नागार्जुन से बहुत मिलता है।

प्रकृति-दर्शन

प्राचीन भारतीय कवि तथा कलाकारों की भांति गेटे भी प्रकृति का अनन्य उपासक था। उसका कहना था कि "प्रकृति ईश्वर का सबसे प्राणस्फुरित परिधान है।" प्रकृति की प्रसाधित मुखच्छवि के सम्मुख वह एकदम लहरा उठता था, रोमाण्टिक हो उठता था। कहा जाता है कि वर्ड्स्वर्थ ने अपने को प्रकृति में ढूंढ़ा था तथा शेली ने अपने को प्रकृति में खो दिया था। गेटे के संबंध में कहा जा सकता है कि उसने प्रकृति में आत्मस्मृति और आत्मविस्मृति सभी कुछ पाई थी। यदि कालिदास बाह्य-जगत् के अनुपम कवि हैं और शेक्सपियर अंतर्जगत् का अन्यतम द्रष्टा, तो गेटे अंतर्जगत् के पूर्ण विकसित सर्वांगपूरित स्वरूपों का सकल बाह्यजगत् से अद्वितीय संगम कराने में अप्रतिभ हैं। इस विचार से वह फाउस्ट से कालिदास तथा शेक्सपियर दोनों से ऊँचा टहरता है।

प्रकृति के संश्लिष्ट योजनात्मक वर्णन में वह कालिदास और बाल्मीकि से पूर्णतया मिलता है। इन तीनों महाकवियों में प्रकृति वर्णन के हृदय की रसधारा का उद्गम एक ही स्वर्गिक समय-स्थली से आभासित होता है। यदि कालिदास ने अवतंसिनी, बहुमंडित, प्रकृति की रमणीयता के दर्शन होते हैं और वाल्मीकि के वर्णनों में शाद्वलता झाँकती दिखाई पड़ती है, तो गेटे के प्रकृति-चित्रण की चित्रोपमचारुता तथा उदात्त रव में शालीनता, विशालता और विपुलता के साथ-साथ कालिदास और वाल्मीकि को युग्मता के ऊपर कुछ और ही सुषमा व्याप्त रहती है। उसने उत्तुंग शैलों, शिखरों, झीलों, उत्सों, नैशरूपसी, पर्वत-उपत्यकाओं, कान्तार की कमनीय छवि, उद्दाम अबाध दृप्तवन्यता तथा शिलोच्चयों का आल्प्स के स्वर्णिम उष्णीष पर विराजित अरुणोदय तथा निनादित प्रभात का अपूर्व प्राण-स्पन्दित तथा बहुवर्णी चित्र अंकित किया है।

राइन के प्रपात तथा लूसर्न झील के प्रांगण में किरीटी प्रत्यू की विभा, विभूति और वंशीरव जैसी उदात्त, शालीन, मादक और प्राणोत्फुल्लकारी जो छटा उसने अंकित की है, वह विश्व-साहित्य की अमूल्य, अमर और अनुपम निधि है। अभी तक विश्व का कोई कवि उसकी पूर्णता, अपरिमित मोहकता और संजीवनी की तुलना नहीं कर सका। भविष्य में भी कदाचित् ही कोई कवि उसके समकक्ष उतरे। नवस्फुरण और अभिनन्दन लेकर प्रभात कवि के संमुख अवतीर्ण होता है—

जीवन का स्पंदन नव-स्फुरित अब जगता है,
क्षिप्रचरण अनुरंजित उषाविभा के
मृदु अभिनंदन को;
अरी धरणि! रजनीभर तू भी
रही अचंचल, अविकंपित,
अब मेरे पावों के नीचे
अपनी निद्रा से जगकर,
अभिनव अनुप्राणित, टटके समीर में
साँसें लेती है।

वैसे, जैसा गेटे ने स्वयं स्वीकार किया है, कालिदास केवल नैसर्गिक ही नहीं, अपितु औत्सर्गिक सौन्दर्य-सर्जना, कौशेयता, सुधावर्णन, सुकुमारता तथा प्रकृति-पूजा में, मानव-व्यापारों में, प्रकृति के सापेक्षता के अंकन में आज भी अप्रतिम हैं और चिरंतन काल तक अप्रतिमँ रहेंगे।

शिल्पविधान

शिल्पविधान तथा रसनिष्पत्ति सम्बन्धी बहुसंख्यक बातों में भी फाउस्ट में भारतीय साहित्य परम्परा के नाना स्वरूप झाँकते दिखाई पड़ते हैं। गेटे 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अनुवाद पढ़कर मंत्राभिभूत हो गया था। उसके शिल्पविधान से भी वह पर्याप्त प्रभावित हुआ था। फाउस्ट की रंगमंचीय प्रस्तावना को सर्वथा शकुन्तला की प्रस्तावना से प्रेरणा तथा निर्देश प्राप्त हुए थे।

शकुन्तला तथा भारतीय नाटकों में अतीन्द्रिय या पारलौकिक उपादानों का अबाध प्रयोग मिलता है। गेटे ने भी फाउस्ट में पारलौकिक उपादानों तथा पात्रों का यथेष्ट प्रयोग किया है।

गेटे ने फाउस्ट में विदूषक की भी अवतारणा की है। यह तो निश्चित नहीं कहा जा सकता कि वह भारतीय-साहित्य के सम्पर्क का प्रभाव है, क्योंकि उसके पूर्ववर्ती शेक्सपियर ने भी विदूषक का बड़ा ही सफल तथा हृदयहारी प्रयोग किया है। परन्तु विदूषक की अवतारणा द्वारा वह हासपरिहास की वह मधुर, हृदयोत्फुल्लकारी अथवा हास्य वा स्मित भर देने वाला वातावरण नहीं उत्पन्न कर पाया है, जो कालिदास वा भास ने किये हैं। उसकी हास्यरस सम्बन्धी एतादृश असफलता का दृष्टान्त भारतीय नाट्यसाहित्य में दिङ्नागाचार्य की कुन्दमाला में मिलता है।

नाटक के भीतर नाटक की आयोजना (प्रेक्षणक वा Intermezzo) की पद्धति संस्कृत-साहित्य में अत्यन्त प्राचीन काल से दृष्टिगोचर होती है। मालविकाग्निमित्र, उत्तररामचरित, तथा प्रियदर्शिका में प्रेक्षणक की अवतारणा और विकास भलीभाँति देखा जा सकता है। फाउस्ट में भी गेटे ने प्रेक्षणक की व्यवस्था की है। कहा नहीं जा सकता कि उसकी प्रेरणा का मनोवैज्ञानिक आधार उसकी मानसिक स्थिति थी या कोई बाह्य प्रभाव। फाउस्ट के प्रथम भाग में वालपुरजिस रात्रि के स्वप्न में प्रेक्षणक की आयोजना की गयी है।

फाउस्ट के द्वितीय भाग के अंत में एक उद्बुध संन्यासी द्वारा ऐसी मंगलकामना की गयी है, जो भारतीय-नाटकों के भरतवाक्य में मिलती है। वह अश्वघोषकृत 'शारिपुत्रप्रकरण'

तथा दिङ्नागाचार्य प्रणीत 'कुन्दमाला' के क्रमशः बुद्ध तथा वाल्मीकि के मुँह से कहलाये गये भरत-वाक्य के बहुत समान कही जा सकती है। नाटक का समस्त पर्यवसान भी भारतीय परम्परा में निहित सुखान्तता की शांतिदायिनी गंध से व्याप्त है।

भाव तथा कलापक्ष के विश्लेषण, वृहत् आकार, विविध परिस्थितियों तथा वस्तुओं के वर्णन एवं निदर्शन, प्रकृति के पृथक् और रूपायण, युद्धादि के वर्णन, रसों के बहुमुखी उन्मेष प्रभृति लक्षणों द्वारा पद्यनाट्य फाउस्ट में भारतीय महाकाव्यत्व हिलोरें लेता दिखाई पड़ता है। उसमें करुण, शृंगार, रौद्र, भयानक, शान्त तथा हास्य की बड़ी सम्यक् और उद्वेलनमयी निष्पत्ति समाविष्ट है। करुण और शृंगार किरीटालंकारवत् सबके ऊपर अवस्थित हैं। अतः उसमें सुधीजन महाकाव्य का रसास्वादन अनायास ही कर सकते हैं।

कालिदास और सूरदास की भाँति गेटे को वात्सल्य की भी अच्छी संवेदना थी। उस युग में यूरोप में वात्सल्य को महत्व देनेवाला गेटे अकेला दृष्टिगोचर होता है। उसके शिशुओं में हेलेन के पुत्र यूफोरियन तथा मारगरेट के शिशु में शकुन्तला-सुवन सर्वदमन की स्मृति हरी हो जाती है।

फाउस्ट के कुछ गीतों में बड़ी मधुर रुनझुन और मसृणता के दर्शन होते हैं। वे करुणप्रणय तथा कोमलकान्त पदावली में बहुत कुछ मेघदूत तथा गीतगोविन्द के यूरोपीय कलेवर प्रतीत होते हैं। उद्वेलित हृदय में करुणप्रणय साकार होकर बोल रहा है—

उर अवसाद भरा,
मनकी शान्ति गई,
कभी न पा सकती उसको
हा! कभी न फिर जीवन में।

जयदेव की श्रुतिमधुर गूँज समस्त वातावरण में इस प्रकार व्याप्त है—

नृत्यगीत— **उसकी माला उसके फीते उड़ते।**
उल्लास भरे सब नर्तकगण पहुँचे कब से
लिंडन तरु के पास,
वर्तुलरेखा में ये झूम रहे उसके चारों ओर,
हे निनी! हे नानी;
हे निनी! नानी! नो!
वादन यष्टि न जाने गिरी कहाँ जा!"

फाउस्ट नाटक एक अध्यवसित रूपक (allegory) वा प्रतीक-प्रधान नाटक है। उसकी यह विशेषता उसके द्वितीय भाग में विशेष प्रस्फुटित हो उठी है जिसमें 'कामना', 'चिन्ता', 'अपराध' प्रभृति अमूर्त भावनाओं तथा गुणों का प्रयोग वाग्विदग्ध मानवीकृत मूर्त्त पात्रों के रूप में किया गया है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि उसकी यह विशेषता सर्वथा संस्कृत के दशमशती के नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदयम्' तथा त्रयोदशशती के जैन नाट्य मोहराजपराजयम्' के सदृश है।

प्रकीर्णक

प्रथम भाग में एक स्थल पर नायिका ग्रेचेन अपनी सखी लिसबेथ के साथ कुएँ पर घड़ा लिये दिखाई पड़ती है। इस दृश्य में भारतीय पनघट की भावनाभव्यता तथा अभिरामता साकार हो उठती है।

फाउस्ट के द्वितीय भाग के प्रथम अंक में कुसुम चयन करनेवली चंचल मोहिनी बालाओं का, हृदय में अत्यन्त गुदगुदी उत्पन्न करने वाला बड़ा सजीव दृश्य सम्मुख आता है। इनमें शकुन्तला के चतुर्थ अंक के आरंभ में फूल चुनती हुई उसकी सखियों—प्रियवंदा तथा अनसूया के रूप और व्यापार और निखर उठे हैं—उनमें लोच, लास्य और हावभाव और पेशल हो उठे हैं। इस दृश्य के मूल में निश्चित ही अभिज्ञान शाकुन्तल की प्रेरणा अपनी छाप छोड़ गयी है।

सभ्यता और संस्कृति के चरमोत्कर्ष के बीच में पले हुए तथा उनकी शालीनता और समृद्धि के अंकन में पूर्णतः रमनेवाले गेटे ने आश्रम और उसके परम पुनीत स्वर्गिक वातावरण के चित्रण में भी श्लाघनीय रागात्मकता और प्रवृत्ति दिखाई है। द्वितीय भाग के पर्यवसान का पर्वत-और वन प्रान्त में स्थित आश्रम का यह वर्णन शकुन्तला, स्वप्नवासवदत्तम्, तथा 'कुन्दमाला' नाटकों के आश्रम की बड़ी रुचिर सुधि उत्पन्न करता है। ऐसा भान होता है कि भारतीय परम्परा की भाँति गेटे भी आश्रमलालित सौन्दर्यपूरित संयम, शुचिता और नैसर्गिक जीवनपद्धति एवं नगर की कोलाहल तथा जटिलता से आक्रान्त सभ्यता, संस्कृति तथा शिष्टाचार के रंजनकारी और मांगल्य विधायक सामंजस्य में भी विश्वास करता था।

महाकवि के मस्तिष्क पर भारतीय नाट्य-विधान का जो कुछ थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ा था, वह तो पड़ा ही था, उसने प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के नवरक्त-संचरित मंजुल प्रतीक तथा स्फुरणमयी गंधश्री से अनुरंजित मुखरित अभिव्यंजना अभिज्ञान-शाकुन्तलम् से विचित्र सायुज्य स्थापित किया था। उस विश्वविदित सायुज्यवाणी से सभी परिचित हैं—

Wondot thou the young year's
blossoms and fruits of its decline,
And all by which the soul is
charmed, enraptured, feasted, fed;
wouldst thou the earth and
heaven itself in one sole name combine!
I name thee, O, Shakuntala!
and all at one is said.

(यदि कोई तरुण वत्सर के फूल और परिणत वत्सर के फल, यदि कोई मर्त्यलोक और स्वर्ग, एकत्र देखना चाहे तो वे उसे शकुन्तला में प्राप्त होंगे।)

लघुकथा : कहानी शब्द का विकास और उनका शास्त्रीय विवेचन

● शङ्कर शेष

लघुकथा और कहानी ये दोनों शब्द क्रमशः मराठी और हिन्दी में आज अंग्रेजी के (Short Story) शब्द के पर्यायवाची हैं। लघुकथा से मराठी-भाषी पाठक कहानी की वस्तु और शिल्प के विषय में जो अपेक्षायें रखता है, वही अपेक्षा कहानी शब्द से हिन्दी का पाठक भी रखता है। यह सत्य है कि प्रत्येक शब्द अपना वर्तमान अर्थ ध्वनित करने के साथ ही साथ अतीत का स्पंदन लिये हुए है। लघुकथा और कहानी शब्द तक पहुँचते पहुँचते और उसके वर्तमान स्वरूप में ढलने के लिये कथा को न जाने कितनी बार अपना नाम-संस्करण करना पड़ा है। कथा कहने की प्रवृत्ति शाश्वत है और कथा सुनने की भी, परन्तु कथा कहने की और कथा सुनने की प्रवृत्ति में समय-समय पर परिष्कार और परिवर्तन होता रहा है।

यह सत्य है कि आज की कहानी और लघुकथा को अपने वर्तमान स्वरूप के निर्धारण में संस्कृत-साहित्य से बहुत कम ऋण लेना पड़ा है। उसके वर्तमान की प्रेरणा का स्रोत तो पाश्चात्य कहानी-साहित्य ही रहा है परन्तु कहानी और लघुकथा शब्द भारत के ही हैं। अतः यह देखना है कि उनका विकास कैसे हुआ, कथा जैसी साहित्य विधा के लिये कौन-कौन से शब्द आये और उन्होंने कथा के स्वरूपों का उद्घाटन कैसे किया।

कहानी और लघुकथा के अन्य तत्त्वों का स्वरूप बदलता रहा परन्तु उनमें जो कथातत्त्व (Story Element) या कहानीपन है, वह अब तक बना हुआ है। कहानीपन की एकरूपता के कारण ही उसके अनेक नामकरण हुए हैं ; गाथा, आख्यान, अन्वाख्यान, आख्यायिका, कहानी, कथानिका, परिकथा, खंडकथा आदि शब्द कथा का पर्याय बन कर आये हैं। अतः यह देखना आवश्यक है कि वैदिक और संस्कृत-साहित्य में इन शब्दों ने अपना अर्थ बदला है।

सर्वप्रथम 'गाथा' शब्द का विश्लेषण आवश्यक है क्योंकि गाथा शब्द संहिताओं और उसके बाद के साहित्य में भी दृष्टिगोचर होता है। सूक्त शब्द की व्याख्या शौनक ने अपने ग्रंथ वृहद्देवता में की है और उसके अनुसार सूक्त शब्द का अर्थ ऋषि वाक्य ही है।[1] यह सूक्त शब्द बाद में संभवतः सूक्ति के व्यावहारिक रूप में ढल गया। 'गाथा' शब्द का इतना सीमित अर्थ नहीं रहा है, 'गाथा' शब्द की व्युत्पत्ति 'गै' धातु से मानी गयी है। 'गै' का अर्थ होता है गाना। 'गाथा' शब्द का प्रयोग गीति-प्रबंध के अर्थ में भी हुआ है। ऋग्वेद की नाराशंसी गाथा से इतना अवश्य ही निष्पन्न किया जा सकता है कि उसका अर्थ सूक्त से भिन्न होकर पद्यात्मक प्रबंध के अर्थ ही में आया है। गाथा का यही अर्थ संहिताओं में भी दिखाई देता है।[2] ऐतरेय आरण्यक में गाथा का अर्थ है

पद्य तथा उसके तीन प्रकारों का उल्लेख हुआ है वे हैं—ऋक्, कुम्व्या और गाथा। शतपथ ब्राह्मण में तो गाथाओं के दो प्रकार स्पष्ट हैं—पहला मानवी और दूसरा दैवी। इससे सम्भवतः यह भी अर्थ हो कि प्राचीनतम और दैवी गाथाएँ देवताओं से सम्बन्धित थीं और अन्य गाथाएँ मानवों के लिये हों। कहने का तात्पर्य यह कि उस काल में गाथाओं में मानवीय जीवन के चित्रण का प्रयत्न रहा हो किन्तु इनका स्वरूप लौकिक होने के कारण साहित्य में इन्हें स्थान न मिला हो। मैत्रायणी-संहिता में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि स्त्रियाँ विवाह के समय गीत गाया करती थीं। भारत के सभी भागों में आज भी विवाह के समय गीत गाये जाते हैं। मैत्रायणी-संहिता में गाथा के अर्थ में सम्भवतः इन्हीं गीतों की ओर संकेत है। इसके पश्चात् पाली-साहित्य में जो गाथाएँ गाई जाती हैं, वे एक-दो अनुष्टुप् छंद के रूप में दिखाई देती हैं। जैन-साहित्य में भी गाथाओं का यही रूप रहा है। जातकों में गाथाओं के तीन रूप दिखाई देते हैं—पहला एक निपात, दूसरा दुक-निपात और तीसरा तिक-निपात। एक निपात में एक, दुकनिपात में दो और तिकनिपात में तीन गाथाएँ रहती हैं। एक निपात की एक गाथा ही कथा-सूत्र होती है। गाथा मात्र से सम्पूर्ण कथा का रूप निर्धारित नहीं किया जा सकता, अतः उसके कथासूत्र के विस्तार का कार्य टीकाकारों द्वारा संपन्न होता रहा है। गाथा केवल कथासूत्र का संकेत करती रही और टीकाकार उसका व्यापक रूप जनता के समक्ष उपस्थित करता रहा होगा। इस विश्लेषण का यही अर्थ है कि गाथा शब्द ने एक दीर्घकाल तक कथातत्व (Story Element) के लिये अपना अस्तित्व बनाये रखा। आज भी साधारण व्यवहार में गाथा शब्द किसी घटना या किसी व्यक्ति से सम्बन्धित वर्णन ही होता है।

गाथा के अतिरिक्त, व्याख्यान, आख्यायिका, अन्वाख्यान, इतिहास, अनुव्याख्यान तथा पुराण आदि शब्द कथा शब्द के अर्थ की उद्भावना करनेवाले शब्द हैं। आख्यायिका शब्द प्रारंभिक वैदिक-साहित्य में नहीं आया है किन्तु उत्तरकालीन तैत्तरीय उपनिषद् में इसका प्रयोग अवश्य ही हुआ है।[३] परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उसका प्रयोग कथा के ही अर्थ में हुआ है। महाभारत में तो इस शब्द का अर्थ निश्चित रूप से कहानी के अर्थ में रूढ़ हो गया है। आख्यान शब्द ब्राह्मण-साहित्य में दिखाई देता है। ऐतरेय ब्राह्मण में शुनःशेप का आख्यान है। इसके साथ ही साथ इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि ये आख्यान राजसूय यज्ञ के समय बताये जाते थे। आख्यान का एक प्रकार परिप्लव आख्यान भी कहा गया है। राजसूय यज्ञ का घोड़ा जब भ्रमण करता था तब कथा के जो आवर्तन होते थे, उन्हें परिप्लव आख्यान कहा जाता था।[४] ऐतरेय ब्राह्मण में आख्यानविद् शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[५] सम्भवतः बहुत से आख्यानों की जानकारी रखनेवाले व्यक्ति के लिये इस शब्द का प्रयोग हुआ हो। अन्वाख्यान का अर्थ है आख्यान का अनुसरण करनेवाला कथन या उपकथन। शतपथ ब्राह्मण में यह शब्द तीन बार आया है।[६] दो स्थानों पर तो इसका उल्लेख किसी ग्रंथ के भाग के रूप में आया है और तीसरे स्थान पर इस आशय से कि इतिहास और अन्वाख्यान ये दो भिन्न कथा प्रकार हैं। इतिहास का अर्थ है शुद्ध कथा और अन्वाख्यान का अर्थ है पूरक कथा।

वृहदारण्यकोपनिषद् में अनुख्यान शब्द का प्रयोग दिखाई देता है। इसका अर्थ केवल मंत्र के विवरण से लिया गया है। अनुख्यान, अन्वाख्यान और व्याख्यान शब्द कथा का अर्थ ध्वनित करने की दृष्टि से अधिक प्रचलित नहीं हो पाये। इन शब्दों के अर्थों में विद्वानों ने भले ही सूक्ष्म

विभेदक रेखा खींची हो परन्तु कथा और आख्यान जैसे शब्दों ने अपनी व्यापकता के कारण इन शब्दों का समाहार कर लिया है।

कथातत्व की ओर संकेत करनेवाले शब्दों में इतिहास और पुराण, ये दो शब्द प्राचीनकाल से ही मिलते हैं। इतिहास शब्द का उल्लेख वेद के रूप में शतपथ ब्राह्मण में हुआ है परन्तु बाद के साहित्य में इसके भिन्न रूप दिखाई देते हैं।[७] छांदोग्योपनिषद् में इतिहास पुराण को पाँचवाँ वेद माना गया है।[८] महाभारत में आख्यान सुनाने वालों के रूप में पुराणिक और कथक, इन दो प्रकार के व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है। कथक और पुराणिकों का कार्य दिव्याख्यान सुनाना बतलाया गया है।[९] इतिहास शब्द ने आगे चलकर संकुचित रूप ग्रहण कर लिया। पुराण शब्द पुरातन कथाओं का पर्याय बन गया।

कथा शब्द का प्रयोग महाभारत में विपुलता से हुआ है और यह भी स्पष्ट है कि महाभारतोत्तर साहित्य में यही शब्द सबसे अधिक लोकप्रिय रहा है। कथा शब्द महाभारत के पूर्व का और उपनिषदोत्तर काल का कहा जा सकता है क्योंकि निरुक्त और बृहद्देवता जैसे प्राचीन ग्रंथों में इसकी स्थिति दिखाई नहीं देती। उपरर्चार्चित सभी शब्दों में यदि सबसे अधिक दीर्घजीवी और प्रचलित शब्द कोई रहा तो वह कथा ही।

प्राचीन काव्यशास्त्र में कथा और उसके प्रकारों का विवेचन

कथा के शिल्प की चर्चा वैदिक और पुराण साहित्य में नहीं हो पायी है। बाद के साहित्य में भी कथा को कभी विस्तृत विवेचना का विषय नहीं माना गया।

सर्वप्रथम भामह ने आख्यायिका शब्द की चर्चा की है।[१०] भामह के अनुसार आख्यायिका एक साहित्य-विधा है जो गद्य में सुश्राव्य शब्दों का प्रकृति के अनुकूल उपयोग करती है। आख्यायिका में गद्य के साथ ही साथ वक्त्र और अपवक्त्र छन्दों में पद्य का प्रयोग होता है, वह भी समय-समय पर भविष्य की सूचनाएं देने के लिये। आख्यायिका स्वयं नायक द्वारा कही जाती है और उससे संबंधित घटनाओं से ही अपना संबंध रखती है। आख्यायिका में नायक से संबंधित उदात्त घटनाओं का वर्णन कवि की कल्पना द्वारा होता है। इन उदात्त घटनाओं में कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ, विजय आदि हैं। कथानक कई भागों में (उच्छ्वासों) में विभाजित रहा है। कथा के विषय में भामह कहता है कि कथा में वक्त्र या अपवक्त्र छंदों में पद्य की स्थिति नहीं होती, उसी प्रकार विभिन्न उच्छ्वासों में कथानक भी विभाजित नहीं रहता। कथा नायक द्वारा न कही जाकर अन्य किसी व्यक्ति द्वारा कही जाती है। कथा, संस्कृत और अपभ्रंश दोनों में लिखी जाती है किन्तु आख्यायिका केवल संस्कृत में ही लिखी जानी चाहिये।

वास्तव में भामह ने आख्यायिका और कथा में तीन ही अंतर माने हैं। पहला तो यह कि आख्यायिका में नायक स्वयं कथा कहता है और कथा में अन्य व्यक्ति। आख्यायिका में पद्य की स्थिति भी आवश्यक है और कथा में नहीं। आख्यायिका केवल संस्कृत भाषा में होनी चाहिये, कथा संस्कृत और अपभ्रंश दोनों में लिखी जा सकती है। पद्य और भाषा में तो वाह्य भेद हैं पर मुख्य अंतर कथा कहने वाले का है। भामह की दृष्टि से आख्यायिका, नायक की आपबीती होती है और कथा परबीती। दण्डी ने कथा कहने वाले के आधार पर इस भेद की स्थिति नहीं मानी है। कथा कहनेवाला चाहे

नायक हो या अन्य व्यक्ति, इसमें कोई खास अंतर नहीं पड़ता। उसी प्रकार पद्य की स्थिति को लेकर दंडी का मत है कि यद्यपि कथा में वक्त्र या अपवक्त्र का प्रयोग न होता हो किन्तु कथा में आर्या का प्रयोग होता है। अध्याय या उच्छ्‌वास जैसे लक्षण तो कथा में भी पाये जाते हैं। अतः कथा और आख्यायिका की जाति एक ही है, वे पहचानी जाती है दो संज्ञाओं से।[११]

दण्डी ने भामह के मत का विरोध कर कथा और आख्यायिका में अभेद की स्थिति अवश्य बताई है किन्तु स्वयं उन्होंने कथा के तत्वों की विशद व्याख्या नहीं की है। विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में आख्यायिका और कथा के संबंध में विचार किया है।[१२] विश्वनाथ की कथा और आख्यायिका विषयक धारणाओं को निम्न प्रकार रखा जा सकता है :—

१. कथा प्रमुख रूप से गद्य में होनी चाहिये।
२. पद्य का उपयोग उसमें क्वचित् ही होता है यदि होता है तो आर्या, वक्त्र और अपवक्त्र छंद में।
३. कथा की वस्तु सरस होती है।

कथा की सरसता के साथ ही साथ उसमें कौन से आवश्यक गुण अथवा तत्व होने चाहिये, इसकी ओर विश्वनाथ ने संकेत नहीं किया है। आख्यायिका में—

१. कवि के वंश अथवा अन्य कवि के वंश का वर्णन किया जाता है।
२. ये वर्णन पद्य में होते हैं।
३. कथा का भाग आश्वास में विभाजित होता है।
४. इन आश्वासों में पद्य द्वारा अगली कथा की सूचना दी जाती है।

विश्वनाथ ने दण्डी और भामह से आगे बढ़कर एक महत्वपूर्ण बात कही है और वह है कथानक की सरसता। कथा की सरसता भी रस की उद्‌भावना कर अलौकिक आनंद दे सकती है। कथा में सरसता की सत्ता की ओर संकेत कर विश्वनाथ ने उसके अंतरंग की ओर संकेत किया है। भामह और विश्वनाथ दोनों काव्यशास्त्रज्ञों ने कथा के उदाहरण के रूप में कादम्बरी का ही नामोल्लेख किया है। इसका अर्थ यही है कि उस काल में उपन्यास और कथा, इन दोनों के स्वरूपों में विशेष अंतर नहीं माना गया। इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि इन पंडितों ने कथा तत्व (Story Element) को ही उपन्यास तथा कहानी दोनों का ही प्राणतत्व माना। उच्छ्‌वास और अध्याय की स्थिति भी इसी बात की ओर संकेत करती है। उनके अनुसार कथा में एक ही अध्याय की स्थिति की आवश्यकता नहीं, उसमें उपन्यास की भाँति अनेक अध्याय हो सकते हैं।

अग्निपुराण में कथा के प्रकारों के विषय में अधिक विस्तार से चर्चा हुई हैं।[१३] अग्निपुराण में कथा के तंत्र और उसके वैभिन्य की ओर भी ध्यान देने का प्रयत्न किया गया है। और गद्य-काव्य के पाँच प्रकार माने गये हैं—आख्यायिका, कथा, कथानिका, खंडकथा तथा परिकथा। आख्यायिका का विवेचन निम्न प्रकार है—

१. जहाँ पर कर्त्ता की प्रशंसा गद्य में की जाती है।
२. जिसमें कन्याहरण, संग्राम, विप्रलंभ जैसी विपत्तियों का वर्णन होता है।

३. उच्छ्वास अथवा परिच्छेदों में जिसकी कथा का वर्णन होता है और वक्ता के मुख से अथवा अन्य मुख से जिसकी कथा कही जाती है।

ये सब गुण जिस गद्य-प्रकार में रहते हैं उसे अख्यायिका कहते हैं। अग्निपुराण में आख्यायिका का कोई साहित्यिक उदाहरण नहीं दिया गया है। कथा का विवेचन निम्न प्रकार है।

जहाँ कवि स्वतः के वंश का वर्णन प्रशंसापूर्वक करता है, मुख्यार्थ की अभिव्यक्ति के लिये जहाँ कथांतर आवश्यक हो जाता है, जिसमें परिच्छेद नहीं रहते, रहा भी तो लम्बक रहता है। इस प्रकार के गुणों से समन्वित कृति को कथा कहते हैं। कथा में चतुष्पदी का स्थान भी रहता है। अग्निपुराण में खण्डकथा और परिकथा की निम्नलिखित विशेषताएँ कही गयी हैं--

१. अमात्य, सार्थक (व्यापारी) तथा ब्राह्मण, इत्यादि कथा के नायक होते हैं।
२. कथा का मुख्य स्वर करुण होता है। चार प्रकार के विप्रलंभ, संकट आदि दिखाई देते हैं।
३. इसमें खंडकथा, मुख्यकथा का अनुसरण करती है।
४. खंड कथा और कथा का मिश्रण परिकथा है।

इन दोनों कथा-प्रकारों की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इनका नायक जनसाधारण से होता है और उसके ही जीवन की दुखमय परिस्थितियों का चित्रण ही इनका मुख्य लक्ष्य होता है। दूसरी बात परिकथा के संबंध में यह भी है कि उसकी शैली मिश्रित है और दो कथाप्रकारों की शैली के मिश्रण से ही वह अपना आकार पाती है। कथा के साथ ही साथ उपकथा का चलना भी एक विशिष्ट प्रकार की कथा शैली की ओर संकेत करता है।

इसके पश्चात् कथानिका का विवेचन किया गया है। कथानिका का कथानक या सूलाधार (गर्भ) करुण-रस पूर्ण होता है। इसमें भयानक तत्त्व का आविर्भाव भी विफलता से रहता है परन्तु कथांत सुखप्रद ही होता है। कथानिका उदात्त नहीं होती और उसका अंत विस्मय या अद्भुत-जनक होता है।[१४]

कथानिका शब्द कहानी शब्द के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। कथानिका के तत्वों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह कथाप्रकार जन-समाज में ही विशेष रूप से प्रचलित रहा होगा। इस अत्यधिक लोक-प्रचलित अवस्था या समाज के निम्न स्तरों में इस का प्रचलन देखकर ही इसे संभवतः साहित्यिक दृष्टि से उदात्त नहीं माना गया होगा। लौकिकता के साथ गहरा संबंध रखने के कारण इसकी मान्यता साहित्यिक दृष्टि से उतनी नहीं रही होगी जितनी धर्म या अलौकिता से संबंध रखनेवाले कथा शब्द की। कहानी शब्द इसी कथानिका का विकसित रूप है। कथा के लिये 'कहा' रूप तो जैन साहित्य में प्रचलित है[१५] किन्तु कथानिका शब्द का विकसित रूप 'कहाणी,' 'कहनी' या 'कहानी' के रूप में आर्यभाषाओं में विशेष रूप से प्रचलित दिखाई देता है। इस कथानिका शब्द का प्राकृत रूप दो प्रकार का दिखाई देता है—कहानी और 'कहाणी'। कहानी शब्द हिन्दी, गुजराती और बंगला में कथातत्व के लिए ही प्रचलित है किन्तु मराठी में यह कथातत्त्व के लिये प्रयुक्त होने के बाद भी एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है। कहानी शब्द, हिन्दी-गुजराती और बंगला में सभी प्रकार की कथाओं का चाहे वे धार्मिक हों, चाहे लौकिक हों प्रतिनिधित्व

करता है। मराठी में 'कहाणी' शब्द परंपरा से चली आयी धार्मिक लोक-कथाओं के लिये प्रचलित होता है। उदाहरण के लिये 'कहानी' का स्वरूप देखिये—

"धारित्रीची कहाणी"[१६]

"आँटपाट नगर होतं तिथं एक ब्राहमण रहात असे त्या ब्राहमणाची स्त्री काय करत असे ? धारित्री मायेचे चिंतन करी; वंदन करी, पूजा करी, धारित्री माय तूंच समर्थ काकलेल्या लेकी दे, मुसलकांण्य दाती दें, नारायण पांच पुत्र दे, दोन कन्या दे..."

कहानी का एक निर्धारित शिल्प है और अंत में कथा का भावार्थ जोड़ने की परंपरा भी रही है।

कथानिका शब्द की लोक परंपरा का अनुमान इससे भी किया जा सकता है कि सोलहवीं शताब्दी में जायसी ने भी कथा और कहानी शब्द का प्रयोग एक साथ किया है, किन्तु कथा से अन्य धार्मिक या आख्यान से उनका अर्थ दिखाई देता है और कहानी से लोक परंपरा की कथाओं से पद्मावत में।

कथा कहानी सुनि जीउ जरा ! मनहुं बसंदर घीअ परा।[१७] रानी केतकी की कहानी भी लोक-कथा से ही संबंधित प्रतीत होती है और इसीलिये इंशा ने उसे 'कहानी' की ही संज्ञा दी होगी। कहानी शब्द आज भी कल्पना-प्रसूत कथा के लिये हिन्दी में प्रयुक्त हो रहा है और जन-जीवन ही उसका उपजीव्य है; कथा शब्द आज भी हिन्दी में अधिकांशतः धार्मिक आख्यानों के लिये प्रचलित है। साहित्यिक कहानियों के लिये 'कहानी' शब्द भारतेन्दुकाल से रूढ़ हो चला था। सरस्वती के प्रारंभिक वर्षों में आख्यायिका शब्द ने कहानी का पर्याय बनने का प्रयत्न किया किन्तु वह प्रचलित न हो सका। कहानी शब्द ने अपनी अर्थ व्यापकता और परंपरा के फलस्वरूप आज हिन्दी की साहित्यिक और लोक-प्रचलित सभी प्रकार की कथाओं के लिये अपना एकाधिकार प्राप्त कर लिया है।

मराठी में कथा के लिये गोष्ट शब्द का भी प्रयोग होता रहा है और आज भी किसी सीमा तक हो रहा है किन्तु अब अंग्रेजी के (short story) शब्द के समीकरण पर 'लघुकथा' शब्द का प्रचलन बढ़ता चला जा रहा है। इस गोष्ट शब्द का भी इतिहास मनोरंजक है। साहित्यशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग कथा के संदर्भ में न होकर नाटक के संदर्भ में हुआ है। अग्निपुराण में यह उपरूपक का एक प्रकार माना गया है।[१८]

गोष्ठी शब्द वैदिक साहित्य में भी आया है। उपनिषद्-साहित्य में इस शब्द का अर्थ विद्वत् गोष्ठी अथवा विद्वानों की चर्चा मिलता है। हो सकता है विद्वानों की चर्चा में आख्यानों का भी प्रसंग आता हो। मैक्समूलर ने गोष्ठी शब्द का संबंध गोप संस्कृति से माना है।[१९] गोष्ठी शब्द का संबंध मैक्समूलर ने गविष्ठ शब्द से निर्धारित किया है। गोष्ठ शब्द का अर्थ पहले गोपालों की चर्चा था। बाद में वह विद्वानों की चर्चा के लिये भी होने लगा। आगे चलकर इस शब्द का अर्थ गांव की चर्चा के लिये हुआ होगा। मैक्समूलर के मत से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लोग जब गाँव में चर्चा करते रहे होंगे तो आपबीती-परबीती भी सुनाते रहे होंगे और इसी से एक प्रकार की कथा-शैली का विकास हुआ होगा। छत्तीसगढ़ी में भी कहानी के लिये गोठ शब्द का प्रयोग होता है।

ग्रंथ-संदर्भ---

१. बृहद्देवता---अध्याय १-१३ २. Macdonell & Keith, Vedic Index of Names & Subjects Vol. I. p. 224 ३. ऐतरेय आरण्यक १--६-३, ४. ऐतरेय ब्राह्मण १३, ४, ३, २, १५, ५. ऐतरेय ब्राह्मण ३-२५-१, ६. शतपथ ब्राह्मण ६-५२-२२, ६-४-७, ६६-४-८, ७. शतपथ ब्राह्मण १३४-३१२, ८. छांदोग्योपनिषद्, सप्तम अध्याय, प्रथम खण्ड २-२५ ९. Sanskrit Dictionary---Vaman Shivram Apte, १०. काव्यालंकार, प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ ३-४, २५, २६, २७, २८, २९, ११. काव्यादर्श, पृष्ठ २७, ३१ १२. साहित्य-दर्पण, शालिग्राम शास्त्री, पृष्ठ ३१५-३२६ १३. अग्निपुराण, अध्याय ३३७, हरिनारायण आपटे, आनंदाश्रम (१९००), पृष्ठ ४२०, १४. वही १५. नाम धम्मकहा, देखिये---दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ, डॉ० जगदीशचंद्र जैन, पृष्ठ ९, १६. कहाण्या---करमरकर कृत भाग १ला, पृष्ठ ३ (१९१७) १७. संक्षिप्त पद्मावत---संपादक---श्यामसुन्दरदास, पृष्ठ ५३ १८. अग्निपुराण, अध्याय ३८ १९. Comparative Mythology---Maxmuller p. 37, 38.

हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना— आरम्भ से १९४७ ई०

● सुरेश सिनहा

हिन्दी उपन्यासों का जन्म उस समय हुआ था, जब हमारा देश पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क के फलस्वरूप एक नया मोड़ ले रहा था। देश में नवीन चेतना, समाजिक क्रान्ति, प्राचीनता का विरोध और नवीनता की आकांक्षा इसी के परिणाम थे। प्रारम्भ में उपन्यासकारों के सम्मुख कोई पहले से चली आ रही परम्परा न थी। उनके सम्मुख कोई आदर्श न था। उन्हें यह सब कुछ स्वयं ही तय करना था। नारी जागरण इस पुनरुत्थान काल का प्रधान एवं प्रमुख अंग था। पुनरुत्थान काल ने उनकी काया पलट दी और उनमें शिक्षा का प्रसार होने लगा, नवीन चेतना का उदय हुआ, वे अपने सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों के प्रति सजग हुयीं। इसके परिणामस्वरूप एक नई नारी का जन्म हुआ, जो परम्पराओं में विश्वास रखने के बावजूद भी रूढ़ियों से ग्रस्त नहीं थी। उचित मात्रा में शिक्षा प्राप्त करने पर भी उसमें उच्छृंखलता नहीं आयी थी, उसमें सहिष्णुता थी, अपने कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व का पालन करने की लालसा थी तथा सद्गृहिणी बन कर परिवार-पालन करने की आकांक्षा थी। नवीन शिक्षा प्राप्त करने की आकांक्षा होते हुए भी भारतीय नारी भारतीय आदर्श की उपेक्षा करना नहीं चाहती थी——सम्भवतः चाहते हुए भी नहीं कर सकीं, क्योंकि जन्मगत संस्कार मानव-जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वे बिल्कुल स्वतन्त्र नहीं होना चाहती थीं हालांकि पति की दासता का भी वह दबे-दबे स्वरों में विरोध कर रही थीं। आगे चलकर स्थिति में थोड़ा और परिवर्तन हुआ। पश्चिम की नई लहर भारतीय चेतना पर छाती गई। वहाँ की संस्कृति, वहाँ की नारियों की स्वतंत्रता, स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करने की लालसा आदि ने भारतीय नारी को अत्यधिक प्रभावित किया और वह उन आदर्शों को अपने जीवन में ढालने के लिए व्यग्र हो उठी। इसका दुष्परिणाम हुआ। देश की परम्पराओं के प्रति नारियों का मोह कुछ कम हो चला। अब उन्हें अपनी गौरवशाली मर्यादाओं का अधिक ध्यान न रहा, उन में भोग एवं विलास की वृत्ति का प्राधान्य होने लगा। कुछ वर्गों से सेक्स सम्बन्धी स्वतन्त्रता की माँग भी उठाई जाने लगी। इस प्रकार इस आलोच्यकाल (प्रारम्भ से १९४७ ई० तक) में हमें नारी के तीन रूप प्राप्त होते हैं,——(१) सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों से वंचित नारियों का परम्परागत एवं रूढ़ियों से ग्रस्त रूप, (२) नवीन परिस्थितियों में निर्मित नारियों का रूप, जिसमें अपने अधिकारों के प्रति सजगता और उन्हें प्राप्त करने के प्रति प्रयत्नशीलता का भाव उदय हो रहा था और (३) नारी का अति आधुनिक रूप, जिसमें नारी को अपनी परम्पराओं एवं आदर्शों के प्रति कोई मोह

ग्रंथ-संद था और उसे अपने समस्त अधिकार प्राप्त हो गये थे। आर्थिक दृष्टि से भी स्वावल के उसे प्रत्येक अवसर सुलभ थे। उसकी स्वतन्त्रता की भावना का एक रूप यौन सम्ब प्रतिबंध तोड़ने में भी व्यक्त हुआ।

उपन्यासों में चूँकि मानव-जीवन का ही प्रमुख रूप से चित्रण होता है, इसीलिये उपन्यासकार अपने समय की सामाजिक एवं राजनीतिक परस्थितियों से अत्यधिक प्रभावित होता है। समाज नारी और पुरुष दोनों से मिलकर बनता है, उपन्यासकार उसी सामाजिक वातावरण को उपन्यास के पृष्ठों में सजीव करने का प्रयत्न करता है। उसे उपन्यासों में पुरुष-पात्रों के साथ नारी-पात्रों को रखना आवश्यक होता है, जिससे कि वह मानव-जीवन की भांति उपन्यास की भी पूर्णता सिद्ध कर सके। इसीलिए उपन्यासों में हमें नारियों के विविध रूप प्राप्त होते हैं। अपनी नायिका सम्बन्धी परिकल्पना में उपन्यासकार नारी के परम्परागत और नवीन रूपों से प्रेरणा प्राप्त करता है, साथ ही वह नारी की सामाजिक स्थिति से भी प्रभावित होता है। यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि नायिका की परिभाषा क्या हो? वैसे नायक की पत्नी या प्रेमिका को भी नायिका की संज्ञा दी जाती है, पर नायिका का वह अर्थ ग्रहण किया जाना चाहिए जो अंग्रेजी में (Heroine) शब्द का है। उपन्यासों में अन्तिम परिणति की अवस्था नायिका को ही प्राप्त होती है और नायक की ही भांति वह कथानक का नेतृत्व करती हुई प्रतीत होती है। उपन्यास के नारी-पात्रों में कोई-न-कोई नारी ऐसी होती है जो कथानक का नेतृत्व करती हुई उसे अंतिम उद्देश्य तक ले जाती हुई प्रतीत होती है। उसका व्यक्तित्व उन सभी नारी-पात्रों में अत्यधिक निखरा हुआ, प्रबल एवं आकर्षक होता है। वह पाठकों का ध्यान बरबस अपनी ओर आकर्षित करती चलती है और यह पाठकों को अनुभव होता है कि उपन्यासकार किसी विशेष दृष्टिकोण से उस नारी-पात्र को प्रस्तुत कर रहा है। साथ ही वह उसके चरित्रचित्रण की ओर, उसके व्यक्तित्व को निखारने, संवारने में विशेष रूप से प्रयत्नशील रहता है। जिस प्रकार किसी कमरे के गहन अन्धकार में हीरे की चमक समाप्त नहीं हो जाती और उसका प्रकाश अपनी पूर्णता के साथ जगमगाता रहता है, उसी भांति नारी-पात्रों के समूह में वह नारी अपना विशेष स्थान रखती और उन सबसे भिन्न दिखाई पड़ती है। इसी प्रमुख नारी-पात्र के इर्द-गिर्द कथानक का चक्र निर्मित होता है और कथानक में घटनाएं इस प्रकार संगुफित की जाती हैं कि वह प्रमुख नारी-पात्र उनका नेतृत्व करती प्रतीत होती है। वह कथानक के प्रत्येक मोड़ पर उपस्थित रहती है, उपन्यास का जो भी उद्देश्य होता है, उसका अन्त इसी प्रमुख नारी-पात्र से सम्बन्धित होता है और फलागम की स्थिति इसी प्रमुख नारी-पात्र को प्राप्त होती है, अर्थात् उपन्यास का अन्त इसी प्रमुख नारी-पात्र के आधार पर होता है। वह सुखद भी हो सकता है, दुःखद भी, पर इस प्रमुख नारी-पात्र का प्रभाव उस अन्त पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित किया जा सकता है। इसी प्रमुख नारी-पात्र को नायिका कहते हैं और उसकी परिभाषा संक्षेप में इस प्रकार दी जा सकती है—'नायिका का उपन्यास के कथानक के विकास-क्रम में सर्वप्रथम स्थान होता है और उपन्यास के फलागम की स्थिति उसे ही प्राप्त होती है।"

जब हम हिन्दी उपन्यासों के प्रारम्भिक काल की ओर दृष्टि डालते हैं, तो सर्वप्रथम उपन्यासकारों का सुधारवादी दृष्टिकोण ही सामने प्रमुख रूप से आता है। उनकी नायिका सम्बन्धी परिकल्पना भी इससे कुछ विशेष भिन्न न थी। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने नारी सम्बन्धी दृष्टि-

कोण 'नीलदेवी' (१८८१) नामक नाटक में व्यक्त किया है। यद्यपि उन्होंने स्वयं कोई भी मौलिक उपन्यास नहीं रचा, पर उन्होंने अपने सहयोगियों को बराबर सामाजिक जागरूकता में विश्वास रखने के लिए प्रेरित किया। तब भी प्रारम्भिक उपन्यासकारों में नारी की परिवर्तित परिस्थितियों को उस रूप में चित्रित करने में अपने को असमर्थ पाया, जिस रूप में उन्हें करना चाहिए था। वे उपन्यासों में मनोरंजक तत्त्वों का समावेश अधिक मात्रा में करना चाहते थे तथा ऐयारी, रोचकता आश्चर्य में डाल देने वाली घटनाओं का संचयन एवं कौतूहल आदि उन्हें अधिक प्रिय थी। अतः वे उचित रूप में नायिकाओं की कम ही कल्पना कर सके और जो नायिकाएँ कल्पित भी की गयीं है, वे परम्पराओं में विश्वास रखने वाली, पातिव्रत धर्म का पालन करने वाली तथा अपने जीवन में पवित्र प्रेम को अत्यधिक महत्व देने वाली थीं। अतः नारी का आदर्श प्रेमिका रूप ही अधिक स्पष्ट हो सका। यहाँ तक कि किशोरीलाल गोस्वामी भी, जिन्होंने अनेक उपन्यासों की रचना की, कोई ऐसा उपन्यास लिखने में असमर्थ रहे, जिसकी नायिका नारी की तत्कालीन परिवर्तित होने वाली परिस्थितियों एवं उसके जीवन में होने वाली नवीनताओं को अपने में समेटे हुए हो। भारतेन्दुयुग के बाद द्विवेदीयुगीन उपन्यासकारों ने नारी समस्याओं को प्रस्तुत किया, पर अधिक सशक्त रूप में नहीं। इस प्रकार की समस्याओं को प्रस्तुत करने में जिस नवीन दृष्टिकोण की आवश्यकता थी, उन उपन्यासकारों में इसका अभाव था। पर एक बात अवश्य ही भारतेन्दुयुगीन और द्विवेदीयुगीन उपन्यासकारों में सामान्य रूप से पाई जाती है कि वे नारी को उच्च स्थान प्रदान करते थे और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उसमें उच्छृंखलता, उसका पतित होना, तथा अपने कर्त्तव्य एवं दायित्व से च्युत क्षेत्र उन्हें सह्य नहीं था। इसलिए जितनी भी नायिकाएँ हमें इन युगो में प्राप्त होती हैं सभी का एक संतुलित रूप है उनमें अपनी जीवनतग मर्यादाओं का त्याग करने की प्रवृति नहीं है।

इसी आदर्श को प्रेमचन्द्र और उनके सहयोगियों ने भी अपनाने का प्रयत्न किया। उनकी दृष्टि में भी नारी अत्यधिक श्रद्धा की पात्री थी, इसीलिए उन्होंने जिन नायिकाओं की परिकल्पना की, उनमें जहाँ तक परम्परागत आदर्शों, जीवनगत मर्यादाओं एवं कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व के प्रति सजगता का प्रश्न है, वे भारतेन्दुयुगीन और द्विवेदीयुगीन नायिकाओं से भिन्न नहीं हैं, पर यह अवश्य है कि उन्होंने नारी समस्याओं को अधिक गम्भीरता से तथा यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने नारी की समस्याओं का केवल ब्यौरा ही नहीं प्रस्तुत किया है अपितु नारी की समस्याओं के साथ अपनी नायिकाओं एवं नारी-पात्रों को इस प्रकार परस्पर संगुफित किया है कि उन समस्याओं का प्रभाव उपन्यास पढ़ते समय निरंतर तीव्र ही होता जाता है और अन्त तक पहुँचते-पहुँचते पारा जैसे अपने अधिकतम सीमा पर पहुँच झनझना कर टूट जाता है, उसी प्रकार उन समस्याओं का भी प्रभाव अत्यन्त तीखे रूप से पाठकों पर पड़ता है। पिछले दोनों युगों में यह बात नहीं थी। वहाँ समस्याएँ पहले से थीं, नायिकाओं एवं नारी-पात्रों को उसमें फिट भर कर दिया जाता था, पर उनके ऊपर से थोपे जाने को वे नहीं छिपा पाते थे, इसीलिए उन समस्याओं का उतना तीखा प्रभाव भी नहीं पड़ पाता था, उनका ब्यौरा केवल इतिहास ही बन कर रह जाता था।

प्रेमचन्दोत्तर काल में नारी का तीसरा रूप अत्यन्त विकास प्राप्त कर लेता है और उसके साथ ही औपन्यासिक शिल्प का भी यथेष्ट विकास हो जाता है। इस नए दौर में नायिकाओं के

अन्तरमन की भावनाओं के अध्ययन एवं उनके मनोविश्लेषण पर अधिक बल दिया जाने लगा, जिससे कि अधिकांश उन नायिकाओं के सम्बन्ध में, जिन्हें ऊपरी सतह से ही जानने के कारण हम उच्च प्रवृत्तियों की एवं आदर्शपूर्ण समझते थे, इन लेखकों ने उनकी बाकायदा चीरफाड़ की और उनका कोई रहस्य हमसे अपरिचित नहीं रह गया। अब परिस्थितियाँ परिवर्तित हो चुकी थीं और उपन्यासकारों ने जिन नायिकाओं की परिकल्पना की, उनमें परम्पराओं के प्रति, परिवार के प्रति, कर्त्तव्य एवं दायित्व के प्रति उतना मोह नहीं रह गया था, जितना पिछले दौर में और उनका सर्वथा नवीन रूप हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ। इस काल में सर्वाधिक विचार नारी की आर्थिक समस्या पर किया गया क्योंकि अपनी तमाम प्रगतिशीलता के बावजूद भी नारियाँ पूर्ण रूप से स्वावलम्बी नहीं हो पाई थीं और उनकी आर्थिक स्वतन्त्रता अब भी उनके सम्मुख उपस्थित थी। जैनेन्द्र, सियारामशरण गुप्त आदि ने इसी समस्या को प्रभावशाली ढंग से उपस्थित करने का प्रयत्न किया। किन्तु एक बात अवश्य ही उल्लेखनीय है और वह यह कि प्रेमचन्दोत्तर कालीन उपन्यासों में नारी समस्या पर उतना बल नहीं दिया गया, जितना नारी चरित्रों पर, इसीलिए अनेक नायिका प्रधान उपन्यासों की रचना हुई। इन नायिकाओं के चित्रण में जो समस्याएँ आ जाती थीं, उनका समावेश तो हो जाता था, पर केवल समस्याओं के चित्रण के लिए, वह भी विशेष रूप से नारी समस्याओं के चित्रण के लिए कम ही उपन्यास रचे गये।

नायिका सम्बन्धी परिकल्पना में जहाँ तक नारी के आदर्शों, उसकी मर्यादा, उसके त्याग एवं पवित्रता का प्रश्न है, ठाकुर जगमोहन सिंह, किशोरीलाल गोस्वामी, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, विश्वम्भर नाथ शर्मा "कौशिक", सियारामशरण गुप्त तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" आदि में अत्यधिक साम्य है, यद्यपि सभी के दृष्टिकोणों एवं समस्याओं के प्रस्तुत करने के ढंग में स्वाभाविक रूप से अन्तर है। इन सभी लेखकों ने नारी के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा प्रकट की है और उसके पतित रूप में भी गरिमा खोजने का प्रयत्न किया है। नारी समस्याओं के बहाने नायिकाओं की इन्द्रियलोलुप मनोवृत्ति की उत्तेजना तथा शारीरिक भूख की तुष्टि की कामना आदि का रसमय चित्रण करने के सम्बन्ध में यशपाल, उग्र, ऋषभचरण जैन तथा चतुरसेन शास्त्री अधिक निकट हैं, जिनके उपन्यासों में मनोविश्लेषण एवं यथार्थवाद के नाम पर नैतिकता की सर्वथा अवहेलना और वासना का नग्न चित्रण दिखाई पड़ता है। समग्र रूप में प्रेमचन्दोत्तर काल और बाद के भी नारी श्रद्धा की उतनी पात्री नहीं रह गई, जितनी वह भारतेन्दु और द्विवेदी युग तथा प्रेमचन्द के युग तक रही।

प्रेमचन्दोत्तर काल में यथार्थवाद के नाम पर नारी की काफी दुर्गति हुई है। प्रायः लेखकों ने अपनी नायिका का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया, जिससे उसमें यथार्थ का अधिकाधिक पुट प्रतिपादित हो सके और साथ ही लेखक की उस ईमानदारी का परिचय प्राप्त हो सके कि वह एक ऐसी नायिका का चित्रण कर रहा है, जो सबके बीच की है, सभी उससे परिचित हैं, वह चित्र नहीं है। उसमें कुछ भी ऐसा नहीं, जो अस्वाभाविक एवं अप्राकृतिक है। पर लेखक के इस उद्देश्य में जाने-अनजाने यह भाव भी सम्मिलित रहता था, या किया जाता था कि नायिका का रूप इस प्रकार कल्पित किया जाय, जिससे पाठकों की छिपी हुई प्राकृतिक वासना पर एक हल्की चोट देकर उभाड़ा जा सके और वह नायिका उनके मन और मस्तिष्क पर दिन रात छाई रहे। यहाँ एक बात अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है, वह है लेखक की ईमानदारी जिसे वह साहित्य, समाज एवं

राष्ट्र के प्रति अपने महती उत्तरदायित्व को समझ कर उनका पालन करना अपना प्रमुख कर्तव्य समझता है। शताब्दियों में कोई एक भारतेन्दु या प्रेमचन्द जन्म लेता है, जो साहित्य का एकमात्र यह उद्देश्य ही मानता है कि वह हमारे मन के छिपे हुए देवत्व को उभाड़ कर रख दे और हमें सत्पथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा दे सके। पर प्रेमचन्दोत्तर काल में अधिकांश उपन्यासकारों ने इसे पूर्णतया अस्वीकृत किया और परिणामस्वरूप नारी की छीछालेदर हुई, उसके वासनात्मक रूप, गोरी माँसल बाहों और सौन्दर्य पर ही अत्यधिक बल दिया गया। यह तो नहीं अस्वीकृत किया जा सकता कि हमारी नारियों में आदर्श ही आदर्श हैं, विकृतियाँ उनमें कुछ भी नहीं है। यह सत्य है कि उनका पतन काफी सीमा तक हुआ है और उनमें विकृतियाँ भी काफी आयी हैं, पर साहित्य हमारी सात्विक वृत्तियों को उभाड़ने के लिए होता है, न कि हममें वासना एवं उत्तेजना उत्पन्न करने के लिए। यदि साहित्य के उद्देश्य को इतनी लघुतम सीमा में आवद्ध कर दिया जायगा तो उसकी स्थिति अत्यन्त सन्देहप्रद बन जायगी। अधिकांश प्रेमचन्दोत्तरकालीन उपन्यासकारों ने अपनी नायिकाओं को ऐसी ही अस्वस्थ परिस्थितियों में रख कर चित्रित किया है, जिस पर उन्होंने यथार्थवाद का मुलम्मा देने का प्रयत्न किया है, पर साहित्य के विकास की दिशा में वह एक अत्यन्त भयानक खाई उत्पन्न कर देता है। उन्होंने नारी को उसके ममत्व से वंचित करके उसे केवल प्रेमिका रूप में देखना अधिक उचित समझा, जो उनका एक अविवेकपूर्ण दुराग्रह था। १९४७ के बाद तो इस स्थिति में और भी परिवर्तन हुआ और चोटी के उपन्यासकारों ने अपनी नायिकाओं के बहाने कामशास्त्र की व्याख्याएँ करनी प्रारम्भ कर दी। उनकी नायिकाएँ ऐसी तितलियों के रूप में उपस्थित की गयी, जिनके जीवन का प्रमुख उद्देश्य ऐश्वर्य एवं विलास की प्रवृत्ति को ही पूर्ण करना था। इसी में ही उन्होंने अपने कर्त्तव्य एवं दायित्व की पूर्णता समझी।

प्रश्न उठता है, कि क्या प्रेमचन्दोत्तर काल में परिस्थिति इतनी परिवर्तित हो गई थी, कि उपन्यासकार इस प्रकार की तितलियों का चित्रण करने पर बाध्य हो गया था? यह अवश्य है कि उस युग में पश्चिम की देखा-देखी नारियों ने भोग और विलास के प्रति अधिक आग्रह प्रकट किया, पर उनकी संख्या कभी अधिक नहीं हो पायी। उस तमाम प्रगतिशीलता के बावजूद भी अधिकांश नारियों ने अपनी गौरवपूर्ण मर्यादाओं का पूर्णतया त्याग नहीं किया, बल्कि वे उन्हें नवीन परिस्थितियों के अनुरूप ढाल कर अपनाने में संलग्न हुई। अतः उन थोड़ी संख्या में अपनी मर्यादाओं को छोड़ देने वाली नारियों को भारतीय नारी समाज का प्रतीक स्वरूप मान कर नायिका की परिकल्पना करना वास्तव में एक विडम्बना मात्र ही है, पर हिन्दी उपन्यासों में हुआ यही और परिणामस्वरूप प्रेमचन्दोत्तरकालीन उपन्यासों में अधिकांश रूप से नायिकाओं के अस्वस्थ रूप ही उपस्थित किये गये। आज हमारा देश निर्माण की अवस्था में है, हमें स्वतन्त्रता प्राप्त किये पन्द्रह वर्ष ही हुए हैं। अभी हमें प्रगति के चरमोत्कर्ष तक पहुँचना है, जिसमें नारियों का उतना ही उत्तरदायित्व है, जितना पुरुषों का। ऐसी अवस्था में उपन्यासकार का यह प्रमुख कर्तव्य हो जाता है कि वह नारियों में नैतिक उत्थान की दृष्टि से अपनी नायिकाओं की परिकल्पना करे और नारियों में जिस सीमा तक नैतिकता का पतन हो गया है, उसके प्रति उन्हें सचेत कर, उनमें जीवन की गरिमा स्थापित करने की प्रेरणा दे सके। उन्हें अपनी नायिका सम्बन्धी परिकल्पना में देश और समाज के व्यापक सन्दर्भ में परिवर्तन करना होगा, तभी साहित्य का वास्तविक उद्देश्य पूर्ण हो सकेगा।

पं० बदरीनाथ भट्ट का खड़ीबोली-काव्य

• आशा गुप्ता

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "सुधार चाहने वालों में कुछ लोग नए-नए विषयों की ओर प्रवृत्त खड़ीबोली की कविता को ब्रजभाषा-काव्य की सी ललित पदावली तथा रसात्मकता और मार्मिकता से समन्वित देखना चाहते थे। जो अंग्रेजी की या अंग्रेजी के ढंग पर चली हुई बंगला की कविताओं से प्रभावित थे, वे कुछ लाक्षणिक वैचित्र्य व्यंजक चित्र-विन्यास और रुचिर अन्योक्तियाँ चाहते थे। अतः खड़ीबोली की कविता जिस रूप में चल रही थी उससे सन्तुष्ट न रह कर द्वितीय उत्थान के समाप्त होने के कुछ पहले ही कई कवि खड़ीबोली को कल्पना का नया रूप-रंग देने और उसे अधिक अन्तर्भाव व्यंजक बनाने में प्रवृत्त हुए जिनमें प्रधान थे मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय और बदरीनाथ भट्ट।"[1] शुक्ल जी के इस कथन से स्पष्ट है कि पण्डित बदरीनाथ भट्ट विचार और शैली के क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित करनेवालों में अग्रणी थे। वे रूढ़ि बन्धनों को छिन्न कर स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण से खड़ीबोली-साहित्य के विविध क्षेत्रों में सफलतापूर्वक आसीन देखने के आकांक्षी थे। अतः उनके हाथों खड़ीबोली-साहित्य का काव्य, नाटक, निबन्ध, समालोचना आदि सभी धरातलों पर न्यूनाधिक मात्रा में उन्नयन हुआ; यद्यपि उनकी इस बहुमुखी सेवा का नाट्य-क्षेत्र को छोड़कर शेष साहित्य-क्षेत्र में नहीं के बराबर ही उल्लेख मिलता है। वस्तुतः पण्डित जी के खड़ीबोली कविता और भाषा उन्नयन सम्बन्धी सेवा का समुचित मूल्यांकन कर सकने के लिए तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों में बिखरे उनके काव्य-वैभव और लेखों पर दृष्टिपात करना अनिवार्य है।

पं० बदरीनाथ भट्ट का जन्म सन् १८८६ ई० के आसपास हुआ था। वे आगरा (गोकुल-पुरा) के निवासी थे। उनके पिता पण्डित रामेश्वर भट्ट हिन्दी-संस्कृत के विद्वान् थे और उन्होंने अपने जीवनकाल में कितनी ही संस्कृत-हिन्दी काव्य पुस्तकों की टीकाएँ रची थीं। पिता की साहित्य-मर्मज्ञता का प्रभाव पुत्र पर पड़ना सहज स्वाभाविक था। बदरीनाथ भट्ट ने बी० ए० तक अध्ययन किया और अपनी प्रतिभा के बल पर लखनऊ विश्वविद्यालय में हिन्दी-अध्यापक नियुक्त हो गये। वे हिन्दुस्तानी मजलिस के साधारण सदस्य भी थे।[2] कुछ समय तक भट्ट जी ने 'बालसखा' मासिक का सम्पादन भी किया।

पं० बदरीनाथ भट्ट बीस-बाईस वर्ष की अल्पायु में ही अपनी लेखनी सँभाल चुके थे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सरस्वती सम्पादन काल में इनकी अनेक गद्य-पद्य रचनाएँ सरस्वती में निकला करती थीं। यही नहीं, प्रतिभा, प्रभा, मर्यादा, और हिन्दी प्रदीप आदि अन्य सम-सामयिक पत्रों में भी भट्ट जी की कविताएँ और साहित्यक लेख प्रकाशित होते रहते थे। कानपुर से प्रकाशित 'प्रताप' साप्ताहिक (प्र० का० १९१३) में आप 'गोलमालानन्द' के नाम से प्रहसनपूर्ण एवं व्यंग्यात्मक लेख और नाटक भेजते थे। खड़ीबोली साहित्य को आपकी यह अमूल्य सेवा केवल सन् १९३३ तक ही उपलब्ध हो सकी; उस वर्ष इनका स्वर्गवास हो गया।

भट्ट जी खड़ीबोली भाषा के बड़े प्रबल समर्थकों में से थे। काव्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा और खड़ीबोली को लेकर जो द्वन्द्व कई दशाब्द से चला आता था, उस पर उन्होंने अपने लेखों द्वारा प्रकाश डाला। पद्य के लिए खड़ीबोली स्वीकार करने की अनिवार्यता, भाषा की अभिव्यंजन-क्षमता आदि से सम्बन्धित उन्होंने कई लेख लिखे जिनमें 'खड़ीबोली की कविता' (द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कार्य विवरण, दूसरा भाग, सं० १९६८), आधुनिक हिन्दी काव्य पर दोषारोपण (सरस्वती, मई १९१४, १५ भाग, सं० ५), हमारे कवि और समालोचक (सरस्वती, १८ मई १९१५, भाग १६, सं० ५) आजकल हिन्दी कविता पर कुछ निवेदन (सरस्वती, सितम्बर १९१६, भाग १७, सं० ३) सम्पादकों और अनुवादकों का ऊधम (सरस्वती, अप्रैल १९१८ भाग १९, सं० ४) नागरी लिपि में सुधार की आवश्यकता (सरस्वती, फरवरी १९२०, भाग २१, सं० २) उल्लेखनीय हैं। अधिकांश लेख 'हिन्दी' और 'मनोरंजन' शीर्षक संग्रहों में पुनःप्रकाशित भी हुए थे।

ब्रजभाषा खड़ीबोली-विवाद को निरर्थक एवं निर्मूल बताते हुए पण्डित जी ने उसे काव्योपयुक्त सिद्ध करने की पूर्ण चेष्टा की। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के द्वितीय अधिवेशन के लिए प्रस्तुत 'खड़ीबोली की कविता' शीर्षक जो लेख भट्ट जी ने संवत् १९६८ में भेजा था, उसमें खड़ीबोली की प्राचीनता पर बल देते हुए उसे ब्रजभाषा के समकक्ष रखा था। उन्होंने कहा कि "इन दोनों मकानों (ब्रजभाषा और खड़ीबोली के काव्यों) की नींव साथ ही साथ पड़ी थी जिनमें ब्रजभाषा का नया मकान तो बन बनाकर तैयार हो भी गया पर खड़ीबोली की नींव सी ही पड़कर रह गयी। अथवा यों कहें कि दोनों बेलें साथ ही बोई गयी थीं; जिनमें से एक तो फल, फूल और पल्लवों से जितनी लद सकती थी लद चुकी और दूसरी में कलियाँ तो क्या अभी पत्ते भी नहीं आये हैं।"[३] खड़ीबोली की इस अपरिपक्वता के आधार पर जो ब्रजभाषा प्रेमी उसे काव्योपयुक्त नहीं मानते थे, उनकी चुटकी लेते हुए व्यंग्य से भट्ट जी ने कहा—"(जो सज्जन) ब्रजभाषा और खड़ीबोली को एक बार फिर वर्तमान काव्य की भाषा बनाने का स्वप्न देखकर विकास-सिद्धान्त की दिन-दहाड़े इज्जत उतारते हैं, जो कोरा वैमनस्य फैलाते है, जो आगे बढ़ने का दम भरकर मोहवश पीछे हटते हैं, जो बूढ़ी गाय के मानिंद बेचारी ब्रजभाषा को आजकल के नवीन भावों की ईंटों से कुटी हुई पक्की सड़क पर जबरदस्ती सरपट दौड़ाना चाहते हैं, उनसे हमारी यही प्रार्थना है कि ऐसा करके न तो वे ब्रजभाषा का कुछ उपकार ही कर सकते हैं और न खड़ीबोली का कुछ अपकार ही।"[४] यही नहीं उन्होंने मात्र ब्रजभाषा-प्रेमियों को कवि मानने से इन्कार कर दिया। जो कवि प्राचीन मोह छोड़कर खड़ीबोली में सत्कविता करने के अभिलाषी न थे, उन पर खीझ कर उन्होंने कहा, "बहुत से लोग जो अपने को ब्रजभाषा-काव्य-नद का कर्णधार समझते रहे, जब खड़ीबोली में कविता करने बैठे तब उन्हें हताश होना पड़ा। कारण यह हुआ कि या तो उनकी रचना में वैसे भाव ही न आये जैसे किसी सत्कवि की कविता में होने चाहिए; उनकी रचना चमत्कार शून्य कोई तुकबन्दी हुई और सबकी समझ में आ जाने के कारण उनकी प्रतिभा तथा काव्य-विषयक योग्यता की कलई खुल गयी, या उनकी भाषा में कोई जबरदस्त दोष रह गया, वह गंगा-जमनी हो गयी। ब्रजभाषा और बोलचाल की भाषा दोनों ही खिचड़ी बन गयी।"[५] तात्पर्य यह है कि भाषा के सम्बन्ध में ऐसी सुदृढ़ धारणा तथा उसकी अभिव्यंजन-क्षमता पर ऐसा अटूट विश्वास लेकर भट्ट जी सन् १९२० के लगभग साहित्य क्षेत्र

में अवतरित हुए और उनकी लेखनी से निस्सृत कविता ने खड़ीबोली-साहित्य के उस उज्ज्वल भविष्य का विधान किया जिसमें छायावादी शैली प्रश्रय पा सकी।

जैसा कि ऊपर कहा भी जा चुका है, भट्ट जी ने बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशाब्द की समाप्ति से पूर्व ही काव्य-रचना प्रारम्भ कर दी थी जो तत्कालीन साहित्यिक पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी हैं। अपने जीवन-काल में उन्होंने यद्यपि कुल मिलाकर पच्चीस के लगभग नाटक, लेख, कहानियाँ तथा बाल-मनोरंजन आदि पर पुस्तकें लिखीं, किन्तु कोई काव्य-संग्रह भी प्रकाशित किया हो ऐसा उल्लेख साहित्य में उपलब्ध नहीं। हाँ, कहते हैं कि श्री व्रजराज तथा गोपाल स्वरूप के सम्पादन में सं० १९७८ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, से एक पद्य-संग्रह प्रकाशित हुआ था।

भाषा-स्वरूप की दृष्टि से यह खड़ीबोली के परिशोधन का युग था। महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रभृति विद्वान् उसके व्याकरण बनाने और उसके शब्द-परिमार्जन एवं शब्द वर्त्तनीकरण में सचेष्ट थे। काव्य में विषय के विचार से देशभक्ति और समाज का स्वर प्रखर था। साथ ही अछूत, किसान, विधवा और दहेज आदि के प्रति कवि-वर्ग की सहानुभूति प्रबलतर होती जा रही थी। अधिकांश कविता लोकहिताय होने के कारण वर्णनात्मक एवं आख्यानात्मक मिलती है। जैसा कि एक विद्वान् ने कहा भी है कि "द्विवेदी-युग के कवि काव्य-मंच पर एक सफल वक्ता के रूप में आते हैं और सीधी-सादी अनलंकृत भाषा में अपने श्रोताओं को छोटी-बड़ी वक्तृता दे जाते हैं। कविता सरस हो या फीकी, इसकी उन्हें विशेष चिन्ता नहीं थी। वह स्पष्ट है एवं तर्क संगत है, इस बात का वे ध्यान रखते थे।"[६] विषय प्रधान काव्य की इस परम्परा से प्रभावित भट्ट भी प्रारम्भ में देश, संस्कृति, समाज एवं धर्म की रक्षा में कटिबद्ध दृष्टिगत होते हैं। आश्चर्य नहीं कि उनका प्रारम्भिक काव्य (१९०९-१९१३) भी देश-भक्ति का प्रखर उद्घोष करते हुए स्वर्गोपम मातृभूमि के स्वर्णिम अतीत की प्रशस्ति तथा वर्तमान भारतीयों का उद्बोधन करता रहा। इस प्रकार की कविताओं में 'मातृभूमि' (१९१० ई०), 'जातीय गीत' (१९११ ई०) 'जातीय सेवक' (१९११ ई०) निदाघ काल' (१९११ ई०) विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। 'उद्बोधन' (१९१२ई०) मिस्टर ह्यूम की 'अवेकन' शीर्षक कविता के आधार पर लिखी गयी है।

भारत की स्वर्गोपम सुन्दरता, विश्व की प्रतिस्पर्द्धा जागरित करने वाली उसकी महत्ता, आर्यों की पुण्यभूमि, सभ्यता और विद्वत्ता की शीर्षस्थली की प्रशस्ति गाते हुए कवि कहता है—

काश्मीर और पांचाल देश, बंगाल युक्त मध्यप्रदेश।
महाराष्ट्र सिन्धु गुजरात प्रान्त, मरुभूमि और मदरास शान्त।
ये सब तेरे अन्तर्गत हैं, और विविध गुणागणलंकृत हैं।
तब अन्तर्गत सब ये महान्, गुणगण भूषण युत भासमान।
हैं अपने ढंग के सब विचित्र, इनमें रहते नर सच्चरित्र।[७]—मातृभूमि

देश की प्राकृतिक सुषमा में अभिवृद्धि करने वाले सीमान्त रक्षक हिमालय का भव्य रूप देखिये—

महि का अचल महापति सा, अति उच्च गगन चुम्बन करता।
अहा हिमालय पथ-रक्षक यह, पूरा हितू हमारा है।

अगणित नदियाँ इस पर्वत की, रम्य तट में करें कलोल।
जिनके कारण नन्दन वन सम, भारतवर्ष हमारा है॥[८]—जातीय गीत

किन्तु विदेशियों के शासन से आक्रान्त और सन्तप्त भारत का धन और ऐश्वर्य मुट्ठीभर वासियों में केन्द्रित हो गया है। अभावों से पीड़ित कर्मठ खेतिहर रात-दिन परिश्रम करके भी पेट भर भोजन नहीं पाते। प्रकृति-प्रेमी कवि ऐसे किसानों को भूल नहीं पाता। अतः प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण करते हुए ग्रीष्म ऋतु में मृग और सिंह अपना वैर-भाव त्याग कर जलाशयों के समीप पड़े हैं, वह कहता है :—

कुबेर के भी धनवन्त जो चचा, उन्हें नहीं है कुछ कष्ट व्यापता।
गुलाब का इत्र जहाँ भरा पड़ा, भला वहाँ क्या खटका निदाध का॥
परन्तु शोकार्त्त किसान खेत में, स्वेदाम्बु प्रच्छन्न शरीर होकर।
है देख लीजे हल को चला रहे, नहीं विचारों पर वस्त्र एक भी॥—निदाघ काल[९]

उन शोकार्त्त कृषकों के प्रति भट्ट जी ने समस्त कवि वर्ग की सहानुभूति जगाने की चेष्टा की। 'आजकल की हिन्दी कविता पर कुछ निवेदन' शीर्षक लेख में उन्होंने स्पष्ट कहा कि "यों तो रचना घटिका-शतक, उदर रूपी व्याधि को नष्ट करने वाले श्री चूरनवाले जी भी कर सकते हैं। उनके भी कदरदान और प्रशंसक होते हैं और वे केवल अपनी रचना की ही बदौलत इस जीवन-यात्रा का निर्वाह करते हैं × × (पर) जिनकी बदौलत जीते हैं उन किसानों को तो वे अपने नाटक या उपन्यास का नायक कभी नहीं बनाते, न उनकी दुर्दशा पर कुछ विचार करते हैं, बल्कि उनको दिल्लगी के लिये काम में लाते हैं।"[१०] कवि 'निदाघ काल' के व्याज से उन धनी ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों को लौकिक वैभव के क्षण स्थायित्व का ध्यान दिलाते हुए कहता है—

निदाघ तेरा अब राज्य है सही, पर है ये सब अल्पकाल का।
वसन्त का भी जब अन्त हो गया, तेरी बता तो फिर बात क्या कहें॥
प्रचण्ड पाखण्ड-घमण्ड-नाशिनी, आ जायगी वारिद मेघ-मल्लिका।
सभी मिटा के तव चिह्न आदि जो, तुझे करेगी बस लुप्त प्राय सा॥—निदाघ काल[११]

इस प्रकार कवि को राष्ट्रीय अभ्युत्थान में दृढ़ विश्वास रहा। जनता में असन्तोष का विवादी स्वर और अंग्रेजी राज्य की अनीति उसकी आशाओं को पराजित नहीं कर पायी। उसने भारतीय युवक के समक्ष आदर्श-जातीय सेवक के गुणों की व्याख्या की —

है समुद्रों से भी गहरी उनकी वह गंभीरता,
जिससे दिखलाते हैं वे निज धीरता और वीरता।
दूसरों के हेतु खुद वे कष्ट पाते हैं अनेक,
छोड़ते तो भी नहीं हैं वे विवेकी अपनी टेक।
वे सफल हों या न हों पर खिन्न होते हैं नहीं,
और निज उद्देश्य से भी भिन्न होते हैं नहीं।—जातीय-सेवक[१२]

ऐसे ही हितू सुतों के 'उद्बोधन' में कवि ने निराशाभाव त्याग कर कर्म-क्षेत्र में कूद पड़ने के लिए प्रेरित किया है।[१३] ईश विनय सम्बन्धी गीत भी कवि ने उसी स्वर में गाये जिनमें पिछले दशक के कवि सुनाते रहे। 'प्रार्थना' (१९१३ ई०), 'कीर्ति स्तवन' (१९१३ई०) आदि में भट्ट जी निरन्तर विश्व-प्रेम की आवश्यकता का आख्यान करते हुए ईश्वर से देश को समृद्ध करने का अनुरोध करते दृष्टिगत होते हैं।

हिन्दी की सेवा सच्चे-लेखक किस प्रकार कर सकते हैं, इस सम्बध में उन्होंने अपने विचार 'सम्पादक का कोरा उत्तर' शीर्षक कविता (१९१० ई०) में व्यक्त किये हैं। सम्पादक के आदेश पर रचना करने वाले लिक्खाड़ों का तिरस्कार करते हुए सम्पादक-मंच से उन्होंने होनहार कवियों से सरस रचना करने का आग्रह किया।

साहित्य सिन्धु का सेतु बड़ा दुस्तर है,
अध्ययन मनन साधन आदिक का घर है।
लिक्खाड़ लेखकों के लेखों को लखकर,
चंचल सत्काव्य सरोज मधुर रस चखकर।
निज मधुर मधुप ध्वनि ध्वनित धरा को करिये,
आधुनिक धुआँधारों के कान कतरिये।

—सम्पादक का कोरा उत्तर[१४]

तात्पर्य यह है कि भट्ट जी प्रथम पाँच-छह वर्ष तक केवल किसान-मजदूर जैसे दलित वर्ग, भारत के गौरवपूर्ण अतीत तथा हिन्दी-भाषा आदि सामयिक एवं विषय-प्रधान भावों को पद्यबद्ध करते रहे। किन्तु १९१४ ई० के बाद के काव्यानुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अन्तर्मुखी हो गया। उसकी बुद्धि-निष्ठा का स्थान हृदय ने ले लिया। वह अधिक भावुक और चिन्तनशील हो उठा। डॉ० श्रीकृष्णलाल एवं डॉ० सुधीन्द्र आदि विद्वानों ने इस परिवर्त्तन का श्रेय रवीन्द्र की गीतांजलि को दिया है और प्रभावित होने वाले कवियों में स्पष्ट रूप से बदरीनाथ भट्ट का नाम भी परिगणित किया गया है।[१५] वस्तुतः यह ठीक भी है क्योंकि अक्तूबर १९१२ ई० में रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि का अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित हुआ। यह बंगला गीतांजलि का पूर्ण अनुवाद न था बल्कि अंग्रेजी संस्करण में गीतांजलि, गीतिमाल्य, नैवेद्य तथा खेंचा की कविताएँ भी अनूदित थीं। रवीन्द्र ने अपनी गीतांजलि में भक्ति का अभिनव एवं आकर्षक रूप प्रस्तुत किया था। उसके अनुसार ईश्वर की सत्ता केवल मन्दिर तक सीमित न थी; उसका अस्तित्व जीवन-क्षेत्र के नाना रूप और विभिन्न परिस्थितियों में प्रकट होता था। पूर्ण मानव में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की गयी। भौतिक में अभौतिक तथा अभौतिक में भौतिक को देखना व्यक्तिगत साधना की उच्चता और दृष्टिकोण की निर्मलता का मानदण्ड बन गया। इस प्रकार गीतांजलि में, नवीन मानवता तथा धर्म और भक्ति साधना की नूतन प्रणाली सामने आयी थी जो अंग्रेजी अनुवाद के द्वारा विदेशों तक प्रेषित होकर अत्यन्त लोक-प्रिय हुआ। देश में खड़ीबोली-कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, मुकुन्दधर पाण्डेय और बदरीनाथ भट्ट ने जीवन के इस नवीन तत्व चिन्तन की आत्मा को समझा। अतः उनकी चिन्तन प्रणाली भी अन्तर्मुखी हो गयी।

भट्ट जी के कवि-हृदय ने ईश्वर की स्वतः सिद्धि का ज्ञान कर लिया। उसके समक्ष इस रहस्य का उद्घाटन हो गया कि सृष्टि का सजीव और नियामक प्रभु सर्वज्ञ भी है और सर्वव्यापक भी। वहाँ सब प्रकाशमान् पदार्थ उस ईश्वर का प्रतिभास मात्र है। वह प्रकृति का स्रष्टा और दीन-दुखियों का सहायक है, अतः कवि ने उस व्यक्त सत्ता से देश-प्रेम में वृद्धि और दुःखहरण का अनुरोध किया। उसने परोक्ष सत्ता के कृपा-प्रकाश की याचना की जिससे मनुष्य में आत्मत्याग की भावना जागे। कवि ने कहा—

करुणा सिन्धु! सहारा तेरा, तू ही है रखवाला,
दीन अनाथ हुए हम हा! हा! तू दुख हरने वाला—
ऐसा कृपा प्रकाश दिखादे, अपनी दशा सुधारें,
आत्म त्याग का मार्ग पकड़ लें, देश प्रेम उर धारें।"[१६]

ऐसी शक्तिशाली किन्तु अदृष्ट विश्वव्यापी सत्ता को जानने की जिज्ञासा से अभिभूत हो, वह पूछ उठता है—वह कौन है ? पर इस रहस्यमयी झलक का आभास उसे स्वयं होता है। कवि ने 'जीवन्मुक्त पंचक' (१९१९) में स्पष्ट कर दिया है कि इस पंचभूत तत्व (शरीर) से मुक्त-जीव (आत्मा) ही परमात्मा है। उसे आत्मज्ञान होते ही अद्वैत की भावना आ जाती है। आत्मा स्वयं कहती है—

पूछते हो क्या मेरा नाम?
जड़ चैतन्य सब दिखा रहे हैं, मेरा रूप ललाम।
जल-थल, अनल, अनिल, गगन सब में हूँ मैं व्याप्त।
विश्व बीज ओंकार तक मुझमें हुआ समाप्त।
आत्म ज्ञान की नाव में प्रण हूँ सानन्द।
भव सागर में घूमता फिरता हूँ स्वच्छन्द।
भव जल में मैं कमल हूँ, भव-घन में आदित्य,
भव-घर मठ में व्योम हूँ, अद्भुत, अक्षर नित्य।
नर तनु है धारण किया, करने को खिलवाड़।
कोई देख सका नहीं, तल की ओट पहाड़।
अहंकार का क्षार, डाल कल्पना के गले।
मायामय संसार, बन बैठा मैं आप ही।[१७]

विचारक कवि ने इस प्रकार भावन किया कि वह अनन्तसत्ता, सचराचर त्रिभुवन में व्याप्त और देदीप्यमान् है। आकाश में, पृथ्वी में, राजा-प्रजा में, अग्नि-जल-वायु में सब कहीं उसकी प्रभूत व्याप्ति है। किन्तु चेतना की इस उपलब्धि में भी एक जटिलता थी जो बुद्धि-ज्ञान से परे हैं। कवि उस विरोधमय के अस्तित्व का आभास पाकर हैरान है जो एक ही समय में सर्जक भी है और विनाशक भी। संसार के समक्ष उस परमसत्ता का परिचय देने के लिए उन्मुख कवि मानों साथ ही विस्मित हो जड़ सा हो जाता है, क्योंकि—

कैसे कहूँ कि है वह कैसा, हुई अहो मति भंग।
सुनता हूँ वह श्याम रंग है, यानी गरल समान।
किन्तु अमृत से भी बढ़ कर, वह करता जीवन दान!
नहीं नहीं यह बात नहीं, वह तो है गरल समान।
जो चौरासी लाख जनों, के छिन में, हरता प्राण।—काला रंग

ब्राह्म और आर्य-समाज ने भक्ति के रूढ़िवादी रूप (अवतारवाद) पर जो वज्रप्रहार किया था, भट्ट जी ने उसका भी उचित उपचार एवं पुनस्स्थापन करना चाहा। 'अवतार' (१९१७ ई०) में उन्होंने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि ध्यान, तप, बुद्धि, इन्द्रिय आदि सबसे परे अपने निराकार रूप को सर्वजन सुलभ करने के लिये चित्रकार स्वचित्र बन आया है—

अब रहा नहीं घट मठ का प्रश्न वहाँ है,
बन गया व्योम ही घट मठ रूप जहाँ है।
सच्चिदानन्द ही भवानन्द बन आया,
खुद चित्रकार मानो स्वचित्र बन आया?[१८]

निराकारवादी, अवतारवाद की किसी भी रूप में प्रशस्ति नहीं करते, मूर्त्ति-पूजा को वे जड़ता का लक्षण मानते हैं। कवि ने तथाकथित जड़ता में चेतना की स्वीकृति कर पूजा, अर्चना, नैवेद्य आदि को उपयोगी माना है। वास्तव में कवि वर्ग की इस आस्था के मूल में युग की आवश्यकता अन्तर्निहित थी। देश, जाति, धर्म और समाज कल्याण के लिए शक्तिशाली आधार चाहिये था। डॉ० सुधीन्द्र के शब्दों में ईश्वर एक सामाजिक तत्व के रूप में प्रथम बार प्रतिष्ठित हुआ।[१९] कवि बुद्धि ने मानो समस्त समस्याएँ इसी सामाजिक सत्ता को अर्पित कर दी। फलतः इस क्षेत्र में अनाचार देखते ही कवि उस सर्वशक्तिमान् पर झुंझला उठता था—

क्यों अपना नाम धराते हो, जो करुणाधाम कहाते हो।
करुणा की कुछ जगह जहाँ है, वहाँ तुम्हारी दृष्टि कहाँ है?
मृगजल के दलदल में हमको, फँसने को फुसलाते हो।
दीनों का सर्वस हरते हो, धनवानों का घर भरते हो।
दुख में दुख, सुख में सुख देते, हँसकर हमें रुलाते हो।
लीला अपरम्पार तुम्हारी, दया करो अब सुनो मुरारी।
बहुत खिलाया हमें, धूल में अब क्यों वृथा मिलाते हो।—झुंझलाहट[२०]

परन्तु इस झुंझलाहट में भी कवि उसके लोक-रक्षक तत्व को नहीं विस्मृत कर पाया है। 'तेरा नाम' (१९७७ सं०) में यही भाव व्यक्त किये गये हैं। 'सद्गुरु प्रार्थना' में कवि कहता है कि जीवन रूपी नौका रुष्ट प्रकृति के हास, यम-यातना, विलास तथा मृत्यु के उपहास में निरंतर प्रवहमान है। भट्ट जी ने रहस्य-भावना से चिर आवृत्त संसार की असारता और मृत्यु की अनिवार्यता आदि विषयों पर दो-एक कविताएँ लिखीं। 'जीव और माया' (१९१६ ई०) में मोक्षप्राप्ति

के अभिलाषी प्राणी को अहंकार तथा मायावी संसार से दूर रहने की चेतावनी है। कवि को विश्वास है कि चतुर जीव इस मृग-मरीचिका का माया-जाल तोड़ कर ऐसे चला जा रहा है जैसे सिद्धार्थ, गोपा को त्याग गये थे —

जिसको चिर संगिनी बना, समझा निज को सिद्धार्थ,
आज उसे ही त्याग स्वार्थ वश, ग्रहण किया परमार्थ।
छोड़ रहा क्या शीतलता को, आज चन्द्र निर्मोह,
भला कहां तक लग सकती है, इस विराग की रोह—

—जीव और माया[२१]

'मौत का डंका' (१९१५ ई०) तथा 'वृद्धावस्था' (१९१५ ई०) सृष्टि के अणु-अणु के शरण की ओर संकेत करते हैं। अन्योक्तियों का आश्रय लेकर कवि ने कुछ ऐसी रचनाएँ भी कीं जिनमें जीवन की सफलता के लिए मानवीय सद्‌गुणों की अनिवार्यता दिखाते हुए मनुष्य और संसार के अचिर सम्बन्ध का खोखलापन प्रदर्शित किया गया है। 'गंगा में दीपक' (१९१९ ई०), 'मनुष्य और संसार' (१९१५ ई०), 'अनुरोध एक बन्द कमल के प्रति' (१९१४), 'प्रातःकालीन तारों के प्रति' (१९१४ ई०), परिवर्त्तन और भय (१९१४ ई०) आत्म-त्याग (१९१४ ई०), नया फूल (१९१५) 'सज्जन और कटुशब्द' (१९१५), 'समय का फेर' (१९१५) आदि इसी कोटि की कविताएँ हैं। 'कूप मण्डूक' (१९२३ ई०), 'आए बोझा ढोऊ राम' (१९२३ ई०), 'पतंग' (१९२३ ई०), 'स्वामी जी' (१९१७) आदि में गुणहीन, स्वार्थी एवं अभिमानी मनुष्य को व्यंग्य के कशाघात से उद्‌बुद्ध करने का सजग प्रयास है। 'दीप निर्वाण' (१९१५ ई०) तथा 'हा ! चिन्तामणि'(१९२८ ई०), क्रम से गोखले तथा चिन्तामणि के निधन पर रचित शोकाश्रुगीत है। 'चीनियों का एक गीत' (१९१४ ई०) में परतन्त्र देश की परवशता एवं वेदना की कसक है। 'सूरदास' (१९१६ ई०), 'तुलसीदास और रामायण' (१९१५ ई०) प्राचीन कवियों पर प्रशस्तिपरक रचनाएँ हैं। 'अनुरोध' (स० १९७२) द्वारा कवि ने हिन्दी को साहित्य और देश में उचित सम्मान देने का आग्रह किया है। 'बेजारी की तान' (स० १९७७) में कवि ने 'यशसे और अर्थकृते लेखकों-पर व्यंग्य किया है। सामयिक विषयों में 'नौकरी' (१९१५ ई०) उल्लेखनीय है। इन स्वतंत्र मुक्तकों के अतिरिक्त कवि के कुछ गीत उर्दू शैली के ढाँचे पर चन्द्रगुप्त, कुरुवन-दहन, वेणीसंहार आदि नाटकों में भी उपलब्ध हैं।

अभिव्यंजना कला-भाषा (शब्द, वाक्य, रचना, व्याकरण आदि)—पं० बदरीनाथ भट्ट की कविताओं के भाषा-सौष्ठव का मूल्यांकन करने से पूर्व इस सम्बन्ध में उनकी अपनी मान्यताओं पर दृष्टिपात कर लेना उपयुक्त होगा। ऊपर बताया जा चुका है कि भट्ट जी खड़ीबोली के बड़े प्रबल समर्थकों में से थे। अतः उन्होंने 'खड़ीबोली की कविता', 'आधुनिक हिन्दी काव्य पर दोषा-रोपण', 'हमारे कवि और समालोचक', 'आजकल की हिन्दी कविता पर निवेदन', 'नागरी लिपि में सुधार की आवश्यकता', 'हिन्दी में सम्पादन कला की शिक्षा', 'पत्रसंपादन कला', 'संपादकों और अनुवादकों का ऊधम आदि अनेकानेक लेख सरस्वती-पत्रिका तथा 'हिन्दी मनोरंजन आदि' निबन्ध संग्रहों में प्रकाशित किये थे। इनसे न केवल तत्कालीन कवि-समाज समालोचकों और पाठकों का पथ प्रदर्शन हुआ बल्कि उनकी अपनी काव्य-शैली पर भी प्रकाश पड़ता है। इन लेखों के आधार

पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भट्ट जी संक्षिप्तता और भावपूर्ण गेयता को कविता के अनिवार्य तत्व मानते थे।[२२] इन तत्वों को यथावत् बनाये रखने के लिए आप प्रचलित शब्दों के परिमार्जन-परिवर्तन अथवा परिनिष्ठितीकरण के हक में न थे। वे यह नहीं चाहते कि "जिन शब्दों के हिन्दी स्वरूप बोलचाल की भाषा में स्थिर किये जा चुके हैं, उन्हें कुछ तुक-बन्द लोग जबरदस्ती विकृत कर दें और हिन्दी काव्य-कन्दुक को कुएँ से निकाल कर खाई में गेर दें।"[२३] उदाहरणार्थ, "यदि कहीं पर सौन्दर्य का वर्णन साधारण भाषा में किया जा रहा हो तो 'चेहरा' शब्द से 'मुखड़ा' ही हमें अच्छा मालूम होगा।"[२४] कदाचित् इसी कारण उनकी पद्य-राशि में पै, दृढ़ाना, महाना, प्रान, सरवस, करिये, दीजै, नहिं, मचैगी, बढ़ाय, वा, होय, जुहार, भूपन, करैं, समझें, कारन, तलक, लपटें, पछताना, सबों को, तनिक बिठलाना आदि शब्द प्रभूत मात्रा में बिखरे पड़े हैं। और जो समकालीन कवि इस प्रकार के शब्दों का परिशोधन करने के आकांक्षी थे उन पर खीझ कर वे कहा करते थे कि "बस मालूम हुआ कि ललित शब्दों को भी कर्कश कर देने का प्रबन्ध ईश्वर ने खड़ीबोली वालों ही के हाथ में सौंप दिया है और शायद यही कारण है कि कर्कशता के जम (बीज) खड़ीबोली में ही विशेष दिखाई देते हैं अथवा क्या यह बोलचाल के शब्दों की संगत का असर है कि जो शब्द उनके साथ रक्खा जाय वही कर्कशता का बपतिस्मा ले लें?"[२५] अतएव भट्ट जी के कविताओं में नृत्य, कार्य्य, बलवर्द्धक, व्याप्त आदि के स्थान पर क्रम से नाच, काज, बलवन्ता और व्यापना आदि शब्दों का उपयोग ही अधिक मिलेगा। सर्वसाधारण की बोली में नैसर्गिक रूप में गृहीत विदेशी शब्दों से बचने का उनका कोई प्रयास लक्षित नहीं होता। खारिज मुकदमा, खर्च, गुलाब, इत्र, खातिर, क़र्ज, खज़ाना, मुसाफिर, आफ़त, नकली, दारमदार, फ़क़ीर, नादानी, परदा, कूच, माल, वसूल, पतंगा और ताला आदि व्यापक रूप में प्रचलित शब्दों के लिए कोई पर्यायवाची शब्द नहीं खोजे गये हैं। केवल तत्सम शब्दों के आग्रह से खड़ीबोली के माधुर्य को नष्ट करने, कृत्रिम बनाने और जनता से दूर फेंक देने वाले कवियों को लक्ष्य कर उन्होंने अपने 'सम्पादकों और अनुवादकों का ऊधम' शीर्षक लेख में कहा है कि "तत्समानन्दियों ने भी बड़ा बखेड़ा मचा रखा है। वे लोग भाषा की खास खूबियों के ज़रा भी क़ायल नहीं; ये हिन्दी के प्रत्येक शब्द को वही पुराने कपड़े जबर्दस्ती पहनाना चाहते हैं। इनकी बदौलत हिन्दी एक प्रफुल्लित कुसुमोद्यान से बदल कर संकुचित बीहड़ होती जा रही है। ज़रा-ज़रा सी बात के लिए संस्कृत के व्याकरण की टाँग तोड़ने वाले व्याकरिणियों ने भी इनका खूब साथ दिया है। इन तत्समानन्दियों के मारे हमारे बनारसीदास जी बेतरह परेशान हैं। मारे फ़िक्र के उन्हें रात भर नींद नहीं आती। बनारसी दास से वे ज़बर्दस्ती वाराणसीदास बना दिये जायेंगे...इन तत्समानन्दियों से भाषा के माधुर्य की रक्षा भगवान् ही करे तो करे।"[२६]

काव्य में कदाचित् इसी माधुर्य-रक्षण और वाक्-प्रवाह को बनाये रखने के लिए कदाचित् भट्ट जी ने मुहावरों की इतनी उपयोगिता स्वीकार की है। आप कहते हैं कि, "हर एक भाषा में कुछ शब्द तथा मुहावरे ऐसे होते हैं जो यदि गद्य में रख दिये जायें तो उसे काव्य की ओर खींच ले जायँ और यदि पद्य में रख दिये जायँ तो उसकी उत्कृष्टता बढ़ा दें।"[२७] आश्चर्य नहीं कि उनकी कविता में राशि-राशि मुहावरे बिखरे पड़े हैं जिनसे यदि एक ओर भाषा का सौकर्य बढ़ा है तो दूसरी ओर लाक्षणिक शक्ति की अभिवृद्धि भी हुई है, उदाहरणार्थ :—

१. बहुत पढ़ चुके हैं हम पहले, तिल्ली का फट जाना।[२७]
—प्रार्थना[१]

२. है क्या उचित प्रथम तो इस पर यों निज रंग जमाना?"[२८]
—प्रार्थना

३. चलते पुरजों की चाल नहीं चलने की,
दिलदार दलों की दाल नहीं गलने की।[२९]
—संपादक का कोरा उत्तर

४. देखकर उनकी दशा को सूखते हैं इनके प्रान,
ये खड़े होते कमर कसके हैं करने को भला।[३०]
—जातीय सेवक

५. सबके सिर पर चढ़ी हुई थी, अब सब पैरों तले कुचलते,
ऊँचे चढ़कर नीचे देखा, सभी रंग बदरंग हुआ है।[३१]
—समय का फेर

६. इसे ही कहते हैं वैराग्य ?
तो विरागता के सचमुच ही फूटे समझो भाग्य।[३२]
—स्वामी जी

इनके अतिरिक्त दुलत्ती झाड़ना, पोल खुलना, गुरु घण्टाल, फूले-फूले फिरना, नाम धराना, तिलकी ओट पहाड़, कान कतरना, मुँह मोड़ना तथा जी छोड़ना आदि अनेक मुहावरे अपने मूल रूप में प्रस्तुत हैं। जिन स्थलों पर कवि ने पर्यायवाची तत्सम शब्दों का उपयोग कर भी लिया है वहां वे अर्थबोध में बाधा नहीं पहुँचाते। देखिए:—

१. करते हैं कटिबद्ध हो वे यत्न देश-समृद्धि का।[३३]
—जातीय सेवक

२. छिपते फिरते हैं मृग, भय का पड़ा बुद्धियों को ताला।[३४]
—परिवर्तन और भय

उपर्युक्त पद्यांशों में 'कटिबद्ध' और 'बुद्धियों को ताला पड़ना' क्रम से[६] कमर कस के तैयार होना' तथा 'अक्ल पर ताला पड़ना' के रूपान्तर हैं। कहीं-कहीं कवि ने ऐसे प्रयोगों में मनमानी भी बरती है, यद्यपि ऐसे स्थल काव्य में अत्यल्प हैं—जैसे जातीय सेवक के गुणों की चर्चा करते हुए कवि कहता है :—

वे समझते जाति भर के भार को हैं अपना भार,
उनके होते अन्य के दुख देखने को चक्षु चार।[३५]
—जातीय सेवक

मूल मुहावरा है 'आँखें चार होना'। यहाँ 'चक्षु चार' होने से निश्चय ही कवि का तात्पर्य 'प्रेम सम्बन्ध' नहीं है। वह तो वस्तुतः जातीय सेवक के हृदय की समानुभूति का विदर्शन

कराना चाहता है, जो सम्भवतः 'आँख खोल कर चलना' से खींचतान कर, ग्रहण कर लिया है।

प्रचलित शब्दों तथा मुहावरों से अलंकृत भाषा में सामान्यतया काव्य-रचना प्राप्त होने से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि भट्ट जी के काव्य में स्फीत वाग्धारा में प्रवाहित तत्सम प्रधान वाक्य-योजना का सर्वथा अभाव है। सच तो यह है कि गंभीर विषयों के प्रतिपादनार्थ कवि ने साहित्यिक हिन्दी का ही सहारा लिया है। ईश्वर, नश्वर, अभ्युदय, अभिलाषा, स्वाभिमान, अगणित, वसुन्धरा, करुणा, प्रतिध्वनि, प्रफुल्लित, मनहरण, पश्चात्ताप, विशिख, रिपु, और दारिद्रय आदि सुबोध शब्दों से ले कर लोचनोन्मीलित, ताण्डवोपम, कराल कालान्तक, अत्युग्रतप्ता, जीव लोकाकुलचित्तकारिणी, त्वदीय, मदीय और करालोवर जैसे समस्त संधिज भी उपलब्ध होते हैं। कतिपय स्थलों पर इनका आधिक्य भाषा प्रवाह में बाधक हो गया है। जैसेः—

१. प्रभो असह्य हो गया अब तो जीवभृत का बना।—प्रार्थना[३६]

२. बस ध्यान मात्र करके त्वदीय, होता है पुलकित मन मदीय,—मातृभूमि[३७]

३. और विविध गुण गुणालंकृत हैं—मातृभूमि[३८]

४. कराल कालान्तक ताण्डवोपम, उठें बबूले नभ में जहाँ तहाँ
अखण्ड मार्तण्ड-प्रचण्ड तेज से, न लोचनोन्मीलन है सुहा रहा—निदाघ काल[३९]

किन्तु समान्यतया विषय के अनुरूप भाषा में रसात्मकता, रमणीयता, उपयुक्तता, सुंदरता और मधुरता आदि गुण सहज रूप में सन्निविष्ट मिलते हैं। वाक्य छोटे हों या बड़े, व्याकरण-दोष अपेक्षाकृत कम स्थलों पर मिलता है। तत्कालीन बोलचाल की खड़ीबोली के स्वरूप को दृष्टि में रखकर भट्ट जी के उन विशिष्ट प्रयोगों को व्याकरण दोष की संज्ञा देना कवि के प्रति अन्याय ही होगा। संस्कृत प्रधान और उर्दू एवं बोलचाल के शब्द से आवृत दोनों प्रकार की भाषा को भट्ट जी के काव्य में प्रयुक्त देखकर कवि की प्रतिभा का सहज ज्ञान हो जाता है। उदाहरणार्थ उर्दू प्रधान भाषा—

१. नाव बन जातीयता अज्ञानता से टकराय जब,
अपनी अपनी जां बचाने को मनुज घबराय जब।
तब उन्हें सबको सहारा ज्ञान रस्सी का जो दे,
उनकी टूटी नाव बिल्कुल पार तक पहुँचा जो दे॥[४०]**—जातीय सेवक**

संस्कृत प्रधान भाषा—

२. जो गन्ध थी मन्द समीर प्रेरिता पुनः स्वचैतन्य प्रदानकारिणी,
अत्युग्ररूपा वह धर्म दुस्सहा, नहीं रही है अब मोददायिनी।
जो उष्णता घोर निदाघ विस्तृता, संसार में व्याप्त हुई इतस्ततः,
है जीव-लोकाकुल-चित्तकारिणी, गला रही सर्व शरीर धातुएँ॥—निदाघकाल[४१]

अलंकार-योजना—अप्रस्तुत नियोजन की दृष्टि से भट्ट जी के काव्य में द्विवेदी युग में प्रचलित वही रूढ़ उपमान उपलब्ध होते हैं जो विषय प्राधान्य के कारण सौन्दर्य-विहीन एवं

निष्प्रभ से हो चुके थे। कवि चाहे भारतीय नवयुवक को जाग्रत करता हो अथवा ईश्वर से प्रार्थना करता हो, उसके फलस्वरूप उपमा, उत्प्रेक्षा, उल्लेख, विरोध, सन्देह, विशेषोक्ति आदि अलंकार प्रयोग में एक विशेष प्रकार का पिष्टपेषण है। उदाहरणार्थ कतिपय अवतरण देखिये:—

अनुप्रास—
लिक्खाड़ लेखकों के लेखों को लख कर,
चंचल सत्काव्य सरोज मधुर रस चखकर।
नित मधुर मधुप ध्वनि ध्वनित धरा को करिए,
आधुनिक धुआँधारों के कान कतरिये।।[४२]—संपादक का कोरा उत्तर

उपमा—
१. हैं वे सब अनमोल हीरे जाति रखी खान के,
हैं वे तारे से चमकते जाति के अभिमान के[४३]—जातीय सेवक
२. अज्ञान की अंधेरी, भुला है पथ मुसाफ़िर,
दीपक सा टिमटिमाता, दुनिया में नाम तेरा[४४]—तेरा नाम

उपमा-रूपक
१. यह द्वेष का निशाचर, हमको सता रहा है
सत्कर्म शर से उसकी गरदन उड़ा दे मोहन[४५]—प्रार्थना
२. मृदु प्रेम की सुरभि को पहुँचा दे हर तरफ़ तू,
मन पल्लवों में आशा बूंदे बिछा दे मोहन।[४६]—वही

रूपक—
१. प्रकृति सेज पर माया सुख से करती है विश्राम,
अहंकार शिशु गोद पड़ा है, मानो भक्ति सकाम।[४७]—जीव और माया
२. क्रोध कमण्डलु, मोह माल, कर लिया द्रोह का दण्ड,
लोभ लंगोट बाँध फैलाते हो प्रचण्ड पाखण्ड।[४८]—स्वामी जी

उत्प्रेक्षा—
१. यह विविध द्विजों का मिष्ठ बोल
करते कलफल जो कर कलोल।
मानो तव अर्चन हेतु आज,
है प्रकृति देवि रच रही साज।।[४९]—मातृभूमि

प्रतीप—
प्राकृतिक दृश्य तेरे निहार, देता नन्दन सर्वस्वहार[५०]—मातृभूमि

विरोधाभास—
पार लगी तो मर जावेगी, डूब गई तो तर जावेगी।
निश्चय अपने घर जावेगी, आशा यों कहती है।[५१]
—सद्गुरु प्रार्थना

विभावना-विशेषोक्ति—
नेत्र रहित हो उस अथाह की पाई तुमने थाह,
नेत्र सहित हम थके भटकते नहीं सूझती राह।[५२]—सूरदास

हाँ, गम्भीर एवं कलात्मक भावों के प्रेषण में कवि-हृदय अधिक संवेदनशील हो उठा है। भट्ट जी प्रकृति प्रेमी थे, जहाँ उन्होंने आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण किया है, वहाँ कवि का सूक्ष्म निरीक्षण और प्रकृति से रागात्मक योग दिखाई पड़ता है—

हिमकर शर-समूह ने तम का जर्जर कर शरीर डाला,
अथवा निशि ने साबुन से निज कृष्ण-रूप को धो डाला।
जिसे देख हँस पड़ी वनश्री, खिली कुमुदिनी की माला,
बिगड़ गई तारों की छवि, मुँह हुआ उलूकों का काला॥[13]
—परिवर्तन और भय

चन्द्रोदय का समय है। चन्द्र किरणों पर 'शर-समूह' का आरोप रूप साम्य पर आधृत है। 'तम' का मानवीकरण 'शर-समूह' की प्रखरता को और भी तीव्र कर देता है। 'निशि' पर नारी का आरोप कर ज्योत्स्नामयी रात्रि की द्युति कवि ने अभिवृद्धि कर दी है। आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण करते हुए भी कवि अपनी अन्तर्भावनाओं को रोक नहीं पाया है। 'तारों की छवि के बिगड़ने' और 'उलूकों के मुँह काले होने' में उसका प्रच्छन्न भाव ध्वनित हो उठा है। इसी प्रकार 'अनुरोध' (एक बन्द कमल के प्रति) में सूर्योदय का संश्लिष्ट चित्रण है :—

अब तो आँखें खोलो प्यारे।
पूर्व दिशा अब अरुण हुई है,
प्रकृति देवि पट बदल रही है,
यम ने तम की बाँह गही है।
छिप कर भागे तारे।
प्रमुदित नलिनी विहंस रही है,
प्रिय समीर से सुरभि मिली है,
अति शोभामय वनस्थली है।
अलिगण हैं गुञ्जारें।[14]—अनुरोध

भट्ट जी के कदाचित् इसी सरल और स्वाभाविक प्रकृति प्रेम को देखकर डॉ० रामचन्द्र मिश्र ने इन्हें स्वच्छन्दतावादी काव्य-परम्परा का पोषक कहा है।

युग के प्रभाव से भिन्न कवि की दूसरी विशेषता उसका भावना-लोक की ओर उन्मुख हो आध्यात्मिक चिन्तन है। उसकी सबसे बड़ी सफलता यही है कि उसने असामान्य भावनाओं की अभिव्यक्ति सामान्य सत्य पर आधृत की है। इस कारण पाठक के लिए विशिष्ट रहस्यवादी भावनाएँ दुर्बोध्य, अस्पष्ट अथवा दुरूह नहीं हुई हैं। 'जीवन्मुक्त पंचक' में ब्रह्म और जीव के अद्वैत-रूप का प्रतिपादन किया गया है। माया, ब्रह्म का अविद्या रूप है और जीव उसी के कारण सुख-दुःख के बन्धन में फँसा रहता है। आत्मसाक्षात्कार या ज्ञान के उपरान्त माया से उद्भूत द्वैतभाव मिट जाता है। वही भारतीय दर्शन में सोऽहम् तथा सूफ़ियों में 'अनलहक़' की स्थिति कही जाती है। कवि ने भी प्रस्तुत रचना में उसी स्थिति को प्रकृति के प्रतीकों द्वारा स्पष्ट किया है। एक ही तत्व परमात्मा के अनेक रूप दृष्टिगत होने में 'उल्लेख' अलंकार व्यंग्य है :—

भव जल में मैं कमल हूँ, भव-घन में आदित्य,
भव-घट-मठ में व्योम हूँ, अद्भुत अक्षर नित्य।

नर-तनु है धारण किया, करने को खिलवाड़,
कोई देख सका नहीं, तिल की ओट पहाड़।।[५५]

इसके अतिरिक्त भट्ट जी की अन्योक्तियाँ उनकी एक और विशिष्टता है। अन्योक्ति में अप्रस्तुत प्रतीक द्वारा ही प्रस्तुत का प्रतिपादन होता है और प्रस्तुत सदा व्यंग्य रहता है। काव्य में प्रस्तुत की इस स्थिति को संस्कृताचार्य मम्मट ने 'अप्रस्तुत प्रशंसा' का एक भेद माना और दण्डी ने समासोक्ति के अन्तर्गत लिया। सर्वप्रथम रुद्रट ने (नवीं शताब्दी) उसे 'अन्योक्ति' नाम देकर अलंकारों में स्वतंत्र स्थान दिया था। किन्तु जैसा कि डॉ० संसारचन्द ने स्पष्ट किया है, अन्योक्ति एक ऐसा अलंकार है जो कभी-कभी पद्य-विशेष में ही समाप्त न होकर पद्यों, सन्दर्भों या प्रकरणों में दूर तक सतत चलता जाता है।

काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से भट्ट जी के समस्त काव्य में अन्योक्तिपरक गीत अद्वितीय हैं। 'गंगा में दीपक' शीर्षक कविता में 'गंगा' संसार का और 'दीपक' जीवात्मा का प्रतीक है, जो उस सर्वशक्तिमान् परोक्षसत्ता की कृपा से पार उतर जाता है। दीपक कहता है —

जब तक उसकी मरजी है, तब तक न किसी का कुछ भय है;
वरना फिर तो अनिल, अनल, जल एक बहना निश्चय है।
इसीलिए हूँ मौज उड़ाता, नहीं सोच का कुछ कारण,
अन्त समय जब आया तब उच्चारण क्या मारण-जारण।।[५६]

'समय का फेर' भूमि पर पड़ी 'सूखी पत्ती' के व्याज से ऐहिक-ऐश्वर्यों में पोषित अभिमानी व्यक्ति को चेतावनी है। कवि ने अप्रस्तुत द्वारा स्पष्ट किया है कि जिस लौकिक सम्पन्नता के बल पर मनुष्य इठलाता है 'समय का फेर' उसे किसी क्षण भी नष्ट कर सकता है। उसके शब्दों में —

हुई चूर अभिमान नशे में, सब पर हँसती झूम रही थी,
कौन पूछता है अब तुमको, वह सुख-सपना भंग हुआ है।
सबके सिर पर चढ़ी हुई थी, अब सब पैरों तले कुचलते,
ऊँचे चढ़कर नीचा देखा, सभी रंग-बदरंग हुआ है।।[५७]

'अनुरोध' (एक बन्द कमल के प्रति) में प्रकृति का सुन्दर चित्रण है किन्तु 'अन्योक्ति' व्यंग्य है। कवि ने 'कमल' के मिस सुषुप्त, अचेतन और अकर्मण्य मनुष्य को उद्बुद्ध करने का यत्न किया है। 'निवेदन' (प्रातः कालीन तारों के प्रति) क्षण स्थायी जीवन पर अभिमान की निरर्थकता सिद्ध करता है। जिस प्रकार उषा का आगमन होते ही तारे व्योम-पटल से पलक मारते मिट जाते हैं, उसी प्रकार गर्वोन्नत मनुष्य की भी दशा होती है। कवि कहता है —

आसमान पर खड़े हुए हो, सबसे ऊँचे चढ़े हुए हो।
सब बातों में बढ़े हुए हो, हुए न तनिक उदार।।
× × ×
पीछे से पछताओगे तुम, रवि की ठोकर खाओगे तुम।
यम के घर उड़ जाओगे तुम, ले कर्मों का भार।।[५८]

'आत्म त्याग' में दीपक उस मनुष्य का प्रतीक है जो स्वयं दुःख सहकर अपने बन्धुओं में शक्ति और सामर्थ्य का संचार करता है। परन्तु जैसे मलिन पवन, दीपक के प्रतिकूल हो उसे बुझाने में प्रयत्नशील रहता है, उसी प्रकार दुर्बुद्धि मनुष्य भी आत्मत्यागी को नष्ट करना चाहता है। 'मनुष्य और संसार' शीर्षक कविता में अन्योक्ति प्रथम पंक्ति में ही स्पष्ट कर दी गयी है। कवि के अनुसार जैसे सागर में तिनके का कोई महत्व नहीं, उसी प्रकार विश्व में मनुष्य की सत्ता नगण्य है। अप्रस्तुतत के सहारे कवि ने मनुष्य को अहंवाद से बचाने का प्रयास किया है। उद्‌ग्रीव बड़ और अभिमानी पीपल भी क्या मृत्यु को जीत पाये हैं? कवि कहता है —

सागर में तिनका है बहता।
उछल रहा है लहरों के बल में हूँ, मैं हूँ कहता॥
इस तरंग में मारे फिरते बड़ पीपल अभिमानी,
उनकी कथा जानकर भी यह बना हुआ अज्ञानी।
अपने को है बड़ा समझता, यह इसकी नादानी,
धीरे-धीरे गला रहा है इसको खारा पानी॥[५९]

इसी प्रकार 'सज्जन और कटु शब्द' में बाजीगर, मिथ्याचारी, दम्भी व्यक्ति का और सुजनसिंह साधु व्यक्ति का प्रतीक है। 'पतंग' भी ऐसे स्वार्थी, दम्भी और गुणहीन मनुष्य पर अन्योक्ति है, जो संसार रूपी आकाश में भाग्य-विधाता की कृपा से चढ़ा और उसे ही विस्मृत कर बैठा। कवि ऐसे मनुष्य को मानो झकझोर डालता है —

पहले उसे धन्यवाद दे जिसने तुझे बनाया,
फिर उसको जिसने तुझको यों नभ में है पहुँचाया।
पल पल में हो रहा प्रलय है, अपनी खैर मना तू,
कर विचार, हो सावधान, अब बिगड़ा काम बना तू॥[६०]

'कूप मण्डूक' भी ऐसे ही दम्भी मनुष्य पर अन्योक्ति है जो बुद्धि, धन, गुण सौकर्य से और ज्ञान में अपने को सर्वश्रेष्ठ समझकर पैने उपदेशों से जनता पर प्रहार करता है। वह अपने को पतितोद्धारक तथा पवित्रता का ठेकेदार मानता है। ऐसे ही मनुष्य पर कवि का व्यंग्य है —

स्वयं कूप में डटे, जगत् को लेंगे आप उबार,
क्यों न हो कि हैं आखिर श्रीमन् पतितों के सरदार।
लाख अवगुणी हैं पर पवित्रता के ठेकेदार,
धन्य राज मण्डूक, आपको है प्रणाम सौ बार।
टूट नहीं सकता है, गहरे अंधकार का तार,
जब तक काल-सर्प के मुख में जाते नहीं सिधार।[६१]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जीवन की असारता, परिवर्तनशीलता, दुःखवाद और रहस्यवाद जैसे शुष्क एवं नीरस विषयों को अन्योक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त करके कवि से उन्हें

अधिक प्रभावपूर्ण बना सका है। डॉ० श्रीकृष्णलाल ने काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से इस अन्योक्ति रचयिता की बड़ी प्रशंसा की है।

गीतिकाव्य की दृष्टि से भट्ट जी ने 'अनुरोध' को कलिंगड़ा, 'आत्मत्याग' को जोगिया आसावरी, 'परिवर्त्तन और भय' को कन्दरा दरबारी, 'निवेदन' को भैरवी, 'प्रार्थना' को देश्राग, 'समय का फेर' को रागिनी पीलू और 'मौत का डंका' ग़ज़ल रूप में प्रस्तुत कर भाषा में माधुर्य के सन्निवेश का सजग यत्न किया।[६२] 'सज्जन और कटुशब्द' अन्त्यानुप्रासहीन रचना है। ये अभिव्यंजन कौशल कवि के रूढ़ियुक्त और स्वच्छन्द भाव प्रकाश की ओर स्तुत्य प्रयास हैं।

शब्द-शक्ति——भट्ट जी ने 'भारत माता' के कल्याणार्थ राष्ट्रीय भावना के विकास, आत्मिक उद्धार, विश्वव्यापी अव्यक्त सत्ता के लिए जिज्ञासा आदि तथा संसार की सरसता आदि अनेक विषयों पर अपनी लेखनी चलाई। शब्द की शक्ति को बनाये रखने के लिए मुहावरों का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया है, अतः लक्षण के अनेक उदाहरण उनके काव्य से उद्धृत किये जा रहे हैं——

सारोपा शुद्धालक्षण लक्षणा

जीवन के दीप का अब, सब तेल चुक गया है,
हो भी चला सबेरा, खोलो किवाड़ खोलो।
जीवन के फूल में से, सब रस हवा हुआ है,
सूरत बिगड़ गई है, खोलो किवाड़ खोलो।।[६३]**——मौत-कांड का**

सारोपा गौणी लक्षण

१. उत्सुकता की नदी दर्शकों में बढ़ी,
पर अचरज सागर में झट लय हो गई।
काले और कुरूप कोयले वे सभी,
सुजनसिंह पर अहो! फूल हो कर गिरे।।[६४]**——सज्जन और कटु शब्द**

२. जिसको चिर संगिनी बना, समझा निज को सिद्धार्थ।
आज उसे ही त्याग स्वार्थवश, ग्रहण किया परमार्थ।।[६५]**—जीवन और माया**

किन्तु वास्तव में पं० बदरीनाथ भट्ट की अन्योक्तियाँ ही शब्द की व्यंजना शक्ति के सबसे सुन्दर उदाहरण हैं जहाँ सादृश्य की अतिशयता गुण, क्रिया अथवा व्यापार समष्टि पर आधारित होने के कारण प्रतीक लक्षण का आश्रय न लेकर सीधा व्यंजना द्वारा प्रस्तुत की अभिव्यक्ति कराता है। कवि सूखी पत्ती से कहता है——

अब क्या जुड़ सकती है तरु में किसकी है तू कौन है तेरा?
इस दुनिया में कोई किसी के दुःख में कभी न संग हुआ है।
दुख क्या है? "अभिमान-प्रतिध्वनि" है आशा का रूप निराशा,
है जीवन का हेतु मरण ज्यों, मणिका हेतु भुजंग हुआ है।[६६]**——समय का फेर**

प्रस्तुत पंक्तियाँ अत्यन्त तिरस्कृत (अविवक्षित वाच्य) ध्वनि की अन्यतम उदाहरण है। यहाँ वाच्यार्थ (सूखी पत्ती) बाधित है लक्षण के द्वारा अर्थान्तिर में संक्रमण न कर, मुख्यार्थ

का सर्वथा तिरस्कार करना पड़ता है और सहृदय सामाजिक को 'सूखी पत्ती' के व्याज से अप्रस्तुत मनुष्य का एकदम बोध्य हो जाता है। इस प्रकार के अनेक उद्धरण इनकी अन्योक्तियों से प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

गुण-प्रस्तुत खड़ीबोली रचनाओं में विषय के अनुकूल ओजगुण का सन्निवेश मिलता है। भारतीय नवयुवक को देश की दुर्दशा, किसानों की अधोगति, अतीत भारत के स्वर्णिम रूप की झलक दिखाते हुए उद्बुद्ध करने के लिए कवि की अन्तरात्मा मानो आने से परिपूर्ण हो जाती है। तदनुकूल ऐसे स्थलों पर भाषा में चित्त प्रदीप्त करने की शक्ति भी आ गई है, उसमें आवेग भी है और स्फूर्ति भी। देखिए :—

उठो हिन्द के सुतों सुदृढ़ हो,
कर्म क्षेत्र में बढ़े चलो,
राजो निराशा भाव, विफलता
वायुवेग से तुम न हिलो।[६७]—उद्बोधन

ऐसे प्रकरणों की भाषा प्रायः बोलचाल की है, अतः प्रसादगुण स्वाभाविक रूप में मिलता है। परन्तु जहाँ आध्यात्मिक चिन्तन से कवि का मस्तिष्क और हृदय बोझिल है वहाँ भी प्रतीक के माध्यम से भाव-प्रकाशन हुआ है। प्रतीक सामान्यतया प्रकृति के जड़ अथवा चेतन रूपों से चयित हैं। अतएव अर्थ-विवक्षा में कहीं बाधा नहीं आती। कदाचित् इसीलिए ब्रह्म और जीव के अद्वैत रूप जैसे दुरूह विषयों पर रचित कविताएँ भी सर्वजन सुबोध हो सकी हैं। उदाहरणार्थ, 'अवतार' शीर्षक रचना की प्रसाद गुण सम्पन्न कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

जिसको पाकर वाणी विराम पाती है,
जिस तक न पहुँच मति की गति रुक जाती है।
देखो वह निर्धन का जीवन धन आया;
खुद चित्रकार मानो स्वचित्र बन आया॥
इन्द्रियाँ आप विषयों में खिंच जाती हैं,
मन मरा, बुद्धि की आंखें मिंच जाती हैं;
यह देखो वैसा वह अचिन्त्य जन आया,
खुद चित्रकार मानो स्वचित्र बन आया[६८]—अवतार

भावानुभूति की गंभीरता के साथ कवि का दृष्टिकोण तो सूक्ष्म हुआ ही है, भाषा भी अधिक परिमार्जित दृष्टिगत होती है किन्तु भाषा के प्रसादत्व में कहीं बाधा नहीं आई है —

दे रहा दीपक जल कर फल।
रोदी उज्ज्वल प्रभा-पताका, अन्धकार हिम कूल॥१॥
इसके जीवन तया का केवल आत्मत्याग है मूल।
जिसके बल, मनहरण सुरभिमय, खिलता है यश फूल॥२॥
जीवन-मरण डोरियों पर, हां, आप रहा है झूल।
हंस-हंस खाय हवा के झोंके, अपना आपा भूल[६९]॥३॥ —आत्म-त्याग

संक्षेप में पं० बदरीनाथ भट्ट के खड़ीबोली काव्य की अभिव्यंजना का मूल्यांकन करने से स्पष्ट हो जाता है कि भट्ट जी ने भाव और भाषा दोनों ही दृष्टि से खड़ीबोली काव्य की शैली में परिवर्तन लाने का सजग प्रयास किया। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता एवं नीतिवादिता से दूर रह कर, कवि जीवन-निर्माण पर बल देता रहा। प्रकृति का आलम्बन रूप में निरीक्षण एवं चित्रण, छायावाद के आगमन की पृष्ठभूमि बना। उसकी अन्योक्तियों से एक ओर खड़ीबोली में नये प्रतीकों का सन्निवेश हुआ तो दूसरी ओर भाषा व्यंजना शक्ति को बल भी मिला। डा० सुधीन्द्र ने उचित ही कहा है कि "बदरीनाथ भट्ट की सर्वोच्च सिद्धियाँ हैं। उनके पद-गीत जो संकेतवाद के अन्तर्गत हैं, प्रतीकवाद के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। रवीन्द्र के रहस्य की उन पर उसी प्रकार छाया है जैसी प्रकाशमान सूर्य की सब वस्तुओं पर पड़ती है।[७०]"

संदर्भ-संकेत:—

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६४७
२. द्र०, सरस्वती, भाग २८, १९२७ ई०, खण्ड १, सं० ३, मार्च, पृ० २८९
३. प्र० खड़ीबोली की कविता (साहित्य भाग) पृ० २३०-२३६ कार्य विवरण सं० १९६८, द्वितीय साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, दूसरा भाग।
४–५. प्र० आधुनिक हिन्दी काव्य पर दोषारोपण (सरस्वती, मई १९१४, भाग १५, सं० २, खण्ड १)
६. आधुनिक हिन्दी काव्य में निराशावाद, पृ० ९८
७. मर्यादा, सं० १९६८ (सन् १९१०), भाग १, सं० ५, पृ० २१
८. मर्यादा, नवम्बर-अप्रैल, सन् १९११, भाग ३, सं० ६, पृ० ३१०
९. वही, मई-अक्टूबर, सन् १९११, भाग २, सं० १, पृ० ५
१०. सरस्वती, सन् १९१६ सितम्बर, भाग १७, खण्ड २, सं० ३
११. मर्यादा, मई-अक्तूबर, सन् १९११, भाग २, सं० १, पृ० ५
१२. वही, मई-अक्तूबर, सन् १९११, भाग २, सं० ५, पृ० २३०
१३. वही, मई-अक्तूबर, सन् १९१३, भाग ६, सं० ४, पृ० २६४
१४. मर्यादा, सं० १९६८ (सन् १९१०), भाग १, सं० ४, पृ० १५०
१५. हिन्दी कविता में युगान्तर, डॉ० सुधीन्द्र, पृ० २४६
१६. सरस्वती, सन् १९१५, भाग १६, सं० ४, पृ० १९५
१७. सरस्वती, सन् १९१९, भाग २०, सं० ३, पृ० ११३
१८. वही, सन् १९१७, भाग १८, सं० ५, पृ० २३३
१९. हिन्दी कविता में युगान्तर, डॉ० सुधीन्द्र पृ० २४५
२०. प्रभा, सन् १९१६, भाग ११, सं० २, पृ० ६१
२१. सरस्वती, सन् १९१६, भाग १७, १, खण्ड सं० ३, पृ० १४५
२२. "यह ध्यान में रखना चाहिए कि कविता और गान का बहुत ही निकट का सम्बन्ध

है।...कविता जहाँ तक हो छोटी परन्तु भावपूर्ण होनी चाहिए।" ६०—"आधुनिक हिन्दी काव्य पर दोषारोपण"—सरस्वती, मई १९१४, भाग १५, सं० ५

२३–२४. वही

२५. द्र०, "आधुनिक हिन्दी काव्य पर दोषारोपण"—सरस्वती, मई १९१४, भाग १५, सं० ५

२६. द्र० "सम्पादकों और अनुवादकों का अध्ययन"—सरस्वती, अप्रैल १९१८, भाग १९, खण्ड १, सं० ४

२७-२८. मर्यादा, सन् १९१३, नवम्बर-अप्रैल, भाग ७, सं० २

२९. मर्यादा, सं० १९६८, सन् १९१०, भाग १, सं० ४

३०. मर्यादा, सन् १९११, भाग २, सं० ५

३१. सरस्वती, सन् १९१५, भाग १६, खण्ड १, पृ० १६७,

३२. सरस्वती, सन् १९१७ भाग १८, खण्ड २, सं० १

३३. मर्यादा, सन् १९११, मई-अक्तूबर, भाग २, सं० ५

३४. सरस्वती, सन् १९१४ भाग १५, खण्ड २, सं० ४

३५. मर्यादा, सन् १९११, मई-अक्तूबर, भाग २ सं०, ५

३६. मर्यादा, सन् १९१३, नवम्बर–अप्रैल, भाग ७, सं० २

३७-३८. मर्यादा, सन १९१०, भाग १, सं० ५

३९. मर्यादा, सन् १९११, मई-अक्तूबर, भाग २, सं० १

४०. मर्यादा, सन् १९११, मई–अक्तूबर, भाग २, सं० ५. सं० १

४१. मर्यादा, सन् १९११, मई अक्तूबर भाग २, सं० ५, सं० १

४२. मर्यादा, सन्, १९१०, भाग १, सं० ४

४३. मर्यादा, सन् १९११, भाग २, सं० ५

४४. प्रतिमा, संवत, १९७७, भाग ४, अंक ४

४५-४६. सरस्वती, सन् १९१४, भाग १५, खण्ड १, सं० ३

४७. सरस्वती, सन् १९१६, भाग १७, खण्ड १, सं० १

४८. सरस्वती, सन् १९१७, भाग १८, खण्ड २, सं० १

४९-५०. मर्यादा, सन् १०१९, भाग १, सं० ५

५१. सरस्वती, सन् १९२०, भाग २१, खण्ड १, सं० ४

५२. सरस्वती, सन् १९१६, भाग १७, सं० २

५३. सरस्वती, सन् १९१४, भाग १५, खण्ड २, सं० ४

५४. सरस्वती, सन् १९१४, भाग १५, खण्ड २, सं० २

५५. सरस्वती, सन् १९१९, भाग २०, सं० ३

५६. सरस्वती, सन् १९१९, भाग २०, खण्ड २, सं० ५

५७. सरस्वती, सन् १९१५, भाग १६, खण्ड १

५८. सरस्वती, सन् १९१४, भाग १५, खण्ड २

५९. सरस्वती, सन् १९१६, भाग १७, खण्ड २, सं० ४

६०. सरस्वती, सन् १९२३, भाग २४, खण्ड, २ सं०
६१. सरस्वती, सन् १९२३, भाग २४, सं० १
६२. आधुनिक काव्य धारा, डॉ० श्रीकृष्णलाल, पृ० १५४
६३. सरस्वती, भाग १६, खण्ड १, सं० २, सन् १९१५
६४. वही
६५. सरस्वती, सन् १९१६, भाग १७, खण्ड १ सं० ३
६६. सरस्वती, सन् १९१५, भाग १६, खण्ड १।
६७. मर्यादा—सन् १९१२, मई-अक्तूबर, भाग ४।
६८. सरस्वती—सन् १९१७, भाग १८, खण्ड १, सं० ४
६९. सरस्वती—सन् १९१४, भाग १५, खण्ड २, सं० ५
७०. हिन्दी कविता में युगान्तर, पृ० ३७५, डा० सुधीन्द्र (द्वितीय संस्करण)

इतिहास—विज्ञान अथवा कला

• गोविन्दजी

इतिहास विषयक तात्विक चर्चा का मुख्य केन्द्र योरोप ही रहा है। २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इंग्लैंड में इस विषय पर कि इतिहास विज्ञान है अथवा कला, बहुत जोरों से तर्क-वितर्क हुए। धीरे-धीरे इस समस्या ने सम्पूर्ण योरोप में विशेष रूप से जर्मनी में, एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया और वहाँ इतिहासकारों तथा दार्शनिकों के बीच वाद-विवाद का प्रमुख विषय बन गया। सन् १९०२ में जॉन बैगनेल बरी (Jhon Bagnell Bury, 1861-1927) ने कैम्ब्रिज में उद्घाटन भाषण देते हुए बड़ी दृढ़ता के साथ यह उद्घोषणा की कि "इतिहास एक विज्ञान है, इससे न कुछ कम न कुछ अधिक।"[1] अपने इसी भाषण में उसने यह विचार भी व्यक्त किया कि "जब तक इतिहास कला के रूप में मान्य रहा, सत्यता तथा शुद्धता के सिद्धान्त खरे नहीं उतर सके। ..... मैं आपको स्मरण दिला सकता हूँ कि इतिहास साहित्य की एक शाखा नहीं है।"[2] आक्सफोर्ड के प्रोफेसर यार्क पावेल (Prof. Yark Powell) ने भी इतिहास के सम्बन्ध में ऐसी ही धारणा व्यक्त की और कहा कि "नवीन इतिहास ऐसे व्यक्तियों द्वारा लिखा गया है जो यह विश्वास करते हैं कि इतिहास शुद्ध साहित्य का अंग नहीं है और न सर्वथा ललित, शिक्षाप्रद एवं मनोरंजक विवरण है, वरन् विज्ञान की एक शाखा है और अन्य विज्ञानों की भांति १९ वीं शताब्दी की देन है।"[3]

इतिहास सम्बन्धी इस दृष्टिकोण ने इस शताब्दी के विश्वविद्यालयों में एक प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया और इतिहास-लेखन में इसका शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का प्रभाव पड़ा।

इस आग्रह ने कि इतिहास कठोर, वैज्ञानिक मापदंडों और पद्धतियों से समन्वित एक विज्ञान है, सत्य के निर्णय तथा कथन में अधिक सतर्कता और सावधानी को प्रश्रय दिया एवं प्रत्येक घटना तथा प्रमाण के परीक्षण-निरीक्षण तथा निष्कर्षों तक पहुँचने में अधिक शुद्धता पर जोर दिया। निस्सन्देह इन सब ने इतिहास-लेखन के कार्य को अत्यन्त कठिन तथा इतिहास-पठन को कम रोचक बना दिया। दूसरी ओर, चूंकि इस दृष्टिकोण ने साहित्यिक प्रतिष्ठा को बहुत कम महत्व दिया, अतः इतिहास-पुस्तकों की एक बहुत बड़ी संख्या की रचना उन व्यक्तियों द्वारा हुई जिनको इतिहास की लेखन-शैली का बिलकुल ज्ञान ही नहीं था। उन्होंने इतिहास के नाम पर केवल तथ्यों का संकलन कर दिया था। फलस्वरूप मुद्रणालयों द्वारा इतिहास की अनेक अनगढ़, विकृत एवं अव्यवस्थित

रचनाएँ प्रकाशित हुईं और इतिहास-लेखन का कार्य एक अत्यन्त साधारण कोटि का कार्य बन गया।

किन्तु इतिहास सम्बन्धी इस कठोर एकेडेमिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विरुद्ध एक तीव्र श्रेयकर प्रतिक्रिया भी दो दिशाओं में हुई। भूतजगत् के अध्येता प्राकृतिक-दार्शनिकों का उत्तर था कि इतिहास विज्ञान से बहुत कम है और साहित्यिक इतिहासकारों का कथन था कि वह विज्ञान से बहुत अधिक है।

पहले वर्ग के आलोचकों का यह तर्क था कि विज्ञान की आधारभूत सामग्री के विपरीत इतिहास की सामग्री अनिश्चित और अनिर्धारणीय होती है, इतिहास के तथाकथित तथ्य का प्रत्यक्ष निरीक्षण नहीं हो सकता है, प्रयोग असम्भव है, प्रत्येक ऐतिहासिक घटना अपने ढंग की अकेली होती है और किसी भी स्थिति में उसको पुनरावृत्त नहीं कराया जा सकता; अतः इसके फलस्वरूप घटनाओं का न तो निश्चित वर्गीकरण किया जा सकता है और न इतिहास के सामान्य सिद्धान्तों की उद्‌भावना ही की जा सकती है, इतिहास की सामग्री अपेक्षतया जटिलतर होती है, इतिहासकारों में इस बात को लेकर मतवैभिन्य है कि क्या गौण है और क्या महत्वपूर्ण है; इतिहास में आकस्मिकता का तत्व ऐसा है जो उसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया को असत्य सिद्ध कर देता है और भविष्य-कथन असम्भव हो जाता है, और इन सबसे महत्वपूर्ण है व्यक्ति का अस्तित्व और उसके स्वेच्छाकृत प्रयास, जिनके कारण इतिहास को वैज्ञानिक भित्ति पर स्थापित करने की चेष्टा विफल सिद्ध होती है।[४]

दूसरे वर्ग के साहित्यिक इतिहासकारों का कथन था कि इतिहास, विज्ञान हो या न हो, वह कला अवश्य है। विज्ञान अन्वेषण तथा अनुसंधान द्वारा अधिक से अधिक इतिहास का कंकाल ही प्रस्तुत कर सकता है, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करने तथा सजीव बनाने के लिये साहित्यकार की कल्पना आवश्यक है और जब कंकाल एक बार सजीव हो जाता है तो उसे सुरुचिपूर्ण परिधान देने एवं प्रभावशाली बनाने के लिये कुशल लेखक की निपुणता आवश्यक होती है। वैज्ञानिक की मनोराग-रहित निस्पृहता इतिहास के लिये अपर्याप्त और अवांछनीय है क्योंकि उसका विषय है चैतन्य व्यक्तियों का क्रिया-कलाप। प्रसिद्ध इतिहासकार जी० एम० ट्रैवेल्यन के अनुसार "जो व्यक्ति स्वयं ही मनोराग अथवा उत्साह से रहित है वह दूसरे के मनोरागों पर शायद ही कभी विश्वास कर सकेगा और उन्हें समझ तो कभी नहीं सकेगा।[५]"

प्रश्न उठता है कि वे कौन से प्रमुख प्रभाव थे जिन्होंने सैद्धान्तिक इतिहासकारों को इतिहास की वैज्ञानिक विशेषता (Scientific Character) पर आग्रह के लिये बाध्य किया। वैज्ञानिक युग की प्रवृत्तियों को देखते हुए इस प्रश्न का उत्तर सहज ही दिया जा सकता है। प्रथमतः तो इस वैज्ञानिक युग की यथार्थता, शुद्धता एवं वस्तुपरकता पर बल देनेवाली प्रवृत्ति ने इतिहास की वैज्ञानिक विशेषता पर जमे रहने के लिये प्रेरित किया, फिर जर्मन चिन्तकों का प्रभाव भी कम नहीं पड़ा। किन्तु जो सब से महत्वपूर्ण बात थी और जिसका प्रभाव सर्वाधिक एवं अतिव्यापक रूप से पड़ा, वह थी भौतिक विज्ञान की उपलब्धियाँ। जैसा कि ट्रैवेल्यन ने लिखा है—"विज्ञान ने मानव जाति की आर्थिक एवं सामाजिक जीवन की काया पलट दी थी और शिक्षित व्यक्तियों के धार्मिक तथा विश्व-विज्ञान सम्बन्धी (Cosmological) दृष्टिकोण में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन

ला दिया था। भौतिक-विज्ञान की इन आश्चर्यजनक उपलब्धियों ने, पचास वर्ष पहले तक, बहुत से इतिहासकारों को इस बात को मानने के लिये प्रेरित किया कि यदि इतिहास को विज्ञान मानकर वैज्ञानिक पद्धतियों एवं आदर्शों से कार्य किया जाय तो इतिहास के महत्व तथा मूल्य में अभिवृद्धि हो जायगी।"[6] इसी सन्दर्भ में ट्रेवेल्यन ने प्रतिक्रिया स्वरूप अपना दृष्टिकोण भी व्यक्त करते हुए लिखा है––"मेरा विश्वास है कि यह अनुरूपता (इतिहास और विज्ञान की) सदोष है। क्योंकि मानव जाति का अध्ययन, परमाणु के भौतिक गुणों के अध्ययन अथवा जीव जन्तुओं के जीवन-इतिहास के अध्ययन के सदृश नहीं होता। यदि आपने किसी एक परमाणु के विषय में जान लिया तो सभी परमाणुओं के विषय में जान लिया और एक रॉबिन (Robin) के स्वभाव के विषय में जो कुछ सत्य है वही सभी रॉबिनों के स्वभाव के विषय में भी सत्य है। किन्तु एक व्यक्ति का जीवन-इतिहास अथवा बहुत से अलग-अलग व्यक्तियों के जीवन-इतिहास भी अन्य व्यक्तियों के जीवन-इतिहास को नहीं बता सकते। इसके अतिरिक्त, आप किसी एक व्यक्ति के जीवन-इतिहास का पूर्ण वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं कर सकते। वैज्ञानिक विश्लेषण के लिये मनुष्य बहुत ही जटिल, आध्यात्मिक और चित्रविचित्र है और एक व्यक्ति के जीवन-इतिहास से हज़ारों-लाखों व्यक्तियों के जीवन-इतिहास का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इतिहास वस्तुतः प्राप्तव्य तथ्यों के आधार पर अधिकांशतः अपूर्ण अनुमान का विषय है। और, यह उन बौद्धिक एवं आत्मिक शक्तियों का वर्णन करता है जिन्हें किसी विश्लेषण के अधीनस्थ नहीं किया जा सकता और न उस विश्लेषण को उचित अर्थ में विज्ञान ही कहा जा सकता है।"[7]

हमारे सम्मुख अब, इतिहास सम्बन्धी दो विरोधी धारणाएँ प्रस्तुत हैं––प्रथम, इतिहास एक विज्ञान है, न इससे कम और न इससे अधिक। दूसरी, इतिहास ज्ञान की व्यवस्थित शाखा नहीं है। अब हमें देखना है कि इन दोनों धारणाओं में वस्तुतः कौन सही है?

यहाँ यह निर्देश कर देना उचित होगा कि आजकल 'साइंस' शब्द का प्रयोग विशेषकर ऐसे विशुद्ध विज्ञानों (Exact Sciences) के लिये होता है जो प्रदर्शनीय अथवा पर्यवेक्षित तथ्यों तथा उनके व्यवस्थित ढंग से वर्गीकरण के आधार पर खोजे गये ऐसे सामान्य के प्रति ग्रहणशील होते हैं जिनसे समरूप तथ्यों के आधार पर विश्वसनीय निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इस प्रकार के व्यवस्थित विज्ञान का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है भौतिक विज्ञान। 'विज्ञान' (Science) शब्द का मूल अर्थ है ज्ञान का व्यवस्थित समवाय।[8] और इसी अर्थ में 'नीति विज्ञान' (Moral Science), 'धर्मशास्त्र विज्ञान' (Theological Science) में 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग होता है। किन्तु ऐसे विज्ञानों से निकाले गये निष्कर्ष शायद ही ऐसे हों जिन पर पूर्णरूप से विश्वास किया जा सके। लेकिन जिसे निश्चित, शुद्ध विज्ञान कहा जाता है वह भी एक अर्थ में उतना निश्चित नहीं होता। नवीन घटना-व्यापारों की खोज या नवीन शोध, पूर्व सिद्धान्तों में हमेशा परिवर्तन लाते रहते हैं। तब फिर सामाजिक विज्ञानों तथा नियमानुशील विषयों जैसे अर्थशास्त्र, नृविज्ञान, मनोविज्ञान के सम्बन्ध में ही क्या कहा जाय? यहाँ केवल यही कहा जा सकता है कि इतने संकुचित अर्थ में विज्ञान को सीमित कर देना स्पृहणीय नहीं है। सामाजिक विज्ञानों में न तो १९ वीं शताब्दी के भौतिक विज्ञान की कठोर नियमितता रहती है और न तो इसी कारण २० वीं शताब्दी के भौतिक विज्ञान में ही कोई कठोर नियमितता है। तब फिर वह क्या है जो इतिहासकार के

मस्तिष्क में पैठकर उसे इतिहास को विज्ञान मानने अथवा न मानने के लिये वाध्य करता है? ए० एल० रोजे (A. L. Rowse) के अनुसार वह वस्तु है इतिहासकार के मस्तिष्क में स्थित निश्चितता की भावना, विश्वसनीय वस्तुपरकता, (यद्यपि कि मूलभूत अर्थ में भौतिक विज्ञान में ही कौन सी वस्तुपरकता है) ज्ञान के रूप में व्यवस्थित होने की एक निश्चित क्षमता।[९]

इतिहास-रचना की पद्धतियों के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों की यह दृढ़ धारणा है कि इतिहास-रचना में भौतिक-विज्ञानों की पद्धति का अनुसरण करना चाहिये जब कि कुछ चिन्तकों का विश्वास है कि इसको अपनी विशिष्ट विषय-वस्तु के कारण अपनी निजी पद्धति का अनुगमन करना चाहिये। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ऐतिहासिक अनुसंधान और अध्ययन के लिये वे पद्धतियाँ अधिक हितकर हैं जो यथासम्भव वैज्ञानिक अर्थात् निश्चित, कठोर एवं व्यवस्थित हैं। इतिहास सम्बन्धी आधुनिक अध्ययन में ऐतिहासिक सामग्री के अधिक ठीक ढंग से परीक्षण-निरीक्षण करने की विधियों का बहुत अधिक विकास हो चुका है। एक समय जो इतिहासकार के कार्य-व्यापार के उपरकण मात्र थे वे अब अपने आप में एक विषय हो गये हैं, उदाहरणार्थ—जैसे, लिपिविज्ञान, कूटनीति, हस्तलेखों का अध्ययन और प्रलेखों के रूप आदि। पुरातत्व अपने आप में ज्ञान का भंडार हो गया है और अपनी वैज्ञानिक पद्धतियों एवं अभिनव सूचनाओं द्वारा इतिहास-संरचना में योग दे रहा है। अर्थशास्त्र, भूगोल आदि अनेक ऐसे विषय हैं, जो प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से इतिहासकार की सहायता करते हैं।

एच० पी० रिक्मैन (H.P. Rickman) के अनुसार इतिहास भौतिक-विज्ञानों की भाँति एक अनुभूत अनुशासन विद्या है और अन्वेषण की विविध पद्धतियों जैसे निरीक्षण, वर्गीकरण और अनुमानों के परिकल्पन और परीक्षण में उन्हीं के सदृश भाग लेता है।[१०] इतिहासकार उन पद्धतियों का प्रयोग कर सकता है, जो तुलनात्मक शरीर-रचना-शास्त्र की पद्धतियों के सदृश होती हैं। जैसे शरीररचना-शास्त्री कुछ अस्थियों के आधार पर एक प्राणी के शरीर का पुनर्निर्माण करता है, उसी प्रकार इतिहासकार भी किसी आश्रम के भवनावशेषों, यंत्रों, टूटे-फूटे बर्तनों तथा मुद्राओं द्वारा उसके जीवन को पुनर्निमित कर सकता है अथवा इतिहासकार किसी संस्था को एक विकास-क्रम में रखकर वैसे ही प्रकाश डाल सकता है जैसे एक जीव-शास्त्री प्राणी की एक नस्ल पर डालता है। इतिहासकार विभिन्न वर्गों की उन्नति-अवनति अथवा आर्थिक परिवर्तनों का परीक्षण करते समय अनुमान अथवा सांख्यकीय पद्धतियों का भी प्रयोग कर सकता है। इस प्रकार इतिहास की पद्धतियों में वैज्ञानिक पद्धतियों की बहुत सी सम्भावनाएँ निहित हैं।

निस्सन्देह, इतिहास और विज्ञान के इस क्षेत्र में विभिन्नताएँ भी हैं। मानव के क्रिया-कलाप भौतिक-कार्यावस्थाओं की अपेक्षा अधिक जटिल, कठिनता से विश्लेषणीय तथा निश्चित प्रदर्शन के लिये कम अभिगम्य होते हैं। इस कारण सम्परीक्षण बहुधा असम्भव हो जाता है तथा प्रामाणिकता के परीक्षण और प्रत्यक्षता के सत्याभास के लिये वे केवल अंशात्मक रूप में ही प्रयुक्त किये जा सकते हैं। किन्तु कुल मिलाकार ये अन्तर एक सापेक्ष स्थिति के विषय हैं और सिद्धान्त के प्रश्नों को नहीं उठाते। फिर भी, इतिहास और विज्ञान में एक महत्वपूर्ण भेद लक्षित किया जा सकता है। इतिहास का सम्बन्ध घटनाक्रम से होता है जिसकी प्रत्येक घटना अपूर्व होती है जब कि विज्ञान का—

[redacted]

सम्बन्ध निश्चित क्रम, वस्तुओं की प्रत्यक्षता तथा सामान्य नियमों के उद्देश्यों तथा नियमों द्वारा नियंत्रित नियमितताओं के संस्थापन से होता है। (यह भी मूलभूत अन्तर की अपेक्षा अभिव्यक्ति का विषय तथा अभिरुचि का केन्द्र अधिक जान पड़ता है) वैज्ञानिक को अपने कार्य के प्रसंगानुसार विशिष्ट प्रयोगों को स्पष्ट करना और कभी विशिष्ट घटनाओं--जैसे सौर-प्रणाली का उद्गम अथवा मानव का विकास---के अनुक्रमों का विस्तृत रूप से वर्णन करना आवश्यक है, यद्यपि कि उसका मुख्य सम्बन्ध उनमें सन्निहित नियमों से ही होता है। दूसरी ओर, इतिहासकार के लिये बार-बार घटित होने वाली घटनाओं के प्रारूपों, युद्धों, क्रान्तियों, साम्राज्य-संस्थापन के प्रयत्नों, शक्ति प्राप्ति निमित्त संघर्षों का वर्णन करना आवश्यक है, यद्यपि उसका सम्बन्ध घटनाओं के अपूर्व गुणों से उतना ही होना चाहिये जितना उनके बीच की समरूपताओं से। अतएव यदि हम ऐतिहासिक पद्धति—अप्रतिरूप घटनाओं की शृंखला का प्रस्तुतीकरण---तथा वैज्ञानिक पद्धति---नियमों की व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध ग्राह्यता—के बीच सूक्ष्म दृष्टि से अन्तर करें और फिर उन पर थोड़ा सा संयत ढंग से विचार करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि इतिहास और विज्ञान की वास्तविक नियमानुशीलताएँ (Discipline) दोनों पद्धतियों के सम्मिश्रण रूप में परस्पर उपयोगी होंगी।

ऐतिहासिक पद्धति तथा वैज्ञानिक पद्धति में ऊपर जो अन्तर लक्ष्य किया गया है वह बहुत कुछ ऊपर-ऊपर का है। दोनों में एक आन्तरिक अन्तर भी है। ऐतिहासिक पद्धति के क्षेत्र में एक ऐसा अवैज्ञानिक तत्त्व है जो उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना वैज्ञानिक तत्त्व। यह तत्त्व है इतिहासकार का अपने विषय एवं उपकरणों से सहानुभूति। जैसे एक कुशल शिल्पी को अपने निमित्त से, कुम्भकार को मिट्टी से, संगतराश को पत्थर से सहानुभूति एवं राग रहता है, वैसे ही इतिहासकार को भी अपने विषय एवं उपकरणों से राग होता है। इस प्रकार की रागात्मक बोधशक्ति इस बात की ओर इंगित करती है कि वह किन बातों से सतर्क रहे और किन बातों का अन्वेषण करे। कोई व्यक्ति अपनी ही कला या शिल्प के अनुशीलन एवं अभ्यास द्वारा अनेक जड़ सामग्रियों का मूल खोज निकालता है और अन्त में उसके भीतर एक ऐसी उदात्त कल्पना, आन्तरिक दृष्टि (Intuition) उत्पन्न हो जाती है जो अचानक किसी समस्या का स्पष्टीकरण कर देती है। यहाँ कोई उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या नहीं कर सकता, यद्यपि उसकी सन्तोषजनक व्याख्या सम्भव हो सकती है। किन्तु वह आने के लिये बाध्य है, वह किस क्षण आयेगी, इसकी भविष्यवाणी कोई नहीं कर सकता।[११]

इतिहास की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में यह परिस्थिति और भी जटिल है। जैसा कि ए० एल० रोंजे का मत है कि न तो बरी (Bury) के और न ट्रेवेल्यन (Trevelyan) के ही पृथग्भाव (Exclusiveness) को स्वीकार किया जा सकता है।[१२] इतिहास में विज्ञान का तत्त्व अवश्य है परन्तु प्रश्न है उसके पृथक् करने का और यह कहने का कि वह क्या है और क्या नहीं है। इतिहास, किसी भी हालत में शृंखलारहित वैयक्तिक तथ्यों अथवा अस्त-व्यस्त अक्रमिक घटनाओं का समवाय नहीं है। सभी इतिहासकारों ने, चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय के रहे हों कोई न कोई निष्कर्ष निकाला है और अपने वर्ण्य-विषय से सामान्य नियमों का निर्धारण किया है। यह बात इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि विषय की प्रकृति क्या होनी चाहिये। अन्य सामाजिक विज्ञानों—जैसे नृविज्ञान, मनोविज्ञान आदि की भाँति इतिहास भी

विवरणात्मक है किन्तु उसके कुछ सामान्य नियम भी होते हैं जो क्रमिक रूप से घटित होने वाली घटनाओं में देखे जा सकते हैं। इतिहास के तथ्य अस्त-व्यस्त कंकडों की तरह पृथक्कृत नहीं होते, वे प्रत्येक दिशा में परिणाम की उलझनों से शृंखलित होते हैं। कार्य-व्यापार की एक अवस्था दूसरी अवस्था को जन्म देती है तथा अपने पूर्व की अवस्था से जन्मी होती है, वे कारणतः परस्पर जुड़ी रहती हैं। इस बात का कारण बहुधा साधारण अथवा एक पक्षीय नहीं है, यह अर्थ नहीं होता कि वह (कारण) वहाँ नहीं है, इसका केवल यही अर्थ है कि वह समस्याओं को सुलझाने अथवा उनका स्पष्टीकरण करने के लिये अधिक दुर्बोध एवं जटिल है। इसी कारण इतिहास में योजनाहीनता एवं नमनीयता दिखाई देती है।

जीवन में जो व्यवस्था है, इतिहास अपने आप में उससे श्रेष्ठ कोई सिस्टम, कोई व्यवस्था नहीं बनाता। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसमें कोई व्यवस्थित तत्त्व है ही नहीं। उसमें कुछ ऐसे तत्त्व अवश्य हैं, जो वैज्ञानिक-विश्लेषण के योग्य हैं। किसी देश की जनता, उसकी जनसंख्या एवं सामाजिक विशेषता उस देश के इतिहास में तथा इतिहासकार के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण है। प्रश्न यह उठता है कि इतिहास-लेखन, में इतिहासकार व्यवस्थित-अव्यवस्थित तत्वों को एक साथ कैसे सँजोये ? इसका उत्तर है, उन दोनों पद्धतियों द्वारा जो परस्पर गुम्फित रहती है, एक पद्धति बौद्धिक और वैज्ञानिक है तथा दूसरी अन्तर्दृष्टीय एवं सौन्दर्यात्मक है। उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं वरन् वे एक दूसरे की पूरक हैं, एक-दूसरे को प्रदीप्त करनेवाली है। इतिहास का अथवा ऐतिहासिक संरचना एवं अध्ययन का सम्पूर्ण रहस्य, इतिहासकार की दृष्टि की द्वैतावस्था में सन्निहित रहता है। वह सर्वदा अपने विषय को दो दृष्टियों से देखता है— एक दृष्टि है विश्लेषणात्मक एवं वैज्ञानिक तथा दूसरी है वर्णनात्मक एवं सौन्दर्यात्मक। गिबन के पास अपने आँकड़े तथा अपने सामान्य नियम थे, किन्तु उसके पास एक कला भी थी, एक सौन्दर्यबोध भी था जिसके कारण वह जीवन का चित्र प्रस्तुत करने तथा सहानुभूति पैदा करने में सक्षम हो सका।

इतिहास में विज्ञान का तत्त्व प्रधान रहे या कला का, यह विषयवस्तु तथा इतिहासकार की रुचि पर निर्भर करता है। प्रारम्भिक मानव-इतिहास अथवा प्रागैतिहास के विश्लेषण में वैज्ञानिक तत्त्व का सर्वाधिक योग रहता है। वैयक्तिक-कार्य-व्यापारों के विश्लेषण की अपेक्षा जन-समूह के कार्यव्यापारों के विश्लेषण में इस तत्त्व का अधिक महत्व है। यद्यपि व्यक्ति के अध्ययन में भी एक सीमा तक विज्ञान का तत्त्व है, अन्यथा मनोविज्ञान क्यों होता ? और इसके विपरीत जन-समूह के अध्ययन में भी एक मूल्य-तत्व (Value element) है—नहीं तो देशभक्त, राजभक्ति और आत्म-बलिदान का अस्तित्व कहाँ रहता ? ये चीजें जटिल हैं और इनको सुलझाना सहज कार्य नहीं है, फिर भी इतिहास की प्रक्रिया को समझने के लिये दोनों तत्त्वों को मस्तिष्क में रखना आवश्यक है।

इतिहास निरा अमर्यादित अनुमान का विषय नहीं है। उसमें ऐसे क्षेत्र अवश्य हैं जहाँ प्रमाण एवं साक्ष्य के अभाव में अनुमान का सहारा लेने के अतिरिक्त हम कुछ नहीं कर सकते। कुछ अन्य ऐसे भी क्षेत्र हैं जहाँ अनुमान अथवा काल्पनिक व्याख्या ही उचित पद्धति है। किन्तु, इनके अतिरिक्त अन्य ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ आँकड़े संग्रहीत करना, सामान्य नियम निर्धारित करना,

नियमों से आवद्ध प्रवृत्तियों का निरीक्षण-परीक्षण करना ही उचित एवं संगत बात है। इतिहास के सामान्य क्षेत्र में भी कुछ सामान्य नियम सम्भव है। किसी समाज की आर्थिक परिस्थितियों अथवा विभिन्न वर्गों के सामाजिक सम्बन्धों पर मुद्रास्फीति (Inflamation) अथवा अपस्फीति (Deflamation) के प्रभाव की ही बात लीजिये। इतिहास में कुछ अंश तक यह नियमितता के साथ देखा जा सकता है कि मुद्रास्फीति का क्या प्रभाव है। साथ ही हम यह अनुमान अथवा भविष्यवाणी भी कर सकते हैं कि वे क्या होंगे। मुद्रास्फीति एक वर्ग से दूसरे वर्ग तक अभ्यस्त दायों (accustomed dues) में एक हलचल पैदा कर देता है; जो नौकरी-पेशा वाले हैं और जिनकी आमदनी निर्धारित है वे घाटे में रहते हैं तथा आर्थिक दृष्टि से नीचे गिर जाते हैं किन्तु जिनकी सम्पत्ति वास्तविक स्वामित्व में है, जैसे भूमि, मकान आदि उनको ऐसे समय में भारी लाभ होता है। यह नियम सभी प्रदेशों तथा कालों के लिये सत्य है। अपस्फीति का प्रभाव ठीक इसके विपरीत पड़ता है।

केवल आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं, इतिहास के अन्य क्षेत्रों में भी इस प्रकार की अन्य सामान्य प्रवृत्तियाँ द्रष्टव्य है। जैसा कि वरी का विचार है ये प्रवृत्तियाँ नियमित हैं और नियमों से भिन्न नहीं हैं। जब किसी देश की जनता सहयोग, शक्ति और आत्मबोध की एक निश्चित सीमा पर पहुँच जाती है तो अन्य देश के लिये वहीं की जनता को हमेशा के लिये अधिकृत कर लेना असम्भव-सा हो जाता है। यह राष्ट्रीयता एक आराध्य शक्ति होती है, जो इतिहास से निकाले गये निष्कर्ष के रूप में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। अपने देश भारतवर्ष की राष्ट्रीयता इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है।

वर्णनात्मकता एवं कलात्मक अन्तर्दृष्टि के विपरीत इतिहास में वैज्ञानिक तत्त्व—विश्लेषणात्मकता तथा बौद्धिकता—किस सीमा तक है, इस पर विचार-विमर्श करने के लिए समूह और व्यक्ति का विभेद महत्वपूर्ण है। जन-समूह के घटना-व्यापार ही वे विषय हैं जिन पर वैज्ञानिक विश्लेषण-पद्धति अधिक व्यवहार्य है। व्यक्ति अधिकांशतः अज्ञात, अपूर्वदृष्ट होता है, किन्तु वह भी, अब पूर्णरूप से अज्ञात नहीं रह गया। अन्यथा मनोविज्ञान की स्थिति ही कहाँ रहती अथवा सार्वजनीन रूप से 'मानव प्रकृति के ज्ञान' का प्रश्न कहाँ से उठता? यदि हम व्यक्ति की इच्छाओं, उसकी प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं के कुछ अंशों को जान जायँ, इससे भी अधिक यदि हम उसकी कुछ मानसिक ग्रन्थियों का ज्ञान प्राप्त कर लें, क्योंकि वे उसके अवचेतन मन की संक्रियाओं को उद्घाटित करती हैं—तो हम उसकी व्यवहार-पद्धति के सम्बन्ध में बहुत कुछ जान जायेंगे। समूह के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अधिक निश्चित है, क्योंकि अधिकांश मनुष्यों के सम्बन्ध में वैयक्तिक भेद, स्वभावगत विशेषताएँ समान समझ ली जाती हैं और वे बहुत कुछ उन शक्तियों के अनुरूप कार्य करते हैं, जो उन्हें प्रभावित करती हैं। किसी भी जागरूक देश के जीवन-अस्तित्व को कोई धमकी दे तो समूचा देश एक बनकर उससे लोहा लेने के लिए कटिबद्ध हो जायेगा। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे। किसी भी देश अथवा जाति के दमन का प्रयत्न करने पर एक निश्चित प्रतिक्रिया होगी। इसी प्रकार किसी मजदूर वर्ग की मजदूरी कम करने पर अथवा किसी सामाजिक-वर्ग विशेष की सम्पत्ति ले लेने का प्रयत्न करने पर, मेरा अनुमान है, एक ~~निश्चित~~ विश्वसनीय प्रतिक्रिया होगी, यद्यपि कि उस प्रतिक्रिया की प्रकृति एवं प्रभावशालिता

उस जनसमूह की शक्ति, उसकी आन्तरिक एवं वाह्य अवस्थाओं, तथा उसकी अवरोध शक्ति आदि पर निर्भर करेंगी।

इतिहास में सामूहिक कार्य-व्यापारों के क्षेत्र में जिस बात की चर्चा करना मेरा यहाँ लक्ष्य है और जो राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और संवैधानिक इतिहास में तथा राज्यों के सम्बन्धों में भी प्राप्य है वह है, जन-समूह के व्यवहार का सर्वप्रचलित पक्ष। यहाँ उनके वैयक्तिक रूपों—जैसे पिता का रूप, या कलाकार का रूप या प्रेमी का रूप आदि से कोई मतलब नहीं है। ये सब उनके चरित्र के व्यक्तिगत परिपार्श्वों से सम्बन्धित हैं और सम्भवतः सामाजिक इतिहास के अतिरिक्त किसी अन्य इतिहास से इनका सम्बन्ध बड़ी कठिनाई से जोड़ा जा सकता है; किन्तु जन-समुदाय के सामान्य व्यवहार के इस क्षेत्र में यह निश्चित है कि कोई व्यक्ति सर्वोत्तम ढंग से सामान्य सिद्धान्त बना सकता है और एक सीमा तक भविष्यवाणी भी कर सकता है। जन-समुदाय के अंगभूत व्यक्ति विशिष्ट गुण रखकर भी उसके अंग ही रहेंगे, वे उस जन-समुदाय के विशिष्ट गुणों की सीमा से बाहर नहीं किये जा सकते। वे सब अपने भौतिक एवं सामाजिक परिवेश द्वारा सीमित तथा परिबद्ध रहते हैं। मनुष्य वास्तव में, एक सामाजिक निर्मिति है। जाति और देश, धर्म और परिवार, मित्र और शिक्षालय जैसा उसे बनाते हैं वैसा वह बनता है और उसी रूप में वह विश्लेषण के योग्य है। इतिहास में वैयक्तिक कार्यों के निरीक्षण के लिए यही व्यावहारिक एवं समुचित दृष्टिकोण है। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की विशिष्टता रखते हुए भी इनसे परे नहीं हो सकता।

किन्तु इतिहास के सम्बन्ध में अवांछनीय रूप से सिद्धान्त स्थिर करना भी अधिक खतरे की चीज़ है। समस्या उस समय खड़ी होती है जब कि मानवीय घटनाओं की विविधता सिद्धान्तकार के प्रतिबन्धात्मक ढाँचे (Restrictive Frame-work) में आयासपूर्वक बिठाई जाती है। ऐसा करना इतिहास की वास्तविक प्रकृति के विपरीत जाना है। क्योंकि हर घटना नियम से नहीं बाँधी जा सकती और यदि किसी नियम से बाँधी भी जा सकती है तो उस नियम तक हमारी पहुँच नहीं है और न हमें उसका ज्ञान है। ऐसी घटनाओं को मात्र आकस्मिक अथवा अप्रत्याशित कह कर ही सन्तोष कर लेना पड़ता है।

जैसा ऊपर संकेत किया गया है कि इतिहास में एक महत्वपूर्ण बौद्धिक व्यवस्था है और जन-आन्दोलनों का निरीक्षण करते समय यह व्यवस्था अपने श्रेष्ठतम रूप में देखी जा सकती है। अत्यन्त संशयवादी दार्शनिक ह्यूम भी बहुत कुछ ऐसा ही सोचता है। यहाँ उसका मन्तव्य द्रष्टव्य है—"जो निर्णय कुछ व्यक्तियों पर आधारित होता है वह प्रायः आकस्मिक अथवा रहस्यमय अज्ञात कारणों के अधीन है और जो निर्णय, अधिकांश व्यक्तियों के आधार पर लिया जाता है उसके उत्तरदायी प्रायः निश्चित एवं ज्ञात कारण हो सकते हैं।"[१३] इस दृष्टि से इतिहास के सिद्धान्त सांख्यकीय सिद्धान्तों के सदृश होते हैं। एक व्यक्ति के विश्लेषण के आधार पर किसी प्रकार का निष्कर्ष निकालना असम्भव है, किन्तु अधिक व्यक्तियों के विश्लेषण द्वारा सामान्य नियम निर्धारित किये जा सकते हैं।

इतिहास-दर्शन के प्रमुख चिन्तक डिल्थे (Dilthey) ने प्राकृतिक विज्ञानों तथा मानव-अध्ययनों के बीच एक विशिष्ट अन्तर दिखाया है। उसका मन्तव्य है कि १९वीं शताब्दी के

अनुभववादियों (Empiricists) तथा प्रत्यक्षवादियों (Positivists) जैसे मिल, स्पेंसर तथा काम्ते की यह धारणा ग़लत है कि प्राकृतिक विज्ञान के पूर्वगृहीत सिद्धान्त एवं पद्धतियाँ मानव-अध्ययनों को बिना बदले वास्तविक रूप में हस्तान्तरित की जा सकती हैं। डिल्थे के अनुसार मानव-अध्ययन उस अर्थ में ज्ञान है जिस अर्थ में प्राकृतिक विज्ञान नहीं है, क्योंकि भौतिक वस्तुएँ, जैसा कि हम जानते हैं केवल बाहरी दिखावे हैं जब कि मस्तिष्क वास्तविक यथार्थता है। यह न तो बाह्य संसार की वास्तविकता को अस्वीकार करने का प्रयत्न है और न प्राकृतिक विज्ञान की जययात्रा को न मानने की बात है। ऐसी अनेक सुगम पद्धतियाँ हैं जिनसे हम भौतिक प्रकृति को अच्छी तरह जानते हैं अपेक्षाकृत मनुष्य अथवा समाज के जानने के। मनुष्य अथवा समाज के अध्ययन की अपेक्षा भौतिक प्रकृति के अध्ययन में हम वर्णन और विश्लेषण, व्याख्या और भविष्य-कथन अधिक निश्चितता से कर सकते हैं। दूसरी ओर, हम भौतिक वस्तुओं की प्रकृति और प्रक्रियाओं में प्रविष्ट नहीं कर सकते जैसा कि मानव प्राणियों एवं समाजों के सम्बन्ध में कर सकते हैं, जहाँ हमारे और अध्ययन-विषय के मध्य स्वरूपगत अथवा प्रकृतिगत तादात्म्य पर आधारित सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि हमें केवल वाह्य परिवर्तनों तथा क्रियाओं के ही विवेचन के योग्य नहीं बनाती वरन् उनके आन्तरिक कारणों तथा सम्बद्ध व्यक्तियों के प्रति उनके अभिप्रायों एवं अर्थों की व्याख्या के योग्य भी बनाती है। यही वह बात है जिसने डिल्थे को यह कहने के लिए प्रेरित किया कि मानवीय अध्ययन एक अर्थ में वास्तविकता का ज्ञान है जिस अर्थ में प्राकृतिक विज्ञान नहीं है।

डिल्थे का कथन है कि "इतिहास की आधारभूत सामग्री मस्तिष्क की केवल प्रव्यंजनाएँ ही नहीं हैं, वरन् उसी रूप में अनुभूत भी है और यही इतिहास विषयक अध्ययन और प्राकृतिक विज्ञान में ज्ञानवादी भेद उत्पन्न करता है। वैज्ञानिक, वस्तुओं एवं प्रक्रिया का निरीक्षण तो करता है किन्तु उनके भीतर की क्रियाशीलता अथवा चेतनता तथा गत्यात्मक सम्बन्धों का अनुभव नहीं करता। उनके कार्य-कारण सम्बन्धों का जो भी ज्ञान वह प्राप्त करता है, वह केवल परिकल्पन तथा प्रयोग पर आधारित होता है और परोक्ष सिद्धान्त के रूप में रहता है। किन्तु मस्तिष्क की प्रव्यंजनाएँ ऐसी प्राणमय अन्तःप्रेरणा है जिससे वे निःसृत होती है और जिस पर वे निरन्तर प्रत्याघात करती हैं। उन्हें एक गत्यात्मक प्रक्रियाओं के रूप में देखे बिना हम उनका बिल्कुल निरीक्षण नहीं कर सकते। उनके 'ऐतिहासिक' कहने का वस्तुतः यही अभिप्राय है। मस्तिष्क उसी को समझ सकता है जिसका उसने सृजन किया है। प्रकृति अथवा प्राकृतिक विज्ञान की लक्षित विषयवस्तु उस वास्तविकता को अंगीकार करती है जो मस्तिष्क की क्रियाशीलता में से स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होती है। प्रत्येक घटना जिस पर मनुष्य ने अपने कार्यों से मुहर लगा दी है, मानव अध्ययन का विषय बन जाती है।"[१४]

जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है, डिल्थे ने प्राकृतिक विज्ञानों एवं मानव अध्ययनों की पद्धतियों के बीच अति कठोर अन्तर बना रखा है। वस्तुतः शुद्ध और मूल रूप में ऐतिहासिक पद्धति और वैज्ञानिक पद्धति में एक सीमा तक कोई अन्तर नहीं है। दोनों में विभिन्न तथ्यों के संग्रह से सामान्य नियमों का निर्धारण किया जाता है और फिर नियमों के आधार पर सामान्य तथ्यों का विश्लेषण किया जाता है। इतिहास और विज्ञान दोनों शून्य से नहीं वरन् सामान्य ज्ञान तथा सक्रिय अनुमान से प्रारम्भ होते हैं और जैसे-जैसे हमारा ज्ञान आगे बढ़ता है वैसे-वैसे साक्ष्य

के अनुसार हमें अपनी परिकल्पना एवं अनुमान में संशोधन करना पड़ता है। इस प्रकार सामान्य नियम बनाये जाते हैं और वे सिद्धान्त जो तथ्यों की व्याख्या करते हैं, बहुधा महत्व प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु विज्ञान और इतिहास दोनों में नवीन उपलब्ध प्रमाणों के प्रकाश में सामान्य नियम हमेशा संशोधित भी होते हैं और तथ्यों के सामंजस्य में निरन्तर सँवारे भी जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इतिहास के अध्ययन में प्राकृतिक विज्ञानों के तत्त्व हैं अर्थात् इतिहास की सीमा में कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ वैज्ञानिक पद्धति अधिक संगत एवं उपयुक्त होती है। भौतिक तथा भौगोलिक परिस्थितियों तथा मानव जीवन पर उनके प्रभाव के अध्ययन में, आर्थिक तथा सामाजिक शक्तियों तथा समाज में जन-समूह के व्यवहारों और सापेक्षिक व्यवस्था पर उनके प्रभाव के विश्लेषण में, सामूहिक कार्यों के विभिन्न पक्षों के समझने में, यहाँ तक कि एक सीमा तक व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक विवेचन में भी वैज्ञानिक पद्धति उपयुक्त एवं संगत है।

किन्तु अन्ततोगत्वा इतिहास विश्लेषण के ये बौद्धिक प्रयास केवल वाह्य हैं। इतिहास की अन्तरात्मा, उसकी मूल प्रवृत्ति कहाँ है—इसका ज्ञान इनके द्वारा बहुत कम सम्भव है। इतिहास की यह अन्तरात्मा मनुष्य की आत्मा में स्थित रहती है, वह स्वयं जीवन का प्रकाश है और उसका चित्रण केवल कला द्वारा ही सम्भव है। किसी भी देश के अतीतकालीन विचारों, भावनाओं एवं जीवन-पद्धतियों की पुनर्प्राप्ति अत्यन्त ही कठिन, दुर्बोध एवं शैक्षणिक कार्य है। यह अनुमान पर आधारित सिद्धान्तों के चारों ओर नर्तन करने से अधिक महत्वपूर्ण एवं कठिन है। किसी भी देश के अतीत के जीवन अथवा व्यक्ति अथवा जन-समुदाय का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करने के लिए ज्ञान और कार्यनिष्ठा की आवश्यकता पड़ती है। ऐतिहासिक प्रमाण सत्य की जानकारी कराते हैं, किन्तु इसके लिए अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर्भेदी दृष्टि, व्यापक सहानुभूति, महत्कल्पना और अन्त में वर्णन-विधि में अतीत के जीवन को सजीव बनाने की कला अत्यन्त आवश्यक है जिसके अभाव में इतिहास मात्र एक कंकाल रह जाता है।[१५] इतिहासकार का कार्य एक उपन्यासकार के कार्य के सदृश सामान्य ज्ञान विवेचन से, अनुभव तथा बोधशक्ति द्वारा प्राप्त मानव-प्रकृति के ज्ञान से, सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि एवं सम्भाव्य कल्पना से अतीत के जीवन को यथार्थ रूप में उपस्थित करना होता है। तथापि जहाँ कल्पनात्मक बोधशक्ति (Imaginative Understanding) कार्य-कारण संबंधी व्याख्या में परिवर्तित अथवा उससे परिपूरित हो सकती है, वहाँ ऐसा होना चाहिए, और यदि इस कथन में कि 'इतिहास विज्ञान बनता जा रहा है' कुछ भी अर्थ है, तो बहुत अंशों में यही है कि उसका विकास कल्पनात्मक बोध से प्रक्रियात्मक बोध की ओर, सहजात दृष्टि से सुव्यवस्थित अभिज्ञान की ओर हो रहा है। जब तक यह प्रक्रिया गतिशील रहेगी, इतिहास और समाज शास्त्र के बीच की दूरी कम होती जायेगी और अन्ततः इतिहास व्यावहारिक समाजशास्त्र का स्वरूप धारण कर लेगा।

अन्त में, ऐतिहासिक पद्धति के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यह तीन विभिन्न पद्धतियों का संश्लिष्ट रूप है। वे तीन पद्धतियाँ हैं—वैज्ञानिक, परिकल्पनात्मक तथा साहित्यिक अथवा कलात्मक। उपलब्ध सामग्री का अनुसन्धान-अन्वेषण, उनसे प्राप्तव्य तथ्यों का संग्रहण आदि वैज्ञानिक पद्धति के अन्तर्गत आते हैं। फिर तथ्यों का चयन, उनका वर्गीकरण, सम्बन्ध और सिद्धान्त-निर्धारण, परिकल्पनात्मक पद्धति के अन्तर्गत आते हैं और अन्तिम, जो इतिहास की कला की सीमा

तक खींच ले आती है वह पद्धति है संवेदनात्मक, जिसके द्वारा विज्ञान और परिकल्पना के सम्प्रकाशन को आधार बना कर भावात्मक अभिव्यक्ति की जाती है। कोहेन (Cohen) ने इतिहास के आधुनिक आदर्श को स्वीकार करते हुए लिखा है—"अतीत के काल्पनिक पुनर्निर्माण का आदर्श जो अपने निर्धारणों में वैज्ञानिक तथा विन्यास में कलात्मक है, एक ऐसा आदर्श है जिसके लिये महान् से महान् इतिहासकारों ने हमेशा आकांक्षा की है।"[११] वास्तव में, इतिहास, इतिहासकार के बोधशक्ति की कल्पनात्मक प्रक्रिया है जो स्थिरता को जीवन तथा अर्थ प्रदान करती है। क्योंकि विगत जीवन को समझने का यही एक मार्ग है—और इतिहास हमारे लिये अतीत-जीवन का अभिलेखन करता है, जो मानव द्वारा किया गया है। अतः इसका मूलतत्व ऐसी वास्तविक घटनाओं तथा उनकी बहुस्तरीय विविधता में सन्निहित है, जो एक बार इस वास्तविक जगत् में घट चुकी है। इतिहासकार का कार्य उनका वर्णन करना है, उनको पुनर्निमित करना है। ऐसा करने के लिए उसमें कलाकार का गुण होना आवश्यक है। ऐतिहासिक पुनर्निर्माण की प्रक्रिया वास्तव में, कवि या उपन्यासकार की रचना प्रक्रिया से तत्वतः भिन्न नहीं होती, सिवाय इसके कि उसकी (इतिहासकार की) कल्पना सचेतन रूप से सत्य के अधीनस्थ रहती है। वह साक्ष्यों एवं प्रमाणों का उल्लंघन नहीं कर सकता और न उनके विरुद्ध जा सकता है। इतिहासकार का कार्य संयमी का कार्य है, एक शोधक की वृत्ति है।

इस सन्दर्भ में यह एक महत्वपूर्ण बात है कि अन्तर्दृष्टीय अवबोधन अथवा कल्पनात्मक अन्तर्प्रवेश की पद्धति सर्वदा से ही महान् इतिहासकारों की अपनी पद्धति रही है। हैरोदेत्स और थूसाइदिद्स, टेसिट्स और लिवी, ह्यम और गिबन, मैकाले और कार्लाइल सभी को कलाकार सुलभ कल्पना का वरदान प्राप्त था और वे महान् इतिहास लेखक माने गये हैं। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक पद्धतियों एवं उपलब्धियों से समन्वित होने के बावजूद भी इतिहास शुद्ध विज्ञान नहीं है, वरन् कला से समन्वित एक विशिष्ट ज्ञान-प्रक्रिया है।

सन्दर्भ-संकेत

१. It has not yet become superfluous to insist that history is science, no less and no more.—J. B. Bury : The Science of History (Varieties of History, edited by Fritz Stern, p. 210).

२. Moreover so long a history was regarded as an art, the sanctions of truth and accuracy could not be severe......I may remind you that history is not a branch of literature.—Ibid, page 212.

३. "Modern History today, then, shall mean what might perhaps be called the New History, as distinct from the Old History. The New History is history written by those who believe that history is not a department of 'belles-letters' and just an elegant, instructive and amusing narrative, but a branch of Science. This science like many other sciences

is largely the creation of the nineteenth century—Yark Powell (Reproduced from 'The Use of History' by A. L. Rowse, page 86).

४. नलिनविलोचन शर्मा : साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ० ५

५. The man, who is himself devoid of emotion or enthusiasm can seldom credit, and can never understand the emotions of others, which have nonetheless played a principal part in cause and effect.—G. M. Trevelyan : Clio Rediscovered (Varieties of History by Fritz Stern, p. 234)

६. Science had transmulated the economic and social life of mankind and had revolutionised the religious and cosmological outlook of educated world. These astonishing achievements of physical science led many historians, fifty years ago, to suppose that value and importance of history would be greatly inhanced if history was called a science, and if it is adopted scientific methods and ideals and none others.—G. M. Trevelyan. (Reproduced from "the Use of History" by A. L. Rowse)

७. I believe that this anology was faulty. For the study of mankind does not resemble the study of the physical properties of atoms, or the life history of animals. If you find about one atom, you have found out about all atoms, and what is true of the habits of one robin is roughly true of the habits of all robins. But the life history of one man or even of the many individual men, will not tell you the life-history of other men. Moreover you cannot make a full scientific analysis of the life-history of one man. Men are too complicated, too spiritual, too various for scientific analysis and the life history of millions cannot be inferred from the history of single man. History, in fact, is more a matter of rough guessing from all the available facts. And it deals with intellectual and spiritual forces which cannot be subjected to any analysis that can properly be called scientific. —G. M. Trevelyan (Reproduced from "The Use of History" by A. L. Rowse, page 92.).

८. R. G. Collingwood, The Idea of History, page 249.

९. I think they have at the back of their minds an idea of exactness, dependable objectivity (Though in an ultimate sense what objectivity is there even in physics ?), a certain capacity for being systematised as knowledge.—A. L. Rowse ("The Use of History") page 93.

१०. History like the Physical Science, is an empirical disciipline and

shares with them many methods of inquiry such as observation, classification and the framing and testing of hypotheses.—H. P. Rickman, Meaning in History (Introductory Part, page 33)

११. Even so, even in the realm of historical method, there is non-scientific element that is just as important. There is the feeling for the material such as any good craftsman must have for the medium he is working in, the potter for the clay, the mason for the stone.....There is sympathy of mind, love of the subject in and for itself, that kind of understanding that tells you what to beware of and what to look for : one derives all sorts of unconscious aids from the practice of one's craft....There is in the end, intuition: that leaps of the mind that suddenly suggests the explanation. One can not analyse it psychologically here, even if it is possible to analyse it satisfactorily at all.—A. L. Rowse : the Use of History, page 94-95.

१२. And again, with regard to content of history, the matter in itself, the situation is complex. I donot accept the exclusiveness of either Bury on one side or Trevelyan on other side—Ibid, page 95.

१३. What depends upon few persons is, in a great measure, to be ascribed to chance, or secret and unknown causes; what arises from a great number may often be accounted for by determinate and known causes. —Hume (Reproduced from The 'Use of History', page 106).

१४. The data of history not only are manifestations of mind, but are perceived as such, and this makes an epistemological difference between historical study and natural science. The scientist observes things and processes, but perceives no activity in them, no dynamic relationships. What he learns of their causal connections is learned by hypothesis and experiment and remains in the form of abstract law. But the manifestations of mind are instinct with the life from which they spring and upon which they continually react. We cannot observe them at all without seeing them as parts of a dynamic process, and this is the very thing that is meant by calling them 'historical'. Mind understands only what it has created. Nature, the object of natural science, embraces that reality which is produced independently of the activity of mind. Everything upon which man by acting has set his stamp form the object of the human studies.—Dilthey (Reproduced from 'The Use of History, p. 107-8).

A. L. Rowse 'The use of History', page 107-108.

१५. To recover some of our ancertor's real thoughts and feelings is the hardest, subtlest and most educative function that the historian can perform. It is much more difficult than to spin guesswork generalisations.... To give the true picture of any country or man or group of men in the past requires industry and knowledge, for only the documents can tell us the truth, but it requires also msight, sympathy and imagination of the finest, and last but not least the art of making our ancestors live again in modern narrative.—G. M. Trevelyan : Clio Rediscovered (Varieties of History, page 235).

१६. The ideal of an imaginative reconstruction of past which is scientific in its determinations and artistic in its formulation is the ideal to which the greatest of historians have ever aspired. —cohen : The meaning of human history, Page 34.

निरञ्जनी सम्प्रदाय— स्रोत और परम्परा

• परशुराम चतुर्वेदी

निरंजन वा "निरंजनी" कहे जाने वाले किसी सम्प्रदाय-विशेष को एक ऐसी धार्मिक परंपरा बतलाया गया है जिसका मूल स्रोत नाथ-पंथ है। कहते हैं कि इसका बहुत कुछ प्रभाव उड़ीसा प्रांत के अंतर्गत किसी-न-किसी रूप में अभी तक वर्तमान है। सत्रहवीं विक्रमी शताब्दी के मध्यकाल में स्थापित सिलहट के कतिपय पंथ भी इससे अनुप्राणित कहे गये हैं। अनुमान किया जाता है कि यह सम्प्रदाय सर्वप्रथम, कदाचित् उड़ीसा से ही आरंभ हो कर पूर्व की ओर भी पहुँचा होगा। इसका प्रचार कभी राजपूताना तथा पश्चिमी पंजाब में था। यह इस समय भी कम-से-कम पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तर भारत से चला गया नहीं कहा जा सकता।[1] फिर भी वैसे किसी "निरंजनी-सम्प्रदाय" का कोई प्रामाणिक इतिहास अभी तक उपलब्ध नहीं है। इस कारण यह कहना संभव नहीं कि उसका उद्‌भव, विकास तथा प्रसार क्रमशः किस प्रकार हुआ, न निश्चित रूप से यही बतलाया जा सकता है कि उक्त उड़ीसा वाले 'मूलरूप' तथा पश्चिमी भारत में आज कल पाये जाने वाले इस नाम के पंथ में कहाँ तक समानता अथवा भिन्नता है। कहा तो यह भी गया है कि राजस्थान वाले ऐसे मत के मूल प्रवर्त्तक स्वामी निरानंद निरंजन भगवान् निर्गुण के उपासक थे।[2] किंतु हमें उनका भी कोई परिचय नहीं मिलता, न यही पता चलता है कि उनका आविर्भाव कब हुआ। उनके मौलिक सिद्धांतों का रूप क्या था और उनका प्रचार किस ओर तथा किस प्रकार संभव हुआ। यदि इन निरानंद निरंजन भगवान् का जीवन-काल कहीं विक्रम की चौदहवीं शताब्दी तक तथा विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों के युग में सिद्ध किया जा सके और इनकी रचनाओं तथा साधना-पद्धति आदि का पूरा पता चल सके तो, उसे हम नाथ-पंथियों तथा संतों के बीच की एक लड़ी भी ठहरा सकते हैं।[3] परन्तु इस प्रकार की संभावना को भी केवल उसी दशा में प्रश्रय दिया जा सकता है, जब इस विषय में पूरी छान-बीन की जा सके तथा ऐसी यथेष्ट सामग्री के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन कर के कोई निश्चित निर्णय करने का कभी यत्न किया जाय।

राघोदास का मत—राघोदास दादू पंथी ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'भक्तमाल' के अंतर्गत, कहा है कि जिस प्रकार मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी, रामानुजाचार्य तथा निंबार्क ने 'महंत चक्कवै' के रूप में सगुणोपासना का प्रचार करने वाले चार भिन्न-भिन्न मतों का प्रवर्तन किया था, उसी प्रकार

कबीर, नानक, दादू और जगन ने भी पीछे चल कर 'अगुन, अरूप तथा अकल' की निर्गुणोपासना प्रचलित की तथा इन चारों ही की पद्धतियों का संबंध 'निरंजन' से रहा।[४] उनके ऐसे कथन द्वारा, यह भी प्रकट होता है कि ऐसे चौथे मत वा सम्प्रदाय के प्रवर्तक "जगन" नामक व्यक्ति को भी हम उसी प्रकार महत्व प्रदान कर सकते हैं, जिस प्रकार अन्य तीन मतों वालों को। इसी कारण, उन्होंने इनके विषय में आगे एक अन्य पंथ भी लिखा है और इन्हें वहाँ पर 'लपट्यौ जगन्नाथ' जैसा नाम देकर इनके निवास-स्थान आदि का परिचय देने की चेष्टा भी की है। परन्तु 'निरंजनी पन्थ बरनन' के शीर्षक से उन्होंने इस सम्प्रदाय का एक विवरण पृथक् रूप में भी दिया है। इससे पता चलता है कि इसके मुख्य प्रचारक संख्या में १२ थे। उन्होंने इनके नाम भी क्रमशः (१) लपट्यौ जगन्नाथदास; (२) श्यामदास; (३) कान्हड़दास; (४) ध्यानदास; (५) षेमदास; (६) नाथ; (७) जगजीवन; (८) तुरसीदास; (९) आनन्ददास; (१०) पूरणदास, (११) मोहनदास और (१२) हरिदास जैसे बतला दिये हैं। इन सभी बारहों को ही वहाँ पर उन्होंने 'महन्त' की संज्ञा प्रदान की है और यह भी कहा है कि ये कबीर का भाव रखने वाले वा उनसे प्रभावित थे।[५] उन्होंने इनमें से किसी के भी जीवन-काल का कोई उल्लेख नहीं किया है, न इनके पारस्परिक सम्बन्ध की ही ओर कोई संकेत किया है। इससे हमें न तो यह प्रकट हो पाता है कि ये सभी समसामयिक भी थे या नहीं, न यही कि इनमें से किसे सर्वप्रमुख समझा जाय। उन्होंने अपने एक छप्पय द्वारा इतना कह दिया है कि इनमें से 'जगन्नाथ थरोली' के रहने वाले थे, श्यामदास 'दत्तवास' के निवासी थे, कान्हड़-दास 'चाड़स' में रहते थे, आनंदास का स्थान 'लिवाली' था तथा क्रमशः मोहनदास का स्थान 'देवपुर' में, तुरसीदास की 'सेरपुर' में, पूरणदास का 'भंभोर' में, क्षेमदास का 'सिवहाड़' में, नाथ का 'टोड़ा' में, ध्यानदास का 'झारि' में तथा हरिदास का उसी प्रकार 'डीडवाणें' में था।[६] इसके सिवाय उन्होंने अन्यत्र यह भी बतलाया है कि इनमें से जगन्नाथदास बड़े संयमशील थे और नाम-स्मरण में निरत रहते थे। श्यामदास ऊँची स्थिति तक पहुँचे हुए साधक थे जिनके रोम-रोम से 'रंकार' की ध्वनि उठा करती थी। आनन्दास इन्द्रियजीत और विरक्त थे, कान्हड़दास कलाल-कुल में उत्पन्न थे, किन्तु अपने रहने की कुटी तक भी उन्होंने नहीं बनवायी। पूरणदास ने पिण्ड और ब्रह्माण्ड के रहस्य को जान लिया था और कबीर को अपना गुरु स्वीकार करके वे निरन्तर नाम-स्मरण में लीन रहे। षेमदास हिन्दू-मुस्लिम अथवा ब्राह्मण तथा अन्त्यज सभी को एक समान देखते हुए सदा सत्संग में प्रवृत्त रहा करते थे। इसी प्रकार ध्यानदास ने परब्रह्म विषयक अनेक रचनाएँ साखी, कवित्त और पदों के रूप में प्रस्तुत कीं। किसी रामदास के साथ 'झारि' नामक स्थान में रह कर ये अत्यन्त प्रसिद्ध हो गये। मोहनदास ने अपने अनुभव की बातें ठीक उसी प्रकार व्यक्त कीं जिस प्रकार काशी के कबीर ने की थी। नाथ सदा निरंजन में ही लीन रहने वाले साधक थे, तुरसीदास एक ब्रह्म-जिज्ञासु योगी थे और संयमशील जीवन व्यतीत करते थे। जगजीवन-दास बड़े ही सच्चरित्र और त्यागी थे। हरिदास की विशेषता यह थी कि उनकी कथनी और करनी दोनों उच्चकोटि की थीं तथा अपनी निर्मल वाणी द्वारा वे निराकार की उपासना करके 'निरंजनी' कहला कर प्रसिद्ध हुए।[७]

मूल प्रवर्तक कौन ?—परन्तु राघोदास ने अपने 'भक्तमाल' ग्रन्थ में जिन उपर्युक्त स्थानों

का उल्लेख किया है उनमें से सिवाय एक डीडवाणा के हमें अन्य किसी का भी कोई भौगोलिक परिचय अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। इसके सिवाय उन्होंने जो कुछ परिचय हमें उक्त १२ निरंजनी महन्तों का दिया है उसमें भी कोई ऐसा ऐतिहासिक तथ्य नहीं मिल पाता जिससे हम उनके किसी जीवनवृत्त का अनुमान कर सकें। उनके द्वारा किये गये 'लपट्यौ जगन्नाथ' अथवा 'जगन्नाथ' जैसे नामों का प्रयोग यह अवश्य सूचित कर सकता है कि ये कदाचित उसी पुरुष के लिए व्यवहृत हुए हैं जिसे 'जगन' कहा गया है। इसके कबीर, नानक तथा दादू—जैसे निर्गुणी पन्थ-प्रवर्तकों के नामों के साथ आने के कारण, इतना और भी अनुमान कर लेना सम्भव है कि कहीं इसके द्वारा अभिहित किया जाने वाला ही व्यक्ति निरंजनी सम्प्रदाय का सर्वप्रधान प्रवर्तक भी न हो।[८] 'जगन' का नाम सम्प्रदाय के उपर्युक्त १२ महन्तों में सबसे पहले लिया गया है। इसी प्रकार 'जगन्नाथदास' अथवा केवल 'जगन्नाथ' नाम के प्रयोग भी, क्रमशः वहाँ-वहाँ पर किये गये हैं, जहाँ सर्वप्रथम उनका स्वभावगत परिचय दिया गया है अथवा जहाँ उनके वास-स्थान 'थरोली' की चर्चा की गयी मिलती है। इससे उक्त अनुमान को और भी बल मिल सकता है, यद्यपि इस बात की पुष्टि किसी अन्य प्रमाणों से भी नहीं होती। इसके विपरीत इस सम्बन्ध में बहुत-से लोगों की धारणा यह भी पायी जाती है कि वास्तव में इस सम्प्रदाय के मूल-प्रवर्तक हरिदास निरंजनी थे जिन्हें राघोदास ने उक्त महन्तों की तालिका में १२ वां अथवा अन्तिम स्थान दिया है। ऐसे मत के समर्थकों में प्रसिद्ध दादू-पन्थी सन्त सुन्दरदास (सं० १६५३–१७४२) तथा रामसनेही सन्त रामदास (सं० १७८३–१८५५) जैसे लोगों के भी नाम लिये जा सकते हैं। जिन्होंने इस बात की चर्चा अपनी रचनाओं में की है। तदनुसार इनमें से प्रथम ने जहाँ इन्हें दत्तात्रेय, गोरखनाथ, कंथड़ और कबीर तक की श्रेणी में स्थान दिया है[९] वहाँ द्वितीय ने इन्हें न केवल पन्थ का प्रवर्तक जैसा बतलाया है, प्रत्युत इनके ऐसे बावन शिष्यों की भी चर्चा की है, जिन्होंने 'निरंजन की छाप' लेकर माया का त्याग कर दिया और जो इस प्रकार अत्यन्त भाग्यशाली भी सिद्ध हुए।[१०] परन्तु सन्त सुन्दरदास के ऐसे कथन से केवल इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि निरंजनी सम्प्रदाय वालों में स्वामी हरिदास श्रेष्ठ महापुरुषवत् अपना लिये गये थे, यद्यपि इस सम्बन्ध में उनके यहाँ कोई 'विवाद' का चलना भी प्रतीत होता है। इसी प्रकार सन्त रामदास द्वारा यहाँ प्रयुक्त "द्वादस पन्थ"—जैसे शब्द से भी ऐसा सूचित होता है जैसे कदाचित् निरंजनी सम्प्रदाय की १२ भिन्न-भिन्न शाखाएँ प्रचलित रही हों तथा ये इनमें से केवल किसी एक के ही प्रवर्तक रहे हों। फिर भी इस समय हमें जो कुछ सामग्री उपलब्ध होती जा रही है उससे स्वामी हरिदास को ही इस सम्प्रदाय का आदि प्रवर्तक मानने की प्रवृत्ति होती है। ऐसी दशा में, किसी 'जगन' को यह श्रेय प्रदान करने के विषय में राघोदास का कथन केवल भ्रमात्मक भी बन जाता है। उसका विचार तभी हो सकता है, जब उसके समर्थन में कोई और भी प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकें।

हरिदास का जीवन-काल—स्वामी हरिदास के सम्बन्ध में चर्चा करते समय पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने लिखा है, "ये हरिदास जी प्रथम प्रागदास जी के शिष्य हुए, फिर दादू जी के। फिर कबीर और गोरख-पन्थ में हो गये। फिर अपना निराला पन्थ चला दिया।"[११] उनका कहना है कि यह बात केवल दादूपन्थियों में प्रसिद्ध है, निरंजनी इसे नहीं मानते। प्रागदास जी दादू दयाल के प्रधान शिष्यों में अन्यतम थे। इनका देहान्त कार्तिक बदी ६ बुधवार सं० १६८८ को डीडवाणे

में हुआ था। कुछ पुराने पत्रों की प्रतिलिपियों से यह भी जान पड़ता है कि हरिदास जी ने इनसे सं० १६५६ के जेठ में दीक्षा ली थी।[१२] इस प्रकार, यदि दादू-पन्थियों का उक्त कथन स्वीकार कर लिया जाय तो, हमें यह भी अनुमान कर लेना पड़ सकता है कि इन्होंने अपना नया निरंजनी पन्थ, इसके कुछ काल अनन्तर अर्थात् सम्भवतः दादू-पन्थ में कुछ दिनों रहकर तथा फिर क्रमशः कबीर-पन्थ तथा गोरखपन्थ का भी अनुयायी रह चुकने के उपरान्त ही चलाया होगा और ये इसके पीछे तक भी जीवित रहे होंगे। इस बात की पुष्टि स्वयं इनकी ही एक साखी से होती जान पड़ती है, जिसमें इन्होंने अकबर का नाम लिया है। इन्होंने वहाँ पर कहा है, "छह चक्रवर्ती मुचकुन्द, विक्रम, भोज, सामन्त पृथ्वीराज चौहान अब कहा रहे और अकबर 'नौरोज' भी नहीं रह गया।"[१३] इसका 'अकबर नौरोज' यदि सम्राट अकबर (मृ० सं० १६६२) से अभिन्न हो तो हमें यह भी स्वीकार कर लेना पड़ सकता है कि इनका देहान्त सं० १६६२ के कुछ काल पीछे हुआ होगा। 'अकबर' शब्द के साथ यहाँ पर प्रयुक्त 'नौरोज' शब्द के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इसकी उपयुक्तता सम्राट अकबर द्वारा प्रचलित किए गए पारसियों के 'नौरोज़' नामक वार्षिकोत्सव के आधार पर सिद्ध की जा सकेगी। इसके सिवाय, निरंजनी सम्प्रदाय के अनुयायियों की ओर से प्रकाशित की गई 'हरिपुरुष जी की वाणी' की 'भूमिका' में भी स्वामी हरिदास के जीवन की कतिपय घटनाओं का उल्लेख करके इनकी मृत्यु का सं० १७०० की फाल्गुन सुदी ६ को होना लिखा है।[१४] इससे भी इस मत का ही समर्थन होता जान पड़ता है और इनका जीवन-काल, अधिक-से-अधिक विक्रम की १७ वीं शताब्दी के अन्त तक चला जाता है।

परन्तु, इधर उपलब्ध कतिपय सामग्रियों के आधार पर यह समय इससे पहले भी ले जाया जा सकता है। उदाहरण के लिए हरिरामदास (सम्भवतः १८वीं विक्रमी शताब्दी) द्वारा रचित 'हरिदास जी की परचई' से पता चलता है कि स्वामी हरिदास का जन्म सं० १५१२ की फाल्गुन सुदी ६ को हुआ था। इन्होंने सं० १५५६ की बसन्तपंचमी को दीक्षा-ग्रहण की थी तथा सं० १६०० के फाल्गुन मास की शुक्ला षष्ठी को डीडवाणे में इनका देहान्त हो गया।[१५] इसी प्रकार किसी पूर्णदास (सम्भवतः २०वीं विक्रमी शताब्दी) द्वारा नवलगढ़ में किये गये एक उल्लेख से जान पड़ता है कि इन्होंने सं० १४७४ में जन्म लिया था तथा सं० १५९५ की फाल्गुन सुदी ६ को इनका देहान्त हुआ।[१६] इस बात का समर्थन 'मन्त्रराज प्रभाकर' के एक अन्य ऐसे प्रसंग से भी हो जाता है।[१७] इसके सिवाय स्व० जगद्धर शर्मा गुलेरी द्वारा बतलाये गये हरिदास जी के रचनाकाल सं० १५७७–९७ : सन् १५२०–४० ई०[१८] की भी संगति इस मत के साथ बैठ जाती है और हमारा यह अनुमान कर लेना उचित हो जाता है कि ये सं० १६०० के पहले रहे होंगे। यहाँ पर उल्लेखनीय यह है कि इनके मृत्यु-काल के मास तथा तिथि का उल्लेख इन चारों मतों में एक ही प्रकार किया गया मिलता है। सभी के अनुसार महीना फागुन का था और तिथि उसके शुक्ल पक्ष की षष्ठी रही। केवल पुरोहित हरिनारायण द्वारा उद्धृत पत्रों में लिखा मिलता है "श्री स्वामी प्रागदास जी का सिष हरिदास जी निरंजनी संवत १६७० के मिति फागण सुदि ६ रामसरणि हुवा[१९] तथा 'श्री हरिपुरुष की वाणी' में यह सं० १७०० और 'हरिदास की परचई' में सं० १६०० और पूर्णदास तथा 'मन्त्रराज प्रभाकर' के अनुसार, सं० १५९५ हो जाता है जिससे भ्रान्ति उत्पन्न होने लगती

है। यदि तिथि के साथ यहाँ पर किसी वार का भी उल्लेख कर दिया गया होता तो इस बात की परीक्षा सरलतापूर्वक हो जाती कि इनमें से किस संवत को स्वीकार किया जाय। ऐसी दशा में, यदि स्वामी हरिदास के जीवन-काल को विक्रम की १६वीं शताब्दी में स्वीकार करना चाहें, तो हम यह भी कह सकते हैं कि जिन पुराने पत्रों की प्रतिलिपियों के आधार पर इनका प्रागदास का शिष्य होना तथा इनकी मृत्यु का सं० १६७० में होना कहा जाता है उनकी सम्यक् छानबीन होनी चाहिए। इनके द्वारा स्वयं रचित कही जाने वाली उपर्युक्त साखी को या तो प्रक्षिप्त मान लेना चाहिए अथवा इस बात की ओर भी ध्यान दे लेना चाहिए कि सम्राट् अकबर को कहीं अन्यत्र भी इस प्रकार 'अकबर नौरोज' कहा गया नहीं मिलता, जिस कारण हम इसे किसी अन्य व्यक्ति के लिए प्रयुक्त भी ठहरा सकते हैं। इसी प्रकार हम पन्द्रहवीं शताब्दी में इनके जन्म-ग्रहण करने के आधुनिक उल्लेखों को भी अधिक महत्व न देकर ऐसा कह सकते हैं कि सोलहवीं शताब्दी के पक्ष-वाले मत को उसके इस सम्प्रदायवालों द्वारा अधिकतर मान्य होने के कारण, तब तक मान लिया जा सकता है। स्वामी हरिदास का जीवन-काल सं० १५१२-९५ स्वीकार कर लेने पर सन्त सुन्दरदास द्वारा इनके लिए किसी प्राचीन मत-प्रवर्तक जैसा कहा जाना सुसंगत बन जाता है, क्योंकि वे यों अपने समकालीन के सम्बन्ध में नहीं कह सकते थे। इसके साथ ही स्वयं इनकी कतिपय मान्यताओं में लक्षित होने वाली उस विचार-धारा का भी कुछ-न-कुछ समाधान हो जाता है, जो हमें पुरानी-सी लगती है।

जीवन-वृत्त—कहा जाता है कि स्वामी हरिदास जन्म से शाखला गोत्र के क्षत्रिय थे। ये डीडवाणा परगने के 'कापड़ोद' नामक गाँव में जो वर्तमान 'कोलिया' के उत्तर-पूर्व दो कोस की दूरी पर आज भी स्थित है, उत्पन्न हुए थे। इनके माता-पिता के नाम हमें विदित नहीं, किन्तु पता चलता है कि इन्होंने आरम्भ में वैवाहिक जीवन भी व्यतीत किया था। इनका अपना पूर्व नाम हरिसिंह था। प्रसिद्ध है कि ये लगभग ४५ वर्ष की अवस्था तक कभी-कभी दुर्भिक्ष आ जाने पर लूटपाट का काम भी किया करते थे। एक दिन, जब ये अपने कुछ साथियों के साथ ऐसे कार्य में प्रवृत्त थे, इनकी भेंट किसी महात्मा से हो गई जिनके द्वारा न केवल इन्हें किसी वैसे कुकृत्यों से विरत होने की शिक्षा मिल गई, अपितु जिन्होंने इन्हें आध्यात्मिक चिन्तन की ओर प्रवृत्त भी कर दिया। इन्होंने उसी समय अपने शस्त्रादि पास के 'खोसल्ये कुएँ' में डाल दिये और फिर ये 'तीखी डूंगरी' नामक पहाड़ी की ओर चल पड़े। ये वहाँ की किसी गुफा में रहते हुए निरन्तर बहुत दिनों तक साधना करते रहे और इनके भोजनादि का प्रवन्ध किसी-किसी प्रकार हो जाता रहा। कुछ दिनों तक तो वहाँ डीडवाणे के निवासी गाढ़ा वियाणी नामक एक श्रद्धालु पुरुष ने इनके लिए भोजनादि की व्यवस्था की। उन्हीं के विशेष आग्रह पर ये फिर वहाँ से उस नगर की ओर पधारे और उसके उत्तर वाले जङ्गल में निवास करने लग गये। तत्पश्चात् ये फिर वहाँ से भी कुछ दिनों के लिए देश-भ्रमण की इच्छा से निकले और क्रमशः नागोर, अजमेर, टोडा, जयपुर तथा शेखावाटी जैसे कई स्थानों से होते हुए, अन्त में वहीं पर लौट आये। इनके पर्यटन-काल वाली घटनाओं का विस्तृत विवरण राघोदास की 'भक्तमाल', उस पर की गयी चक्रदास की टीका तथा अन्यत्र कई स्थलों पर भी पाया जाता है। वह अधिकतर चमत्कारों से भरा हुआ अथवा विविध काल्पनिक बातों

से पूर्ण भी कहा जा सकता है। रघुनाथदास द्वारा रचित 'परचई' से पता चलता है कि इनका जन्म सं० १५१२ में, गृह-त्याग तथा साधना का आरम्भ सं० १५५६ में, साधना की पूर्ति सं० १५७० में, देश-भ्रमण के अनन्तर डीडवाणे में निवास सं० १५८० में तथा लगभग ८८ वर्ष की आयु पाकर वहीं पर देहावसान सं० १६०० में सम्भव है।[२०] स्वामी हरिदास ने समय-समय पर जो उपदेश दिये थे उनका एक अंश इनकी उपलब्ध रचनाओं में प्राप्त होता है। ये रचनाएँ इनकी 'वाणी' के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं और इनमें इनके ४७ 'लघु ग्रन्थ' भी संगृहीत हैं, जिनमें से केवल दो गद्य में और शेष पद्य में हैं। इनके अतिरिक्त उसमें इनके बहुत-से पद हैं, जो रागों के अनुसार दिये गये हैं। इनके कवित्त, कुण्डलियाँ और चान्द्रायण, जैसे छन्दों के अनन्तर इनकी साखियों को भी स्थान मिला है जिनकी संख्या कम नहीं है।

शिष्य-प्रशिष्य और थांवे—स्वामी हरिदास के उपदेशों के प्रभाव में आकर अनेक व्यक्तियों ने इनसे दीक्षा ग्रहण कर ली थी। इस प्रकार इनके द्वारा दीक्षित अथवा किसी-न-किसी प्रकार पूर्ण रूप से प्रभावित शिष्यों की गणना ५२ तक की जाती है। यह संख्या ५२ ही क्यों हो सकती है और इससे कम वा अधिक क्यों नहीं ठहरायी जाती। इस बात का समाधान करते हुए कहा गया है कि "वैष्णवों में 'बावन' द्वार माने जाते हैं" तथा इन बावन द्वारों का अनुकरण वैष्णव सम्प्रदाय से पीछे बनने वाले सम्प्रदायों ने बावन शिष्यों के रूप में किया[२१] होगा और इस अनुमान की पुष्टि अन्यत्र भी होती है।[२२] कुछ 'परंपराओं' के अनुसार हमें इनके इन ५२ शिष्यों के नाम दिये गये भी मिलते हैं, किन्तु उनकी ऐसी तालिकाएँ आपस में पूरा मेल नहीं खातीं जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि इस विषय में कुछ-न-कुछ मतभेद भी चला आ रहा होगा। 'भाऊदास जी की गूदड़ी' से जान पड़ता है कि निरंजनी-सम्प्रदाय के जिन अन्य ११ 'महन्तों' की चर्चा राघोदास ने अपने 'भक्तमाल' ग्रन्थ में की है उनका भी महत्व कुछ कम नहीं था, किन्तु उन्हें वहाँ पर स्वामी हरिदास (हरिपुरुष जी) की अपेक्षा किञ्चित गौण स्थान प्रदान किया गया है[२३] उन्हें अन्यत्र इनका अनुगामी होना अथवा उनमें से कम-से-कम षेम जी, नाथ जी, मोहनदास जी, पूर्णदास जी और जगजीवनदास जी जैसे कुछ लोगों का तो इनका शिष्य होना 'सिद्ध' तक बतलाया गया है।[२४] इस प्रकार के कथन का समर्थन, कुछ अंशों तक उनकी रचनाओं द्वारा अवश्य हो जाता है, किन्तु जब तक कोई ऐसा ऐतिहासिक तथ्य भी न उपलब्ध हो, न उसके आधार पर किसी प्रकार कोई प्रामाणिक 'वंशावली' निर्मित की जा सके, तब तक इस विषय में अन्तिम निर्णय सम्भव नहीं है। अभी तक केवल उतना ही कहा जा सकता है जितना उनकी उपलब्ध रचनाओं के आधार पर अनुमान किया जा सकता है। तदनुसार जगजीवनदास के लिए कहा जा सकता है कि उन्होंने कबीर को स्पष्ट रूप से अपना 'गुरु' स्वीकार किया है,[२५] ध्यानदास ने 'गोपाल' को गुरु कहा है।[२६] षेमदास ने अपना गुरु हरिदास जी को बतलाया है[२७] तथा शेष लोग भी कदाचित् इसी प्रकार कथन करते दीख पड़ते हैं। केवल इसी के आधार पर सभी को एक दूसरे का गुरु-भाई ठहराना युक्ति-संगत नहीं कहा जा सकता।

कहा गया है कि स्वामी हरिदास जी का देहावसान हो जाने के अनन्तर प्रायः एक शताब्दी के समय तक इनके शिष्य-प्रशिष्य अधिकतर पूरी वैराग्य-वृत्ति को अपनाने वाले हुआ करते थे।

उनकी 'साज-सज्जा' केवल एक गूदड़ी और पात्र तक ही सीमित रही तथा जहां तक पता चलता है ऐसा कोई स्थान कदाचित् ही मिल सके जो इसके पहले बना हो। डीडवाणे में निर्मित इनकी समाधि तथा एकाध अन्य शालाएं भी सम्भवतः शताब्दी के अन्त वा १८ वीं के आरम्भ की बनी होनी चाहिए। इसके अनन्तर सम्प्रदाय के अन्तर्गत अपने प्रचार तथा विस्तार की प्रवृत्ति विशेष रूप से जाग्रत हुयी। इसके अनेक योग्य आचार्यों ने सम्भवतः इसी काल में अपनी विविध रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं। इस समय तक हमें इस बात के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता कि स्वामी हरिदास जी का कोई उत्तराधिकारी बना हो अथवा इनकी ऐसी कोई आचार्य-परम्परा चली हो जिसके अनुसार यह कहा जा सके कि इनकी किसी गद्दी पर अमुक-अमुक महन्त क्रमशः रहते चले आए हैं। जहां तक पता है कि एक 'परिवार' वा वंशानुक्रम डीडवाणे के प्रसिद्ध **'विरक्त वाडे' में पाया जा सकता है जो अमर पुरुष जी के पीछे चला है।** ये अमर पुरुष स्वामी हरिदास के शिष्य बड़े पेम जी की छठी पीढ़ी में हुए थे और इनका जीवन-काल सं० १७५५ से १८४२ तक रहा। ये एक सिद्ध पुरुष कहे जाते हैं और इनके शिष्यों की संख्या ९६ तक बतलायी जाती है। इसी प्रकार, कहते हैं कि डीडवाणे के अतिरिक्त नागौर, बीकानेर तथा जोधपुर के अन्तर्गत भी कुछ ऐसी परम्पराएं स्थापित हो गयी जो अभी तक चल रही हैं। इस प्रकार के स्थानों को प्रायः 'मण्डल' की संज्ञा दी जाती है जिनमें से दो शेखावाटी तथा एक मेड़ता को भी लेकर ७ विशेष प्रसिद्ध हैं। फिर भी ऐसा अनुमान किया जाता है कि सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या में क्रमशः ह्रास होता जा रहा है जो १९वीं शताब्दी के अन्त से दीखता है।[२८]

साम्प्रदायिक साहित्य—निरंजनी सम्प्रदाय की विशेषताओं में इसके विशाल साहित्य का भी उल्लेख किया जा सकता है। स्वामी हरिदास जी की रचनाओं की चर्चा इसके पूर्व की जा चुकी है और हमने यह भी देखा है कि उनमें कितनी विविधता लक्षित होती है। उनकी 'वाणी' के अतिरिक्त हमें तुरसीदास, मोहनदास, ध्यानदास, कल्याणदास, सेवादास, नरीदास, आत्माराम, और रूपदास आदि अनेक अन्य निरंजनी लोगों की वाणियाँ भी प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं। इनमें से तुरसीदास की रचनाओं में से केवल साखी भाग में ही दो सौ प्रकरण (अंग) पाये जाते हैं जिनमें ४२०२ साखियाँ संगृहीत हैं। इसी प्रकार, इनके चार 'लघु' ग्रन्थ हैं, ४४१ पद हैं, जो २९ राग-रागनियों में विभाजित हैं तथा उनकी कुल संख्या प्रायः ६ सहस्र तक पहुँच जाती है। सेवादास जी (सं० १६९७–१७९८) की वाणियों की संख्या तो इससे भी बड़ी जान पड़ती है, क्योंकि इनकी ५७ अंगों में विभाजित साखियाँ ३५६१ हैं। इनके 'लघु ग्रन्थ' १० हैं, कुण्डलियाँ ३९९ हैं। इसी प्रकार इनके २० छप्पय, ४ सवैये, १३४ चान्द्रायण, ४४ रेखतों तथा ४०२ पदों को लेकर इनकी कुल रचनाओं का जोड़ दोहे-छन्द के ८ सहस्र से भी अधिक तक पहुँचता है। इसी प्रकार उपर्युक्त अन्य ऐसे निरंजनी सन्त कवियों की उपलब्ध रचनाओं के सम्बन्ध में भी कुछ न कुछ विवरण उपस्थित किये जा सकते हैं। इसके सिवाय इन वाणियों के साथ-साथ कुछ ऐसी अन्य प्रकार की रचनाएँ भी मिलती हैं जिन्हें अनुवाद-साहित्य के अन्तर्गत स्थान दिया जा सकता है। इनमें प्रसिद्ध भगवानदास निरंजनी की, जैसी उपलब्ध पुस्तकें गिनी जा सकती है। इन भगवानदास निरंजनी के कतिपय ग्रन्थ 'अमृतधारा', 'विचार माला' तथा 'अनभै हुलास'—जैसे भी मिलते हैं। इनमें दादू-पन्थी निश्चलदास की भाँति वेदान्त-सम्बन्धी विषयों पर मत प्रकट किया गया है। इस कोटि

की अन्य रचनाओं में षेम जी मनोहरदास जी (सम्भवतः सं० १७१७ के आसपास) तथा हरिरामदास जी आदि की कुछ पुस्तकों के भी नाम लिये जा सकते हैं। हरिरामदास जी की एक पुस्तक 'छन्द रत्नावली' भी बतलायी जाती है, जिसका सम्बन्ध छन्द-शास्त्र से है। इसी प्रकार प्यारेराम जी, रघुनाथदास जी, पूर्णदास जी तथा जानकीदास जी आदि कुछ लोगों ने ऐसे ग्रन्थ भी लिखे हैं जिन्हें 'भक्तमाल', 'परचई' अथवा जीवन-चरित कहा जाता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों में एक नाम निपट निरंजन स्वामी का भी लिया जाता है। इनका जन्म संवत कहीं १५९६[२९] और कहीं १६५०[३०] तक दिया गया मिलता है तथा जिन्हें महर्षि शिवव्रतलाल ने दौलताबाद का रहने वाला बतलाया है।[३१] कहते हैं कि ये मूलतः गौड़ ब्राह्मण थे, अधिकतर काशी में रहा करते थे और स्वभाव के बड़े अक्खड़, स्पष्टवादी और निर्भीक थे। इनकी दो रचनाएँ 'शान्त सरसी' तथा 'निरंजन संग्रह' प्रसिद्ध हैं जिनमें से प्रथम को कहीं-कहीं 'सन्त-सरसी' जैसा नाम दिया गया भी मिलता है।

हरिदास के पथ-प्रदर्शक—स्वामी हरिदास की 'वाणी' के देखने से प्रकट होता है कि इन्होंने अपने पूर्ववर्ती महात्माओं में से गुरु गोरखनाथ तथा सन्त कबीर साहब के प्रति बड़ी श्रद्धा और निष्ठा प्रदर्शित की है। इनमें से प्रथम को तो इन्होंने अपना 'गुरु' तक स्वीकार करके स्वयं उनका 'बालक' होना तथा उनके 'हाथ' का अपने 'सिर पर' होना बतलाया है[३२] इन्होंने उन्हें 'गोरखमुनि' की संज्ञा दी है और कहा है कि उनकी गति-मति को सुर-मुनि में से भी कोई नहीं जानता।[३३] वास्तव में जिन महात्मा द्वारा इनके लूटपाट वाले प्रारम्भिक जीवन के स्वभाव का छूट जाना कहा जाता है, उन्हें भी प्रायः गोरखनाथ ही माना गया है। विश्वास किया जाता है कि स्वयं उन्हीं ने आकर इनका पथ-प्रदर्शन किया होगा। इसी प्रकार इन्होंने कबीर साहब की दृढ़ टेक और निर्भीकता की प्रशंसा की है। इन्होंने कहा है कि वे राम के रंग में रँगे जाकर सभी वर्गों में श्रेष्ठ हो गये, पंचेन्द्रियों को वश में कर लिया और निःशंक बन कर अपनी कथनी तथा करनी में सदा सामंजस्य बनाये रहे। ये जल में कमल की भाँति संसार में रहते रहे और समुद्र रूपी हरि में बूँद रूपी कबीर ठीक उसी प्रकार लीन रहे, जिस प्रकार एक साधारण बूँद समुद्र में मिलकर एक हो जाती है।[३४] इन्होंने इन दोनों महापुरुषों को काल पर विजय प्राप्त करने वाले उस अमर की पदवी प्रदान की है जो निरंजन में लीन होकर दूसरे पार पहुँच गया हो।[३५] इसी प्रकार प्रशंसात्मक उल्लेख करते हुए इन्होंने गोपीचन्द, नाभा, पीपा तथा रैदास के भी नाम लिये हैं।[३६] इनका कहना है कि जिस नाथ निरंजन को अंतिम अभीष्ट वस्तु मान कर उन लोगों ने सिद्धि प्राप्त की थी, उसी को मैं भी अपने लिए अनुभवगम्य समझता हूँ। मेरी धारणा है कि जो लोग उसमें विश्वास न रखने की दुर्बलता दिखलाते हैं वे असफल सिद्ध होते हैं।

साधना—स्वामी हरिदास जी ने इसी कारण उसे प्राप्त करने की रीति भी वही अपनायी है, जो कबीर साहब की थी। इनका कहना है कि मुझे इसी में आनन्द है, इसलिये मैंने अपने मन को समझा-बुझा कर उसी पन्थ वा मार्ग को ग्रहण किया है जो कबीर का है। यह पन्थ 'करडा' है और इसकी रीति भी कुछ उलटी-सी जान पड़ती है। इसके लिए मैं संसार की ओर से उपेक्षा भाव रखने लगा हूँ और मैं केवल परमेश्वर के ही साथ प्रीति को बनाये रहना अपने लिए श्रेयस्कर मानता हूँ।[३७] तदनुसार इन्होंने अपनी बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाने की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया

है। ये दूसरों को भी यही उपदेश देते दीख पड़ते हैं कि यदि सत्य के खोजी हो तो तुम्हें भी चाहिए कि ऐसी उलटी नदी ही बहा दें तथा बराबर इस उलटे मार्ग पर ही चला करें। सेवादास निरंजनी का भी यही कहना है कि 'उस' 'अलख' वस्तु की पहचान प्राप्त करने के लिए, यह आवश्यक है कि उलटा गोता लगाया जाय जिसके परिणामस्वरूप अपनी आत्मा क्रमशः गुह्य, इन्द्रिय, मन तथा वाणी से अपने आप परे हो जाय।"[३८] इन लोगों का भी अन्य संत-मत वालों की भाँति, मुख्य उद्देश्य यही है कि इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों के मध्य वर्तमान सुषुम्ना को जाग्रत कर अनाहत नाद को श्रवण करें और वंकनालि के द्वारा शून्य मण्डल की ओर से आते हुए अमृत का पान करें। ये लोग नाम-स्मरण को भी उसी प्रकार महत्व देते हैं, क्योंकि जैसा स्वामी हरिदास ने कहा है यही वह 'डोरा' वा धागा है जो हमें उस निरंजन के साथ जोड़ सकता है।[३९] हमारा मन इसी के सहारे परात्पर ब्रह्म में जाकर लीन हो जाता है तथा इस प्रकार का उद्यम हमारे अन्य उद्यमों को ग्रस भी लेता है।[४०] नाम-स्मरण की क्रिया एक ऐसी विचित्र साधना है जिसमें भक्ति के साथ-साथ योग का पूर्ण समन्वय रहा करता है। सन्त मत में इसी को 'सुरति शब्द योग' नाम से अभिहित किया गया है जिसके द्वारा हमारी अन्तर्मुखी वृत्ति परमात्मा में आप-से-आप लीन हो जाती है। तदनुसार हम अपने प्रियतम के चरणों में अपना सर्वस्व न्योछावर कर देते हैं। उसके अतिरिक्त हमारा अन्य कुछ भी नहीं रह जाता। यह वास्तव में अपने आप की ही अपरोक्षानुभूति है जिस दशा को प्राप्त करने वाले को उसके वर्णन की कोई क्षमता नहीं रह जाती। अतएव स्वामी हरिदास का कहना है "अब मैं हरि के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु के पाने की इच्छा नहीं करता और उसका ही भजन करता हुआ मग्न होकर नाच रहा हूँ। हरि मेरा कर्ता है, मैं उसी की कृति मात्र हूँ और अपने मन को उसे समर्पित कर देता हूँ।"[४१] "जब मैंने ज्ञान, ध्यान तथा प्रेम की उपलब्धि की तो इस प्राप्ति के फलस्वरूप मैंने अपने आपको खो डाला।" आदि

परमात्म-तत्व—स्वामी हरिदास जी ने उस परमात्म-तत्व को साधारणतः 'राम-निरंजन', 'हरि निरंजन' वा 'अलख निरंजन' जैसे शब्दों द्वारा अभिहित किया है, किन्तु उसकी व्याख्या करते समय इन्होंने सदा प्रायः वही शक्ति शैली अपनायी है, जो अन्य सन्तों की है। इनका कहना है कि "वह न तो उत्पन्न होता है, न नष्ट हुआ करता है। वह सदा और सर्वत्र एकरस बना हुआ वर्तमान है तथा वह आकाश की भाँति सब कहीं व्याप्त भी कहा जा सकता है।[४२] जिस प्रकार जलती हुई लकड़ी के टुकड़े-टुकड़े कर देने पर भी अग्नि के टुकड़े नहीं हो जाते, उसी प्रकार हमारा परम गुरु काठ की आग की भाँति सर्वत्र एकभाव से व्याप्त तथा वर्तमान रहता है। जिस प्रकार फूल की गन्ध को तेल में निहित करने पर तिल का तेल फुलेल बन जाता है, उसी प्रकार हरि तथा हरिजन एक हो जाया करते हैं।[४३] उस तत्व का न तो कोई रूप है, न रेखा है, न वह घना है और न थोड़ा है, न पृथ्वी है, न आकाश ही है। वह कलारहित रूप में सबके साथ निरन्तर उसी प्रकार विद्यमान है, जिस प्रकार चन्द्रमा जल में प्रतिबिम्बित होकर बना रहता है। वह अगम्य है और उसकी थाह का पता किसी को भी नहीं है, जिसका जैसा भजन-भाव रहता है उसी के अनुसार वह उसको मान लिया करता है। अपनः वह निराकार वैसा ही है जैसा घड़े में जल हो और वह स्वयं समुद्र में हो। इस कारण जब हम उसी के हैं तो उसका रूप क्यों कर बतलाया जा सकता है।" इसी प्रकार सेवादास ने भी एक

स्थल पर कहा है "हरि सबमें है और सभी हरि में अन्तर्हित है। यह सम्बन्ध उसी प्रकार का है जैसा, जल तथा बुदबुदे का है, तरंग तथा बुदबुदा दोनों जल के ही अंग हैं और पवन के मिल जाने के कारण, उनका जल में अस्तित्व हो गया है।"[४४] स्वामी हरिदास ने एक स्थल पर अवतारवाद के प्रसंग में भी कहा है, "हरि का दस अवतार धारण करनाही क्यों स्वीकार किया जाय, वह तो अनन्त अवतार धारण करके वर्तमान है। जल-थल के जितने भी प्राणी हैं वे सभी उसके अवतार स्वरूप हैं इसका रहस्य जल में पड़े चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब द्वारा समझ लो।"[४५] इस प्रकार की उक्तियों द्वारा इनकी धारणा का पता चल जाता है।

निर्गुण भक्ति—ऐसे अनुपम परमात्म-तत्व के प्रति अपनी भक्ति का प्रदर्शन भी, स्वभावतः कुछ विचित्र ढंग से हो सकता है। ऐसी निर्गुण-भक्ति वाले नवधा रूपों का वर्णन तुरसीदास निरंजनी ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है। इन्होंने उसकी व्याख्या अद्वैतवादी दृष्टिकोण से की है। उसी के अनुसार उसमें प्रेमा-भक्ति को भी जोड़ते हुए उसे दशधा रूप तक दे डाला है। जिसका एक परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है। इनके कथनानुसार श्रवण तथा कीर्तन क्रमशः सारमत का श्रवण कर उसे अपने हृदय में धारण करना तथा उसी को नित्यशः आत्मसात् करने की चेष्टा करना है।[४६] इन्होंने इसी प्रकार ब्रह्म भावना के जाग्रत करने को 'स्मरण' की संज्ञा दी है।[४७] इनके अनुसार हृदयस्थित परमज्योति स्वरूप ब्रह्म का समस्त ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत ध्यान,[४८] 'अर्चन', 'ऊं' का प्रतिरूप देखना तथा "बन्दन", साधु, गुरु तथा गोविन्द इन तीनों की अभेद भाव के साथ वन्दना करना है।[४९] इसी प्रकार 'दास्य' से अभिप्राय हरि गुरु तथा साधु की निष्काम-भाव से निरन्तर सेवा करना[५०], 'सख्य' का अर्थ भगवान के प्रति बराबरी का अभिमान न रखते हुए भी, उसे जिस किसी भी मार्ग द्वारा प्राप्त कर लेने में विश्वास करते हुए उसको मित्रवत् समझने की भावना[५१] तथा 'आत्मनिवेदन', राम के प्रति तम, मन तथा[५२] आत्मा सब कुछ उसी की वस्तु मान कर समर्पित कर देना और इस प्रकार, उससे उऋण हो जाना।[५३] तुरसीदास इस नवधाभक्ति के वृक्ष को सींच कर उससे प्रेमा-भक्ति का फल प्राप्त करने की ओर भी संकेत करते हैं जिससे भक्ति का दसधापन सिद्ध किया जा सके।[५४] निरंजनी सम्प्रदाय के सन्तों ने सगुणोपासना के प्रति किसी प्रकार का उपेक्षा-भाव प्रदर्शित न करके उसे अपने ढंग से अपनाया है। इसी प्रकार उन्होंने मूर्ति-पूजा जैसी साधना का भी तिरस्कार न करते हुए, उसे उसके सच्चे रूप में स्वीकार करने का परमार्श दिया है। उदाहरण के लिए स्वामी हरिदास के अनुसार किसी देवल के प्रति वैर वा प्रीति का भाव रखने की वैसी आवश्यकता नहीं है।[५५] उसी प्रकार तुरसीदास के अनुसार यह मूर्ति हमारे लिए अमूर्त की ओर ले जाने का एक महत्वपूर्ण साधन भी बन जा सकती है।[५६]

सम्प्रदाय की विशेषताएँ—

डॉ० बड़थ्वाल ने निरंजनी सम्प्रदाय के साधना में वेदान्त-प्रभावित योग के कतिपय उदाहरण पा कर इसे नाथ-पन्थ का एक विकसित रूप समझा है। कबीर-पन्थ तथा राधास्वामी-सत्संग के विचारानुसार निरंजन को काल-पुरुष मानने की प्रवृत्ति को देख कर इसे निर्गुण-पन्थ (सन्त-मत) से भिन्न भी ठहराया है।[५७] परन्तु इस प्रकार के वेदान्त प्रभावित योग के अनेक उदाहरण सन्त मत के कई अन्य पन्थों के सम्प्रदायों में जैसे दादू पन्थ, बावरी पन्थ आदि की साधनाओं

में भी न्यूनाधिक पाये जाते हैं। निरंजन को काल-पुरुष कहने की प्रवृत्ति भी उक्त कबीर वा राधा-स्वामी वाले पन्थों के अन्तर्गत पीछे चल कर ही दीख पड़ती है, जिस कारण केवल इन्हीं दो बातों के आधार पर वैसा मत निश्चित करना ठीक नहीं है। निरंजनी सम्प्रदाय वा मत तथा उसकी साधना उसी प्रकार की है जिस प्रकार की सन्त-मत में सामान्य रूप में भी दीख पड़ती हैं। यहाँ तक कि स्वयं इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदास ने कबीर साहब के 'पन्थ' वा मार्ग को ही अपने लिए उपयुक्त माना है। ऐसी दशा में, यदि हम इस सम्प्रदाय की किन्हीं विशेषताओं का उल्लेख करना ही चाहें, तो इसके लिए हमें उसे नाथ-पन्थ तथा सन्त-मत के बीच की किसी कड़ी की कल्पना करने की कोई आवश्यकता न होगी। इसकी एक विशेषता हम इस रूप में देख आये हैं कि निरंजनियों के यहाँ किसी प्रकार के साम्प्रदायिक संगठन को उतना महत्व नहीं दिया जाता। इसी प्रकार इसके अनुयायियों में सगुणोपासना अथवा मूर्ति पूजा तक को किसी विरोध की भावना के साथ देखने की प्रवृत्ति नहीं है। इसी प्रकार इनके यहाँ वर्णाश्रम-व्यवस्था के प्रति भी किसी घोर तिरस्कार का भाव लक्षित नहीं होता। यह सम्प्रदाय वस्तुतः किसी दलबन्दी की भावना से प्रेरित न होकर सामंजस्य के अनुसार चलना चाहता है और यहाँ पर अविरोध की मात्रा भी अधिक है। जहाँ तक इसके ऊपर नाथ-पन्थ के प्रभाव की बात है, इसकी यह विशेषता 'बिश्नोई सम्प्रदाय' 'जसनाथी वा सिद्ध सम्प्रदाय', आदि कई अन्य ऐसे धार्मिक वर्गों में भी देखी जा सकती है, जिनके यहाँ भी गुरु गोरखनाथ को आदि गुरु का महत्व मिला है।

साम्प्रदायिक वेशभूषादि—

निरंजनी सम्प्रदाय के अनुयायियों की वेशभूषा अधिकतर बहुत सादी ही पायी जाती है। इनके लिए जैसा इसके पहले भी कहा जा चुका है, केवल एक गूदड़ी मात्र तथा एक पात्र तक ही पर्याप्त रहा है। परन्तु इस समय इनमें से सभी केवल विरक्त भाव के साथ रहते ही नहीं दीख पड़ते, प्रत्युत इनमें साधारणतः दो वर्ग भी बन गए हैं जिनमें से एक अर्थात् विरक्तों के समुदाय को 'निहंग' तथा गृहस्थी वाले को 'घरबारी' कहा जाता है। निहंग लोग कोई खाकी रंग की गूदड़ीगले में डाले रहते हैं और प्रायः भिक्षावृत्ति से जीवनयापन करते हैं। ये लोग कभी-कभी ऐसी गूदड़ी के साथ-साथ नाथों की जैसी 'सेली' भी गले में बाँधा करते हैं। इस समय बहुत-से निरंजनी मूर्ति-पूजा करते हुए भी पाये जाते हैं। इस प्रकार कभी-कभी ऐसे लोगों तथा साधारण सगुणोपासक भक्तों में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। जोधपुर वाले प्रान्त के डीडवाणे के निकट 'गाढ़ा' नामक गाँव में प्रतिवर्ष फागुन सुदी १ से १२ तक एक मेला लगा करता है जहाँ पर सम्प्रदाय के अनुयायियों की एक बहुत बड़ी भीड़ वहाँ पर सुरक्षित स्वामी हरिदास जी की गूदड़ी के दर्शन करने आती है। सम्प्रदाय के अनुयायी अधिकतर राजस्थान प्रदेश में ही पाये जाते हैं और अन्यत्र इनकी संख्या कम कही जाती है। उड़ीसा में प्रचलित किसी ऐसे पन्थ का सम्बन्ध अभी तक इसके साथ सिद्ध नहीं किया जा सका है, अपितु राघोदास की स्वामी हरिदास प्रति लिखित पंक्ति[१८] से यह भी प्रकट होता है कि अपनी उपासना की शैली विशेष के कारण ही ये स्वयं सर्वप्रथम 'निरंजनी' कहला कर प्रसिद्ध हुए होंगे। इसी कारण, यदि इनके अतिरिक्त अन्य ११ व्यक्ति

भी इस सम्प्रदाय के 'महन्त' कहे गये होंगे तो उन्हें ऐसी पदवी सम्भवतः इनके साथ सहयोग के आधार पर ही मिली होगी।

संदर्भ-संकेत—

१. मिडीवल मिस्टिसिज्म आॅफ इंडिया, क्षितिमोहन सेन, पृ० ७० तथा १७०।

२. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, बम्बई, सन् १९४२ ई०, प० ५२।

३. "It (Niranjan School) is in a way, midway between the Nath School and the Nirgun School, Preface, pp. II & III to the , Nirgun School of Hindi Poetry by Dr. P. D. Badthawal.

४. "सगन रूप गुन नाम ध्यान उन विविध बतायौ॥
इन इक अगुन अरूप अकल जग सकल जितायौ॥
नूर तेज भरपूरि जोति तहाँ बुद्धि समाई॥
निराकार पद अमिल अमित, आतमा लगाई॥
निरलेप निरंजन भजन कौं, सम्प्रदाइ थापी सुघट॥
वै च्यारि महंत ज्यूं चतुरव्यू ह, त्यूं चतुर महंत नगुणी प्रगट॥३४१॥
नानक सूरज रूप, भूप सारे परकासे॥
मधवा दास कबीर ऊसर सूसर वरषासे॥
दादू चंद सरूप अमी सबको पोषै॥
वरन निरंजन मनो त्रिषा हरि जीव संतोषै॥
ये च्यारि महंत चहूं चक्कवै, च्यारिपंथ निरगुन थपे॥
नानक कबीर दादू जगन, राघो परमातम जपे॥३४२॥
रामानुज की पधति चली लक्ष्मी सूं आई॥
विष्णु स्वामि की पधित सुतौ संकर तैं जाई॥
मध्वाचारज पधित ग्यान ब्रह्मा सुविचारा॥
नींबादिता की पधित च्यारि सनकादि कुमारा॥
च्यारि सम्प्रदा की पधित, अवतारनसूं ह्वै चली।
इन च्यारि महंत नृगुनीन की पधित निरंजन सूं मिली॥३४३॥

—ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति से जो लेखक को पुरोहित हरिनारायण शर्मा, जयपुर से मिली थी।

५—"अब राखहि भाव कबीर के इन येते महंत निरंजनी" आदि छप्पय ४२९।

६. छप्पय ४४४

७. छप्पय ४२९-४४१ तक

८. "जगन" नामक किसी भक्त का नाम नाभादास की "भक्तमाल" छप्पय० ९९ में भी आया है जहाँ पर एक अन्य नाम किसी हरिदास का भी है।—लेखक

९. कोउक गोरष कों गुरु थापत, कोउक दत्त दिगम्बर आदू।
कोउक कंयर कोउ भरथ्थर, कोउक कबीर कोउ राषत नादू॥
कोउ कहै हरदास हमारे जु, यों कहि ठानत वाद विवादू।
और तो संत सब सिर ऊपर, सुन्दर के उरहै गुरु दादू॥५॥
—सुंदर ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ३८५।

१०. हरीदास पूरा गुरु पाया, नाम निरंजन पंथ चलाया।
बावन शिष्य मिल्या सुख मांई, पाढू माता चेली क्वाई॥
द्वादस पंथ संत बड़भागी, छाप निरंजन माया त्यागी।
अंजन छाड़ निरंजन ध्याये, मन निरमल निश्चे कर पाये॥९६॥
—श्री श्री रामदास जी महाराज की वाणी, पृ० २०१

११. सुंदर-ग्रंथावली, प्रथम खंड, जीवन चरित्र, पृ० ९२।

१२. वही, पृ० २७-८

१३. छ चक्वै मुचकंद कहाँ, कहाँ विक्रम कहाँ भोज।
सावंत पृथो चोहाण कहाँ, कहाँ अकबर नौरोज॥१८॥
—महाराज श्री हरिदास जी की वाणी, जयपुर, पृ० ८२।

१४. संपादक सेवादास, जोधपुर सं० १९८८, पृ० "त"

१५. पन्दर से बारोत्तरे फागुन सुदि छठ सार।
वैराग्य ज्ञान भगति कूं लीयो हरि अवतार।
पन्दरह सै छप्पन समैं वसंत पंचमी जान।
तब हरि गोरष रूप धरि, आप दियो ब्रह्मज्ञान॥
सोलह सौ को छट्ठि सुदि फागुण मास।
मरम धाम भै प्रापती नगर डींड हरिदास।—सूरपूर्व ब्रजभाषा, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, वाराणसी, सन् १७५८ ई०, पृ० १९९ पर उद्धृत।

१६. चवदह सै चौहोत्तरे जन्म लियो हरिदास।
पन्दरह सौ पिंचाणवे, कियो जोति में वास।
फागुन सुदि की छट्ठ को, परम जोति परकास।—वही, पृ० १९९।

१७. चवदा शत संवत् सप्तचार, प्रगटे सुदेस सुरधर मझार।
पंचासौ पंचानवे शुद फागुण छठि जाण।
विशासो वपु राखिके पहुचे पद निर्वाण॥—वही

१८. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं० १९९७, पृ० ७७ पर उद्धृत

१९. सुंदर ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, प० २८ पर उद्धृत।

२०. महाराज श्री हरिदास जी की वाणी, भूमिका, पृ० ७९।

२१. महाराज श्री हरिदास जी की वाणी, पृ० १०१

२२. दे०, स्वामी दादूदयाल, रामसनेही, रामदास, आदि के ५२ शिष्यों का प्रसंग भी:।—लेखक

२३. श्री हरिपुरुष महाराजा गूदड़ी, तुमारी पातक जारणी ॥टेक
कानड़, मोहन, खेम हजूरी, आनदास, पूरण मत पूरी।
श्याम सांकड़े ध्यान लगाया, जग जीवण तुरसी तत पाया ॥
नाथ ध्यानजी है अवधूता, जगन्नाथ केवल पद पहुंता।
जिनकी पदरज जे धारे, जन्म-जन्म अघ जारणी ॥७॥

२४. महाराज श्री हरिदास जी की वाणी, भूमिका, पृ० १०१

२५. गुरकबीर प्रताप तैं, कहै जगजीवनदास—चितावणी, जोग ४०।
गुर कबीर प्रताप तैं, कहैं जगजीवन सार,—प्रेमनामोजोग ग्रंथ ५९।

२६. सषीरी वधावणो आज म्हानैं गुरु मिलिया गोपाल—'पद संग्रह'।

२७. गुरु मेरे हरिदास, जिन किया बुधि प्रकाश,—विराग लक्षणग्रंथ।

२८. महाराज श्री हरिदास जी की वाणी, भूमिका, पृ० १०६-१०।

२९. शिवसिंह सरोज, नवीन संस्करण, लखनऊ, सन् १९२६, पृ० ४३८।

३०. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद, सन् १९३७ ई०, पृ० ७१८।

३१. संतमाल, पृ० २९१-३।

३२. दे०, 'गोरष हमारा गुरु बोलिये' (४) 'जन हरिदास नाथ का बलक' (९) तथा 'सिद्धि गोरष का हाथ' (५) वाणी, पृ० ३५६-७।

३३. वाणी, जोधपुर संस्करण, पद १२, पृ० ३०५।

३४. वही, पद २, पृ० ३०२-३।

३५. वही, साखी ३७, पृ० १८२।

३६. नाथ निरंजन देखि, अति संगी सुखदाई।
गोरख गोपीचंद सहज सिधि नव निधि पाई॥
नामैदास कबीर राम भजतां रस पीया।
पीव जन रैदास बड़े छकि लाहा लीया।
अणमै बस्त संभालि करि, जन हरीदास लागा तही।
राम विमुखा दुविध्या करै, तै निरबल पहुंचै नहीं ॥१३॥"—वाणी, पृ० २९५

३७. जन हरिदास आनंद दूहै, अपना मन परमोधि।
करड़ा पंथ कबीर का, सो हम लीया सोधि॥१॥
पीठि दई संसार सूं परमेश्वर सूं प्रीति।
जन हरीदास कबीर की, या कछु उलटी रीति॥२॥
—वाणी, महिमा कौ अंग, पृ० ३८८।

३८. सहजि सहजि सब जाहिगा, गुण यंद्री मन वाणि।
तूं उलटा गोता मारि करि, अंतरि अलख पिछाणी।—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी, सं० १९९७, पृ० ८२ में उद्धृत।

३९. वाणी, जोधपुर संस्करण, पद १, पृ० २२।

४०. अब में हरि बिन और न जांचू, भजि भगवंत मगन ह्वै नाचूं।
हरि मेरा करता हैं, हरि कीया, में मेरा मन हरि कूं दीया––वाणी, पृ० २२४।

४१. ज्ञान ध्यान प्रेम हम पाया, जब पाया तब आप गँवाया॥ वही।

४२. लकड़ी काटी कटत है, अगनि न काटी जाय।
दार अगनि ज्यों परमगुरु, जहां तहां समियाइ॥––वाणी, मूल मंत्र जोग ग्रंथ, सा० ६, पृ० ७।

४३. फूल बास तिल में दुरी, तिल का तैल फुलेल।
हरिजन हरि ऐसे मिल्या, अरस परस यह पेल॥७॥––वही

४४. तत्वनिर्णय ग्रंथ, संग्रह, पृ० ११९।

४५. वाणी, जोधपुर संस्करण, पृ० २८८।

४६. सार सार मत स्रवन सुनि, सुनि राखै रिद मांहि।
ताहीको सुनिबो सुफल, तुरसी तपित सिराहि॥––ना० प्र० पत्रिका, पृ० ८६।

४७. तुरसी ब्रह्म भावना यहै, नाम कहावै सोय।
यह सुमिरन संतन कह्या, सारभूत संजोय॥––वही, पृ० ८६-७।

४८. तुरसी तेजपुंज के चरन वे, हाड़ चाम के नाहि।
वेद पुराननि बरनिये, रिदा कवल के माहि॥––वही, पृ० ८७।

४९. तुरसीदास तिहुंलोक में, प्रतिमा है ऊंकार।
वाचक निर्गुण ब्रह्म की, वेदनि बरन्यो सार॥––वही।

५०. गुरु गोविंद संतनि विषै, अभिन भाव उपजाय।
मंगल सूं बंदन करै, तौ पाप न रहई काय॥––वही।

५१. तुरसी बनै न दास कूं, आलस एक लगार।
हरि गुरु साधू सेव में, लगा रहे इक तार॥––वही।

५२. बराबरी को भाव न जानै, गुन औगुन ताको कछू न आवै।
अपनो मित जानिबो राम, ताहि समापै अपना धाम॥––वही।

५३. तुरसी तन मन आतमा, करहु समर्पन राम।
जाको ताहि के उरन होहु, छंडिहु सकल सकाम॥––वही।

५४. तुरसी यहु साधन भगति, तर लौं सींची सोय।
तिन प्रेमा फल पाइया, प्रेम मुक्ति फल जोय॥––वही, पृ० ८८।

५५. नहि देवन सूं वैरता, नहिं देवल सूं प्रीति।
कृत्रिम तज गोविंद भजै, या साधां की रीति॥ वाणी, जोधपुर सं०, पृ० ८।

५६. मूरति में अमूरति बसे, अमल आतमा राम।
तुरसी भरम बिसरायकै, ताही को ले नाम॥––ना० प्र० पत्रिका, पृ० ८५।

५७. दि निर्गुण स्कूल आफ हिंदी पोएट्री, प्रीफेस, पृ० २-३।

५८. नृमल नृवांणी निराकार को उपासवान,
नृगुणी उपासिकै निरंजनी कहायौ है।

मध्ययुगीन रोमाञ्चक आख्यान-साहित्य के अध्ययन की एक भूमिका

नित्यानन्द तिवारी

यदि रोमाञ्चक आख्यान के सम्पूर्ण वातावरण को एक शब्द में प्रकट किया जाय तो शायद 'मध्ययुग' सबसे उपयुक्त शब्द होगा।[१] इस युग का जीवन एक साथ ही कई विरोधाभासों से परिचालित होता रहा है। 'उत्तेजक और उग्र इस युग की आत्मा आँसू भरी दया और कठोर क्रूरता, आदर और गुस्ताखी, मायूसी और अनियन्त्रित उच्छृंखलता'[२] के बीच सहज ही रोमांस के उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत कर देती है। इस तरह के परिवेश में रचित रोमाञ्चक आख्यान साहित्य उस युग की सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि का परिचायक है जहाँ पिछले महाकाव्य काल की एकान्वित राष्ट्रभावना के ह्रास से यथार्थ और सौन्दर्य भावना आदि के प्रति अतिकाल्पनिक और रोमाञ्चक विभावन (Concept) प्रस्तुत हो गए थे। इस भावना के स्रोतों की खोज और उसके विकास का विश्लेषण तत्कालीन जीवन-दृष्टि और काव्य रूपों के नए तथ्यों को प्रस्तुत करने में सहायक हैं।

अंग्रेज़ी के 'रोमांस' शब्द की भाँति, हिन्दी में कोई एक शब्द नहीं है जो उस युग की सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि और सम्पूर्ण साहित्यिक विशेषताओं को एक साथ प्रकट कर सके। इसलिए पहले इस 'रोमांस' शब्द पर ही विचार कर लिया जाय और फिर भारतीय मध्ययुगीन साहित्य के लिए किसी उपयुक्त शब्द को खोजने का यत्न किया जाय। पुराने फ्रेंच शब्द 'Romans' का परिवर्तित रूप रोमांस है, जो फ्रेंच भाषा और उसमें लिखी जाने वाली उस कविता के लिए प्रयुक्त होता है जिसमें ऐतिहासिक तथ्यों का वर्णन होता है।[३] ये वर्णनात्मक आख्यान लैटिन के भ्रष्ट रूप 'रोमांस भाषाओं' में पद्य या गद्य में लिखे जाते थे। जिसके लिए 'रोमांस' शब्द का सबसे पहला प्रयोग १२वीं शती में मिलता है।[४] इन रोमांञ्चक आख्यानों के लेखकों और गायकों ने प्रारम्भ से ही सोचा कि जनता को आचार शिक्षा के साथ ही साथ मनोरंजन भी देना चाहिए, क्योंकि इतिहास बिना मनोरंजक बनाए लोगों को स्वीकार्य नहीं था। फलतः लेखकों ने ऐतिहासिक तथ्यों में लोकवार्ता, लोकप्रिय अन्धविश्वास और अनेक प्रकार की कथाएँ जोड़नी प्रारम्भ कर दीं और बाद में तो ऐतिहासिक तथ्यों का प्रायः लोप ही हो गया। ऐतिहासिक सत्य परम्परा का एक तथ्य मात्र रह गया था[५] और धीरे-धीरे इसका प्रयोग सीमित अर्थ में[६] विशेष प्रकार के अतिकाल्पनिक और रहस्यपूर्ण आख्यानों के रूप में होने लगा।

हमारे यहाँ इस तरह का कोई एक शब्द इस प्रकार के साहित्य के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है। ऋग्वेद में लगभग २० कथात्मक सूक्त हैं, जो संवादों के रूप में हैं और साधारणतया इनके

लिए संवाद, आख्यान या इतिहास का नाम दिया गया है।[७] 'संवाद' शब्द वैदिक साहित्य में नहीं उपलब्ध होता, लेकिन बाद में छान्दोग्य उपनिषद् में 'कथा' शब्द का प्रयोग बहुत कुछ इसी अर्थ में है। 'हन्तोद्गीथे कथाम् वदाम्' अर्थात् हम लोग उद्गीथ के सम्बन्ध में वाद-विवाद आरंभ करें।[८] बाद के वैदिकयुगीन साहित्य में 'इतिहास' का प्रयोग 'पुराण' के साथ बराबर मिलता है। इसका प्राचीनतम उल्लेख अथर्ववेद में फिर शतपथ ब्राह्मण, जैमिनीय, वृहदारण्यक, छान्दोग्य उपनिषदों में भी है।[९] इतिहास और पुराण को अलग-अलग वेद भी कहा गया है।[१०] लेकिन मैक-डानेल के अनुसार इतिहास और पुराण के अर्थों में कोई विभाजक रेखा खींचने के संकेत प्राचीन साहित्य में नहीं मिलते। जेल्डनर के अनुसार 'इतिहास-पुराण' नाम का कोई ग्रन्थ था, जो पातंजलि को सम्भवतः मालूम था।[११] किन्तु यास्क ने अपने निरुक्त में ऐसा कोई उल्लेख नहीं किया है और इस प्रकार मैकडानेल्ल उपर्युक्त मत को अस्वीकार करते हुए निरुक्त के आधार पर बताते हैं कि ऐतिहासिक केवल वे लोग थे, जो ऋग्वेद की व्याख्या अवदान (Legend) की भाँति करते थे जबकि पौराणिक देवकथा (Myth) के रूप में।[१२]

इतिहास का सम्बन्ध आख्यान से भी बताया गया है। देवकथा (Myth) और अवदान (Legend) जिनका बोध वैदिक ऋषियों को था, वे पुराण और इतिहास के रूप में विभाजित थे। और सीग के अनुसार आख्यान इस चक्र से भी पृथक् अपना अस्तित्व बना सका। शतपथ ब्राह्मण में अध्वर्यु का कथन इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण है। अध्वर्यु होतृ से कहता है "पूर्व यज्ञकर्ताओं के उल्लेख के साथ, इस यज्ञकर्ता को सबसे अधिक ऊँचा उठाओ।"[१३] ऐतरेय ब्राह्मण में आख्यानविद् का भी उल्लेख पाया जाता है।[१४] यास्क ने अपने निरुक्त में ऋग्वेद से पारस्परिक व्याख्याकार के रूप में इसका प्रयोग किया है।[१५]

इन उल्लेखों के आधार पर सीग आख्यान को वर्णनात्मक काव्य का एक प्रकार मानते हैं और ओल्डेनवर्ग गद्य और पद्य का मिश्रित रूप। विण्टरनित्स ने अपनी पुस्तक 'Some Problems of Indian Literature' में संसार के अन्य देशों के काव्य-रूपों के विकास को दृष्टि में रखते हुए ओल्डनवर्ग के मत को बल प्रदान किया है।

किन्तु आख्यान पर विचार करते समय उसके मूलभूत अर्थ की ओर लोगों का ध्यान कम गया है। पाणिनि के अनुसार 'आख्या' का अर्थ कहना, सूचना देना, वर्णन करना आदि है[१६] और जब वर्णन की इस पृथक् शैली का विकास मात्र इतिहास (घटना) से पृथक् हुआ होगा तब सबसे पहले आख्यान का प्रयोग हुआ होगा। इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण और कदाचित् पहला उल्लेख शतपथ ब्राह्मण का है। होतृ, यज्ञकर्ता को पिछले सभी यज्ञकर्ताओं से बढ़ा-चढ़ाकर गाता है और यहाँ इतिहास (घटना) की अपेक्षा इस आख्यान शब्द में वर्णनात्मक अर्थ-छाया का अधिक बोध होता है, क्योंकि अत्युक्ति पूर्ण यश या वीरता की वर्णन शैली ही यहाँ मुख्य है। प्रत्येक १० दिन बाद नए ढंग से परिप्लव अवदान का कहा जाना[१७] कथाचक्र की भाँति है और यहाँ से आख्यान शब्द में विकसित होते हुए किसी वर्णनात्मक साहित्य-प्रकार का भान होने लगता है। ऐतरेय ब्राह्मण में आख्यानविद् का उल्लेख यह प्रकट करता है कि उस समय तक यह व्यावसायिक रूप धारण कर चुका था। आख्यान शब्द में कथन-वर्णन की प्रधानता अधिक लगती है जब कि इतिहास में तथ्य या घटना। घटना या तथ्य को वर्णन द्वारा ही दूसरों तक पहुँचाया जा सकता है, किन्तु

वैदिक युग तक इन दोनों में बहुत अन्तर सम्भवतः नहीं हो पाया था। यह बहुत महत्वपूर्ण तथ्य है कि वैदिक साहित्य में आख्यान का उल्लेख नहीं मिलता जब कि अथर्ववेद में इतिहास का उल्लेख है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऐतिहासिक घटनाएँ या ऋषियों या वैदिक वीरों की प्रशस्तियाँ[१८] धीरे-धीरे जब एक वर्णनात्मक साहित्य प्रकार में विकसित हो गयीं तब ब्राह्मण-ग्रन्थों तक आते-आते उन्हें आख्यान का नाम दिया गया। महाभारत और रामायण को भी इतिहास-आख्यान सम्भवतः इसीलिए कहा गया है कि वे ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित वर्णनात्मक काव्य थे और उस समय तक इतिहास और आख्यान अपने शब्दों में बहुत पृथक् नहीं हो पाए थे। इसके बाद किसी भी काव्य या साहित्य-प्रकार के लिए इतिहास, आख्यान का प्रयोग एक ही अर्थ में कदाचित् नहीं मिलता। फलतः इतना तो अनुमान लगाया ही जा सकता है कि आख्यान मूलतः इतिहास का वर्णनात्मक साहित्य-प्रकार रहा है जिसे इतिहास भी कह दिया जाता रहा है। इस प्रकार हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं।

१. 'इतिहास' का प्रयोग 'आख्यान' से पुराना है।

२. इतिहास उन्हीं को कहा गया, जो वर्णन करने योग्य या प्रशस्ति योग्य पुरुषों से सम्बन्धित घटनाएँ हों।

३. इतिहास में जब वर्णन की पृथक् शैली का विकास हो गया उनका एक व्यावसायिक रूप आ गया तब उसे आख्यान कहा गया।

४. आख्यान मूलतः इतिहास का वर्णनात्मक साहित्य-प्रकार है जिसके लिए इतिहास का प्रयोग संगठित और सजग प्रयास से हुआ कदाचित् नहीं जान पड़ता।

५. आख्यान के रूप में ही साहित्यिक शैलियों और रूपों के बीज सुरक्षित हैं।

आगे चल कर जब साहित्य के काव्य, नाटक आदि साहित्य रूप विकसित हो गए तब आख्यान का प्रयोग उसी प्राचीन अर्थ में नहीं मिलता बल्कि वह किसी प्राचीन कथा के सन्दर्भ के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा।[१९]

छठी शताब्दी के आस-पास संस्कृत में आख्यायिका और कथा के नए साहित्य-रूप विकसित हुए।[२०] क्योंकि मोटे रूप में इन साहित्य-रूपों की कोई परम्परा संस्कृत में नहीं दिखायी पड़ती। इनका स्रोत संस्कृत से भिन्न भाषाओं में ढूँढ़ा जा सकता है। 'कथा' के अर्थ में कथा का प्रयोग शायद बृहत्कथा (बड्डकहा) में पहली बार किया गया मिलता है और इन प्राकृत भाषाओं से ही संस्कृत में इसका अर्थ ग्रहण कर लिया गया होगा। गुणाढ्य की 'बड्डकहा' पैशाची प्राकृत में थी और अनेक रोमाञ्चक कथाओं का भाण्डार थी। इसी प्रकार जातक, पञ्चतन्त्र तथा जैनियों की रोमाञ्चक कथाओं का वातावरण और प्रकृति कादम्बरी और हर्षचरित में मिलती है जो क्लैसिक और अलंकृत भाषा में होते हुए भी अपनी स्पिरिट में क्लैसिक साहित्य नहीं कहला सकता। क्योंकि कादम्बरी के अनैतिहासिक, चमत्कारपूर्ण, अतिकाल्पनिक रोमाञ्चक कथानक के कारण प्राकृत भाषाओं में प्राप्त साहित्य की भाँति उसे कथा कह दिया गया, जब कि हर्षचरित में ऐतिहासिक चरित की स्वीकृति के कारण प्राचीन संस्कृत के आख्यान का अर्थ ग्रहण करते हुए सम्भवतः उसे आख्यायिका का नाम दिया गया। यों उनकी मूलभूत प्रकृति में बहुत अन्तर कर पाना सम्भव नहीं लगता।[२१] अतिकल्पना रहस्य और रोमाञ्च की प्रकृति विकसित हो जाने से आख्यान केवल ऐति-

हासिक वर्णनात्मक काव्य न रह गया बल्कि उसमें इतिहास का तत्व तो प्रायः खो ही गया। फलतः मध्ययुगीन आख्यान को रोमाञ्चक विशेषण की आवश्यकता पड़ी और यह रोमांचक आख्यान बहुत कुछ अंग्रेजी के Romance की विशेषताओं को प्रकट करता है। यहाँ से दो बातें स्पष्ट होती हैं।

इस युग तक आते-आते आख्यान शब्द सन्दर्भ कथाओं के अर्थ में ग्रहण कर लिया गया और आख्यायिका और कथा का नया साहित्य रूप, जो संस्कृत में विकसित हुआ उसका सम्बन्ध संस्कृत के प्राचीन आख्यान ग्रन्थों से अधिक न हो कर प्राकृत की परम्परा से रहा। यहाँ से लोकभाषाओं में रोमाञ्चक आख्यान की परम्परा अखण्ड रूप में चलती है।

रोमाञ्चक आख्यान : उद्‌भव

विद्वानों ने मध्ययुगीन रोमाञ्चक आख्यानों के उद्‌भव का कोई सैद्धान्तिक विवेचन अभी तक नहीं किया है। प्रेम एक सहज मानवीय वृत्ति है और वही उनकी उत्पत्ति का कारण है, इससे अधिक उपयुक्त कारण अभी तक नहीं बताया जा सका है। सबसे पहले तो रोमाञ्चक आख्यान को वे प्रेमाख्यान मात्र समझते हैं जब कि धार्मिक और शौर्य सम्बन्धी रोमाञ्चक आख्यानों की कमी नहीं। हिन्दी के आदिकालीन धार्मिक आख्यानों को तो प्रायः प्रेमाख्यान के भीतर ले लिया गया है, लेकिन शौर्य आख्यानों को वीर काव्य की संज्ञा दी गयी है। किन्तु इससे एक भ्रम उत्पन्न होता है। मध्ययुग और वीर युग (Heroic Age) की वीरता के आदर्शों में बहुत अन्तर है। यहाँ इतना ही बता देना पर्याप्त है कि मध्ययुग का शौर्य (chivalry) अपने अस्तित्व में रोमांटिक है और आप अपना लक्ष्य है, जब कि प्राचीनकालीन वीरता माध्यम है किसी बड़े उद्देश्य के लिए।

संस्कृत क्लैसिक भाषा थी और उसका साहित्य क्लैसिक प्रकृति को अभिव्यक्त करता था। प्राकृत साधारण अशिक्षित या अर्धशिक्षितों की भाषा थी जिसके साहित्य में संगठित व्यक्तित्व या उच्चस्तरीय संस्कृति की उदात्त आत्मा की अभिव्यक्ति सहज सम्भव नहीं थी। फलतः प्राकृत भाषा का जन्म एक पृथक् संस्कार और पृथक् बोध (sensibility) को अभिव्यक्त करने के लिए हुआ। रामायण, महाभारत के जैसा ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'बड्डकहा' बाद के साहित्य (चाहे वह संस्कृत हो या प्राकृत) के रूप और स्वभाव को निर्मित करने में बहुत अधिक सहायक हुआ। प्राकृत की प्रकृति रोमाञ्चक थी फलतः मध्ययुगीन रोमाञ्चक आख्यानों को समझने के लिए प्राकृत हमारे लिए अधिक सहायक है।

रोमाञ्चक आख्यानों के उद्‌भव में भाषा शायद प्रधान और प्रत्यक्ष कारण है। इस सन्दर्भ में जैसा कि अनेक विद्वानों का विचार है धर्म और सन्तों का जीवनचरित इनके उद्‌भव का कारण है यह बहुत अधिक संगत नहीं जान पड़ता।[२२] पहले तो वड्डकहा जिस समय लिखी गयी[२३] धर्म के सम्बन्ध में उस प्रकार की उत्तेजक मनोवृत्ति विकसित ही नहीं हो पायी थी। मध्ययुग में जिसका व्यापक प्रचार दिखाई पड़ता है। दूसरे, धर्म को केन्द्र मान कर जैसा यूरोप में ईसाई और तुर्कों की लड़ाई होती थी और शूर (Knight) अपना शौर्य दिखाने का अवसर प्राप्त करता था, यह लगभग बहुत बाद का विकास है (यद्यपि हमारे यहाँ इस प्रकार Crusades) के धर्मयुद्ध कभी प्रबल नहीं रहे)। शूर अपने राज्य, अपनी आन, अभिमान या किसी भी बात की रक्षा के लिए लड़ पड़ते थे। एक बात यहाँ ध्यान रखने की है कि यूरोप के चाहे क्रूसेड्स के युद्ध हों या भारतीय सामन्तों के, इस बात ने रोमाञ्चक आख्यान के विभावन (concept) में एक विकसित तत्व दिया

और १२ वीं-१३ वीं शती के आसपास धर्म के साथ शौर्य (Chivalry) रोमांस का एक प्रमुख तत्व बन गया। किन्तु प्रारम्भ में केवल एक प्रकार की रहस्यात्मक और अतिकल्पनात्मकता ही रोमांस के तत्व थे। बृहत्कथा से इस बात को हम आसानी से अनुमित कर सकते हैं। उसमें भी युद्ध के वर्णन और उल्लेख हैं, किन्तु युद्ध का व्यापक प्रभाव धर्म के प्रति उत्तेजनात्मक संसक्ति बाद में ही परिलक्षित होती है। धर्म-प्रचार एक अर्थ में इस भाषा के प्रसार और विकास में अवश्य सहायक हुआ। बौद्ध और जैन धर्म लोक-भाषाओं में अपने को अभिव्यक्त कर सके। ये लोक-भाषाएँ साधारणतया स्त्रियाँ, अर्द्धशिक्षित, असभ्य और तथाकथित हीन कहे जाने वाले लोग बोलते थे, किन्तु उनमें धर्म-प्रचार होने से सहज ही उन भाषाओं को एक गौरव मिल गया। हूणों और अन्य विदेशी जातियों के आक्रमण और देश में उनके प्रवेश से भी—जो संस्कृत नहीं बोल सकते थे—इन देशी भाषाओं के प्रसार में कदाचित् बल मिला होगा और साथ ही क्लैसिक प्रवृत्ति को खण्डित करने में सहायता भी।

प्राकृत सामान्य जन की भाषा थी। णाणपंचमी कहा (ज्ञान पंचमी कथा १०५१ ई० से पूर्व) में महेश्वर सूरि का कथन है "अल्पबुद्धि जन जो संस्कृत काव्य नहीं समझ सकते, उनके लिए प्राकृत काव्य की रचना की जाती है। गूढ़ार्थ और देशी शब्दों से रहित तथा सुललित पदों से ग्रथित और रम्य प्राकृत काव्य किसको आनन्द प्रदान नहीं करता।[२४] ११वीं शती तक यद्यपि प्राकृत साहित्यिक भाषा हो गई थी, किन्तु संस्कृत का पाण्डित्य और क्लैसिक प्रवृत्ति उसमें नहीं आ सकी। प्राकृत का स्वभाव ही भिन्न था। नमिसाधु ने (रुद्रट के काव्यालंकार की टीका में) प्राकृत और संस्कृत का निम्न लक्षण बताया है, "व्याकरण आदि के संस्कार से विहीन समस्त जगत् के स्वाभाविक वचन व्यापार को प्रकृति कहते हैं, उसे ही प्राकृत कहा जाता है। बालक, महिला आदि की समझ में यह सरलता से आ सकती है और समस्त भाषाओं की यह कारणभूत है। मेघधारा के समान एक रूप देश विशेष के कारण या संस्कार के कारण जिसने विशेषता प्राप्त की है और जिसके सत् संस्कृत आदि उत्तर विभेद हैं उसे संस्कृत कहते हैं।"[२५] इसमें निम्नलिखित बातें हैं—

१. प्राकृत व्याकरण आदि के संस्कार से विहीन भाषा है।
२. प्राणियों के स्वाभाविक वचन व्यापार की भाषा प्राकृत है।
३. संस्कार के कारण विशेषता प्राप्त भाषा संस्कृत है।

व्याकरण के संस्कार से विहीन प्राकृत ने अपने स्वभाव को भी एक संस्कार दिया और वह था एक प्रकार की स्वतन्त्र संस्कारहीन और सामान्य जीवन की अभिव्यक्ति और इस बात से प्राकृत और संस्कृत साहित्य के वातावरण, स्वभाव और विशेष 'टोन' के द्वारा उनकी पृथक् आत्मा में अन्तर आ गया। यदि भाषा प्रयोग में थोड़ी छूट ली जाय तो कहा जा सकता है कि संस्कृत क्लैसिक प्रवृत्ति की भाषा है और प्राकृत रोमाञ्चक प्रवृत्ति की जो "न तो संस्कृत की जैसी पवित्रता की भावना ही रखती थी और न उसकी जैसी रचना की स्पष्टता या रूप का सौन्दर्य।"[२६]

यूरोप में भी लैटिन के बाद जिन भाषाओं का विकास हो रहा था उन्हें 'रोमांस लैंग्वेज, कहा गया। पाँचवीं शताब्दी के आसपास सामान्य जन के अलिखित साहित्य को रोमांस की संज्ञा दी गयी।[२७] डब्ल्यू० पी० कर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "दी डार्क एजेज" में इस बदलती हुई प्रवृत्ति का एक प्रधान कारण भाषा का परिवर्तन बताया है।[२८] लैटिन के बहुत अधिक पाण्डित्यपूर्ण होने

के कारण वह साधारण समझ से परे की वस्तु हो गयी थी और इस कारण 'पापुलर लैटिन' का विकास हुआ। इस सम्बन्ध में एक ईसाई पादरी के विचार महत्वपूर्ण हैं, "हम स्कूल मास्टरों की बेंतों की परवाह नहीं करते जब कि हम स्वयं एक निश्चित और महत्वपूर्ण सत्य तक पहुँच सकते हैं।" जनता द्वारा समझे न जाने से यह अच्छा होगा कि हम उपेक्षित ही रहें।"[२९] इससे धर्म 'पापुलर' लैटिन के विकास का एक प्रमुख कारण लगता है। इस 'पापुलर लैटिन' को 'वल्गर' कहा गया था और निश्चय ही लैटिन की क्लैसिक प्रवृत्ति से उसकी भावभूमि भिन्न थी। जहां से रोमाञ्चक प्रवृत्ति विकसित होती है।

रोमाञ्चक आख्यान : स्रोत, प्रवृत्तिगत विकास

साधारणतः रोमाञ्चक आख्यान की परम्परा को वैदिक साहित्य रामायण, महाभारत अभिज्ञान शाकुन्तल, कुमारसम्भव और कादम्बरी, हर्षचरित, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य में एक अविच्छिन्न धारा के रूप में विद्वानों ने बताया है। उर्वशी, पुरूरवा (ऋग्वेद १०।९५) यम-यमी (ऋ० १०।१०) श्यावाश्य (ऋ० ५।६१) के आख्यानों से उसकी परम्परा का प्रारम्भ माना जाता है। लेकिन इन आख्यानों में प्रेम या यौन भावना की मूल प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति हुई है और ये मूल प्रवृत्तियाँ मनुष्य की सृष्टि के साथ ही उत्पन्न हुई हैं और इन तत्वों से पृथक् हो पाना कभी सहज नहीं। वैदिक साहित्य और वीर महाकाव्यों में रहस्य-चमत्कार और रोमाचञ्क तत्व भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं किन्तु ये रोमाञ्चक आख्यान के तत्व हैं जो बीज रूप में मिलते हैं। इनसे रोमाञ्चक आख्यान के स्रोत की खोज की जा सकती है। सम्भवतः परम्परा की नहीं, क्योंकि रोमांस एक प्रवृत्ति है (इंस्टिंक्ट नहीं) जिसका विकास क्लैसिक प्रवृत्ति के विरोध में हुआ लगता है। इनके तत्व रामायण, महाभारत या कालिदास के काव्य में ढूंढ़े जा सकते हैं, किन्तु एक व्यापक प्रवृत्ति के रूप में रोमांस संस्कृत से भिन्न प्राकृत भाषाओं की साहित्य-परम्परा में लक्षित होता है। वहाँ से साहित्य का एक विशेष 'टोन' और स्वभाव विकसित होता है जो एक सन्तुलित वास्तविक और उदात्त दृष्टिकोण के स्थान पर अतिकल्पना, रहस्य और उत्तेजनात्मक विभावनाओं को जन्म देता है और इसका बहुत कुछ सम्बन्ध सामान्य लोकमानस से होता है। इस विकसित प्रवृत्ति ने बाद में संस्कृत भाषा को भी प्रभावित किया और छठी शती के आसपास से संस्कृत के मौलिक साहित्य की प्रकृति क्लैसिक न होकर रोमाञ्चक दिखायी पड़ती है।

वैदिक, पौराणिक साहित्य या रामायण, महाभारत में पाए जाने वाले ये आख्यान[१०] प्रसंगवश हैं। इन रचनाओं का स्वभाव भिन्न है। महाभारत और रामायण 'वीरकाव्य' हैं, जिनका प्रभाव राष्ट्रीय एकान्विति और वीरत्व में है, जिनका उद्देश्य जीवन के बड़े लक्ष्य हैं। किन्तु पौराणिक साहित्य की रचना के युग में ही उधर एक अन्य प्रकार के साहित्य का भी निर्माण होता जा रहा था जिसके विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता और जो, इसी कारण बहुधा कथा साहित्य के नाम से उससे पृथक् गिना जाता है। यह साहित्य बौद्ध जातकों, जैन धर्म कथाओं तथा, गुणाढ्य, क्षेमेन्द्र, सोमदेव जैसे कई कथाभिज्ञों की विविध रचनाओं के संग्रहों में उपलब्ध हैं।[११] निश्चय ही इस साहित्य का वातावरण सामान्य जीवन और चमत्कारप्रियता से भरापूरा है। इन ग्रन्थों में एक केन्द्रीय कथानक का अभाव, कथा के विकास की अपेक्षा 'कहते जाने' का तत्व, अति

मानवीय घटनाओं की बहुलता, प्रेम और कामुकता, साहसिक कृत्य (फैशन के रूप में), नायक-नायिका का संकट में पड़ना और देवी-देवता या किसी अमानवीय शक्ति द्वारा सहायता, जादू-टोने का प्रभाव आदि की अधिकता ऐसी चीजें हैं, जो इस साहित्य को पिछली धारा से भिन्न कर देती हैं, जहाँ से रोमाञ्चक आख्यान की परम्परा प्रारम्भ होती है। यह जीवन के प्रति विकसित एक रोमांस-बोध था, जो इस साहित्य में अभिव्यक्त हुआ। सम्भवत: जब मनुष्य को अपनी शक्ति पर विश्वास कम होता गया और दुर्बलता का बोध बढ़ता गया, तब उसकी मनोवृत्ति खण्डित और ह्रासोन्मुख होने लगी। जादू-मन्त्र, देवी-देवता की सहायता आदि तत्व इसके प्रमाण हैं। रहस्य, चमत्कार और अतिकल्पना के कारण असन्तुलित मानवीय परिस्थितियाँ उभर आईं और जीवन, दर्शन, धर्म, प्रेम आदि के प्रति प्रेरणा की अपेक्षा उत्तेजना और भावोद्वेग ने स्थान ले लिया। जीवन-गत इस विशिष्ट बोध का प्रभाव साहित्यिक शिल्प पर एक दूसरी तरह से हुआ और रोमाञ्चक आख्यान साहित्य का एक प्रमुख लक्षण कथा का व्यवस्थित विकास न होकर घटना का विवरणात्मक अव्यवस्थित बढ़ाव है। सामान्य लोगों की भाषा, सामान्य अभिव्यक्ति के स्रोत और शैली, सामान्य जन का जीवन, तात्विक बातों को उसकी महानता में न समझ पाने के कारण रहस्य चमत्कार से उसकी पूर्ति तथा विदेशियों के आक्रमण और आगमन से तत्कालीन समाज का अव्यव-स्थित होना[३२], इन तत्वों ने 'क्लैसिक बोध' को खण्डित करना प्रारम्भ कर दिया था। इस खण्डित बोध की अभिव्यक्ति सबसे पहले लोक भाषा में कथा साहित्य के माध्यम से हुई। फलतः प्रारम्भ में इसकी विशेषता कथा में रहस्य, चमत्कार और कहते जाने का तत्व प्रमुख था। बाद में नैतिकता और धर्म इसके प्रमुख उद्देश्य बन गए और लगभग पाली और प्राकृत का सारा साहित्य धर्म और नैतिकता के प्रचार से भरा पड़ा है।[३३] जैन मुनियों ने महापुरुषों तीर्थंकरों और जैन धर्म के उन्नायकों के चरित्र लिखे, शृंगार कथा के बहाने धर्म का उपदेश दिया और जनता के सामने आदर्श रखने का प्रयत्न किया। वसुदेवहिंडी के एक उल्लेख से इसे अच्छी तरह जाना जा सकता है—

"धर्म और काम से ही सुख की प्राप्ति होती है तथा धर्म, अर्थ और काम का मूल है धर्म और इसमें लोग मन्दतर रहते हैं। अमृत औषधि पीने की इच्छा करने वाले किसी रोगी को जैसे कोई वैद्य मनोभिलषित वस्तु देने के बहाने उसे अपनी औषधि भी दे देता है उसी प्रकार जिन लोगों का हृदय काम-कथा के श्रवण में संलग्न है उन्हें शृंगार कथा के बहाने मैं अपनी इस धर्म कथा का श्रवण कराता हूँ।[३४]" बुराई को अच्छाई में परिवर्तित करने के लिए बहुत-सा आख्यान साहित्य सृजित किया गया।[३५]

इस प्रकार धर्म और नैतिकता के तत्व ने—जो स्पष्ट रूप से शौर्य (Chivalry) के पहले रोमांस का तत्व बना—रोमाञ्चक आख्यानों के विकास और प्रगति का एक प्रमुख हेतु रहा। कन्याओं का कौमार्य और स्त्रियों की सतीत्व रक्षा भी एक ऐसा तत्व है जिसके लिए अनेक कथाओं की रचना की गयी।[३६]

यूरोप में भी सन्तों की जीवनियाँ लिखी गईं और यहाँ तक कि इन्हें 'रोमांस' का उद्गम स्रोत मान लिया गया। चूंकि ये स्तुतिपरक 'सन्तचरित' किसी प्रकार की आलोचना से स्वतन्त्र थे इसलिए इनमें लोकवार्ता, आश्चर्य तत्व अलंकरण और सन्दर्भ कथाएँ आदि मिश्रित कर दी गयीं, जिससे क्लैसिक साहित्य की सौम्यता पर प्रहार हुआ। बाद में निस्सन्देह 'सन्त चरित' की प्रति-

क्रिया में उच्छृंखल रोमांस उत्पन्न हो गए। लेकिन इस बात में बहुत कम सन्देह किया जा सकता है कि रोमांस यदि सन्तचरित से नहीं उत्पन्न हुए तो भी इस तत्व से उन्हें बहुत बल और प्रेरणा मिली।[37]

आगे चल कर ११वीं-१२वीं शती के आसपास शौर्य का तत्व मिल गया, इस प्रकार रोमाञ्चक आख्यान के विभावन को पूर्णता मिली।[38] 'किसी भी बहाने युद्ध' उस युग की एक बड़ी विशेषता थी। इस प्रकार वह राष्ट्रीय भावना से प्रेरित न होकर खाली समय बिताने की असन्तुलित उत्तेजना मात्र थी जिसने उस समय अनेक शौर्य प्रधान रोमाञ्चक आख्यानों की सृष्टि में योग दिया। पृथ्वीराज रासो और आल्हाखण्ड इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।[39]

महाकाव्य और रोमाञ्चक आख्यान

संस्कृत के बाद प्राकृत और अपभ्रंश में महाकाव्य का स्वरूप खण्डित हो चुका था और उसके स्थान पर कथा-काव्य का स्वरूप विकसित हो गया था, क्योंकि महाकाव्यों के लिए जिस उदात्त सांस्कृतिक चेतना की आवश्यकता होती है, वह पुनः १५वीं शती के बाद उभरती है और तब हिन्दी में फिर महाकाव्य का स्वरूप दिखायी पड़ता है जिसका प्रारूप प्राकृत अपभ्रंश के काव्यों से बहुत हद तक निर्मित हुआ था।

प्राकृत और अपभ्रंश को संस्कृत के समान कभी आदर नहीं मिला। विद्वानों की दृष्टि में वह उच्च और उदात्त साहित्यिक कृति या चिन्तन के लिए अनुपयुक्त ठहराई गयी थी यहाँ तक कि प्राकृत की सामर्थ्य और उसमें श्रेष्ठ साहित्य सृजित हो सकने की क्षमता के पक्षधरों ने भी संस्कृत में लिखना आवश्यक समझा था। प्राकृत अज्ञजनों को सद्बोध प्रदान करनेवाली भाषा ही समझी जाती रही, उत्कृष्ट दार्शनिक या साहित्यिक चिन्तन की नहीं।[40] किन्तु यह भी सच है कि प्राकृत ही सारे जन सामान्य की भाषा थी, संस्कृत तो कुछ उच्च पण्डितों तक ही सीमित थी इसलिए तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन का प्रतिफलन प्राकृत अपभ्रंश में सहज सम्भव था और प्राकृत अपभ्रंश के लेखकों के सामने राष्ट्रीय एकान्विति या उदात्त सांस्कृतिक समस्याएँ या उच्चस्तरीय सौन्दर्य बोध के दृष्टिकोण के प्रति सचेतना अधिक थी नहीं। प्राकृत अपभ्रंश में रचित साहित्य इस बात का प्रमाण है कि उनके सामने सम्प्रदायवादी धार्मिक या ह्रासोन्मुख रुचि की सन्तुष्टि या शौर्य कार्यों के आदर्श प्रधान रहे हैं जिसने समाज में प्रेरणा की अपेक्षा उत्तेजना का कार्य अधिक किया और इस प्रकार उस युग का साहित्य या तो धार्मिक रोमाञ्चक आख्यान या लौकिक प्रेमपरक रोमाञ्चक आख्यान या शौर्य प्रधान रोमाञ्चक आख्यान है, जिसमें सौन्दर्यानुभूति की व्यापकता और उदात्तता की अपेक्षा तात्कालिक उद्देश्य सिद्धि (धर्म, मनोरंजन या शौर्य) का तत्व अधिक मुखर हो गया लगता है। फलतः अपने तात्कालिक उद्देश्यसिद्धि की सार्थकता से अधिक का स्तर या महत्व शायद ये नहीं प्राप्त कर सके। ऐसे वातावरण में महाकाव्य की प्रकृति साधारणतया नहीं विकसित हो सकी।

डॉ० शम्भूनाथ सिंह ने महाकाव्यों के स्वरूप विकास पर विचार करते हुए प्राकृत और अपभ्रंश के (तथाकथित) महाकाव्यों पर भी विस्तार से विचार किया है। उन्होंने कई महाकाव्यों के नाम गिनाए हैं, किन्तु अपनी सुविधा के लिए प्राकृत का पउमचरिउ, अपभ्रंश का भविसत्तकहा

और हिन्दी का पृथ्वीराज रासो अपने विश्लेषण के लिए चुना है जो वास्तव में महाकाव्य न होकर रोमाञ्चक आख्यान साहित्य है।

११८ पर्वों के पउमचरिउ में राजा श्रेणिक के प्रश्न पूछने पर गौतम गणधर द्वारा कही गयी राम कथा का वर्णन विमल सूरि ने किया है। पहले उद्देशक में विश्व की स्थिति, लवकुश की उत्पत्ति, निर्वाण, दूसरे पद्मचरित के सम्बन्ध में राजा श्रेणिक द्वारा शंका करना, राजगृह, राजा श्रेणिक, महावीर और उनके उपदेशों का वर्णन है। रावण के मांसभक्षी होने का खण्डन, ऋषभदेव चरित का वर्णन, विद्याधरों की उत्पत्ति आदि, तीसरे उद्देशक के विषय हैं। चौथे उद्देशक में भगवान् ऋषभ के उपदेश, बाहुबलि की दीक्षा, ब्राह्मणों की उत्पत्ति, पाँचवें में इक्ष्वाकु, सोम, विद्याधर, हरिवंश इन चार महावंशों की उत्पत्ति, अजितनाथ का चरित वर्णन, छठे में राक्षस और वानरों का प्रवज्या धारण, वानरों को विद्याधर की जाति बताया जाना और सातवें उद्देशक में रावण का जन्म, इन्द्र लोकपाल इन्द्रश्रवण की कथा आदि का वर्णन है। आठवें उद्देशक में कुम्भकर्ण, विभीषण, रावण मन्दोदरी का विवाह, नवें में बाली सुग्रीव वृत्तान्त, दसवें में रावण की दिग्विजय, ग्यारहवें में रावण को जिनेन्द्र का भक्त बताना और जिन मन्दिर के निर्माण का वर्णन है।

इसके बाद तापसों की उत्पत्ति, मनोरमा (रावण की पुत्री) का विवाह, रावण का नल कुबेर और इन्द्र से युद्ध, मेरु पर्वत पर रावण का चैत्य गृहों की वन्दना करना, अनन्तवीर्य द्वारा धर्म का उपदेश, श्रमण और श्रावक धर्म का निरूपण, पवनजय और अंजना सुन्दरी का भोग, चक्रवर्ती और वलदेव के भावों का वर्णन, मुनि सुव्रत तीर्थंकर का वृत्तान्त तथा २०वें उद्देशक के बाद पहली बार जनक और दशरथ की चर्चा की गई है। फिर दशरथ का विवाह, पद्म (राम) लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि का वर्णन, मिथिला में सीता का स्वयंम्बर, दशरथ के प्रवज्या ग्रहण का निश्चय, राम वनगमन, भरत को राज्य, सीताहरण, लक्ष्मण के द्वारा रावण वध, अयोध्या पुनरागमन, भरत-कैकेयी का दीक्षा ग्रहण, राम का राज्याभिषेक, सीता को जिन पूजा का दोहद और उनके सम्बन्ध में प्रवाद, पुनः सीता वनवास, बाद में सीता की अग्निपरीक्षा, उनका जैन दीक्षा स्वीकार करना, राम का तपस्या करके निर्वाण प्राप्त करना और लक्ष्मण का नरक में जाना आदि वर्णित है। इसके अतिरिक्त बीच-बीच में और बहुत-सी कथाएँ और जैन-धर्म का निरूपण आदि मिलता है।

इस ग्रन्थ में सबसे पहले कोई केन्द्रीय वस्तुतत्त्व नहीं, मात्र जटिल घटनाओं का जोड़ और उसका बढ़ाव है। "काव्य सौष्ठव की अपेक्षा आख्यायिका के गुण अधिक हैं, ऐसा लगता है जैसे कोई आख्यान सुनाया जा रहा है।"[४१] कोई केन्द्रीय चरित उभरकर नहीं आता न उसका चरित्र चित्रण ही प्रमुख हो पाया। साम्प्रदायिक धर्म के प्रचार के अतिरिक्त किसी सांस्कृतिक समस्या या शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण का नितान्त अभाव है। इसके लिखने का उद्देश्य कदाचित यह बताना भी रहा है कि वाल्मीकि रामायण अविश्वसनीय घटनाओं से भरा हुआ है, उसमें रावण को माँसभक्षी कहा गया है जो उचित नहीं। इसको महाकाव्य मानने के सम्बन्ध में डॉ० सिंह का मत बड़ा मनोरंजक लगता है "....कुल मिला कर यह पुराण से अधिक महाकाव्य ही है, क्योंकि सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर आदि का वर्णन इसमें नहीं है। इसके विपरीत इसके प्रारम्भ में ही तीर्थंकरों की वन्दना, देश-वर्णन, संवाद रूप में कथा का वस्तु निर्देश और पहले अध्याय में ही सभी अध्यायों का सार संक्षेप में दे दिया गया है। इस प्रकार यह वाल्मीकि रामायण के ढंग का उसी शैली में लिखा गया प्राकृत

महाकाव्य है।"[42] चरित्रों का नाटकीय संयोजन, उदात्त सांस्कृतिक भावभूमि और उत्कृष्ट सौन्दर्य-बोध के अभाव में भी उपर्युक्त गुणों के कारण किसी ग्रन्थ को महाकाव्य कहा जाना, शायद उसके विशालकाय होने के कारण या महाकाव्य के कुछ बाह्य तत्वों के मिल जाने के कारण ही सम्भव हो सकता है। चरित्रों को संघर्षात्मक मानवीय परिस्थितियों में रख कर निर्णय लेने देने की स्वतन्त्रता कहीं नहीं दी गयी है, फलतः किसी का व्यक्तित्व नहीं उभरता। लेखक अपना उद्देश्य उन पर थोपता जाता है, फलतः वस्तु का स्वाभाविक विकास न होकर 'बढ़ते जाना' (Prolongation) का तत्व प्रधान है, जिससे उसका शिल्प संगठित महाकाव्य का न होकर धार्मिक रोमाञ्चक आख्यान का हो गया है।

प्राकृत में यह नया काव्य रूप विकसित हुआ था जिसे महाकाव्य कहना तथ्य की उपेक्षा करना होगा। स्वयं ग्रन्थकारों ने भी अपने ग्रन्थों को कथा-काव्य ही कहा है। डॉ० सिंह भी स्वीकार करते हैं कि प्राकृत में महाकाव्य और कथा का भेद मिट गया था[43] और यह स्वयं इस बात का प्रमाण है कि वह एक नवीन साहित्य रूप रहा है जिसे महाकाव्य के लक्षणों से पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। यह नया साहित्य रूप जनता के लिए पहले के महाकाव्यों की अपेक्षा अपनी ताजगी के कारण अधिक रुचिकर था। धार्मिक आख्यानकारों ने बारबार लौकिक प्रेमपरक आख्यानों के प्रति जनता की बढ़ती रुचि का संकेत किया है।[44] किन्तु उनकी शैली और अभिव्यक्ति कला से अधिक फैशन है और फैशन का महत्व तात्कालिक से अधिक कुछ नहीं होता।[45]

प्राकृत ग्रन्थों के बाद डॉ० सिंह ने अपभ्रंश के प्रायः सभी चरित ग्रन्थों और कथा-काव्यों को महाकाव्यों की सूची में गिना दिया है।[46] भविसयत्तकहा (धनपाल) जो शुद्ध धार्मिक रोमाञ्चक आख्यान है, उसके महाकाव्यत्व के सम्बन्ध में लेखक का मत है "इनमें से 'भविसयत्तकहा' ही ऐसा ग्रन्थ है जिसे निश्चित रूप में महाकाव्य कहा जा सकता है।"[47] किन्तु "भविसयत्तकहा" में लेखक जिनके उच्च गुणों का वर्णन करके अपने तथाकथित महान महाकाव्योचित (?) उद्देश्य का वर्णन करता है कि मैं "सुयपंचमी" का वर्णन करने जा रहा हूँ।[48] वस्तु का विकास तो भविसयत्त कहा में है ही नहीं, घटनाओं का वर्णन बहुत असम्बद्ध रूप में बढ़ाया गया है। उसका पहला भाग अपने में सम्पूर्ण है जिसमें कमलसिरी का विवाह पुत्रोत्पत्ति, पति की उदासीनता, बन्धुदत्त और भविसयत्त की यात्रा, भविसयत्त का तिलकद्वीप में छोड़ दिया जाना, उजाड़ नगर, राक्षस और लड़की का मिलना, फिर वहाँ सुख से रहना, बन्धुदत्त का लौटना और भविसयत्त की पत्नी को लेकर तथा उसे छोड़कर फिर घर आना, अन्त में भविसयत्त का भी पहुँचना और भण्डाफोड़ होना आदि है। बाद में फिर पोयणपुर के चित्रांग का युद्ध, जिसका कोई कारण नहीं मिला दिया गया है। फिर सुवक्क दुवक्क की कथा, तिलकद्वीप में जाकर जिन पूजा करना और वहाँ ज्योतिषियों द्वारा पूर्वभवों का वर्णन आदि अपने में बहुत कुछ स्वतन्त्र हैं और इस प्रकार कथा को केन्द्रीयता तो मिल ही नहीं पाती, महाकाव्यों की गरिमा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। जगह-जगह पर जिन महत्व, जैन विश्वास और 'सुयपंचिमी' के महत्व को थोपा गया है। चरित्रों के नाटकीय संयोजन का भी इसमें प्रश्न नहीं उठा, क्योंकि लेखक का उद्देश्य कथावर्णन के माध्यम से सुयपंचमी का माहात्म्यवर्णन करना है। अद्भुत और चमत्कारपूर्ण कार्यों से यह ग्रन्थ भरा पड़ा है और इसे महाकाव्य तभी कहा जा सकता

है, जब कथासरित्सागर को भी महाकाव्य मान लिया जाय। वैसे 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास' के लेखक ने कथासरित्सागर को भी महाकाव्य मान लिया है।

तीसरा और सबसे विवादास्पद ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो है। इस सम्बन्ध में केवल तीन बातों का विश्लेषण—१. रासो का वातावरण प्रकृति, २. नायक और नाटकीय चरित्र संयोजन तथा ३. कथा संयोजन—की चर्चा की जायेगी।

सामने मूँछ ऐंठ लेने पर कन्ह द्वारा भीमदेव चालुक्य के एक भाई का वध किया जाना, पृथ्वीराज और भीमदेव में शत्रुता और युद्ध, शशिव्रता का हरण, कैमास की दासी अनुरक्ति, पृथ्वीराज द्वारा उसका वध किया जाना, सामन्तों शुभचिन्तकों के मना करने पर भी संयोगिता के लिए कन्नौज जाना और रनिवास से आज्ञा लेने के बहाने छहों ऋतुओं का वर्णन, संयोगिता के आने पर विलास में लीन होना, गोरी से युद्ध और दुःखद अन्त, ये सारी घटनाएँ पृथ्वीराज रासो को एक "नाइट" (Knight) के आसपास का वातावरण दे देती हैं। इस कथानक (Plot) को वस्तु का रूप देकर कवि का उद्देश्य उदात्त सांस्कृतिक स्तर या उदात्त चरित्र का आदर्श अभिव्यञ्जित करना नहीं रहा है जितना पृथ्वीराज का शौर्य (Chivalry) प्रदर्शन और विलास वर्णन। इन सारी घटनाओं का कारण तत्कालीन उत्तेजना लगती है कोई महत्प्रेरणा नहीं और यह 'उत्तेजना' रासो के स्वभाव और प्रकृति को महाकाव्य की 'क्लैसिक गरिमा न देकर शौर्य प्रधान रोमाञ्चक आख्यान' (Chivalrous Romance) की ह्रासोन्मुख और ओढ़ी हुई वीरभावना का वातावरण दे देती है।

पात्रों के चरित्र की नाटकीय संयोजना भी रासो में नहीं हुई है, जिसके बिना काव्य केवल इतिहास या रोमाञ्चक आख्यान मात्र रह जाता है।[४९] विविध मानवीय परिस्थितियों को उत्पन्न करके कवि ने चरित्रों को सन्तुलित ढंग से विचार करके निर्णय लेने देने का अवसर कहीं भी शायद नहीं दिया है। लगभग सारे मुख्य पात्र स्वयं नायक ही तात्कालिक उत्तेजनावश ही कार्य करता है। मन्त्रियों के मना करते रहने पर भी संयोगिता का रूप-मोह वह नहीं छोड़ पाता, अपनी रानियों से आज्ञा लेने में ही उनकी आज्ञा पालन में ही उसके चरित्र की तथाकथित दृढ़ता निर्मित होती है। छिप कर कैमास का वध कर देना फिर उसके लिए पश्चात्ताप करना उसकी अदूरदर्शिता का ज्वलन्त प्रतीक है। रासो का सबसे महत्वपूर्ण प्रसंग गोरी से युद्ध और पृथ्वीराज की हार का महत्व एक घटना से अधिक और क्या है? पृथ्वीराज का उससे लड़ना अनिवार्य था, अन्यथा उसके शौर्य को धक्का लगता, इसलिए लड़ता है। वहाँ उद्देश्य राष्ट्रीय एकान्विति—जो उस समय खण्डित हो चुकी थी—न होकर शौर्य पर आँच न आने देने की बात शायद अधिक संभव थी, क्योंकि राष्ट्रीय एकान्विति की भावना रहने पर उसके सारे चरित्र का संगठन ही प्रेरणा पर निर्भर रहता, उत्तेजना पर नहीं।[५०]

संगठित कथा-प्रवाह की कुछ सीमाएँ होती हैं, जो एक परिमित दूरी तक ही किसी घटना-वर्णन को समाहित कर सकती हैं। संयोगिता के लिए पृथ्वीराज को कन्नौज प्रस्थान करना है, मन्त्री मना करते हैं, किन्तु कवि रानियों से (पृथ्वीराज) आज्ञा अवश्य मँगवाता है, इसलिए कि उसे छहों ऋतुओं का वर्णन (उस काल का एक अभिप्राय) अवश्य करना था और इससे "इतना यह भी सही" के कारण कथा का विकास की अपेक्षा "कहते जाने" (Prolongation rather than the evolution of story) का तत्व विकसित हो गया जो कथा की अन्विति को खण्डित

करता है। पृथ्वीराज के मारे जाने के बाद दिल्ली और कन्नौज पर मुसलमानी अधिकार की कथा भी दी गयी है, यद्यपि उसके मरने के बाद एक प्रकार से कथा समाप्त हो जाती है। इस प्रकार भरती का बहुत कुछ रखा जाने के कारण इसका कथाशिल्प और उसका व्यवहार भी रोमाञ्चक आख्यान का हो गया है।[११] आख्यानों में कथा तत्व अधिक उभरा हुआ होता है और यह तत्व रासो में कम नहीं है जिससे रासो की काव्य-शैली अपेक्षाकृत दब सी गई है और "भट्टभणन्त" की मात्रा अधिक लगने लगती है।[१२] पृथ्वीराज रासो को प्रेमाख्यानक काव्य कहा भी गया है।[१३] इस तरह पृथ्वीराज रासो को महाकाव्य की अपेक्षा शौर्य प्रधान रोमाञ्चक आख्यान कहना अधिक उपयुक्त है।

अभी हाल ही में डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने पृथ्वीराज रासो का वैज्ञानिक रीति से सम्पादन किया है। इस सम्पादित कृति में रासो का स्वरूप महाकाव्य की भांति प्रतीत होता है। क्योंकि उसमें घटनाओं की भरती और अव्यवस्थाएँ नहीं मिलतीं। उपर्युक्त विवेचन रासो के परिवर्तित रूप को ध्यान में रख कर किया गया है।

कुछ विशेषताएँ

महाकाव्य और रोमाञ्चक आख्यान की विभाजक रेखा यदि किसी तत्व से अधिक सम्भव है तो वह है 'प्रेरणा'। यदि कवि की दृष्टि किसी क्लैसिक धरातल से सम्बद्ध होती है तो उसमें एक सन्तुलन आ जाता है और वह जीवन को आवेगों और उत्तेजनाओं से ऊपर किसी आदर्श की पीड़ा से सृजन करता है और तब वह सृजन मानसिक क्रिया के उन्नत धरातल पर होता है। दूसरी ओर यदि लेखक का दृष्टिकोण खण्डित जीवन-भावना के भीतर से उभरता है तो सन्तुलित प्रेरणा की अपेक्षा आवेगशील उत्तेजना प्रधान हो उठती है और वह पूरी कृति को एक भिन्न स्वभाव और भिन्न रूप दे देती है, जो मानसिक क्रिया के अपेक्षाकृत निचले स्तर पर प्रतिफलित होता है।

प्रेरणा और उत्तेजना दोनों में मूलभूत अन्तर होने से हम बड़ी आसानी से दोनों प्रकार के वर्णनात्मक काव्यों में अन्तर पा सकते हैं।[१४] पहली प्रकार की कृति में कहानी को वस्तु के रूप में निर्मित किया जाता है और उस वस्तु का संगठित विकास दिखाया जाता है और इसलिए कथानक लोगों की कल्पना को आकर्षित करने के लिए स्वयं में समर्थ होता है जब कि उत्तेजनापरक रोमाञ्चक साहित्य में कथानक को केवल बढ़ाया जाता है, इसलिए वस्तु तत्व का विकास नहीं होता। उनमें बीच-बीच में या अंत में धार्मिक उद्देश्य थोप दिया जाता है या रोमाञ्चक काल्पनिक चमत्कारपूर्ण अन्तर्कथाओं द्वारा ह्रासोन्मुख रुचि को सन्तुष्ट किया जाता है अथवा किसी शूर (Knight) के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन द्वारा खण्डित वीर भावना की तात्कालिक पूर्ति की जाती है।[१५]

कथा संगठन द्वारा महाकाव्यों में सांस्कृतिक या उच्चतर मानवीय उद्देश्य या सार्थकता राष्ट्रीय या सार्वभौमिक धरातल पर विविध मानवीय परिस्थितियों के नाटकीय संयोजन से उद्भूत होता है जब कि रोमाञ्चक आख्यानों में उद्देश्य या सार्थकता के प्रति वह गम्भीरता नहीं रहती और इसी कारण उनके व्यवहार में अन्तर आ जाता है, वह विविध मानवीय परिस्थितियों के भीतर से न उद्भूत होकर थोप दिया जाता है, जो एक प्रकार से निकृष्ट साहित्यिक प्रतिभा का द्योतक है। यद्यपि रोमाञ्चक आख्यानों में बीच-बीच में बहुत सुन्दर काव्यात्मक वर्णन मिल जाते हैं, किन्तु सन्तुलित संगठन और विशिष्ट साहित्यिक औदार्य उनकी वस्तु कल्पना में नहीं प्रकट होता।

विविध मानवीय परिस्थितियों के भीतर से उद्देश्य की सार्थकता उद्भूत होने से महाकाव्यों में दो तत्व उभरते हैं, पात्रों का नाटकीय चरित्र-चित्रण तथा सहजता और स्वाभाविकता। महाभारत या रघुवंश या रामचरित मानस का महत्व उनके पात्रों के आदर्श चरित्र चित्रण में है। विविध मानवीय परिस्थितियों को उत्पन्न करके पात्रों को जो कुछ भी मानवीय, आदर्श और महत्त्व है, उसके प्रति स्वतन्त्र निर्णय लेकर कार्य करने देने की नाटकीय संयोजना उन्हें भिन्न धरातल दे देती है। फलतः उनका स्तर मानवीय होता है जिससे सहजता और स्वाभाविकता पूरी कृति में विहित मिलती है। उनमें अवान्तर कथाओं या विविध प्रसंगों का संयोजन मानवीय वास्तविकताओं और आदर्शों को उद्घाटित करने के लिए होता है। रोमाञ्चक आख्यानों में 'उद्देश्य अपेक्षतः कम कुशल कलात्मक प्रतिभाओं के कारण आरोपित होने से या सिर्फ मनोरंजन के कारण चरित्र-चित्रण प्रधान न होकर घटना विवरण प्रधान होता है और जटिल घटनाओं के जोड़ के कारण बहुत से अमानवीय अतिप्राकृतिक तत्वों की प्रधानता, जादू टोना, लोक विश्वास के तत्व मिल जाते हैं, फलतः महाकाव्यों की सहजता और स्वाभाविकता के स्थान पर अतिकाल्पनिकता और रहस्यमयता का वातावरण उभर आता है।

महाकाव्यों के पात्र सामान्य जीवन के परिचित परिस्थितियों के बीच काम करते हुए मानवीय होते हैं, जब कि रोमाञ्चक आख्यान के पात्र असामान्य परिस्थितियों में असामान्य ढंग से व्यवहार करते हैं और बहुत कुछ जादुई या असाधारण लगते हैं।

महाकाव्यों के पात्र अच्छे कारणों की उपस्थिति में युद्ध करते हैं।[५६] उनके लिए युद्ध अनिवार्य होने पर ही करणीय है। उनमें प्रबल राष्ट्रीय सांस्कृतिक भावनाएँ साहस और स्वाभिमान के स्तर पर प्रतिफलित होती हैं।[५७] जब कि रोमाञ्चक आख्यान में पात्र मूँछ ऐंठ लेने पर भी लड़ सकते हैं, वध कर सकते हैं, फलतः राष्ट्रीय और सांस्कृतिक के स्थान पर व्यक्तिगत झगड़े और शौर्य प्रदर्शन (Chivalrous performances) की भावनाएँ दुस्साहस और झूठे अभिमान और मर्यादा के स्तर पर उभरती हैं। इनमें युद्ध और दुस्साहसी कार्य आवश्यक होने पर नहीं 'फैशन' के रूप में अपनाए जाते हैं। रोमाञ्चक आख्यानों में राष्ट्रीय भावनाओं का मिलना आकस्मिक होता है।[५८]

महाकाव्य नैतिकता या धर्म मानवीय पथ प्रदर्शन का काम करते हैं जब कि रोमाञ्चक आख्यानों में उनका औचित्य बोध समाप्त हो जाता है और कठोर नियम या सिद्धान्त मात्र रह जाते हैं जो बाह्यारोपित से लगते हैं।

रोमाञ्चक आख्यान के तत्त्व

धर्म, शौर्य (Chivalry) और प्रेम (बहुत कुछ कामुकता) ये तीन तत्व थे जिनके नए विकसित विभावन (concept) ने उस युग की सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि को ही परिवर्तित कर दिया था। एक प्रकार से यह युग अतियों (Extremes) का युग रहा है। किसी भी बात को जीवन के सन्तुलित परिप्रेक्ष्य में रख कर देखने की धारणा लगभग समाप्त हो गयी थी। फलतः धर्म, शौर्य और प्रेम इन सबके प्रति प्रेरणा पर आधारित सन्तुलन की अपेक्षा उत्तेजना पर आधारित अतिवादिता की दृष्टि विकसित हो गयी थी। अतिवादिता स्थायी और जीवन्त होने की अपेक्षा

तात्कालिक और अवास्तविक होती है जिससे कलात्मकता की अपेक्षा फैशनपरस्ती बढ़ती है। फैशनपरस्ती में मौलिकता नहीं अनुकरण को महत्व मिलता है। मध्ययुग के सारे रोमाञ्चक आख्यान साहित्य के विश्लेषण से स्पष्ट है कि कुछ अभिप्रायों की सहायता से अपने सामयिक उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए लगभग एक ही ढर्रे की रचनाएँ विभिन्न नायक-नायिकाओं के नामों से रची गई।[७९]

धर्म

रोमाञ्चक आख्यानों में धर्म एक ऐसा तत्त्व है, जिसमें उसके स्वरूप को निर्मित करने में अधिक योग दिया है। एक जर्मन सिद्धान्त के अनुसार रोमाञ्चक आख्यान का उद्भव बड़ी धर्म-यात्राओं में अपने अतिथियों के मनोरञ्जनार्थ संन्यासियों द्वारा उनके अपनाए जाने के कारण हुआ था।[८०] इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार धर्म रोमाञ्चक आख्यानों की उत्पत्ति का मूल स्रोत है।[८१] खैर धर्म इन आख्यानों की उत्पत्ति का मूल स्रोत हो न हो कम से कम उनके विकास का एक बहुत बड़ा कारण तो है ही।[८२]

हिन्दू धर्म के विरोध में जैन और बौद्ध धर्म का उदय जब कोई ठोस सामाजिक व्यवस्था का विकल्प नहीं दे सका तो साधारणतया भारतीय जीवन के बीच वह स्वीकृत भी नहीं हो सका। इन दोनों धर्मों में संन्यास व्यवस्था और मोक्ष के सामने गार्हस्थिक और सामाजिक दृष्टियों को एकदम भुला दिया गया। इस असंतुलन के कारण यदि २५ वर्ष का संन्यासी जीवन के स्वाभाविक आकर्षणों के प्रति लुब्ध हो कर भ्रष्ट हो जाय तो क्या आश्चर्य है। फलतः बौद्धों में बाद में जो विकृति आ गई वह बहुत कुछ इसी असमय संन्यास के कारण है। जैन साधु और साध्वियों में भी परस्पर यौन आकर्षण और कामुकता की ओर झुकाव के सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। 'बृहत्कल्प भाष्य' में एक जैन साधु अपनी दुर्बलता का कारण एक साध्वी को बताता है—

संदेसणेण पीई, पीईउ रईउ वीसम्भो।
वीसंभाओ पणओ, पंचविह वड्ढए पिम्मं।
जह-जह करोसि नेहं तह तह नेहो मे वड्ढइ तुमम्मि
तेण नाडिओ मि वलियं जं पुच्छसि दुब्बलतरोत्ति।।

"दर्शन से प्रीति उत्पन्न होती है, प्रीति से रति, रति से विश्वास और विश्वास से प्रणय उत्पन्न होता है। इस तरह प्रेम पाँच प्रकार से बढ़ता है। जैसे-जैसे मैं स्नेह करता हूँ तुम्हारे प्रति मेरी प्रीति बढ़ती है। किन्तु इस स्नेह से मैं वंचित रहता हूँ यही मेरी दुर्बलता का कारण है।"[८३]

और,

"जैसे अत्यन्त दुर्बल अवस्था को प्राप्त घोड़ा भी घोड़ियों के बीच में रहता हुआ क्षोभ को प्राप्त होता है, वही दशा स्त्रियों के बीच में रहते हुए तपोनिष्ठ तरुण साधु की होती है।"

और,

निशीथ चूर्णी में भी साधु-साध्वियों की कामुक इच्छाएँ प्रकट हुई हैं[८४]—

"...साधु उसे स्नेह भरी दृष्टि से देखता है यह देख कर साध्वी ने उससे प्रश्न किया—क्या देख रहे हो ?"

"दोनों की तुलना कर रहा हूँ। हँसने, बोलने और सुन्दरता में तुम मेरी भार्या से बिल्कुल मिलती जुलती हो, तुम्हारा दर्शन मेरे मन में मोह उत्पन्न करता है।"

"यदि मुनि की बुद्धि स्थिर हो तो भी जैसे घी को अग्नि के पास रखने से पिघल जाता है, वैसे ही मुनि और आर्या का मन चंचल हो उठता है।"[६४]

इस प्रकार इन साधु-साध्वियों के अतृप्त और एकान्तिक जीवन उनकी तपश्चर्या आदि से स्नायविक प्रवृत्तियाँ उभरने लगी थीं जिससे जीवन के प्रति कृत्रिम और असंतुलित जीवन दृष्टियाँ विकसित हो गईं। उस समय लोग संन्यासियों में श्रद्धा रखने से अधिक भयग्रस्त थे कारण कि संन्यासियों में चमत्कार की अद्भुत क्षमता थी और लोग उनके रहस्य चमत्कारों में उनकी नैतिक शिक्षाओं की अपेक्षा अधिक रुचि रखते थे। फलतः व्यवस्थित धर्म-साधना और संतुलित जीवन-दृष्टिकोण के ये दोनों तत्व खंडित हो चुके थे और उसके स्थान पर अतिवादी संन्यासवृत्ति रहस्य-चमत्कार और जीवन के प्रति स्नायविक दृष्टिकोण उभर आये थे।[६५] यह उस सम्पूर्ण काल का मानसिक 'एटीट्यूड' था दार्शनिक विचारणा नहीं। धर्म इस सीमा तक जीवन में प्रवेश कर गया था आध्यात्मिक और क्षणिक का अन्तर सामान्य जन की धारणा से प्रायः लुप्त हो चुका था कि इस स्तरहीनता ने ईश्वर और धार्मिक गंभीरता को यहाँ तक गिराया कि जो धर्म के श्रेष्ठतम रहस्य और गंभीरतम विश्वास थे, वे चमत्कार और बचपने विश्वास में परिवर्तित हो चुके थे।[६६] नैतिक शिक्षाएँ पथ-प्रदर्शन की अपेक्षा ढर्रा बन चुकी थीं। विद्वानों का यहाँ तक विचार है कि धार्मिक प्रतीक जो प्रकृति के यथार्थ और जीवन के श्रेष्ठतम निःश्रेयस को व्यक्त करते थे वे धार्मिक रूपक के रूप में लौकिक यहाँ तक कि कामुक भावनाओं को व्यक्त करने के लिए ग्रहण कर लिए गए थे।

मध्ययुग प्रत्येक धार्मिक विचार को ठोस रूप दे देने में बहुत जल्दीबाजी करता रहा है और इसीलिए हर विचार विम्बों में व्यक्त होते हैं किन्तु ये विम्ब रूढ़ हो गए हैं जिससे अन्यापदेशिकता (Alegory) की प्रवृत्ति प्रधान हुई जो प्रतीकवाद से भिन्न है। "प्रतीकवाद दो प्रत्ययों (Ideas) के बीच के रहस्यात्मक संबंध को व्यक्त करता है जब कि अन्यापदेशिकता इस प्रकार के सम्बन्ध को एक दृश्य रूप दे देती है। प्रतीकवाद मस्तिष्क की गंभीर प्रक्रिया से उद्भूत होता है जब कि अन्यापदेशिकता सतही स्तर पर प्रतिफलित होती है।[६७] इस स्तर पर प्रतीक का प्रभाव सरलता से समाप्त हो जाता है। इस प्रकार रोमाञ्चक आख्यानों में अन्यापदेशिकता की प्रवृत्ति मध्ययुग में धर्म के प्रति अपेक्षाकृत सतही दृष्टि के कारण बहुत बलवती हो उठी थी। यहाँ साहित्य बहुत कुछ अपने विशिष्ट सौन्दर्य-बोध को खो कर धार्मिक प्रचार या मनोरंजन या 'भट्ट भणन्त' में परिवर्तित हो चुका था जिससे उसमें निहित शाश्वत मूल्य-भावना, एक प्रकार की अभिव्यक्ति की ताजगी और अलंकरण के रहते हुए भी आ नहीं सकी।[६८] वह एक फैशन बन कर रह गया कला नहीं।

प्रेम या कामुकता

मध्ययुग में प्रेम और कामुकता में प्रायः अन्तर नहीं रह गया था। स्त्री अर्द्धांगिनी और

धर्मविहित जीवनयापन में सहायिका न होकर केवल कामाचार का साधन मात्र रह गई थी। उवएस पद (उपदेश पद) में हरिभद्र सूरि ने जैन धर्म के उपदेशों की लौकिक-कथाओं के रूप में लिखा है। उसमें मित्र की सहायता को बताने के लिए मूलदेव और कंडरीक नामक धूर्त्तों की कथा दी गई है। एक बार यात्रा में उन्होंने अपनी युवा पत्नी के साथ जाते हुए एक पुरुष को देखा। कंडरीक उसकी पत्नी को देखकर मुग्ध हो गया। फिर मूलदेव ने उसे एक झाड़ी में छिपा दिया और उस पुरुष के पास जाकर कहा "देखो मेरी पत्नी झाड़ी में लेटी हुई है, वह प्रसव काल में है इसलिए जरा देर के लिए अपनी पत्नी को वहाँ भेज दो। पुरुष ने मूलदेव की प्रार्थना स्वीकार कर ली। कुछ समय बाद कंडरीक के साथ क्रीड़ा समाप्त हो चुकने पर वह मूलदेव के समक्ष उपस्थित हो हँसती हुई कहने लगी "हे प्रिय तुम्हें पुत्र उत्पन्न हुआ है।" फिर अपने पति को संबोधित करते हुए कहा––

खडि गड्डी वइल्ल तुंहु, बेटा जाया ताँइ
रण्णिवि हुँति मिलावणा मिरा सहाया जांइ

(तुम्हारी गाड़ी बैल खड़े हुए हैं, उसके बेटा हुआ है। जिसके मित्र सहायक होते हैं उसका अरण्य में भी मिलाप हो जाता है।)[६९]

कथाकोष प्रकरण में भी एक कथा है जिसमें किसी एक स्त्री का पति परदेश गया हुआ है और वह अपने महल की ऊपरी मंजिल पर केश संवार रही थी। रास्ते से जाते हुए एक राजकुमार ने उसे देखा। राजकुमार ने एक सुभाषित पढ़ा फिर उस स्त्री ने उत्तर दिया––

"पुण्यहीन पुरुष लक्ष्मी का उपभोग करना नहीं जानता। साहसी पुरुष ही पराई लक्ष्मी का उपभोग कर सकते हैं।"[७०]

और वह कई दिन तक उस स्त्री के साथ अपने साहस के बल पर काम-क्रीड़ाएँ करता रहा।

इस प्रकार मित्र की सहायता और पुरुष का साहस इन दो मानवीय तत्त्वों को इतने निचले स्तर पर उतार कर कामुक भावनाओं की तृप्ति की गई है। स्पष्ट ही स्त्री के प्रति संतुलन की दृष्टि रखने वाला व्यक्ति ऐसी कथाओं के सृजन की बात नहीं सोच सकता। रोमाञ्चक आख्यानों के नायक एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी और चौथी, पांचवीं, शादियाँ करते जाते हैं इसलिए कि उनके सामने प्रेम का संतुलित और प्रेरित स्वरूप खंडित हो चुका था तथा उत्तेजित कामुकता का रूप प्रधान हो गया था। इसीलिए स्त्रियों को सभी अनर्थों और बुराइयों का जड़ कहा गया।[७१] दूसरी ओर सती स्त्रियों की महिमा का भी बहुत महत्त्व बताया गया। सतपरक प्रेमाख्यानों की रचनाएँ और उनकी लोकप्रियता इसका प्रमाण हैं।[७२] ऐसे भी बहुत से नायक (पंवारों में) मिल जायेंगे जो एक ही स्त्री के प्रति आसक्त हैं, उसकी रक्षा अपना कर्त्तव्य समझते हैं और उसकी प्राप्ति में अपनी सार्थकता किन्तु उनका "ट्रीटमेंट" ऐसे वातावरण को प्रस्तुत कर देता है जो बहुत कुछ पागलपन की सीमा को व्यक्त करने लगता है। ऐसे ही अवसरों पर नायक और नायिका को अनेक कष्टों और विपत्तियों में फँसा हुआ स्वाँग की तरह का दुःखान्त रूप चित्रित किया जाता है जो कठिनाइयों में फँसे हुए मनुष्य का उस पर विजय और मानवीय

पौरुष की अपेक्षा विवशता और करुणा की अपेक्षा दया का वातावरण प्रस्तुत करता है जो अपेक्षाकृत हीनतर मानवीय भावनाएँ हैं।

मध्ययुगीन शूरों का एक प्रधान कर्त्तव्य रहा है निर्बलों की रक्षा। स्त्रियाँ निर्बल थीं इसलिए किसी विपत्ति में उनका पड़ना और नायक द्वारा उसकी रक्षा रोमाञ्चक आख्यानों की एक प्रधान प्रवृत्ति रही है और यह यहाँ तक बढ़ गया था कि वास्तविकता से उसका लगाव ही प्रायः टूट चुका था।[७३] पियर्स बटलर के अनुसार मध्ययुगीन प्रेम केवल लगातार प्रेम का बहाना मात्र था।[७४] प्रेम एक दिखावटी और उद्धत ढर्रा बन चुका था। यह एक सामाजिक आवश्यकता थी क्योंकि तत्कालीन जीवन आवेगों की क्रूरता और भयंकरता से इतना भरा हुआ था कि उसमें संतुलित प्रेम का उदय सहज संभव नहीं था।[७५] फलतः प्रेम होने के कुछ फार्मूले बन चुके थे। मंदिर या धर्मयात्राओं में, विपत्ति से बचाने में और अटारी से किसी राजकुमार से आँख मिल जाने से प्रेम प्रारंभ हो जाता है और फिर कुछ अभिप्रायों के सहारे पूरी कथा निर्मित हो जाती है। इस तथ्य ने रोमांञ्चक आख्यानों में अतिकल्पना और कामुकता के वातावरण के विस्तार में बड़ा योग दिया।

शौर्य (Chivalry)

सामंतकालीन शौर्य का विभावन किसी संतुलित उद्देश्य के उपयोग पर अपेक्षाकृत आधारित न होकर, प्रदर्शन पर हो गया था जिससे एक प्रतियोगितापरक वातावरण विकसित हुआ। यह शौर्य प्रदर्शन अपने आप में रोमांटिक था। इसके विपरीत वीर युग (Heroic Age) का नायक अनिवार्य होने पर ही युद्ध करता था। वीर युग का राष्ट्रीय युद्ध शौर्य काल में गृहयुद्ध और झगड़ों का रूप ले चुका था।[७६] उसकी वीरता यथार्थपरक थी जब कि मध्ययुगीन सामंत की वीरता प्रदर्शन, कल्पना और आवेगों पर आधारित थी, जिससे सामन्ती आदर्शों का विकास हुआ जो सामंती प्रतिज्ञाओं में देखे जा सकते हैं और उनका रूप बहुत कुछ धार्मिक का-सा था। इन प्रतिज्ञाओं में वाह्य रूप से एक नैतिक आदर्श का रूप दिखाई देता है किन्तु वस्तुतः वह नैतिकता के प्रति एक उत्तेजित और अतिवादी दृष्टिकोण था जिसका स्तर मनोरंजन और हँसी-ठठोली से अधिक नहीं था।[७७] उस क्रूर और आवेग के युग में उन प्रतिज्ञाओं और इस तरह के आदर्शों ने तत्कालीन समाज को बहुत बल दिया, जो उनके लिए एक आवश्यकता थी।

सामंत एक प्रकार से पूर्ण और एकदम स्वतंत्र था—भले ही जिसके पास अपने जीवन के अलावा और कुछ भी न हो—और वह प्रत्येक समय जरूरत पड़ने पर अपने जीवन को साहसिक कार्यों में डाल देता था। नायक इस तरह के अवसरों को ढूँढ़ा करता था, जहाँ वह अपने आदर्श दिखा सके, फलतः आदर्श का रूप जीवन से पृथक् और अति काल्पनिक होता गया।[७८] लोरिक और आल्हा ऊदल के साहसिक युद्ध, पृथ्वीराज रासो के अनेक पात्रों के घमंडी दुस्साहस इस दिखावटी आदर्श के नमूने कहे जा सकते हैं।

स्त्री नायकों के शौर्य प्रदर्शन का एक विशेष अभिप्राय बन गई थी। फलतः शौर्य-प्रधान रोमाञ्चक आख्यानों, पृथ्वीराज रासो, आल्हाखंड या लोरिक में विवाह और उस अवसर पर युद्ध आदि के अत्यधिक वर्णन मिलते हैं।

रोमाञ्चकता और अलौकिकता

रोमाञ्चक-आख्यान-साहित्य का, संभवतः इसे केन्द्रीय तत्त्व कहा जा सकता है। ए० बी० टेलर ने 'रोमांस' और 'रियलिटी' इन दो शब्दों के द्वारा इसे स्पष्ट करने की चेष्टा की है। "रियलिटी" से जीवन के वास्तविक और जीवन्त तथ्यों का बोध होता है जब कि रोमांस से अतिकल्पना और जीवन से पृथकत्त्व का।[७९] अतिकल्पना का यह तत्त्व मध्यकालीन जीवन दृष्टि के कारण बहुत अधिक उभर गया था। उस समय अनेक कारणों से धर्म, शौर्य, और स्वयं जीवन के बीच उन तत्त्वों को केन्द्रीयता प्राप्त हो गई थी। जो प्रेरणाप्रद न होकर उत्तेजनाप्रद थे। ये अलौलिकता और अतिकल्पना का तत्त्व सार्वकालिक मानव-स्वभाव के अंग हैं किन्तु जहाँ क्लैसिकल साहित्य में संयम, संतुलन, पवित्रता और सहजता की भावना मुख्य रूप से उभरती थी वहाँ 'रोमांस साहित्य' में रोमाञ्चकता अतिकल्पना, रहस् और चमत्कार की।

राष्ट्रीय एकान्विति की भावना सामन्ती युद्धों के बीच उभर ही नहीं सकती थी, फलतः आख्यानकारों ने वीरों के क्षणिक आवेशों और ईर्ष्या आदि को महत्त्व देकर उन्हें श्रोताओं के मनोरंजन का साधन बनाया।[८०] दूसरी ओर धर्म को जादू और रहस्य मात्र समझ कर उसे आदर दिया जाने लगा। कला और विवेक को नहीं जो आवेग नहीं, मानसिक संतुलन की अपेक्षा रखते हैं।[८१] तीसरी तरफ विषय-वासनाओं को छोड़ कर कठिन वैराग्य या फिर नितांत कामुकता को प्रश्रय मिला। मतलब कि मध्ययुग अतियों (Extremes) में ही जीवित रह सका और जीवन से पृथक् रोमाञ्चक और चमत्कारपूर्ण कल्पनाओं का सृजन करता रहा। जिसका क्षेत्र जीवन के यथार्थ से संकुचित था और यहाँ एक बहुत बड़ा कारण था जिससे रोमाञ्चक आख्यान साहित्य में कथानक रूढ़ियाँ और ढर्रे विकसित हो गए और ताजे तथा जीवन के उन्मेष से भरी कृतियाँ प्रायः नहीं आ सकीं क्योंकि यह यथार्थ और वास्तविकता को महत्त्व देने पर ही संभव हो सकता था जिसमें जीवन की अनंत संभावनाओं की गुंजाइश रहती है।

वर्गीकरण

प्रेमाख्यानों के वर्गीकरण का तो प्रयत्न प्रायः हुआ है किन्तु रोमाञ्चक आख्यान के वर्गीकरण की ओर लोगों का ध्यान नहीं गया। नायक और नायिका के प्रेम की कथा को ही प्रेमाख्यान किन्तु रोमाञ्चक आख्यान का यह एक प्रमुख तत्त्व होते हुए भी केन्द्रीय नहीं है। ऐसे बहुत से आख्यान हैं जिन्हें प्रेम प्रसंग गौण होकर शौर्य या धर्म पर उपदेश आदि प्रधान हो गए हैं या मात्र रहस्य चमत्कार उत्पन्न किया गया है। रोमाञ्चक आख्यान का केन्द्रीय तत्त्व प्रेम न हो कर उत्तेजना, रोमाञ्च, रहस्य और चमत्कार हैं। प्रेमाख्यान कहने से सूफ़ी दर्शनपरक और असूफ़ियों में सतपरक प्रेमाख्यानों को प्रायः समझा गया है[८२] किन्तु यह बहुत कुछ प्रेमाख्यान शब्द की सीमा के कारण हुआ लगता है। डॉ० पाण्डेय ने सूफ़ियों के अतिरिक्त असूफ़ी प्रेमाख्यानों को ४ वर्गों में विभाजित किया है। (१) दाम्पत्यपरक प्रेमाख्यान, (२) कामपरक, (३) सत्परक और (४) अध्यात्म-परक। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने प्रेमाख्यानों के ऐतिहासिक विकास को ध्यान में रखते हुए इनका निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया है (१) प्रसंगवश वैदिक पौराणिक साहित्य में आए हुए प्रेमाख्यान; (२) मनोरंजन प्रधान तथा (३) धर्म और उपदेश प्रधान।

डॉ० पाण्डेय के वर्गीकरण में विषयगत स्थूलता दिखाई पड़ती है एक दूसरे की विभाजक रेखा परस्पर मिल जाती हैं। जैसे सत्परक प्रेमाख्यानों का उद्देश्य सतीत्वरक्षा या दाम्पत्य प्रेम की पवित्रता होगी, जो एक प्रकार से नैतिक उद्देश्य को प्रकट करना है, जो धर्म और उपदेशपरक प्रेमाख्यानों के भीतर लिए जा सकते हैं। तथाकथित दाम्पत्यपरक प्रेमाख्यान 'ढोला मारूरा दूहा' का नायक बचपन में ही मारवणी से विवाहित है किन्तु दोनों में किसी को यह ज्ञात नहीं है। युवती होने पर स्वप्न में वह ढोला को देखती है और अनुरक्त हो जाती है। बाद में सखियों से पता चलता है कि वही ढोला उसका पति है। फलतः अनुरक्त होने के समय ढोला को अपने पति का भाव नहीं है। दूसरी ओर कामपरक प्रेमाख्यान सारंगा सदाबृज में सारंगा और सदाबृज पूर्व जन्म में पति-पत्नी (हंस-हंसिनी) थे और मनुष्य जन्म में भी उनका प्रेम होता है। फलतः दोनों प्रेमाख्यानों में एक सामाजिक संगति बैठाई जा सकती है। इस आधार पर कामपरक और सत्परक दाम्पत्यपरक प्रेमाख्यानों का विभाजन बहुत उचित प्रतीत नहीं होता। ढोला मारूरा दूहा में दाम्पत्य प्रेम की महिमा नहीं बताई गई है। वह भी अन्य प्रेमाख्यानों की भांति ही कामुक अभिव्यक्तियों से भरा हुआ है। इन दोनों प्रकार के आख्यानों का उद्देश्य कहानी कहना मात्र है, जो मनोरंजन प्रधान हैं और ये लौकिक प्रेमपरक रोमाञ्चक आख्यानों के भीतर लिए जा सकते हैं।

आचार्य चतुर्वेदी के वर्गीकरण में ऐतिहासिक दृष्टि को अपनाया गया है। डॉ० हरिकांत श्रीवास्तव के वर्गीकरण में [(१) शुद्ध प्रेमाख्यान, (२) अन्यापदेशिक काव्य तथा (३) नीति-प्रधान प्रेम काव्य] उपदेश और नीतिपरक प्रेमाख्यानों को पृथक् वर्ग में रखने का औचित्य सिद्ध नहीं होता। किन्तु शौर्यप्रधान रोमाञ्चक आख्यानों को इन तीनों प्रकार के वर्गीकरणों में स्थान नहीं मिल सका है जो कदाचित् प्रेमाख्यानों के सन्दर्भ के कारण है।

इन विद्वानों के सम्मुख वस्तुतः प्रेमाख्यान शब्द की सीमा बहुत बड़ा व्यवधान रही है जिसके कारण शौर्य या शुद्ध चमत्कारप्रधान रोमाञ्चक आख्यानों की ओर इनका ध्यान नहीं गया। प्राकृत और अपभ्रंश का प्रायः समस्त साहित्य रोमाञ्चक आख्यान है, शायद यह बात उनके ध्यान में रही।[८] क्लैसिक प्रवृत्ति के विरुद्ध रोमांस वृत्ति (जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण था) उभर आई थी। जिसकी प्राकृत और अपभ्रंश में अभिव्यक्ति हुई। १५वीं शती के बाद पुनः जब अनेक कारणों से क्लैसिक प्रवृत्ति उभरी तब फिर महाकाव्य और श्रेष्ठतर साहित्य की रचना हुई। महाकाव्यों में विषयवस्तु की अपेक्षा उसका संगठित शिल्प बहुत महत्व का है, प्राकृत अपभ्रंश के महाकाव्य कहे जाने वाले ग्रंथों में यह शिल्प भी दृष्टिगत नहीं होता। सेतुबंध अवश्य एक अपवाद है और इसमें महाकाव्यों की गरिमा, चरित्र-चित्रण और शिल्प के संगठित तत्त्वों का संयोग हुआ है। किन्तु यह आकस्मिक-सा लगता है। ऊपर बताया जा चुका है कि प्राकृत को अज्ञजनों को सद्बोध प्रदान करने वाली भाषा कहा गया है, फलतः उपदेश और कथा-कहानी की प्रवृत्ति ही उसकी अपनी हो सकी। शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से प्राकृत और अपभ्रंश में बहुत कम लिखा गया लगता है। साहित्यिक पंडितों ने जिस भाषा को अपनाया वह थी संस्कृत और जैन साधुओं और अन्य धर्मप्रचारकों ने जब लोकभाषा को अपनाया तो उनका धार्मिक दृष्टिकोण उस पर लद गया (उनका उद्देश्य साहित्य न होकर धर्मप्रचार ही था) और जब सामान्य जन कवि ने साहित्य

लिखा तो न तो उनका साहित्यिक संस्कार उतना था और न जीवन के प्रति उदात्त दृष्टिकोण विकसित कर सकने की सामर्थ्य; फलतः वह सामयिक मनोरंजन और कामुक अभिव्यक्तियों के अतिरिक्त शाश्वत मूल्य का साहित्य प्रायः नहीं सृजन कर पाए। इस बात को इस तथ्य से और बल मिलता है कि प्राकृत और अपभ्रंश में मौलिक प्रबंध कल्पनाएँ या शिल्पगत नवीनता नहीं मिलती, बने-बनाए ढर्रे पर प्रायः काव्य-कथाएँ निर्मित होती रहीं जिनमें रहस्य चमत्कार से जन-रुचि को आकर्षित किया जाता रहा। फलतः उसका सारा वातावरण रोमाञ्चक हो गया और सारा साहित्य रोमाञ्चक आख्यान मात्र बनकर रह गया। इस संपूर्ण रोमाञ्चक आख्यान साहित्य को प्रेमाख्यान शब्द प्रकट कर सकने में अपर्याप्त लगता है।

धर्म-उपदेश, प्रेम, कामुकता और मनोरंजन तथा शौर्य (chivalry) इन तत्वों के प्रदर्शन के लिए जो साहित्य लिखा गया उसके लिए रोमाञ्चक आख्यान शब्द सब से अधिक उपयुक्त है। इस संपूर्ण साहित्य को प्रधानतया तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। (१) धर्म-उपदेश प्रधान रोमाञ्चक आख्यान, (२) प्रेम-कामुकता और मनोरंजन प्रधान रोमाञ्चक आख्यान और शौर्य प्रधान रोमाञ्चक आख्यान। पहले और दूसरे वर्ग के उदाहरणों की कमी नहीं तीसरे वर्ग में पृथ्वीराज रासो, आल्हाखंड और लोरिकी को लिया जा सकता है।

संदर्भ-संकेत—

१. Myths and Legends of Middle Ages. H. A. Gueber, p. XI.

२. The waning of the Middle Ages. J. Huizinga p. 50.

३. An Introduction to medieval Romance.

४. Encyclopaedia Britanica Vol. 19. p. 424.

५. An Introduction to medieval Romance p. 1.

६. Encyclopaedia Britaniea Vol. 19. p. 424.

७. Some problems of Indian Literature p. 41.

८. Vedic Index of Names and Subjects: Macdonell and Kieth Vol. I. London. p. 134.

९. Ibid p. 76.

१०. **सांख्यायन श्रौतसूत्र अ० १६, २, २१, २७**

११. Vedic Index p. 76.

१२. **अवदान साधारणतया ऐतिहासिक घटना या इतिहास पुरुष से सम्बद्ध होते हैं जब कि देवकथा देवताओं से।** —An Introduction to Mythology By lewis spence, p. 12.

१३. The sacred books of the East, F. Max Muller, Vol. XLIV oxford 1900; p. 361.

१४. Vedic Index.

१५. Ibid.

१६. पाणिनि अष्टाध्यायी १.४.९०

१७. 'That is the revolving, recurrment or cycle legend so called because it is renewed every ten days during the year.'——The Sacred Books of the East : F. Max Muller Vol. XILV p. 361.

१८. इस संदर्भ में गाथा और नराशंसी शब्द,जो संभवतः वीरों की स्तुतियाँ रही हैं, महत्त्वपूर्ण हैं। ऋग्वेद में 'गान' और 'श्लोक' के अर्थ में गाथा का प्रयोग मिलता है (वैदिक इण्डेक्स पृ० २२४)। वहीं दसवें मण्डल के ८५ वे सूक्त के छठें मंत्र में नराशंसी और रैमी के साथ गाथा का विभाजन किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में ऋक् और गाथा का अन्तर दैविक और मानवीय के अर्थ में बताया गया है (शुनः शेप) की कथा को 'शतगाथम्' कहा गया है (वैदिक इण्डेक्स पृ० २२४)। सेण्ट पीटर्सवर्ग डिक्शनरी में बताया गया है कि गाथाओं का विषय धार्मिक तो था किन्तु वे मंत्र नहीं थे। शतपथ ब्राह्मण में गाथा का उल्लेख प्रसिद्ध राजाओं के यज्ञों के संक्षिप्त वर्णन के अर्थ में हुआ है। मैत्रायणी संहिता में विवाह के अवसर पर गाथाओं का गाया जाना पाया जाता है। (वैदिक इण्डेक्स पृ० २२५)। तैत्तरीय ब्राह्मण में गाथा उदार दान देने वाले की स्तुति के अर्थ में प्रयुक्त है। नराशंसी भी वीर पुरुषों की स्तुतियाँ थीं। (Heroic Age of India, p. 7).) ये गाथाएँ और नराशंसी वीरकाव्य के मूलस्रोत कहे जाते हैं। किंतु आगे चलकर नराशंसी का उल्लेख तो बिल्कुल नहीं मिलता यद्यपि प्राकृत में गाथा छंद के अर्थ में अवश्य मिल जाते हैं। (पाइप सद्द महण्णवा पृ० १)। फलतः इन दोनों शब्दों में कथा और साहित्य-प्रकार के अर्थ नहीं विकसित हो सके।

१९. आख्यानं पूर्व वृतोक्तिः—साहित्य-दर्पण

२०. प्राकृत में इस समय में कई साहित्य रूप विकसित हुए। यूरोपीय साहित्य में भी इस तरह के उदाहरण मिलते हैं।—Epic Rama, 59

२१. "सब मिलाकर ऐतिहासिक-काव्य काल्पनिक निजन्धरी कथानकों पर आश्रित काव्य से बहुत भिन्न नहीं होते। उनसे आप इतिहास की शोध की सामग्री का संकलन कर सकते हैं, पर इतिहास को नहीं पा सकते।"—हिन्दी साहित्य का आदिकाल : हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० ७१

२२. Encyclopoedia Britatnica Vol. 19, p. 424

२३. ६०० ईसा पू० गुणाढ्य ने एक रोमाञ्चक ग्रंथ लिखा था, संस्कृत साहित्य का इतिहास, A. B. Keath. अनु० मंगलदेव शास्त्री

२४. सक्कयकव्वस्सत्थं जेण न जाणन्ति मन्दं बुद्धीया।
सव्वाण वि सुहवोहं तेण इमं पाइप रइयं॥
गूढ़त्थदेसिरहियं सुललिवन्नेहि गंथियं रम्मं।
पाइय कव्वं लोए कस्स न हिययं सुहावेइ॥—'प्राकृत साहित्य का इतिहास' के पृष्ठ ४४० पर उद्धृत।

२५. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ७-८

२६. संस्कृत साहित्य का इतिहास : ए० बी० कीथ; पृ० ३९, अनु० मंगलदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी

२७. But the close of the 5th century making the final collapse of the Roman empire in the west may be taken as the time when the use of the term "Romance" begins to be apposite with reference to the unrecorded utterence of the people"—The Romance Languages By W. D. Elcock p. 212.

२८. One chief agent in this change is not religious doctrine nor politics but the new Languages:—The Dark Ages, p. 6.

२९. Augustinms Enarrtiones in Psalmos 138, 20 quoted on Encychlo-paedia Britanica, p. 424.

३०. इन आख्यानों की कथा और परंपरा आचार्य परशुराम चतुर्वेदी (भारतीय प्रेमाख्यान की परंपरा), डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ (हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य) डॉ० हरिकान्त श्रीवास्तव (भारतीय प्रेमाख्यानकाव्य) आदि ने अपनी पुस्तकों में दिया है। फलतः उसे दुहराना अनावश्यक प्रतीत होता है। यहाँ प्रवृत्तिगत विकास देने का प्रयत्न किया गया है।

३१. भारतीय प्रेमाख्यान की परंपरा, पृ० २५ (द्वितीय संस्करण)।

३२. "ब्राह्मणों की वर्णव्यवस्था के कारण ये म्लेच्छ शासक बहुत ही उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे जिससे उन म्लेच्छों को बहुत बुरा लगता था और इसीलिए उस सामाजिक व्यवस्था के नाश के लिए वे लोग अनेक प्रकार से उपाय करते थे, जो उन्हें बहिष्कृत रखती थीं।" —भारतवर्ष का अंधकारयुगीन इतिहास : डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल (द्वि० संस्क०), पृ० ८०

और भी—

अलबेरूनी ने सन् ७८ ई० में शक शासन के बारे में लिखा है:—"यहाँ जिस शक का उल्लेख है उसने आर्यावर्त में अपने राज्य के मध्य में अपनी राजधानी बनाकर सिंधु से समुद्र तक के प्रदेश पर अत्याचार किया था। उसने हिन्दुओं को आज्ञा दे दी थी कि वे अपने आपको शक ही समझें और शक ही कहें, इसके अतिरिक्त अपने आपको और कुछ न समझें न कुछ कहें। (२, ६)"

गर्गसंहिता में भी प्रायः इसी प्रकार की बात कही गई है।

"शकों का राजा बहुत ही लोभी, शक्तिशाली और पापी था।.....इन भीषण और असंख्य शकों ने प्रजा का स्वरूप नष्ट कर दिया था और उन्हें आचरण भ्रष्ट कर दिए थे— (J. B. O. R. S. खंड १४, पृ० ४०४ और ४०८)।

गुणाढ्य ने भी ईसवी पहली शताब्दी में उन म्लेच्छों और विदेशियों के कार्यों का वर्णन किया है जो विक्रमादित्य शालिवाहन द्वारा परास्त हुए थे।—(J. B. O. R. S. खंड १६,पृ० २९६)

उसने कहा है—

"ये म्लेच्छ लोग ब्राह्मणों की हत्या करते हैं और उनके यज्ञों तथा धार्मिक कृत्यों में बाधा डालते हैं। ये आश्रमों की कन्याओं को उठा ले जाते हैं। भला ऐसा कौन अपराध है जो ये दुष्ट नहीं करते।" कथासरित्सागर, १८—भारतवर्ष का अंधकार युगीन इतिहास, पृ० ८४ पर उद्धृत।

३३. प्राकृत का कथा साहित्य, चरित और औपदेशिक कथा साहित्यः तरंगवह कहा, वसुदेवहिंडी, समराइच्च कहा, धुत्तक्खाण, कुवलयमाला, निर्वाण लीलावती कथा, णाणपंचमी कहा, आख्यानमणि कोश, उनए समाला, भुवन सुन्दरी, विवेकमंजरी, पडमचमंड, हरिवंस चरिउ, जम्बू चरिय, कण्ह चरिय आदि की कथाएँ इस बात को पुष्ट करती हैं। देखिए, 'प्राकृत साहित्य का इतिहास।'

३४. "धम्मत्थकामकलियाणि य सुहाणि धम्मत्थ कामाण य मूलं धम्मो, तस्मि मंदतरो जण्मे, तं जह णाम कोई पेज्जो आडरं अभयउसहपाणपरं मुहं ओसढमिति—उव्विलयं यण्मे मण्मेभिलसियपाणनवएसेण उसहं तं पज्जेति। काम कहा रतहितयस्स जणस्स सिंगर कहावसेण धम्मं चेव परिकहेमि।—वसुदेवहिंडी, भाग २ मुनि जिनविजय जी के वसंत महोत्सव संवत् १९८४ में कुवलय माला लेख से उद्धृत —प्रा० सा० का इति०, पृ० ३६४

३५. Woman, p. Butler, p. 233-34.

३६. Ibid, p. 234.

३७. Encychlopaedia Britanica, Vol. 19. p. 424-25.

३८. But two things were still wanting which were to be all powerful in the romances proper—chivelry and raligion. They could not yet be included for chivalry could not exist and such religion as did exist lent itself but ill to the purpose except by providing myths for ornament and perhaps pattern.—Encychlopaedia Britanica, Vol. 19. p. 424.

३९. पृथ्वीराज रासो को 'वीरकाव्य' की संज्ञा के साथ ही साथ महाकाव्य भी कहा गया है (हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास)। लेकिन उसकी वीरता शौर्य है जो अपने आप में रोमांटिक है। फिर उसकी कथाशैली वातारवण इत्यादि उसे महाकाव्य न रहने देकर शौर्यप्रधान रोमाञ्चक आख्यान बना देते हैं।

४०. प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत रचनाओं को मुख्य बताते हुए सिद्धर्षि ने लिखा है—
संस्कृता प्राकृता चेति भाषे प्राधान्यमर्हतः। तत्रापि संस्कृता तावत दुर्विदग्धहृदिस्थिता॥
बालानामपि सद्बोधकारिण कर्णपेशला। तत्रापि प्राकृता भाषा न तेषामपि भाषते॥
उपाये सति कर्तव्यं सर्वेषां चितरञ्जनम्। अतस्तदनुरोधेन संस्कृतेयं करिष्ये॥
—१.५१-५२, प्रा० सा० का इति० के पृ० ३७५ पर उद्धृत

४१. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० १६५

४२. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० १६६

४३. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३६४

४४. That which gives than their style and expression is fashion, not art, and fashion leaves no monuments behind.—The Waning of the Middle Ages : J Huizinga (Penguin Books). p. 54.

४५. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० १७७

४६. वही, पृ० १८६

४७. जिणसाणि सातु णिद्धु अपावकलंकमलु। सम्मत्त विसेसु निसुणहु सुयपंचमिहि फलु। —भविसयत्त कहा, पठमो संधि का प्रथम छंद, पृ० ११ संपादक सी० डी० दलाल और पी० डी० गुणे १९२३

४८. Epic & Romance : W. P. Ker P. 19
(Heroic Action) Heroic Age of India : N. K. Siddhant

४९. स्वयं डा० सिंह रासो के पात्रों के बुद्धिहीनतापूर्ण कार्य और झूठी शान प्रदर्शन से सहमत हैं—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० २८

५०. इसके विरुद्ध महाभारत की बात की जा सकती है कि उसमें भी बहुत सी कथाएँ और भरती के वर्णन हैं किन्तु महाभारत में नाटकीय चरित्र संयोजन और वीरोचित कार्य (Heroic Action) राष्ट्रीय एकान्विति सांस्कृतिक संकट और क्लैसिक भावभूमि उसे महाकाव्य का गौरव दे देते हैं। विस्तार के लिए देखिए—Heroic Age of India : N. K.Siddhant.

५१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ६३

५२. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग : नामवर सिंह, (प्रथम संस्करण), पृ० १८८

५३. मध्ययुग का दृष्टिकोण चाहे वह धर्म, शौर्य, या प्रेम जिसके प्रति भी हो वह उत्तेजना पर ही आधारित था उसके पीछे कोई संतुलित भावना की प्रेरणा काम नहीं कर रही थी। उसमें आदर्श और उच्चता जो दिखाई पड़ती है वह वास्तविक और व्यावहारिक न होकर काल्पनिक और सैद्धान्तिक अधिक थी। देखिए, An Introduction to medieval Romance, p. 9. –

५४. Ibid p. 6.

५५. An Introduction to medieval Romance, p. 11.

५६. Epic & Romance p. 23.

५७. An Introduction to medieval Romance, p. 8.

५८. Ibid p. 168.

५९ .Romance and Legend of chivalry by A. R. Hope., p. 30.

६०. Encychlopaedia Britenica p. 424.

६१. मैंने भाषा परिवर्तन रोमांस के उदय का मूल कारण माना है (वैसे भाषा परिवर्तन निस्संदेह जीवन-बोध के परिवर्तन से सम्बद्ध है जिसका उल्लेख हो चुका है)।

६२. प्राकृत साहित्य का इतिहास के पृ० २२३-२४ पर उद्धृत।

६३. वही, पृ० २२४

६४. वही, पृ० २४४

६५. वही, पृ० ३०६

६६. यूरोपीय संदर्भ में भी यह बात देखी जा सकती है—The secluded lives of monks and nuns and the austerities they daily practiced fastered neurotic tendencies which led not only to spurious visions, but even to almost incredible phenomene.—An introduction to medieval Romence, p. 171.

६७. All life was saturated with religion to such an extent that the people were in constant danger of losing sight of the distination between things spiritual and things temporal.—The Waning of the Middle Ages, p. 158.

६८. Ibid, p. 156.

६९. Ibid p. 206.

७०. An Introduction to Medieval Romance, p. 4-5.

७१. प्राकृत साहित्य का इतिहास पृ० ४९४-९५

७२. परिभुंजउं न याण्इ लच्छि पत्तं पि पुण्णापरिहीणो।
विक्कमरसा हु परिसा भुंजंति परेसु लच्छीओ॥—वही, पृ० ४३३

७३. Woman p. 249, तथा प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४८५

७४. Nothing was more important than the hymn to virgin Women. 234.

७५. Woman p. 231.

७६. Ibid p. 250.

७७. The Waning of the Middle Ages.

७८. An Introduction to medieval Romance., p. 10.

७९. The Waning of the Middle Age. p. 109.

८०. Ibid p. 89.

८१. An Introduction to medieval Romance, p. 210.

८२. Ibid, p. 212.

८३. The people appreciated miracle which appealed to their emotion but not art or wisdom which required concentration of the mind—
Ibid p. 213.

८४. "प्राकृत और अपभ्रंश के प्रेमपरक जैन काव्यों को विशुद्ध प्रेमाख्यान नहीं कहा जा सकता। इनका लक्ष्य न तो प्रेमदर्शन को अभिव्यक्त करना है और न दाम्पत्य को ही प्रगट करना है।"—मध्ययुगीन प्रेमाख्यान : डॉ० श्याममनोहर पाण्डेय, पृ० ५४।

८५. प्राकृत और अपभ्रंश के तथाकथित महाकाव्य को पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है कि वे रोमांटिक आख्यान हैं।

स्वच्छन्दधारा और रसखान की भक्ति-पद्धति

• गोवर्धननाथ शुक्ल

हिन्दी साहित्य में स्वच्छन्द धारा या स्वच्छन्दतावाद का श्री गणेश पं० श्रीधर पाठक से माना जाता है। पद्य के ढाँचों, अभिव्यंजना के ढंग तथा प्रकृति के स्वरूप निरीक्षण आदि में कोई नवीनता या स्वच्छन्दता न दीखने से आचार्य शुक्ल जी ने भारतेन्दु युग को भी स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति से मुक्त माना है। उन्हें स्वच्छन्दता का आभास सर्वप्रथम पं० श्रीधर पाठक में ही मिला। पाठक जी ने प्रकृति वर्णन को रूढ़िबद्धता से निकाल कर एक नए मार्ग की ओर ढाला। भाषा, लय और उसके उतार-चढ़ाव में भी उन्होंने एक नवीनता दी। साथ ही आज के तथाकथित रहस्यवाद (Mysticism) की भी पहल उन्होंने ही की। अपनी स्वर्गीय वीणा में उन्होंने उस परोक्ष दिव्य संगीत की ओर रहस्यपूर्ण संकेत किया जिसके ताल और सुर पर यह सारा विश्व नाच रहा है। इस प्रकार शैली और वस्तु दोनों दृष्टियों से एक नवीन धारा का प्रवर्तन करने से पाठक जी को स्वच्छन्द धारा का प्रवर्तक मानना उचित ही है। एक प्रकार से उन्होंने आती हुई परंपरा या लीक को छोड़ कर एक नूतन पथ का अवलंब लिया। इस प्रकार, स्वच्छन्दतावाद या स्वच्छन्द धारा से तात्पर्य हुआ शैली और भाव दोनों की अभिव्यक्ति में एक नूतन दृष्टि जो पहले चली आती परंपरा में नहीं थी। इस प्रकार इस स्वच्छन्द धारा का प्रवेश हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग के द्वितीय उत्थान अर्थात् (सं० १९५०-१९७५) में हुआ अर्थात् यह धारा अथवा वाद अन्य अनेक वादों की भाँति पश्चिम का ही प्रसाद माना जाना चाहिए। क्योंकि स्वच्छन्दतावाद जिसको अंग्रेजी में रोमाण्टिसिज्म (Romanticism) कहा जाता है और जिसमें शैली और भाव दोनों दृष्टियों से पूरी नवीनता दृष्टिगोचर होती है और रूढ़िवाद धराशायी हो गया है। वह अंग्रेजी साहित्य में १७ वीं शताब्दी में ही प्रवेश पा गया था। वहाँ १७ वीं शताब्दी की कहानियों के लिए रोमांटिक विशेषण व्यवहृत होने लगा था। उस समय की कहानियों में दो तत्व प्रमुख थे—वीर भाव या साहसिकता और काल्पनिकता। परिणामस्वरूप रोमांटिक शब्द का सांकेतिक अर्थ उस साहित्य से लिया जाने लगा जिसमें पात्रों का चरित्र साहसपूर्ण और काल्पनिक हो। उसमें ऐतिहासिक सत्य का प्रायः अभाव था। धीरे-धीरे इस रोमांटिक (Romantic) धारा में कुछ ऐसे तत्व आ गए जो उपहासास्पद, असत्य और अस्वाभाविक थे। अंग्रेजी के कवि पोप ने अपनी कविता की प्रशंसा करते हुए रोमांटिक साहित्य की पर्याप्त धूल उछाली है। वस्तुतः यह साहित्य था भी ऐसा ही। तात्पर्य यह है कि हिन्दी साहित्य में जब यह धारा आई तब यह अनेक देशों में घूमती-घामती जरा-जर्जर, जीर्ण-शीर्ण होकर आई। किन्तु गौरांगी, परदेसिन थी

अतः बड़ी आकर्षक लगी और उस समय दास्य-भाव पूरित भारत ने इसे 'प्रभु-प्रसाद' समझ कर आत्मसात् कर लिया। इंग्लैण्ड में यह धारा 'भाव-क्रान्ति' के रूप में ही अवतरित हुई थी। धर्म, नीति साहित्य सभी क्षेत्रों में यह क्रान्ति धर्म, नीति, साहित्य सभी क्षेत्रों में आ गई थी अतः निश्चय ही यह साहित्यिक स्वच्छन्दता सामाजिक स्वच्छन्दता के परिणामस्वरूप थी और परंपरा अथवा क्लासिकल के विरोध में उठ खड़ी हुई थी। क्लासिकल का अर्थ होता है—सर्वश्रेष्ठ, अद्वितीय, गंभीरतम तथा अप्रतिम। अतः जो अद्वितीय अप्रतिम साहित्य होता है वह एक क्लास अथवा वर्ग विशेष का होता है, जो सर्वसाधारण से पृथक् दीखता है। दूसरे शब्दों में यह एक चली आती परंपरा का विकसिततम रूप या निखार होता है—स्वच्छन्दता की धारा की नींव में क्लासीकल की संचित तपस्या निहित नहीं होती। वह लघु प्रयत्न-जन्य-प्रेय मार्ग पोषिका होती है। वैयक्तिक रुचि ही इसका प्राण-तत्व होता है। इसलिए इसके अनेक प्रमुख लक्षणों में एक लक्षण यह भी है कि एतन्मार्गीय कवि का अभिलाष दायरा लोक साधारण विषयों से हट कर ऐसे विषयों पर हो जिसमें आवेगपूर्ण प्रयत्न हो, अस्पष्ट इच्छाओं को उत्पन्न करने की क्षमता हो आदि कुछ लोगों का मत है कि रोमांटिक अर्थात् संभाव्य का विरोधी असंभाव्य अथवा दूसरे शब्दों में कल्पनाकलित विषयों की ओर प्रवृत्ति या रुचि। इसी कारण रोमांटिसिज्म में सांकेतिकता प्रतीकात्मकता का बोलबाला अधिक रहता है। यही कारण है कि रोमांटिक साहित्य में सस्ती रहस्य भावना घुसी रहती है। गुह्यवाद अथवा रहस्यवाद उसका सखा है, जिसकी सहायता के बिना उसका स्वरूप निष्पन्न नहीं होता। रहस्यवाद के चोगे में व्यक्तिगत अपरितृप्तियों, उद्दाम अभिलाषाओं और अनुभूतियों की यथार्थ अभिव्यक्ति के लिये पूरी-पूरी गुंजाइश है। इस कारण रोमांटिक कविता के अनन्त तात्पर्य होते हैं। अतः व्यक्तिगत तात्पर्य-प्रकाशन के लिए जो कुछ भी कह दिया जाय वही समीचीन हो जाता है। दूसरे शब्दों में स्वच्छन्दतावादी कविता का तात्पर्य कभी पूरा हो नहीं पाता। अस्पष्टता की छाया उसे सदैव घेरे रखती है और उसमें एक अजनबीपन सदैव विद्यमान रहता है।[1] तात्पर्य यह है कि रोमांटिक प्रवृत्ति का कवि अपने द्वन्द्वगत भाव कभी किसी माध्यम से और कभी किसी माध्यम से व्यक्त किया करता है। उसकी एक विशिष्ट मानसिक स्थिति है, जो देश-काल से संबंधित न होकर सदैव इनसे परे रहती है। हाँ, उसमें उसके रचयिता की चरित्रगत विशेषता की छाया अवश्य ही निहित रहती है। डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने इसी तथ्य को लक्ष्य कर कहा था कि रोमांटिक साहित्य के जन्म का कारण है—जीवन के आवेगमय पहलू पर विशेष बल देना। रोमांटिक कवि कल्पना प्रवण अन्तर्दृष्टि द्वारा चालित किंवा प्रेरित होता है और स्वयं भी इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि को चालित और प्रेरित करता रहता है।

रोमांटिक साहित्य के उपर्युक्त तत्वों अथवा लक्षणों को दृष्टि में रखकर यदि विचार किया जाय तो वैसा सर्वलक्षण संपन्न रोमांटिक गुणोपेत साहित्य आधुनिक काल में और आचार्य शुक्ल जी के अनुसार पं० श्रीधर पाठक से ही मिलेगा। उसे वैदिक साहित्य से खींच कर लाना बड़ी भारी भूल होगी। वैसे तो निष्ठामय भारतीय साहित्यकार की यह आस्थामय प्रवृत्ति रही है किन्तु वह प्रत्येक साहित्यिक धारा प्रत्येक साहित्यिक प्रवृत्ति को वेदों से कम प्रारम्भ करता नहीं। वैदिक हौआ उसे इतना अभिभूत किए रहता है कि बिना वेदों की दुहाई दिए उसके कथन में दार्ढ्य

नहीं आता। वैसा करने में उसे एक अनुपम संतोष का अनुभव होता है। परन्तु ऐसे प्रयत्न में बजाय भारतीय वाङमय की सर्वांगीणता के उल्टा उसे उपहासास्पद बना देना है। ऐसा प्रयत्न शोभनीय भी नहीं कहा जा सकता। वैदिक साहित्य स्वयं ही सर्वांगीण चिरंतन और व्यापक है, परन्तु उसमें सब होते हुए भी वह नहीं जो उसके आलोड़न से उपलब्ध होता है। दुग्ध से नवनीत मिलता है परन्तु दुग्ध तो नवनीत नहीं। इसलिए प्रत्येक वस्तु का मूल स्रोत वैदिक साहित्य से उठाना अधिक शोभनीय नहीं लगता। वैदिक साहित्य में रोमांटिक तत्व ढूँढ़ना भी कुछ-कुछ वैसा ही प्रयत्न है। रोमांटिक साहित्य के जो उपलक्षण ऊपर कहे गए हैं वे लक्षण भारतीय साहित्य की किसी विधा में नहीं मिलते। भारतीय साहित्य ने लोक-जीवन के शिवत्व को ही पोषण दिया है। उसी दृष्टि को प्रमुखता दी है अस्पष्टता, उच्छृंखलता को कभी प्रश्रय नहीं दिया। अतः मानव की मूल वासना-प्रेम-तत्व के मंगलमय रूप का निदर्शन ही उसका लक्ष्य रहा है। प्रणय की धारा जहाँ भी नैसर्गिक बही उसे पहले परिणय में बदला और फिर उसके आकर्षक रूप का विस्तार किया। अतः मन का आवेगमय प्रवृत्ति पर अंकुश भारतीय साहित्य की विशेषता है। मानव मन मूलरूप में रागात्मक है। वह राग व्यसन दशा में साक्षात् रस रूप होकर हमने उसे ईश्वर ही ठहरा दिया है। अतः राग को क्रमशः निखार कर उसे पावन रूप दे देने पर ही उसकी अभिव्यक्ति की गयी। राग की कच्ची स्थिति से उत्पन्न बावलेपन की अभिव्यक्ति को न हमारे यहाँ आदिकाल में अभिव्यक्ति मिली न मध्यकाल में मिली। अतः रोमांटिक प्रवृत्ति को वेदों, उपनिषद्, महाभारत, संस्कृत नाटकों में ढूँढ़ना उचित नहीं। इसी प्रकार कालिदासादि कवियों में स्वच्छन्द प्रवृत्ति के ढूँढ़ने के प्रयत्न में उनके मूलतत्व धर्माविरुद्ध काम को स्वच्छन्दधारा के क्षेत्र में ला घसीटना उनके प्रति अन्याय ही है। इससे तो एकदम कालिदासादि संस्कृत कवियों की सांस्कृतिक भावना और भारतीय लोक-जीवन की पुनीत परंपरा ही नष्ट हो जायगी। फिर इन रससिद्ध कवियों में न वस्तु की अस्पष्टता थी न शैली की दुरूहता, सीधी-सादी मनोवैज्ञानिक अनुभूति के आधार पर सादगी और पवित्र अभिव्यक्ति ही इन कवियों में मिलती है। उन्मुक्त प्रेम का एक भी उदाहरण प्राचीन भारतीय वाङमय में ऐसा नहीं मिलता, जो भारतीय वर्णाश्रम मर्यादा अथवा लोक-परंपरा के विरुद्ध हो। धर्माविरुद्ध अमर्यादित राग भारतीय साहित्य में खलनायक के ही पल्ले पड़ा है। हमारे यहाँ स्पष्ट घोषणा है—रामादिवत् प्रवर्तितव्यं नतुरावणादिवत्—इसलिए रससिद्ध साहित्यकारों ने नायक के मानसिक आवेग को कभी गलत रास्ते नहीं बहाया। हाँ, रागमय होना मन का धर्म अवश्य है किन्तु उस आवेग की उचित और अभिव्यक्ति सुन्दर कवि कर्म है। उसे मर्यादा की सीमा में प्रवाहित करना साहित्यिक नेताओं का ही काम है। भारतीय मनीषा भरपूर आवेग की अभिव्यक्ति के क्षणों में साहित्यिक मर्यादाओं-परंपराओं के लोकहित अंकुश को नहीं भूली है। अतः उन्हें इस नवीन स्वच्छन्दधारा के क्षेत्र में घसीटना शोभनीय नहीं। वस्तुतः प्रेमतत्व सर्वाधिक आवेगमय तत्व है। सृष्टि की उत्पत्ति के मूल में यही आवेग विद्यमान था। इसके अतिरिक्त ऐसा कोई अन्य तत्व नहीं, जो इतना शाश्वत, चिरंतन, वांछनीय, सर्वग्राह्य एवं व्यापक हो। अतः विश्व साहित्य में इसी की प्रमुख अभिव्यक्ति है। इसी के विकृत-अविकृत रूप की अभिव्यक्ति विश्व साहित्य के मूल में है। जो अविकृत था वह स्थिर रहा, विकृत क्षार समुद्र में लय हो गया, अतः

यह रागात्मक आवेग जहाँ भी मिले वहीं स्वच्छन्द धारा के तत्व ढूँढ़ना एक पागलपन ही होगा।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में अवश्य ही आवेगमय प्रेम के दर्शन होते हैं। परन्तु वहां भी भारतीय परंपराओं का निर्वाह मिलता है। मुस्लिम संस्कृति के आ जाने पर भी प्रेम ने परिणय में परिणत होना सदैव चाहा है। बंधन साहित्य जाति या धर्म से हो सकता है—परिणय से नहीं। उद्दामशीलता अथवा आवेग प्रेम का निज धर्म है। उसे बाह्य बंधन स्वीकार नहीं। किन्तु स्वधर्म (बंधन अथवा परिणय) को वह अवश्य स्वीकार करता है। प्रेम बंधन को ठुकराता रहे पर स्वयं बंधन रूप है अतः बंधन उसका स्वधर्म है। प्रेम स्वधर्म अथवा निजधर्म से मुक्त हो ही नहीं सकता।

भक्ति काल में प्रेम ईश्वरोन्मुख हुआ। ईश्वरीय सत्ता दो रूपों में मानी गयी। सगुण-साकार और निर्गुण-निराकार। अतः भक्ति काल में ईश्वर की दोनों ही मान्यताओं के आधार पर भक्ति के प्रकार मिलते हैं। निर्गुणवादी ज्ञानमार्गी चिन्तन प्रधान होकर भी प्रेम के अंतिम आदर्श कांता भाव से पीछा न छुड़ा सके। प्रेमवादी सूफी भी वस्ल या मिलन के पूर्व स्वकीया भाव में विश्वास कर लेते हैं। उनके सारे प्रयत्न भले ही उन्मादजन्य या आवेगमय हो किन्तु साक्षात्कार हो जाने पर कांताभाव की प्रतिष्ठा हो जाती है। उसकी परिणिति परिणय में हो जाने पर ही वस्ल की स्टेज आती है। सूफियों का उन्माद प्रसिद्ध है। विश्वरूपी दर्पण में अल्लाह का प्रतिबिम्ब देखना प्रेमोन्मादी सूफी का निज व्यसन है। इसीलिए मंदिर-मस्जिद के बंधनों की उसे परवाह नहीं। प्रेम की उन्मत्तता को ले कर चलने वाली सूफी साधना ने भारतीय सगुण धाराओं पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव डाला ही है।

भक्ति काल के चार प्रमुख मुस्लिम कवि जायसी, रहीम, रसखान और आलम थोड़े से हेर-फेर से लगभग समसामयिक हैं। इनमें आदि अंत के दो अर्थात् जायसी और आलम प्रेम गाथाकार हैं। आलम कृष्णभक्त भी हैं, रहीम मर्यादावादी कृष्णभक्त हैं। इनमें प्रेम की परख उच्च कोटि की है। रसखान शुद्ध पुष्टिमार्गीय कृष्णभक्त कवि हैं। यहाँ मेरा मन्तव्य रसखान को बेढंगे स्वच्छन्दतावाद से निकाल कर उन्हें अष्टछापियों के समान पुष्टि-भक्त सिद्ध करना है।

आचार्य शुक्ल ने यद्यपि रसखान को अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में कृष्णभक्त कवियों के साथ ही रखा है। परन्तु उनका नाम प्रायः रीतिकालीन कवियों के साथ लिया जाता है। रसखान के काव्य में उत्कट रागानुगा भक्ति के कारण उन्हें शृंगार-संवलित-भक्ति साधकों में रखा गया है।[२] हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास में एक बार रसखान की भक्ति को सेनापति[३] की भक्ति के साथ बैठाया गया है और दूसरे अनुच्छेद में आलम, घनानंद और बोधा की कोटि में।[४] यद्यपि हिन्दी साहित्य के प्रामाणिक इतिहासों में रसखान के साथ प्रायः काल की भूल नहीं हुई है किन्तु उनको ऐसे कवियों के साथ बैठा देना जिनसे न तो उनकी प्रवृत्ति मेल खाती हो न भक्ति पद्धति ही। तब अवश्य ही सामान्य पाठक का मन अनेक संदेहों से भर जाता है। रसखान और सेनापति की भक्ति में कहीं भी कोई साम्य नहीं। सेनापति रामोपासक हैं और मर्यादावादी दास्य भाव के उपासक हैं। उनका शृंगार उनकी भक्ति भावना के दायरे में नहीं आता। अतः रसखान सेनापति के साथ नहीं रखे जा सकते। इतिहास के इसी पृष्ठ पर दूसरे अनुच्छेद में उन्हें

आलम, घनानंद और बोधा के साथ रखा गया है, काल दृष्टि से अथवा प्रवृत्ति की दृष्टि से पता नहीं। संभवतः प्रवृत्ति की दृष्टि से ही ऐसा किया गया है। यहाँ किस आलम से प्रयोजन है स्पष्ट नहीं। घनानंद निम्बार्क संप्रदायी भक्त कवि हैं और उनमें तथा रसखान में लगभग १०० वर्ष का अंतर है। फिर रसखान आदि भक्त कवियों की भक्ति की चर्चा करते हुए वहाँ पर कहा गया है—"ये कवि मानवीय प्रेम की सीढ़ी पर पाँव रख कर ईश्वरीय प्रेम की झाँकी देखने के लिए ऊपर चढ़े थे, इनमें इश्क मजाजी और हकीकी दोनों ही थे। अतः इनकी भक्ति में मानवीय प्रेम को प्रकट करने वाला श्रृंगार भी मर्यादारूपेण मिलता है। यहाँ लेखक का क्या मन्तव्य है—स्पष्ट नहीं। यदि इन भक्तों की जीवन घटनाओं के आधार पर भक्ति क्षेत्र में आने की किंवदंतियों की ओर संकेत है तो रामभक्त तुलसी और कृष्ण भक्त कृष्णदास को भी इन्हीं कथनों के अन्तर्गत लेना चाहिये। फिर और भी अन्य अनेक भक्त इस कोटि में समाविष्ट किए जा सकते हैं। अतः उपर्युक्त अनुच्छेद का कथन विशेष रूप से २-३ कवियों के ही साथ लागू करना उचित नहीं। इन रस सिद्ध भक्त कवियों की भक्ति भावना में स्पष्ट अन्तर है। इनकी भक्ति भावना की पृष्ठ भूमि समझ लेने पर भाव पद्धति और कोटियाँ निश्चित की जा सकती हैं। तभी इनको यथास्थान रखना उचित होगा। एतदर्थ भक्त प्रवर रसखान की भक्ति-पद्धति पर भी विचार कर लेना चाहिए।

यह तो स्पष्ट ही है कि रसखान किसी व्यक्तिगत जीवन की घटना से क्षुब्ध होकर ब्रज में चले आये थे और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से दीक्षा पाकर वहीं निवास करने लगे थे। अतः उनकी उपासना पद्धति और भक्ति भावना निश्चय ही पुष्टिमार्गीय पद्धति पर होगी। पुष्टि-मार्गीय भक्ति पद्धति का चरम आदर्श गोपी-प्रेम अथवा गोपी-भाव है। जिसका मूल स्रोत श्रीमद्भागवत है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध पूर्वार्ध अध्याय २८ में गोपी गीत हैं। जिसमें गोपी भाव अथवा रागानुगा भक्ति का स्वरूप उपलब्ध होता है। लोक वेद से परे प्रेम की जिस उच्चतम भावभूमि के यहाँ दर्शन होते हैं वैसे अन्यत्र नहीं। इसीलिए आचार्य वल्लभ ने ब्रज सीमंतिनियों को अपना गुरु स्वीकार किया है।[५] यह गोपी भाव भावना से ही सिद्ध होता है।[६] पुष्टिमार्ग में इसी भाव-पोषण के प्रयत्न पर बल दिया गया है। अन्य कोई साधन नहीं स्वीकार किया गया। जैसे भी हो इसी भाव की दृढ़ता अपेक्षित है। (पोषणं भाव मात्रस्य पुष्टिमार्गः कथ्यते)। इस भाव से संसारावेश नहीं होता, सांसारावेश इन्द्रियों को बलात् कुमार्ग में ले जाता है। इससे त्राण पाने का उपाय इन्द्रियों को कृष्णाभिमुख कर देना है।[७] पुष्टिमार्ग में कृष्ण रस रूप है जिनकी भाव रूप से स्थिति घटघट में है। अतः इस भक्ति मार्ग में साधन और साध्य दोनों की एकता अथवा प्रेम ही साधन है और वही साध्य है। अतः जहाँ साधन और फल की एकता है वही पुष्टि मार्ग है। अब हमें देखना है, पुष्टिमार्गीय भक्ति के उपर्युक्त लक्षणों का निर्वाह रसखान की प्रेम की व्याख्या में किस सीमा तक होती है। रसखान का ग्रंथ प्रेम वाटिका सुप्रसिद्ध है। उसमें उन्होंने प्रेम की व्याख्या दी है और भक्ति के आदर्शों का उल्लेख किया है। प्रेम वाटिका में पुष्टि-मार्ग की भाँति रसखान ने भी गोपियों के प्रेम को सर्वोच्च स्वीकार किया है—वे लिखते हैं 'जदपि जसोदा नंद अरु ग्वाल बाल सब धन्य। पै या जग में प्रेम कौ, गोपी भई अनन्य।' प्रेम वाटिका पद ३८। निश्चय ही रसखान को इस गोपी भाव के दर्शन पुष्टिमार्गीय भक्ति में ही हुए थे।

भागवतोक्त यह गोपी भाव न तो फारसी के स्वच्छन्द वासनात्मक प्रेम से वास्ता रखता है न इसका छोर (नाम मात्र के लिए ही सही पर सत्ता) से हिलना है। शेली का प्रेम भी जैसा कि उस की भाव-भूमि बताई जाती है––लोकोत्तर सीमा से परे हो गया था। डॉ० मनोहरलाल गौड़ ने अपनी पुस्तक घनानंद और स्वच्छन्द काव्यधारा में उपयुक्त विचार व्यक्त किये हैं, जो मेरी दृष्टि से अधिक तथ्यपूर्ण इसलिए नहीं हैं कि डॉ० गौड़ ने भक्ति की पुष्टिमार्गीय पद्धति में अधिक गहराई में जाने की आवश्यकता नहीं समझी है। जैसा कि कहा जाता है कि फारसी का प्रेम स्वच्छन्द और सांसारिक है परन्तु रसखान अपने प्रेम को सांसारिकता से परे दिव्य अथवा लोकोत्तर बताते हैं। वे कहते हैं––

बिनु गुन जोबन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि।
शुद्ध कामना तें रहित, प्रेम सकल रसखानि।। प्रे० बा० १५

उनकी यह व्याख्या नारदीय भक्ति सूत्र से मेल खाती हुई है। आगे रसखान ने इसे ऐन्द्रिक सुख से भी दूर ही बताया है––

दंपति सुख अरु विषय रस, पूजा निष्ठा ध्यान।
इनतें परे बखानिये, शुद्ध प्रेम रसखान।। प्रे० बा० १९

यह प्रेम अहैतुक, अकारण और व्यसन दशा वाला है––

इक अंगी, बिन कारनहिं एक रस सदा समान।
गनै प्रियहिं सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान।।२१

आचार्य वल्लभ ने प्रेम की तीन स्थितियाँ मानी हैं––स्नेह, आसक्ति और व्यसन। प्रेम[८] की व्यसन दशा या स्थिति कृतार्थता की स्थिति है।[९] यह व्यसन दशा-स्वतंत्र-भक्ति का ही परिणाम है। पुष्टिमार्ग में भक्ति का द्वैविध्य माना गया है। हरिराय जी कहते हैं––'वेदसिद्धा स्वतंत्राच द्विधाभक्ति प्रतीयते।' रसखान ने भी यही कहा है––'श्रवण कीरतन दरसनहि जो उपजत सोई प्रेम। शुद्धाशुद्ध विभेदतैं द्वैविध ताके नेम।[१०] पुष्टि मार्ग में प्रेम फल रूप भी है एवं साधन रूप भी। यह बीज रूप भी है। रसखान को यह सब स्वीकार है––'जाते उपजत प्रेम सोइ, बीज कहावत प्रेम। जाते उपजत प्रेम सोई क्षेत्र कहावत प्रेम।' वही बीज वही अंकुर वही आधार। वही डाल-पात फल-फूल सब वही प्रेम सुख सार। कारज कारत रूप यह, प्रेम अहै रसखान। कर्ता कर्म क्रिया करण आपहि प्रेम बखान।' पुष्टिमार्गीय भक्ति को तत्वतः और स्वरूपतः अंगीकार करते हुए रसखान ने श्रीनाथ जी एवं कृष्ण प्रिया राधा सभी को अपने आराध्य रूप में स्वीकार किया है––

प्रेम निकेतन श्री बनहिं, आइ गोवर्धन धाम।
लह्यौ सरन चित चाहिकै, जुगल रूप ललाम।।

इस प्रकार रसखान विशुद्ध पुष्टिमार्गीय हैं। उनका भक्ति विश्वास अन्य पुष्टिमार्गीय भक्तों जैसा ही है। उसमें न तो फारसी साहित्य जैसी ऐन्द्रिकता या शारीरिकता है न रीति

काल जैसी भोग विह्वलता। वे सूर या परमानन्द जैसे ही भक्त तथा भक्ति-संवलित शृंगार हैं।[११] उन्हें भक्ति की दृष्टि से न तो स्वच्छंदतावाद में रखा जा सकता है न काव्य की दृष्टि से अन्य किसी वाद में या शृंगारी कवियों की परंपरा में।

डॉ० गौड़ ने अपनी थीसिस में एक स्थान पर यह प्रतिपादन करने की चेष्टा की है कि रसखान ने प्रेम की पूर्णता के लिए मानसिक अथवा शारीरिक एकता दोनों को आवश्यक माना है। स्वच्छन्द प्रेम की एक शर्त है।[१२] प्रथम तो यह बात लौकिक प्रेम को लेकर नहीं कही गई है। फिर भागवत के गोपी-गीत में स्पष्ट दो शरीरों के ऐक्य की भी चर्चा है, दो शरीर एक हो कर भी वह ऐन्द्रिक नहीं। भगवत् प्रेम की यही विचित्रता है। आचार्य वल्लभ ने सुबोधिनी में इसी बात की ओर संकेत करते हुए स्पष्ट कहा है—"क्रियाः सर्वापि सेवात्र परं कामो न विद्यते।" अर्थात् प्रेम की समस्त क्रीड़ाएँ लौकिकवत् प्रतीत होती हुई भी उनमें काम भावना नहीं है। पुष्टिमार्ग में भगवत्स्वरूप आनंदात्मक है। संयोग सुख की अनुभूति के लिए ही आनंदात्मक भावात्मक रस की स्वरूप सत्ता है। उससे हृदयस्थ गूढ़ भाव का भोक्तृत्व निष्पन्न होता है—प्रभु चरण हरिराय जी ने इसे स्पष्ट किया है—

कामाख्यं सुखमुत्कृष्टमित्यत्र विनिरूपितम्।
तस्य भावैकभोग्यत्वात् भोक्तृत्वमुपपद्यते॥ —पु० स्व० नि० ६

अतः कामाख्य उत्कृष्ट सुख को भोक्ता और भोग्य रसात्मा श्रीकृष्ण ही है। यह दुर्लभ स्थिति केवल अनुभवगम्य कृपैकसाध्य है। साधन-साध्य नहीं। यह नवधा या वैधी भक्ति जिसे पुष्टिमार्ग में शीतला कहा गया है के आगे की स्थिति है। इसे वदनां भोज वाली भक्ति कहा गया है।[१३] यह अधरामृत पान की लालसा वाली होने से अत्यन्त दुर्लभ है।[१४] भक्त प्रवर रसखान ने जैसा कि ऊपर कहा गया है श्रवण कीर्तन वाली वैधी भक्ति की भी चर्चा की है।[१५] और अधरामृत पान की भी ओर संकेत किया है।[१६] अतः उन पर फारसी प्रभाव बताया जाना अथवा उन्हें स्वच्छंदतावादी धारा में घसीटना उचित न होगा।

स्वच्छन्दतावादी धारा के दो दृष्टिकोण हो सकते हैं। एक तो वँधी रीति परंपरा और दूसरी उन्मुक्त प्रेम वाली परंपरा। रसखान रीतिमुक्त परंपरा के कारण यदि स्वच्छन्दधारा में रखे गये हैं तो उस दृष्टि से उनके समकालीन अन्य पुष्टिमार्गीय विशेषकर अन्य अष्टछापी भक्तों को क्यों नहीं लिया जाता। उस दृष्टि से सूर को तो स्वरूपतः रीति परंपरा का आद्याचार्य माना ही जा सकता है। रस, रीति, अलंकार और नायिका भेद की दृष्टि से उनकी साहित्य लहरी किसी भी आचार्य की कृति के समकक्ष रखी जा सकती है। परन्तु सूर को शुद्ध कृष्ण भक्त ही माना जाता है। काव्य-परिमाण में भले ही रसखान सूर के समकक्ष न हों परन्तु अपनी भक्ति विह्वलता में वे किसी भी प्रकार सूरादि महात्माओं से न्यून नहीं। अब रही बात उन्मुक्त प्रेम की। यह ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि रसखान की प्रेमानुभूति पुष्टिमार्गीय निर्गुणाभक्ति वाली है। उसकी लम्बी परंपरा है, वह लघु प्रयासजन्य नहीं है। वह अपने में क्लासिकल है। उसका मूलस्रोत श्रीमद्भागवत है अतः उसकी पृष्ठभूमि को भली भाँति समझाने पर और कवि को पुष्टिमार्ग में दीक्षित समझ लेने पर उनकी प्रेम पद्धति अथवा भक्ति पूर्णतः समझ में आ जाती है। उनकी

भक्ति को स्वच्छंदतावादी कह कर उच्छृंखल ऐन्द्रिक प्रेम की कोटि में रखना भारी साहित्यिक भूल होगी। रसखान में उस गंभीर लोकोत्तर इन्द्रियातीत प्रेम के दर्शन होते हैं, जो पुष्टिमार्ग में निर्गुण और लोकोत्तर कहलाता है। और जो भाव रूप में घट-घट में स्थित है जिसे मथ कर सुस्पष्ट कर देने का काम साम्प्रदायिक आचार्यों ने किया है। रसखान ने ऐसे किसी दिव्य सौन्दर्य के दर्शन अवश्य किये हैं जिस पर उन्होंने गणेश, महेश, सुरेश और अन्त में अपने तक को निछावर कर डाला है। रसखान का यह भाव वृत्रासुर चतुश्श्लोकी में भी स्पष्ट है।[१७] यह वृत्रासुर चतुश्श्लोकी ही पुष्टि भक्ति का मूलस्रोत है।

सन्दर्भ-संकेत—

१. दे०, रोमांटिक साहित्य शास्त्र—डॉ० देवराज
२. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृ० १६२
३. वही, पृ० १६२
४. वही, पृ० १६२
५. कौंडिन्यौ गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत्।—संन्यास निर्णय, श्लोक ८
६. भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते।—संन्यास निर्णय, श्लोक ८
७. संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्॥ नि० ल० १२
८. ततः प्रेम तथाऽऽसक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत्। —भक्ति ३
९. यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यान्तदेव हि॥
१०. प्रेमवाटिका ४, दो० ४०
११. भक्ति अपने चरम रूप में शृंगार हो जाती है।—लेखक का निबंध-मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति-साहित्य।
१२. दो मन इक होते सुन्यो, पै वह प्रेम न आहि।
होइ जबे द्वै तनहुं इक, सोई प्रेम कहाहि॥३४॥
१३. भक्तिर्द्विधा पदांभोज वदनांबुजभेदतः।
प्रथमा शीतलाभक्तिर्यतः श्रवणकीर्तनात्॥ भ० द्वै० निरु० १
१४. तत्रैव सुखसंबंधः सुलभा नारदादिषु।
द्वितीया दुर्लभा यस्मादधरामृतसेवनात्॥ भ० द्वै० निरु० २
१५. प्रेम वा०, दो० ४०
१६. प्रे० वा०, दो० ३४
१७. न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योग सिद्धिरपुनर्भवं वा समंजसत्वा विरहय्यकांक्षे॥

जानकवि के प्रेमाख्यानों में साहित्यिक अभिप्राय—तुलनात्मक

• रामकिशोर मौर्य

सामान्यतः अभिप्राय या रूढ़ि शब्द का प्रयोग हिन्दी में एक दूसरे के पर्याय के रूप में ही किया जाता है। अभिप्राय जिसे अंग्रेज़ी में 'Motif' कहते हैं, हिन्दी में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे 'कथानक-रूढ़ि' शब्द से अभिहित किया है। इन्होंने अपने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में ऐतिहासिक चरित काव्यों पर विचार करते हुए लिखा है कि "ऐतिहासिक चरित का लेखक सम्भावनाओं पर अधिक बल देता है। सम्भावनाओं पर बल देने का परिणाम यह हुआ है कि हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घकाल से व्यवहृत होते आए हैं, जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चल कर कथानक-रूढ़ि में बदल गये हैं।" इस तरह द्विवेदी जी ने अभिप्राय तथा रूढ़ि शब्द का उपयोग एक दूसरे के पर्याय रूप में ही प्रयुक्त किया है। हिन्दी के कुछ अन्य विद्वान् कथा-परिधान या कथा-रूप, मूलभाव, कथानक का मूललक्षण या मुख्य लक्षण कह कर परिचय दिया है, किन्तु ये शब्द उपयुक्त नहीं हैं। हिन्दी में किसी अन्य उपयुक्त शब्द के अभाव में हम यहाँ अभिप्राय शब्द का ही व्यवहार करेंगे।

अभिप्राय उस शब्द अथवा एक साँचे में ढले हुए उस विचार को कहते हैं, जो समान परिस्थितियों में अथवा समान मनःस्थिति और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियों में बार-बार आता है। इस तरह किसी विचार के रूप में घटना-प्रवाह को मोड़ने, निर्माण करने, विकसित करने तथा एक निश्चित दिशा देने वाला तत्व होता है। साहित्य के विभिन्न विधाओं—कला, काव्य, कथा, और संगीत आदि में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। मुख्य रूप से इसकी दो कोटियाँ प्रधान हैं—(१) कथा-सम्बन्धी अभिप्राय, (२) काव्य-सम्बन्धी या साहित्यिक अभिप्राय। जिस प्रकार कथा-सम्बन्धी अभिप्राय प्रेमाख्यानों या लोक-कथाओं में ज्यों के त्यों चलते रहते हैं, उसी प्रकार काव्य-सम्बन्धी या साहित्यिक अभिप्राय भी शताब्दियों से एक बँधी-बँधाई परिपाटी के रूप में पूर्वापरक्रम से प्रयुक्त होते रहते हैं। आदि से अपभ्रंश तथा भक्ति एवं रीतिकालीन कवियों ने इनका बराबर उपयोग किया है। आधुनिक-काव्यों में इन अभिप्रायों का उपयोग नहीं किया जाता है। संस्कृत काव्यों में प्रारम्भिक युग में कुछ अभिप्राय ऐसे चल पड़े थे जिनको आचार्यों ने 'कविसमय' या 'कविमत' नाम दे रक्खा है। हिन्दी काव्यों में इसका कम निर्वाह हुआ है। यहाँ अब हम जानकवि के प्रेमाख्यानों में प्रयुक्त

मुख्य-मुख्य साहित्यिक अभिप्रायों का हिन्दी के सूफ़ी तथा असूफ़ी प्रेमाख्यानों से तुलनात्मक विवरण दे रहे हैं।

मंगलाचरण

समस्त ग्रंथों के प्रारम्भ में जानकवि ने ग्रंथों के आकार एवं विषय के अनुसार नबी, मुहम्मद, अलष, निरंजन, हजरत, चार-यार (अबाबकर, ऊमर, उसमान तथा अलीसिंध) आदि नामों की वंदना किया है, जो कि हमारे प्रेमाख्यानक-काव्यों का एक बहुत प्रचलित परम्परागत अभिप्राय रहा है।

शाहेवक्त की प्रशंसा

रीति तथा कुछ भक्तिकाल के कवियों की भाँति कवि ने शाहेवक्त की प्रशंसा करते समय शाहजहाँ, जहाँगीर तथा औरंगज़ेब के साहस, शौर्य एवं वीरता की प्रशंसा करना नहीं भूला है। कथा पुहुपबरिषा, कथा कवलावती, कथा रतनावती, कथाछीता, कथा षिजरषा देवल दे तथा कुलवंती में शाहजहाँ एवं जहाँगीर की तथा कथा नलदमयंती एवं कथा सुभटराइ में औरंगज़ेब की प्रशंसा किया है।

राज्य-वैभव का वर्णन

इन समस्त प्रेमाख्यानों में किसी राजा के संतान की कथा वर्णित होने से राजाओं के राज्य-वैभव, यथा––नगर, वाटिका, महल, सरोवर, हाँथी, घोड़े, सेनाएँ आदि का सविस्तार वर्णन वस्तुतः एक जैसा किया गया है। कथा कनकावती में राजा भरथनेर के भरथनगरी के राज्य-वैभव का वर्णन सविस्तार किया गया है।[१] कथा कवलावती रूप नगरी के राजा रूपराइ के राज्य-वैभव का वर्णन अनेक उपमाओं से हुआ है।[२] कथा पुहुपबरिषा में कवि ने श्रीनगर के राजा भूपाल के राज्य-वैभव एवं वाटिका आदि की व्यवस्था का अच्छा चित्रण किया है।[३] कथा सुभटराइ में सूरजनगर के राजा सूरजमल के शूर-वीरता तथा दल-बल आदि का सविस्तार वर्णन किया है।[४] इसी तरह अन्य प्रेमाख्यानों में कवि ने राजाओं के राज्य-वैभव का वर्णन किया है जो कि परम्परा प्रथित होने से तथा एक ही उपादानों की बार-बार आवृत्ति से अभिप्राय युक्त हो गया है। सूफ़ी तथा असूफ़ी एवं रीति काल के सभी कवियों ने इसको स्थान दिया है।

प्रेम का आकर्षण

नायक-नायिकाओं में प्रेम का प्रादुर्भाव कई रूपों से हुआ है––

(क) रूप-गुण-श्रवणजन्य आकर्षण

कथाकवलावती में एक तोता द्वारा गुण-श्रवण कर इन्दुवदन तथा कवलावती में प्रेम का आकर्षण होता है। कथा कलावती में एक पथिक से गुण-श्रवण करने पर, कथा कौतूहली में दो बनजारों द्वारा गुण-श्रवण से, कथाछीता, कथा मोहनी तथा सतवंती में नायिका के

रूप-गुण-श्रवण से नायकों में प्रेम का उदय होता है। कथा नलदमयंती तथा कथा कनकावती में स्वप्न एवं चित्र दर्शन के साथ गुण-श्रवण भी नायकों में प्रेम के उदय का कारण रहा है। इसी तरह पद्मावत में हीरामन तोता द्वारा गुण-श्रवण से तथा असूफ़ी प्रेमाख्यान माधवानल कामकंदला में गुण-श्रवण से नायकों में प्रेम का प्रादुर्भाव हुआ है। कथासरित्सागर की कई कहानियों में नायक-नायिका में प्रेम के आकर्षण का कारण रूप-गुण-श्रवण ही रहा है। इनके अतिरिक्त अन्य भारतीय निजंधरी तथा ऐतिहासिक कहानियों में इसका खूब व्यवहार हुआ है।

(ख) स्वप्न-दर्शन से आकर्षण

जिस तरह जानकवि के कथा कामलता, कथा रूपमंजरी, कथानलदमयंती तथा कथा कनकावती में अन्य रूपों के साथ नायकों में प्रेम का प्रादुर्भाव स्वप्न-दर्शन से होता है उसी तरह दक्खिनी कवि मुल्लावजही कृत 'कुतुबमुश्तरी' में मुहम्मद कुली के हृदय में तथा ढोलामारूरा दूहा एवं रसरतन में स्वप्न-दर्शन से नायकों में प्रेम का आकर्षण होता है। यद्यपि पृथ्वीराजरासों में 'हंसावती-विवाह' नामक छत्तीसवें समय में पृथ्वीराज हंसावती के विवाह के पूर्व स्वप्न में उसे अवश्य देखता है; किन्तु इसमें प्रेमाख्यानक-काव्यों जैसा कोई चमत्कार नहीं लगता। केवल अभिप्राय पालन की दृष्टि से प्रयुक्त किया गया लगता है।

(ग) चित्र-दर्शन से आकर्षण

कथा रतनावती में महिमोहन के हृदय में पिता द्वारा दी हुई मुद्रिका पर अंकित चित्र-दर्शन से तथा कथा कामरानी वा पीतमदास में पीतमदास के हृदय में कावरूँ देश में एक शिला पर अंकित कामरानी के चित्र-दर्शन से प्रेम का आकर्षण बढ़ता है। कथा नलदमयंती तथा कथा कनकावती में अन्य रूपों द्वारा आकर्षण के साथ चित्र-दर्शन भी सहायक हुआ है। इसी तरह अन्य प्रेमाख्यान उसमान कृत चित्रावली में सुजान का चित्रावली के प्रति, गवासी कृत सैफुलमलूकव वदीउलजमाल में नायक का नायिका के प्रति तथा छिताई वार्ता में अलाउद्दीन का छिताई के प्रति आकर्षण चित्र-दर्शन से ही हुआ है।

(घ) साक्षात्-दर्शन से आकर्षण

ग्रंथ लैलैमजनूं में लैला तथा मजनूं में पाठशाला चटसार में प्रत्यक्ष-दर्शन से, कथा मधुकर-मालती में चटसार पढ़ने जाते समय रास्ते में मालती के प्रत्यक्ष-दर्शन से तथा कथा चन्द्रसेन राजा सीलनिधान में राजा चन्द्रसेन, कथा कुलवंती में राजा कुतुबद्दीन, कथा निरमल में पातिसाह तथा कथा सीलवंती में बाजदार के अन्दर भी प्रेम का उदय नायिकाओं के प्रत्यक्ष-दर्शन से ही हुआ है। इसी तरह अन्य प्रेमाख्यान मृगावती, मंझन कृत मधुमालती, शेखनबीकृत ज्ञानदीप, लखनसेन पद्मावती तथा दुखहरणदास की पुहुपावती में नायकों के प्रेम के आकर्षण का कारण साक्षात्-दर्शन ही रहा है।

संदेश-वाहन सम्बन्धी

(१) **तोता या पक्षी**—शुक-शुकी, चकवा-चकई, हंस आदि पक्षी भारतीय काव्यों के

बड़े महत्वपूर्ण पात्र हैं। इनका समावेश काव्यों में कई रूपों में हुआ है। कवि ने दो रूपों में इनका उपयोग किया है—(१) संदेश-वाहक रूप में तथा (२) भेदिया रूप में। कथा नलदमयंती में पक्षी तथा कथा कवलावती में तोता नायक-नायिका के बीच संदेश-वाहन एवं पत्र-वाहन का कार्य करता है। कथा सीलवंती में तोता भेदिया के रूप में प्रयोग किया गया है। अन्य प्रेमाख्यान पद्मावत में हीरामन सुग्गा विरहिणी नागमती का संदेश सिंहलद्वीप ले जा कर रतनसेन से कहता है। 'ढोला मारूरादूहा' में मालवणी एक शुक से पति के पास संदेश भेजती है। 'रसरतन' में विद्यापति नामक तोता संदेश-वाहन का कार्य करता है। प्रेमप्रगास' में मैना पक्षी यह कार्य करती है।

(२) **सखियाँ**—कथा रतनमंजरी में सखियाँ रतनमंजरी के प्रेम उदय होने का संदेश उसके माता-पिता से कहती हैं। कथा षिजरषादेवलदे में नायक तथा नायिका की चार-चार सखियाँ दोनों के बीच संदेश-वाहन का कार्य करती हैं। इसी तरह चतुर्भुजदास की मधुमालती में जैतमाल सखी संदेश-वाहन का कार्य करती है।

(३) **दाइयाँ या सेविकाएँ**—कथा कौतूहली में एक दाई नायक सरबंगी तथा कौतूहली के बीच गुप्त-संदेश देती है। कथा नलदमयंती में केसनी सेविका दुबारा स्वयंवर में नल के गुप्त-भेष का संदेश दमयंती को बताती है।

(४) **मालिनि**—कथा रूपमंजरी तथा कथा कामरानी वा पीतमदास में मालिनि द्रव्य-प्रलोभन से संदेश-वाहन का कार्य करती है। दुखहरणदास की पुहुपावती में भी मालिनि ही संदेश ले जाती है और नायक-नायिका के बीच प्रेम-घटक का कार्य करती हैं।

(५) **ब्राह्मण तथा ढाढी**—कथा नलदमयंती में ब्राह्मण तथा कथा कनकावती में ब्राह्मण एवं ढाढी दोनों संदेश-वाहन का कार्य करते हुए चित्रित किए गये हैं। इसी तरह वीसलदेवरास तथा क्रिसनरुक्मिणीरेवेलि में संदेश ब्राह्मणों द्वारा ले जाया जाता है।

(६) **पवन**—कथा षिजरषादेवलदे, कथा नलदमयंती तथा ग्रंथ लैलैमजनूं में **पवन** नायक-नायिकाओं के बीच संदेश-वाहक है। भारतीय काव्यों में पवन द्वारा संदेश भेजने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रही है।

उपवन या जलाशय के किनारे किसी सुन्दरी से भेंट, मिलन एवं प्रेम

इसे संयोग या भाग्य से संबंधित अभिप्राय भी कह सकते हैं। कथा कौतूहली में नायक सरबंगी माली-भेष में एक बार उपवन में तथा दुबारा जलाशय के पास कौतूहली से सखियों के साथ संगीत प्रदर्शित करते हुए मिलता है। कथा रतनावती में पद्मिनी की सहायता से राजकुंवर महिमोहन तथा अप्सरा रतनावती और रूपमंजरी में मालिनि के प्रयास से ग्यानसिंध तथा रूप-मंजरी का मिलन उपवन में होता है। कथा रतनमंजरी में रतनमंजरी एवं मधुसूदन तालाब के किनारे मिलते हैं। इसी तरह दुखहरणदास की पुहुपावती में नायक-नायिका सरोवर के किनारे मिलते हैं। मृगावती, पद्मावत तथा चित्रावली में नायिकाएँ सखियों के साथ मानसरोदक में **स्नान करने आती हैं।**

मंदिर में पूजा के लिए आई कन्या का हरण

कथा छीता में गढ़ के अन्दर मंदिर में पूजा के लिए आई हुई छीता का बलपूर्वक हरण कर अलाउद्दीन उसे दिल्ली लाता है।[५] मंदिर या शिवमंदिर में पूजन हेतु आई हुई कन्या-हरण का यह अभिप्राय भारतीय साहित्य में महाभारत से ही प्रयुक्त होता आ रहा है। कृष्ण ने रुक्मिणी को इसी प्रकार हरा है। पद्मावत में पद्मावती को शिव मंदिर में पूजा के लिए आने पर पृथ्वीराज उसे घोड़े पर बैठा कर दिल्ली पहुँचा देता है। इसी तरह शशिव्रता तथा संयोगिता का हरण भी पूजा के बहाने मंदिर में आने पर हुआ है।

सिंहलद्वीप

भारतीय काव्यों में सिंहलद्वीप में काव्य की नायिकाओं तथा पद्मिनी स्त्रियों का पाया जाना एक परम्परा प्रथित अभिप्राय रहा है। जिस तरह जायसी ने अपने पद्मावत में सिंहलद्वीप[६] के वर्णन में पद्मिनियों का उल्लेख किया है। उसी तरह जानकवि ने कथा रतनावती में सिंहलद्वीप में पद्मिनी नारी के रहने का उल्लेख किया है। जंगल में भटकते हुए अचानक पद्मिनी से भेट हो जाने पर कुंवर पद्मिनी को एक राजा से छुड़ा कर तथा साथ ले कर उसके निवास-स्थान सिंहलद्वीप आता है, जहाँ वह रतनावती से मिलने का यत्न बताती है।[७] जिस तरह पद्मावती को रतनसेन लेने सात समुद्र पार जाता है उसी तरह कथारतनावती का महिमोहन भी रतनावती को प्राप्त करने के लिए सात समुद्र पार जाता है। कथासरित्सागर तथा अपभ्रंश की रचनाओं में अधिकांश नायिकाएँ सिंहलद्वीप की पद्मिनी के रूप में चित्रित हुई हैं। कबीर भी अपने राम को खोजने सिंहलद्वीप गये थे।[८]

नख-शिख वर्णन

नायिकाओं के रूप-सौन्दर्य को महत्व देने के लिए प्रेमाख्यानक कवियों ने विभिन्न उपमाओं द्वारा उनके नख-शिख तथा अंग-प्रत्यंगों का विस्तृत वर्णन किया है जो कि हमारे काव्यों का एक बहुत प्रचलित परम्परागत घिसा-पिटा अभिप्राय रहा है। कथा कवलावती में तोता के मुख से राजकुमारी कवलावती के नखशिख का वर्णन सुन कर राजकुंवर इन्द्रवदन् मोहित हो जाता है। कथा रतनमंजरी में रतनमंजरी के नख-शिख तथा सौन्दर्योपकरणों का विस्तृत वर्णन सुन कर मधुसूदन बचपन में ही आकर्षित होता है। कथा रतनावती में पद्मिनी रतनावती के नख-शिख के रूप-सौन्दर्य का वर्णन कर महिमोहन के अन्दर प्रेम की उत्सुकता और बढ़ा देती है। कथा नल-दमयंती में दमयंती के नख-शिख का वर्णन सविस्तार सुन कर नल का पूर्वानुराग पुनः जाग्रत हो जाता है। इसी तरह कथासुभटराइ, कथा कौतूहली, कथा रूपमंजरी, पुहुपबरिषा, कथा मोहनी, छबिसागर, ग्रंथ लैलैमजनूं, कलावंती, कनकावती, और छीता आदि में नायिकाओं के नख-शिख वर्णन से नायकों के हृदय प्रेम की भावना प्रबल की गई है। सूफ़ी काव्य पद्मावत, मधु-मालती तथा चित्रावली में नायिकाओं का नख-शिख वर्णन कर के उनकी रूप-गरिमा उभारी गई है।

विरहपूर्ण बारहमासा का वर्णन

नायिकाओं में विरह की तीव्रता व्यक्त करने के लिए प्रायः कवियों ने अपने काव्यों में विरहपूर्ण बारहमासा का वर्णन परम्परागत अभिप्राय के रूप में किया है। जानकवि ने कथा कलावंती,[९] कथा कवलावती,[१०] कथा कनकावती[११] कथा कौतूहली,[१२] कथा पुहुपबरिषा[१३] तथा कथा रतनमंजरी[१४] में बारहमासे का विरहपूर्ण वर्णन नायिकाओं के विरहावस्था को उद्दीप्त करने के लिए किया है। कथा सुभटराइ में छः ऋतुओं का विरहपूर्ण वर्णन है। संयोग रूप में बारहमासा का वर्णन केवल कथा रतनमंजरी[१५] में ही मिलता है। सूफ़ी काव्य पद्मावत, मृगावती, चित्रावली, ज्ञानदीप तथा असूफ़ी काव्य मैनासत, वीसलदेवरास आदि में बारहमासे का वर्णन अधिकता से हुआ है। जानकवि के समस्त बारहमासे असाढ़ से शुरू हो कर जेठ में समाप्त हुए हैं जब कि चित्रावली में चैत से, पद्मावत तथा ज्ञानदीप में असाढ़ से शुरू होता है।

संभोग-वर्णन

जिस तरह नायक या नायिकाओं के प्रेम की तीव्रता को उभारने के लिए कवि विरह-वर्णन करता है, उसी प्रकार दोनों के मिलन में जरा-सा मौका पाने पर संयोग की दृढ़ता दिखाने के लिए संभोग का वर्णन करने में नहीं चूका है। जानकवि के समस्त दाम्पत्य एवं स्वच्छन्दतापरक प्रेमाख्यानों में इसकी भरमार है। कथारतनमंजरी में मधुसूदन तथा रतनमंजरी के विवाह सम्पन्न हो जाने के बाद दोनों के संभोग का बड़ा विस्तृत वर्णन कवि ने किया है।[१६] कथा कवलावती में विवाहोपरांत नायक-नायिका रति-क्रीड़ा करते हैं।[१७] कथा नलदमयंती में भी विवाह के बाद ही दोनों कनकसदन में संभोग करते हैं।[१८] कथा रतनावती में राजा जगतराइ के जगरानी से संभोग करने पर पुत्र महिमोहन उत्पन्न होता है।[१९] महिमोहन तथा रतनावती के विवाह की सम्पन्नता के बाद कई बार संभोग का चित्रण कवि ने किया है।[२०] इसी तरह कथा कनकावती में परमरूप तथा कनकावती कई बार संभोग करते हैं।[२१] इन समस्त प्रेमाख्यानों में जानकवि ने कुछ न कुछ संभोग का वर्णन किया है। असूफ़ी प्रेमाख्यान ढोलामारूरा दूहा, छिताईवार्ता, सदयवत्ससावलिंगा, माधवानलकामकंदला, रसरतन, नलदमन, प्रेंमप्रगास, पुहुपावती आदि में संभोग का विस्तृत चित्रण कवियों ने किया है। संस्कृत साहित्य में कामशास्त्रीय आधार पर कुमारसंभव, नैषध, गीतगोविन्द आदि में संभोग का वृहद् वर्णन मिलता है। सूफ़ी कवियों ने इसका कम वर्णन किया है। जायसी के पद्मावत तथा कुतुबन के मृगावती में संभोग का चित्रण भारतीय प्रभाव के कारण है।

आत्महत्या की धमकी

यह कथानक को आगे बढ़ाने वाला साधारण अभिप्राय है। 'लैलैमजनूं' में लैला का विवाह इबनसलाम से सम्पन्न हो जाने के बाद भी लैला इबनसलाम को अपने निकट जाने तथा संयोग चाहने पर आत्महत्या की धमकी देती है।[२२] कथा मधुकरमालती तथा कथा कामरानी वा पीतमदास में भी नायिकाएँ अन्य पुरुषों के बलात् संयोग चाहने पर धमकी देती हैं। इस अभिप्राय का प्रयोग पार्श्वनाथचरित तथा अन्य प्रेमाख्यानों में कई स्थानों पर हुआ है।

आत्म-निवेदन

इसमें कवि कथा का माहात्म्य-वर्णन या आध्यात्मिक संकेत देते हुए कभी दुर्जन-निंदा तो कभी सज्जन-प्रशंसा करते हैं। यह अभिप्राय कथाओं में आदि, मध्य या अंत कहीं भी हो सकता है। कथा चन्द्रसेन राजा सीलनिधान,[२३] बांदीनावा,[२४] षिजरषादेवलदे,[२५] कथा नलदमयंती,[२६] कथा निरमल,[२७] कथा कुलवंती तथा कथा कामरानी वा पीतमदास[२८] में कवि ने कथानक के अनुकूल आदर्श की ओर संकेत किया है।

कथा का अंत

समस्त काव्यों में कथानकों का अंत प्रायः सुखान्त रूप में चित्रित होने से यह काव्यों का एक परम्परागत अभिप्राय हो गया है। संस्कृत साहित्य में यह पराम्परा विशेष पाई जाती है। ग्रंथ लैलैमजनूं तथा कथा नलदमयंती को छोड़ कर जानकवि के समस्त प्रेमाख्यान सुखान्त हैं। सूफ़ी तथा असूफ़ी प्रेमाख्यान भी सुखान्त ही चित्रित किये गये हैं। केवल पद्मावत तथा मृगावती की स्थिति जानकवि के उक्त दोनों ग्रंथों की भाँति है।

संदर्भ-संकेत—

१. चौ० ५, ६
२. चौ० ३ से १९ तक।
३. चौ० १२ से १७ तक।
४. चौ० १
५. चौ० २६
६. सिंहलदीप कथा अब गावौं।
   अैसे पदमिनि बरनि सुनावौं॥
७. चौ० ८२—कहत पद्मनी तूं मो भाई। यत्न बताऊं राम दुहाई॥
   कहिहौं अपनी बाकी बात। बहुरि मिलन की सिषऊं घात॥
   सिंघलदीप आपुनें बाग। इन दिन गई पुहुप अनुराग॥
८. दोहा—कबीर खोजी राम का, गया जु सिंहलदीप।
   रामतो घटि भीतर रमि रह्या, जो आवै परतीत॥
९. चौ० १८ से १९ के बीच १२ पवंगम छंदों में।
१०. चौ० १६८ से १७९ तक।
११. चौ० ५९ से ७० तक।
१२. चौ० ६२ से ६३ के बीच विविध छंदों में।
१३. चौ० १२६ से १३७ तक।
१४. चौ० १८६ से १९७ तक।
१५. चौ० २३५ से २४६ तक।

१६. चौ० १५१—कबहू कुच पकरत अति हेत। कबहूँ अधर अमी रस लेत॥
जब इनमैं ये बतिया भई। इक इक सषी टरत सब गई॥
ज्यों ज्यों कुंवर गहत है बहिया। त्यों त्यों तिया करत है नहिया॥

\+ \+

कुंवरहि बढ्यौ केलि रस हेत। करुना काम करन नहिं देत॥
बर कर गही लई गर लाइ। येक भये दूसर न लषाइ॥

\+ \+

फूटी बलिया टूटे हार। मुष पियरानौं छूटे बार॥
छिन छिन मैं आवहि अँडाई। लैहै पल पल माहि झंमाई॥
सिथिल गात बांतै तुलराई। अखिया अरुन नींद सौं छाई॥

\+ ×

बिहबल अति ही ह्वै गई नारी। डिगत चलत मानहु मतवारी॥

१७. चौ० ८३-८५ तक।
१८. सवैया ३९
१९. चौ० १४
२०. चौ० १२०, १५०, १५१
२१. चौ० ४२, ४३, ७६
२२. चौ०—तू जौ मेरक हाथ लगावहि। जीवत मोहि बहुर नहिं पावहि॥४५॥
२३. दोहा—जैसौ जाकौ होइकुल। तैसी ताकी रीति।
निरकुल सौं कबि जान कहि। कोइ करहु जिन पीति॥
२४. ग्रंथ के अंत में कई दोहे हैं।
२५. दोहा—वाहन फोरत सोर ह्वै। लकरी चीरत सोर।
बिछुरन को न पुकारि है। बिछुरन महा कठोर॥
२६. चौ० ६५ तथा १३२
२७. चौ० १२
२८. दोहा—बुरौ न कीजौ जान कहि। भलो करहु सब कोइ।
जैसौ बोइये बीज जगु। तैसौ ही फलु होइ॥

हिन्दी सन्त-साहित्य की विशिष्ट विचारधारा

• केशनीप्रसाद चौरसिया

हिन्दी सन्त साहित्य भारतीय वाङमय परम्परा की मूल्यवान निधि है क्योंकि यह प्रधानतः जनता का साहित्य है। यह जन-जीवन के धार्मिक उन्मेष का अभिनव प्रयोग है। सन्त कवि भारतीय जनता के सच्चे प्रतिनिधि कवि थे। उनकी सामाजिक चेतना बहुत तीव्र थी। जन-जीवन की हृत्तंत्री के तारों को झनझनाती हुई सन्तवाणी निस्सृत हुई है। जनता की आशा-आकांक्षा, भूख-प्यास, रोदन-गायन एवं हर्ष-विषाद के युगल तटों का स्पर्श करती हुई सन्त काव्य की पावन पयस्विनी प्रवाहित हो रही है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने सन्तों की बानियों को जीवित मशालें कहा है। इन दीप शिखाओं के जलाने वाले सन्तों को सामान्य जीवन की दिनचर्या के पवित्र क्षणों में जो आत्मानुभूति प्राप्त हुई उसे सन्त साहित्य की संज्ञा मिली। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के कथनानुसार जो सत्य स्वरूप, नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुके हैं अथवा अपरोक्ष रूप से उपलब्ध कर चुके हैं और इस उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गए हैं। वे ही सन्त हैं। सन्त ही चैतन्य स्वरूप हैं और चैतन्य ही आनन्द स्वरूप हैं।[१] अपने व्यक्तित्व के संकीर्ण घेरे को पार कर समष्टि के विस्तृत क्षेत्र में विचरने का प्रयत्न करना सन्त की साधना और अपने संकुचित जीवन के कण-कण को सर्वातिम सत्ता में सम्पूर्ण भाव से विलीन कर देना सन्त की अवस्था है। यों तो जो कुछ भी है वह सत् और वस्तु सत्ता के आधार पर ही ठहरा हुआ है, परन्तु समस्त अलग-अलग दिखाई पड़ने वाले सन्त में एक ही विभु का अधिष्ठान देख कर तन्मय होने वाला सन्तः सत् का समुच्चय कहलाता है। पहुँचा हुआ सन्त सर्वदा अनन्त के साथ अपने साधर्म्य का अनुभव करता है। जाग्रत अवस्था में उसे मालूम पड़ता है कि सारे संसार की हलचल उसके भीतर हो रही है। कुछ भी उसके बाहर नहीं और वह सम्पूर्ण सत्ताओं की समष्टि है।[२]

सन्त साहित्य में आध्यात्मपरक परलोकमुखी तत्व विशेष प्रबल है, जो हमें पग-पग पर चेतावनी देता चलता है कि संसार असार है। शरीर क्षणभंगुर है। विषय-सुख तुच्छ है। संसार के सभी कार्य-व्यापार माया के द्वारा संपन्न होने वाला मिथ्या अभिनय है। आदि तत्व परमात्मा घट-घट वासी और सर्वत्र रमण करने वाला है, इसीलिए योगी उसे "राम" कह कर पुकारते हैं। जीव परमात्मा से पृथक् न हो कर उसी का अंश है। आत्मा अज, अमर और अविनाशी है। जब तक जीव माया के वशवर्ती रहता है तब तक उसका भव-चक्र से निस्तार होना कठिन है। अतः ठगिनी माया के जाल से जीवात्मा को मुक्त करना साधक का प्रथम कर्तव्य है। माया का कुँहासा दूर होने पर ही जीव को ब्रह्म के दर्शन होते हैं। कर्म कांड के आडम्बर, भस्म-धारण, तीर्थ सेवन,

तुलसी-माला, चंदन, व्रत-उपवास एवं शरीर को व्यर्थ ही कष्ट देने से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। वाक्य-ज्ञान की निपुणता से भी उसकी प्राप्ति असंभव है। शुष्क ज्ञान, चमत्कार-प्रदर्शन, कुंडलिनी-जागरण, प्राणायाम एवं कोरे तर्क अथवा वाद-विवाद से भी वह आत्माराम वश में होने का नहीं, उसे बाहर खोजने की भी आवश्यकता नहीं क्योंकि वह अखिल प्राणी-मात्र के अन्तर में विद्यमान है। एक मात्र भक्ति या प्रेम से ही वह वश में किया जा सकता है। भक्ति ही मानव-जीवन का सर्वस्व है। हरि-भक्ति के बिना संसार में जीवित रहना व्यर्थ है। सांसारिक जीवन को तो धुएं के महल की भाँति नष्ट होते देर नहीं लगती।

कबीर हरि की भगति बिनु, ध्रिग जीमण संसार।
धुवां केरा धौलहर, जात न लागे बार ॥ क० ग्र० चितावणी को अंग २७॥

जिस कुल में भगवान् के भक्त उत्पन्न नहीं होते, वह कुल ढाक-पलाश की भाँति है। भक्ति के आवेग में कबीर यहाँ तक कह देते हैं कि राम भक्ति की साधना से विमुख रहने वाले व्यक्ति को जन्म लेते ही मर जाना चाहिए था। इस प्रकार सन्तों की साधना प्रधानतः भक्ति की साधना है। भक्ति को ही सभी सन्त एक स्वर से इस निस्सार संसार में सार वस्तु समझते हैं और वही मनुष्य की श्रेयस्करी उपलब्धि का साधन होनी चाहिए। कबीरदास जी अपने युग की विचित्र स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि उस समय सारा देश विभिन्न प्रकार की साधनाओं से भरा हुआ था। कोई वेद-पाठ को ही सब कुछ समझ रहा था। कोई संसार से उदासीन बना भटक रहा था। कोई योग के युक्ति-साधन में शरीर को क्षीण बना रहा था, कोई दान-पुण्य में लगा हुआ था, कोई सुरापान को ही चरम लक्ष्य माने बैठा था, कोई तंत्र-मंत्र औषधादि के चमत्कार दिखला कर सिद्ध बना फिरता था, कोई धूम्रपान कर शरीर को काला बना रहा था, किन्तु राम-नाम के प्रति किसी का अनुराग नहीं था और इस प्रकार बिना राम नाम के वे सब मुक्ति से कोसों दूर थे।[3] अल्लाह और दशरथ सुत राम का झगड़ा भी मनुष्य-मनुष्य के बीच सांप्रदायिक दीवाल खड़ी करने वाला था, अतः कबीरदास की लौ इन दोनों से परे परमतत्व पर लगी हुई थी—

अलह राम की गम नहीं,
तहां कबीर रहा ल्यौ लाय।

सन्त साहित्य में हमें एक ऐसी विशिष्ट वस्तु मिलती है, जो उनके पूर्ववर्ती न तो सिद्धों और नाथों में मिलती है और न कर्मकाण्डी पंडितों या मुल्लाओं में। जिस अनमोल पारस को पाकर निम्नवर्गी संत वंदनीय बन गए वह राम की भक्ति ही थी। सन्तों की यह भक्ति-साधना ही सन्त साहित्य की विशिष्ट विचारधारा है और यही भक्ति की देन भारतीय समाज को सन्तों की अभूतपूर्व देन है।

सन्त कवि और उनका साहित्य देश कालातीत है। उन्हें किसी स्थान और समय विशेष की सीमा के बीच नहीं बाँधा जा सकता। "सन्त मत उस प्रकार का संप्रदाय नहीं है जैसे कि वल्लभ या मध्व या किसी एक पुरुष द्वारा प्रवर्तित" दूसरे संप्रदाय हैं। वह एक धारा है (अवि-

च्छिन्न धारा) जो आज से लगभग पांच सौ वर्ष पहले प्रकट हुई और अब तक वह रही है। भक्ति मार्ग ने मुमूर्ष हिन्दू जाति में जान डाली, सन्त मत ने सक्रियता प्रदान की।[४]

सन्त कवियों ने 'कागद की लेखी' की अपेक्षा 'आँखिन देखी' को सहज बोल चाल की भाषा में व्यक्त किया। शास्त्र का अन्धानुकरण न कर स्वानुभूति पर ही विशेष बल दिया। सन्त साहित्य में किसी प्रकार के शाब्दिक चमत्कार या साहित्यिक सौंदर्य की खोज करना व्यर्थ है। यह बात दूसरी है कि ये तत्व उनकी वाणी में अनायास ही आ गये हैं। सन्तों के पूर्व नाथ संप्रदाय ने भी जन-वाणी को अपना कर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था किन्तु यौगिक सिद्धान्तों के नीरस विवेचन से बोझिल होने के कारण वह भाषा जनता को रुचिकर न हो सकी। सन्तों ने मानव-धर्म-तत्व का निरूपण जिस सहज भाषा में किया वह विराट जन सरिता के दोनों कूलों को छूकर बह रही है। उसमें जन-जीवन के कटु-मिष्ट क्षणों की रम्यभाव-लहरियां तरंगित हो रही हैं अतः उसमें काव्यगत सौंदर्य की सृष्टि स्वतः हो गई। इसी नैसर्गिक सुषमा के कारण सन्त साहित्य हिन्दी भक्ति साहित्य के बीच स्पृहणीय ढंग से समादृत हो सका।

सन्त-साहित्य में सन्तों के अनुभव गम्य ज्ञानानुभूति की ही चर्चा है। उन्हें अपनी स्वानुभूति पर दृढ़ विश्वास था अतः उन्होंने निगमागम पुराण की साक्षी दे कर अपने कथन की पुष्टि करने का किंचित् प्रयास नहीं किया वरन् कबीर ने आक्रोश के साथ 'पुस्तक देइ बहाइ' तक की बात कही है। सन्त साहित्य में शास्त्र सम्मत पौराणिक परंपराओं के प्रति उपेक्षा प्रगट की गई है। इस साहित्य की प्रखर तेजस्वी धारा पौराणिक हिन्दू धर्म के आचार बाहुल्य को नष्ट भ्रष्ट करती हुई प्रवाहित हुई है, किन्तु विशेष लक्ष्य करने की बात यह है कि सन्त कवियों ने प्रायः इन आचार-विचारों के उपरले स्तर को ही देखा है। स्तर पटल को भेद कर तत्ववाद की गहराई में पहुँचने की इन सन्तों ने आवश्यकता नहीं समझी। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन सत्य ही है कि शायद ही किसी दार्शनिक तत्ववाद या पौराणिक रहस्य-व्याख्या का उल्लेख उनके ग्रंथ में पाया जाय।[५] वेद-पाठ, तीर्थ-स्नान, अवतारोपासना, व्रत-उपवास, स्पृश्यास्पृश्य, स्वर्ग-नरक आदि के बारे में कबीरदास जी ने जलते हुए प्रश्न बेचारे विवेक-शून्य पत्राधारी अधकचरे पंडित या पांडे से पूछे हैं, "पर उस सीधे जवाब को प्रश्नकर्ता ने एकदम भुला दिया है। गलत हो या सही 'पंडित' यह विश्वास करता है कि छूत उसकी सृष्टि नहीं है बल्कि एक अनादि कर्म प्रवाह का फल है। वह विश्वास करता है कि प्राणिमात्र जन्म-कर्म के एक दुर्वार प्रवाह में बहे जा रहे हैं। अगर उसे सचमुच निरुत्तर करना है तो या तो उसे उस अनादि कर्म-प्रवाह की युक्ति के भीतर से समझाना चाहिये या फिर जन्म-कर्म प्रवाह के इस विश्वास को ही निर्मूल सिद्ध कर देना चाहिए। यह अत्यन्त मोटी सी बात है। पर कबीरदास के निकट 'पंडित' या 'पांडे' इतना अदना सा और उपेक्षणीय जीव था कि उन्होंने कभी इस रहस्य को समझने की कोशिश नहीं की।[६]

वेद शास्त्र का विरोध, वाह्याडम्बर का प्रत्याख्यान, आचरण शुद्धता का विमोह, जन्मगत उच्चता की अमान्यता आदि मुस्लिम प्रभाव के फल नहीं बल्कि इनकी सुदीर्घकालीन परंपरा है।[७] डॉ० रामखेलावन पांडेय के कथनानुसार आर्य जातियों की अधिकार प्रतिष्ठा के बाद ही यह धारा प्रवाहित होने लगी थी। वैदिक कर्म-काण्ड और ब्राह्मणों की उच्चता के विरोध का स्वर उपनिषदों में भी स्पष्ट है। उपनिषदों में उल्लेख प्राप्त करने वाले विदेह जनक, याज्ञवल्क्य और

अजात शत्रु का संबंध भारत के पूर्वीय भू-भाग से है और उसी भूमि में बौद्ध धर्म का उद्भव और विकास हुआ जिसमें आचरण की पवित्रता की प्रतिष्ठा और जातिगत उच्चता का विरोध है। बौद्ध धर्म का उत्तर-विकास भी इस क्षेत्र को प्रभावित करता है। सिद्धों और नाथों का संबंध इस क्षेत्र से बना रहता है। इस परम्परा का नव विधान ही कबीर की वाणियों में प्राप्त होता है। ये धारणाएँ इस्लामी प्रभाव के कारण नहीं, इस प्रभाव के कारण थोड़ी बहुत स्पष्टता इन धारणाओं को अवश्य मिली।[८] अतः सन्त साहित्य की मूल प्रवृत्ति खोजते हुए हमारी दृष्टि सिद्धों, और नाथों के साहित्य तक पहुंचती है। वज्रयानी सिद्ध सामाजिक विद्रोही थे। उन्होंने अपने समय के धार्मिक विचारों और अन्धरूढ़ियों का निर्मता के साथ खंडन करते हुए जीवन के प्रति एक सहज अनुभूति की प्रतिष्ठा की थी। वज्रयानी चौरासी सिद्धों में सरहपाद या सरहपा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने शास्त्र को मरुस्थल कहा है जिसके फेर में पड़ कर मनुष्य का निस्तार होना असंभव है तथा गुरु-वचन रूपी अमृत रस से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

गुरु बअण अमिअ रस, धवजिण पिबि अउ जोहिं।
बहुत सात्तात्थ मरुस्थलेहिं, तिसिअ मरिब्बोत्तोहिं।।[९]

सरह ने मंत्र जाप को भी व्यर्थ बतलाया है, इससे शांति मिलने की नहीं। जो दीवाल गिर चुकी वह क्या उठ सकती है। जाति-भेद पर प्रहार करते हुए वे कहते हैं कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए थे, पहले कभी हुए होंगे किन्तु आज प्रत्यक्ष में तो वे भी दूसरे लोगों की भाँति योनि से ही पैदा होते हैं तब फिर ब्राह्मणत्व कैसा? और यदि संस्कार से ब्राह्मणत्व होता है तो अंत्यज भी संस्कार ले कर ब्राह्मण हो सकता है।[१०] पंडितों की खबर लेते हुए कहते हैं---

पंडित सयल सत्य बक्खाण। देहहि बुद्ध वमन्त न जाड़व।।

इसी प्रकार :---

किन्तह तित्व तपोबण जाइ। मौक्ख कि लब्भइ पाणी न्हाइ।

घर छोड़ कर वन में जाना वे ठीक नहीं समझते। साधु होना भी बेकार है। उनका कथन है कि घर में रहने या वन में सर्वत्र तो निरंतर बोधि (परम ज्ञान) स्थित है फिर कहाँ भव (संसार) और कहाँ निर्वाण। न घर में बोधि है न वन में। इस भेद को अच्छी तरह से समझ लो। चित्त का निर्मल होना असली बात है। इसका बराबर ध्यान रखो। सरह सहज जीवनयापन पर विशेष जोर देते हैं। वे सहज जीवन के भोगों को त्याज्य नहीं मानते। हाँ, उनमें आसक्ति त्याज्य है। उनका कथन है कि विषयों में रमण करते हुए भी विषयों में लिप्त न हो। सहज की साधना से चित्त को तू अच्छी तरह विशुद्ध कर ले। इसी जीवन में तुझे सिद्धि प्राप्ति होगी और मोक्ष भी।[११] न तीर्थ सेवन करो, न तपोवन को जाओ। तीर्थों में स्नानादि करने से मोक्ष लाभ होने का नहीं, न देव प्रतिमा की पूजा करो, न तीर्थ-यात्रा, देवाराधन से तुझे मोक्ष मिलने का नहीं, अपूर्व आनंद के भेद को जो जानता है, उसे सहज का ज्ञान एक क्षण में प्राप्त हो जाता है।[१२] जैनी सन्त मुनि देवसेन भी जाति-भेद को नहीं मानते। उनके मत से जो भी धर्म का आचरण करता है फिर चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र, वही श्रावक है। श्रावक के सिर पर क्या कोई मणि चिपकी रहती है।[१३] मुनि रामसिंह ने कहा है कि हे मुंडियों में श्रेष्ठ! तूने मस्तक तो मुँड़ा लिया पर चित्त

को नहीं मुँड़ाया। संसार का खंडन चित्त को मुँडाने पर ही होता है। अनेक तीर्थों में भ्रमण करने वालों को भी कुछ फल नहीं मिला। बाहर तो पानी डाल कर शुद्ध हो गया पर आभ्यंतर ? वह तो वैसा ही रहा।[१४] गुरु गोरखनाथ ने भी इन्हीं सिद्ध-जैनियों के कथन की पुष्टि की :—

देवल जात्रा सुंनि जात्रा तीरथ जात्रा पाणीं।
अतीत जात्रा सुफल जात्रा बोलै अंमृत वाणीं॥

अवधू मन चंगा तो कठौती ही गंगा। बाध्या मेल्हा तो जगत्र चेला।[१५]
इस प्रकार इन सिद्धों, जैनियों और नाथ-गुरुओं ने वेद शास्त्र, तीर्थ सेवन, वाह्याचार एवं जन्मगत उच्चता के विरोध में जो तीव्र व्यंग्य किये हैं लगभग इसी शैली और इसी तीव्रता के साथ आगे चल कर संत कवियों ने भी किया।

उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा का जो उत्थान वैष्णव भक्ति को लेकर हुआ था, उसकी पूर्व पीठिका का निर्माण महाराष्ट्र में विट्ठल संप्रदाय के सन्तों द्वारा प्रशस्त हो चुका था। विट्ठल संप्रदाय के प्रमुख संत ज्ञानदेव और नामदेव ने उत्तरी भारत की यात्रा भी की थी, इस प्रकार उक्त सन्तों ने हिन्दी सन्त साहित्य की भूमिका प्रस्तुत कर दी थी। नामदेव और कबीर की विचारधारा एक ही भूमि पर प्रवाहित हुई है। पूर्ववर्ती होने के नाते वे उनके प्रेरक शक्ति रहे हैं। स्वानुभूतिजन्य सत्यान्वेषण, सद्गुरु के महत्व का प्रतिपादन, सुमिरन या नाम स्मरण का आग्रह तथा वाह्याडम्बर की व्यर्थता आदि के उद्धरण देकर आचार्य विनयमोहन जी ने नामदेव को संत मत का प्रवर्तक होना सिद्ध किया है। उनका कथन है—यह सत्य है कि कबीर के समान नामदेव की हिन्दी रचनाएं प्रचुर मात्रा में नहीं मिलतीं परन्तु जो कुछ प्राप्य हैं उनमें उत्तर भारत की संत परंपरा का पूर्व आभास मिलता है और उनके परवर्ती संतों पर निश्चय ही उनका प्रभाव पड़ा है जिसे उन्होंने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। ऐसी दशा में उन्हें उत्तर भारत में निर्गुण भक्ति का प्रवर्तक मानने में हमें कोई झिझक नहीं होनी चाहिए। संभवतः हिन्दी जगत तक उनके संबंध में पर्याप्त जानकारी न पहुँच सकने के कारण उन्हें वह स्थान प्राप्त नहीं हो सका, जिसके वे अधिकारी हैं।[१६] निस्संदेह अपनी विचारधारा के लिए कबीरदास जी सन्त नामदेव के अवश्य ऋणी हैं किन्तु प्रभूत सामग्री के अभाव में उन्हें प्रवर्तक का पद नहीं मिल सका। एक प्रकार से वे नींव की प्रौढ़ शिला हैं जिन पर, सन्त-मत का विशाल प्रासाद खड़ा हुआ है। परवर्ती सन्त कवियों ने नामदेव जी के ऊपर श्रद्धा-सुमन चढ़ाते हुए उनकी इस देन को 'तन्मयता भक्ति को स्पष्ट स्वीकार किया है।[१७] उत्तरी भारत की यात्रा करते हुए नामदेव ने जिस निर्गुण मत का प्रचार किया था, वह वस्तुतः महाराष्ट्र का वारकरी पंथ था। इस पंथ के अनुयायी वेद की प्रामाणिकता तथा वर्णव्यवस्था को स्वीकार करते हुए वाह्याडम्बरों से विगत हो कर सर्वसुलभ भक्ति मार्ग का प्रचार कर रहे थे। वाह्य कर्मकाण्ड की अपेक्षा वे आंतरिक तन्मयता मूलक भावना को प्रश्रय देते थे। इस पंथ की सब से बड़ी विशेषता उसकी सर्वतोन्मुखी व्यापकता थी जिससे धनी, निर्धन, सवर्ण, असवर्ण, गृहस्थ-विरक्त तथा ब्राह्मण से ले कर चांडाल तक का स्थान था। पंढरीनाथ का द्वार स्त्री-पुरुष सभी के लिए समान-भाव से खुला हुआ था। नामदेव के समसामयिक सभी संत प्रायः हीन जाति के थे। सेन नाई, सावन्ता माली, बंका और चौरवा महार, नरहरि सुनार, गोरा

कुम्हार और दासी जनाबाई आदि सब वारकरी संप्रदाय के विट्ठल भक्तों में सम्मिलित हुए थे। जाति-हीनता के दुःख से मुक्ति पाने के लिए ये विट्ठल भक्ति में लीन हुए थे क्योंकि विट्ठल सामान्यहीन जनता के आराध्य थे। इनकी भक्ति के लिए पुरोहितों के माध्यम की आवश्यकता न थी। पुरोहितों की इस दलाली को वर्ज्य करने के लिए ही महाराष्ट्र संतों ने विट्ठल संप्रदाय या वारकरी संप्रदाय खड़ा किया।[१८] नामदेवादि सन्तों ने शूद्र देवताओं की उपासना, तीर्थतंत्र, व्रत-दान एवं आचार-धर्म की निन्दा करते हुए भक्ति युक्त नामस्मरण को ही विहित बतलाया। कहा जाता है कि नामदेव अपनी तरुणावस्था में सगुणोपासक थे किन्तु तीर्थयात्रा से लौटने के पश्चात् वे निर्गुणवादी हो गए और किसी मूर्ति विशेष में अपने "विट्ठल" को सीमित न मान कर सर्वत्र और समस्त प्राणियों में उसकी छबि देखने लगे "ईमैं वीठल ऊमै वीठल, वीठल बिन संसार नहीं।" मूर्तिपूजा के विरोधी इस्लाम धर्म के अनुयायी शासकों द्वारा मूर्ति का निर्मम भंजन नामदेव ने अपनी आँखों से देखा था और उसकी इन पर बड़ी भीषण प्रतिक्रिया हुई "पत्थर" के देवताओं को मुसलमानों ने तोड़ा फोड़ा और पानी में डुबो दिया फिर भी वे न क्रोध करते हैं न क्रन्दन। हे ईश्वर! मैं ऐसे देवताओं के दर्शन नहीं चाहता।" इन देवताओं और उनके निवास स्थानों के प्रति नामदेव की कोई आस्था न रही। इस्लाम धर्म के प्रचार के कारण मंदिरों के स्थान पर मस्जिदों का निर्माण होने लगा था अतः नामदेव ने मंदिर-मस्जिद की भेद-भावना का निराकरण करने के लिए यह आवाज़ बुलन्द की :––हिन्दू पूजे देहुरा मुसलमाणु मसीत। नामे सोई सेविआ जह देहुरा न मसीत। इस प्रकार हिन्दुओं के मन्दिरों की तरह मस्जिद का भी महत्व नष्ट करने का उनका यह अल्प प्रयत्न था। ईश्वर मंदिर में भी नहीं और मस्जिद में भी नहीं। मस्जिद में अल्लाह है, यह समझ कर धर्म परिवर्तन की आवश्यकता नहीं।

वारकरी संप्रदाय पर नाथ मत का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है क्योंकि नाथ-संप्रदाय की भाँति वारकरी भी अद्वैत तत्व को मान्यता देते हैं। गोरखनाथ की शिष्य-परंपरा में ही नामदेव के गुरु नाथपंथी विसोबाखेचर हुए हैं। नाथ संप्रदाय की मानसिक आचारनिष्ठा, अनहदनाद का श्रवण पवनबंध एवं परम्परागत कर्मकाण्डों के प्रति उपेक्षा की भावना तथा अन्धविश्वासों को तोड़ने की उग्रता वारकरी सन्तों में ज्यों की त्यों उतर आई और इनके द्वारा संत साहित्य को विरासत के रूप में प्राप्त हुई। इस प्रकार वारकरियों ने नाथ संप्रदाय की आन्तरिक भावना को ग्रहण कर गृहस्थाश्रम में ही भक्ति की साधना का प्रचार किया। नामदेव ने तो स्पष्ट स्वरों में कहा––

इड़ा पिंगला अउ सुखमना, पऊनै बांधि रहाऊगो।
चंदु सूरजु दुइ समकरि राखऊ, ब्रह्म ज्योति मिलि जाऊगो।।
तीरथ देखि न जल महि पैसल जीअ जंत न सतावऊगो।
अठसठि तीरथ गुरु दिखाए, घट ही भीतर नहाउगो।।

इस भाँति सिद्धों और नाथों द्वारा जिन विचारों की प्रतिष्ठा समाज में हो चुकी थी उन्हीं स्वरों में नामदेव ने भी अपनी बात जनता तक पहुँचाई। आठवीं शताब्दी में होने वाले सरहपाद ने कहा था––

मोक्ख कि लब्भइ ज्झाण पविट्ठो। किन्तह दीवें कितन्ह णिवेज्जं।
किन्तह किज्जइ मन्तह सेव्वं। किन्तह तित्य तपोवण जाइ।
मोक्ख कि लब्भइ पाणी न्हाइ।

नामदेव की उक्ति है—

होम नेम व्रत तीरथ साधो, क्या हुआ बन खंड वासा रे।
चरन कमल उर मा उपजे नहिं, तौ लग झूठी आसा रे।।

गुरू द्वारा दिखाये गए अड़सठि तीर्थों में घट में ही स्नान करने के द्वारा नामदेव ने नाथ पंथ की "काया-तीर्थ" परक साधना को ही अपनाया। गुरु-महिमा का गुणगान तथा अनंत वेद पुराण शास्त्रों की उपेक्षा कर अनहद वेणु बजाने की कल्पना पूर्णतया नाथ-मत के अनुकूल है।

हिन्दू और मुसलमान इन दो धर्मों की सम्मिलन भूमिका स्थापित करने के विचार से नामदेव की दृष्टि धर्म के सामान्य तत्व मानसिक भक्ति और नाम स्मरण की ओर रही। नामदेव की विचारधारा और उनके आराध्य विट्ठल की स्पष्ट छाप कबीर पर परिलक्षित होती है। प्रवृत्ति में निवृत्ति का समन्वय, जाति-भेद विहीनता, ब्रह्म की निर्गुणता, अनन्य प्रेम भावना, निर्गुण और नाम साधना आदि के तत्व नामदेव और कबीर दोनों ही में समान रूप से मिलते हैं। "मन मेरो सुई तन मेरा धागा" आदि जातिपरक उपकरणों के माध्यम से नामदेव ने भगवद् भजन के साथ साथ सांसारिक कर्म करना भी उचित समझा है। "नाना वर्ण गवा उनका एक वर्ण दुध, तुम कहा के बम्हन हम कहा के सुद" आदि आक्रोशमयी उक्तियों के द्वारा उन्होंने जाति-भेद विहीनता का समर्थन किया है। वारकरी सन्तों की मान्यता है कि जिस प्रकार गंगा सागर से भिन्न रूप होने से कभी नहीं मिल सकती, वैसे ही परमात्मा के साथ तद्रूप हुए बिना भक्ति का होना असंभव है। निर्गुण की अद्वैत भक्ति में तादात्म्य की भावोपलब्धि के लिए वारकरी-पंथ में आराध्य के प्रति अनन्य प्रेम भावना, नाम का निरंतर स्मरण एवं उसके अलौकिक गुणों का नित्य गायन आवश्यक है। इस प्रकार वारकरी सन्तों में भक्ति और ज्ञान का सुन्दर सामञ्जस्य परिलक्षित होता है और यही सामञ्जस्य हमें परवर्ती सन्तों में भी मिलता है।

स्वामी रामानंद द्वारा भक्ति में दीक्षित शिष्य अपनी विचार-निष्ठा में पूर्ण स्वतंत्र थे। परम्परा और युग के प्रभाव को लेकर वे सगुण और निर्गुण उपासना के संधि स्थल में खड़े थे और क्रमशः उनका झुकाव निर्गुणोपासना की ओर होता जा रहा था।[११] कबीर के पूर्ववर्ती इन संत कवियों में हमें सन्त साहित्य की विशिष्ट-विचारधारा का एक क्षीण संकेत मिलता है। संत सेन नाई, धना, पीपा और रैदास जी की गणना स्वामी रामानंद के शिष्यों में की जाती है। इन सब की विचार धारा तत्कालीन वातावरण से प्रभावित हो कर एक ही भाव-भूमि पर प्रवाहित हुई है। उच्च आध्यात्मिक आदर्श का अनुसरण करते हुए इन सभी संतों ने अपनी जाति कुल क्रमानुसार गृहस्थाश्रम में रह कर जीविकोपार्जन किया तथा सरल, शान्त, आडम्बर शून्य जीवन बिताते हुए सब प्रकार के प्रपंचों से दूर रहे। नाथ योगी संप्रदाय के सिद्धान्तों से अनुप्राणित होने के कारण ही वारकरी पंथ में योग और भक्ति का समन्वय लक्षित होता है।

इस सन्तों के अतिरिक्त सुदूर कश्मीर में लल्ला या लालदेद नामक एक भ्रमणशील भगिन भी थीं जो धार्मिक मत-भेदों से दूर रह कर सरल और समन्वयात्मक विचारों का प्रचार किया करती थीं। यह सन्त नामदेव के समकालीन कही जाती हैं और इनके पदों का संग्रह "लल्ला वाक्यानि" के नाम से डा० गियर्सन द्वारा प्रकाशित हो चुका है। शैव-संप्रदाय में दीक्षित होने के कारण इसके पदों में शैव मत की योग-साधना का पुट पाया जाता है। डा० ग्रियर्सन के मतानुसार लालदेद की अनेक महत्वपूर्ण बातों से कबीर भी प्रभावित हुए थे। यद्यपि लालदेद मूर्ति-पूजा की विरोधिनी नहीं थीं किन्तु विचारों के क्षेत्र में वे कबीर की ही भाँति क्रांतिकारिणी थीं। जिस प्रकार कबीर ने राम रहीम, केशव-करीम की एकता प्रतिपादित कर हिन्दू मुसलमान दोनों को एक सूत्र में बाँधने की चेष्टा की थी उसी प्रकार लालदेद ने भी कहा था कि "शिव, केशव, जिन वा नाथ में कोई भी वास्तविक अन्तर नहीं, किसी एक के प्रति हार्दिक विश्वास रखने वाला सांसारिक दुःखों से मुक्त हो सकता है।[२०] कबीर की भांति लालदेद ने भी उलंटवासियों के प्रयोग किये हैं किन्तु इन दोनों के बीच की कड़ी को जोड़ने वाले प्रमाणों की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

इस प्रकार सन्तों की रचनाएं सन्त साहित्य की भूमिका-निर्माण का कार्य करती हैं। इसी पृष्ठभूमि पर आगे चल कर सन्त कबीर ने उत्तरी भारत में सन्त साहित्य का प्रवर्तन किया तथा नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, चरणदास, गरीबदास और तुलसी साहब आदि तत्वदर्शी कवियों ने, जगजीवनदास, गुलाल साहब, दूलनदास, दरिया साहब, (बिहार वाले) तथा यारी साहब आदि भावना-संपन्न कवियों के साथ मिल कर इसे वह व्यापकता प्रदान की जिसकी शीतल-सुखद-काव्य-धारा में अवगाहन करने से एक अनिवर्चनीय आध्यात्मिक तुष्टि की उपलब्धि होती है।

यहीं पर सूफ़ी मत के उन तत्वों की चर्चा करना असंगत न होगा जिनकी प्रेम-साधना के समन्वय से सन्त साहित्य की साधना में एक अनुपम मधुरता का समावेश हो सका। दो विजातीय धर्मों की टकराहट से जो समस्या उत्पन्न हुई उसका हल खोजने का प्रयत्न भी उसी ने किया। डा० बड़थ्वाल का कथन यथार्थ है कि "सम्मिलन की भूमिका का मूल आधार हिंदुओं के वेदान्त और मुसलमानों के सूफ़ी-मत ने प्रस्तुत किया।[२१] निर्गुण संप्रदाय को प्रभावित करने वाली सूफ़ियों के आचार की पवित्रता विशेष उल्लेखनीय है। सुफ़ (ऊन) की भांति निष्कलुष वाह्याचरण की पवित्रता, आध्यात्मिक रंगीनियों से सराबोर हृदय की शुद्धता एवं प्रकृति के कण-कण में अपने प्रियतम का दीदार तथा प्रेम और उसकी मादकता जिससे प्रतीकों के द्वारा रहस्यवाद (तसव्वुफ) की पूर्णाभिव्यक्ति हो सके यही सूफ़ियों की कतिपय विशेषताएं हैं जिन्होंने सन्त साहित्य को प्रभावित किया। इस नवीन समन्वय की अभिव्यक्ति मुस्लिम दंपति पालित एवं रामानंद जी द्वारा दीक्षित कबीर के द्वारा हुई जिन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि परमात्मा अभिन्न और अमूर्त है। बाहरी कर्मकाण्डों के द्वारा उसकी प्राप्ति दुर्लभ है। प्रेमानुभूति के सहारे उसे अपने भीतर पाया जा सकता है। भिन्न-भिन्न संप्रदायों के विभिन्न कर्मकाण्ड वस्तुतः हमें परमात्म पथ से हटा कर लक्ष्य-भ्रष्ट करते हैं। सृष्टि में सर्वत्र उसकी सत्ता व्याप रही है। मनुष्य का हृदय भी उसका पवित्र निवास स्थान है अतः बाहर न भटक कर उसे अपने भीतर ढूंढ़ना चाहिए। सूफ़ियों की पारस्परिक सहानुभूति एवं विनम्रता की छाप हमें सन्त दादूदयाल में विशेष देखने को मिलती है उनके स्वभाव में विनय मिश्रित मधुरता का समावेश प्रभूत मात्रा में वर्तमान है। सामाजिक-कुरीतियों एवं

धार्मिक वाह्याडम्बरों के मूलोच्छेदन में दादूदयाल कबीर की भांति कभी उग्र नहीं होते वरन् सहज नम्रता एवं द्रवणशील विनम्रता के द्वारा वे अपनी बात कहते हैं।" इनके पदों में जहां निर्गुण, निराकार, निरंजन को व्यक्तिगत भगवान के रूप में उपलब्ध किया गया है वहां वे कवित्व के उत्तम उदाहरण हो गये हैं। ऐसी अवस्था में प्रेम का इतना सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है कि बरबस सूफ़ी भावापन्न कवियों की याद आ जाती है। सूफ़ियों की भांति इन्होंने भी प्रेम को ही भगवान का रूप और जाति बताया है। विरह के पदों में सीम का असीम से मिलने के लिए तड़पना सहृदय को मर्माहत किए बिना नहीं रह सकता।[२२] दादू के पदों और साखियों में सूफ़ी साधना के शब्दों का प्रचुर प्रयोग उनका सूफ़ियों के संसर्ग में आ चुकने का सबल परिचायक है।

इस प्रकार सन्त कवियों में अग्रगण्य कबीर ने मानसिक पवित्रता को आधार मान कर अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, नाथ एवं सूफ़ी संप्रदाय से क्रमशः तत्वज्ञान, भक्ति, योग और प्रेम की पीर लेकर एक ऐसे पंथ का प्रवर्तन किया जिसमें भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण सार-भाग तथा भारत की समस्त आध्यात्मिक प्रणालियों का रस निचुड़ कर आ गया था। अपने नवीन निर्गुण संप्रदाय में उन्होंने सीमा एवं सम्प्रदाय से परे ऐसे सामान्य धर्म तत्वों को प्रश्रय दिया जिससे निर्गुण-सगुण से परे ब्रह्म की योग और भक्ति समन्वित प्रेम पूर्ण उपासना का समन्वय सहज रूप में हो सका।

सन्त साहित्य की सांस्कृतिक चेतना का आधार स्वसंवेद्य ज्ञान है। भक्ति-प्रचारक आचार्यों की भांति वेदादि धर्म ग्रंथों का आश्रय सन्त कवियों ने नहीं ग्रहण किया और न उनकी प्रामाणिकता ही स्वीकार की। वे किसी प्राचीन व्यवस्था के बंधन में न बंध कर अपनी वैयक्तिक अनुभूति एवं स्वतंत्र पद्धति से अपने समय की सामाजिक विकृतियों को सुधारने की चेष्टा करते रहे। सन्त कवियों ने बड़े विश्वस्त भाव से कहा कि हमें आत्मस्वरूप का अन्वेषण करने के लिए अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं। सत्य के श्रेष्ठतम प्रतिष्ठान हमारे इसी शरीर में ही वह तत्व निहित है जैसे मृगनाभि में कस्तूरी :—

कस्तूरी कुंडल बसै, मृग ढूढै बन माँहि।
ऐसे घट घट राम हैं, दुनियां जानत नाँहि॥

प्रयत्न पूर्वक खोज करने पर वह दुर्लभ वस्तु यही स्वतः स्फुरित हो जाती है। इस अन्वेषण में यौगिक-साधनाओं को सबल रूप में सन्त कवियों ने अंशतः ग्रहण किया है। सहजयानी सिद्धों ने इसी शरीर में गंगा, यमुना, गंगासागर, प्रयाग, वाराणसी आदि तीर्थों की स्थिति एवं सूर्य चन्द्रादि का होना घोषित किया है। स्वसंवेद्य ज्ञान को प्रधानता देने वाले इन संत कवियों ने धर्म-कर्म, विविध वाह्याचार-विधान एवं पूजोपासना-पद्धति की ओर उपेक्षित भाव से अनास्था ही प्रकट की। सन्तों की आध्यात्मिक चेतना शास्त्रीयता से परे जीवन के प्रति सहज व्यापक और उदार दृष्टिकोण से ओत-प्रोत है। वह न तो ग्रहण की पक्षपातिनी है और न त्याग की विरोधिनी। जीवन के साधारण कार्य-व्यापारों के प्रति वह एक सुसंगत संतुलन खोज कर तद्वत् आचरण करने पर विशेष बल देती है।

सन्त कवियों का प्रमुख लक्ष्य सामान्य धर्म को विषाक्त बना देने वाली विविध विडंबनाओं का मूलोच्छेदन कर जनता जनार्द्दन का ध्यान मूल प्रश्न की ओर लाना था। उनकी चेतना

जन सामान्य के आत्मविकास की आदर्श भूमिका का निर्माण करती है। सामान्य धर्म को सन्तों ने जीवन का मूल्यांकन और उसके आदर्श की प्रतीति के साधन रूप में स्वीकार किया है। सन्त कवि धर्म के नाम पर किये जाने वाले वाह्याचरणों को निरर्थक समझते हैं क्योंकि वे आदर्श जीवन की प्रतीति में सहायक बन कर भार स्वरूप बन जाते हैं और उसे लक्ष्य की ओर से हटा कर पथ भ्रष्ट कर देते हैं। उनके विचार से निजत्व बोध अथवा आत्म प्रतीतिजन्य चैतन्य की उपलब्धि के लिए किसी एक जन-समुदाय का सदस्य होना भी अनिवार्य नहीं। वे प्रत्येक व्यक्ति में आध्यात्मिक तत्व का होना स्वीकार करते हैं। व्यक्तिगत चिंतन के द्वारा उस परम तत्व के चरम सौंदर्य का साक्षात्कार होना असंभव नहीं है क्योंकि वैयक्तिक पहुँच के अनुपात से ही उसकी अनुभूति सब को होती है अतः उस अध्यात्मतत्व की उपलब्धि के लिए किसी वर्ग या जन समूह का सहारा लेना व्यर्थ है। जीवन गत सुदृढ़ वैयक्तिकता के कारण ही सन्त साहित्य शाश्वत शक्ति एवं नूतनता से स्नात है। प्रवृत्तिजन्य उल्लास एवं निवृत्तिजन्य संतोष का समावेश होने के कारण सन्त साहित्य की दृष्टि जीवन के प्रति स्वस्थ एवं संतुलित है। सन्तों ने प्रभावोत्पादक ढंग से सरल सदाचारपूर्ण लौकिक जीवन बिताने का उपदेश दिया और स्वयं भी उसे अपने आचरण में ढालने के कारण जनता के श्रद्धेय बन गये।

सन्त कवियों ने चुनौती के स्वरों में कहा कि जीवन विवशता नहीं है। भाग्यवादी निराशा को भी इन कवियों ने एक क्षण के लिए प्रश्रय नहीं दिया। सन्तों ने अन्तरात्मा को जीवन का विधेयक मानते हुए मानवीय वृत्तियों के परिष्कार को ही सहज और स्वाभाविक रूप में ग्रहण किया। कृत्रिमता एवं वाह्याडम्बर के वे घोर विरोधी थे। संकीर्ण सांप्रदायिकता का खंडन करते हुए तथा रूढ़ विधि-विधानों के जंजाल को काट कर ही वे सहज सत्य के दर्शन कर सके थे। सन्त कबीर ने स्पष्ट कहा था कि परम तत्व के दर्शन के लिए अन्तरात्मा रूपी दर्पण की स्वच्छता आवश्यक है। दर्पण के मलीन होने पर सत्य के सहज आलोक की झाँकी मिलना असंभव है अतः इस दर्पण की शुद्धि सन्त-जीवन की एक अनिवार्य चर्या होनी चाहिये —

जौ दरसन देख्या चहिये, तौ दरपन मांजत रहिये।
जौ दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई।।

संदर्भ संकेत——

१. कल्याण——सन्त अंक प्रथम खण्ड श्रावण १९९४, पृ० २

२. वही, डा० राजबली पाण्डेय, सन्त जीवन।

३. डा० श्याम सुंदरदास द्वारा संपादित कबीर ग्रंथावली, पाँचवा संस्करण, सं० २०१२ वि०, पद ३८६।

४. कल्याण——साधनांक प्रथम खंड सौर श्रावण १९९७, श्री सम्पूर्णानंद——सन्त मत में साधना, पृष्ठ ३७७।

५. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी——कबीर, पृष्ठ ३०।

६. वही, पृष्ठ १३१

७. पाटल : सन्त साहित्य विशेषांक, पृष्ठ ५

८. पाटल : सन्त साहित्य विशेषांक, पृष्ठ ५२।

९. सिद्ध सरहपाद : दोहा कोश संख्या ४, सम्पादक राहुलसांकृत्यायन, प्रथम स० व० २०१४।

१०. श्री वियोगी हरि द्वारा सम्पादित सन्त सुधा–सार, सिद्ध सरह पाद दोहा ४

११. श्री वियोगी हरि द्वारा सम्पादित सन्तसुधासार–तिल्लोपाद दोहा संख्य २

१२. वही, तिल्लोपाद दोहा, संख्या २

१३. वही, मुनि देवसेन १।५, ६, ८

१४. वही, मुनि रामसिंह २२, २९।

१५. श्री वियोगी हरि द्वारा सम्पादित संतसुधासार—गोरखनाथ २२, २८

१६. आचार्य विनयमोहन शर्मा—हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, प्रथम संस्करण ५७ पृष्ठ १२९।

१७. कबीर ग्रंथावली ३२८। श्री वियोगी हरि द्वारा संपादित सन्त सुधासार, पृ० ८३, ४४१, ५२०, ५९०

१८. डा० वि० मि० कोतल––मराठी सन्तों का सामाजिक कार्य, पृ० ४६

१९. डा० रामकुमार वर्मा : अनुशीलन, पृष्ठ २१

२०. पं० परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त परंपरा, पृष्ठ ३०।

२१. डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल : हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृ० ७

२२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १४४

सन्त गोविन्द साहब और उनका साहित्य

राधिका प्रसाद त्रिपाठी

संत साहित्य में अभिरुचि रखने वाला शायद ही कोई ऐसा अध्येता हो जो सन्त परम्परा के यशस्वी साधक पलटू साहब को न जानता हो; किन्तु दुर्भाग्य से उनके गुरु गोविन्द साहब का जीवन वृत्त और वाणी साहित्य अभी तक तिमिराच्छन्न ही रह गया। गोविंद साहब का जन्म फ़ैजाबाद जिलान्तर्गत तमसा नदी के तट पर स्थित नगपुर जलालपुर[1] नामक कस्बे में मार्गशीर्ष शुक्ल १० मंगलवार सं० १७८२ में हुआ था।[2] इनके पिता का नाम पृथुधर और माता का दुलारी देवी था।[3] ये भारद्वाज गोत्रीय दुबे ब्राह्मण थे।[4] इनका बचपन का नाम गोविंदधर था।

साम्प्रदायिक सूत्रों से पता चलता है कि गोविंद साहब अधिकांश निर्गुणिया सन्तों की भाँति अनपढ़ नहीं थे। उन्होंने हिन्दी, उर्दू के साथ ही वाराणसी में जा कर ६ वर्ष तक संस्कृत का भी अच्छा अध्ययन किया था। इनकी रचनाओं से भी इस बात की पुष्टि होती है; क्योंकि इनकी भाषा संतों की वाणी में पायी जाने वाली सामान्य त्रुटियों से सर्वथा मुक्त है।

गोविंद साहब जब बहुत छोटे थे तभी इनकी प्रवृत्ति अध्यात्म साधना की ओर उन्मुख हो गयी थी और इन्होंने विरक्त जीवन व्यतीत करने का निश्चय कर लिया था। यही कारण है कि युवावस्था प्राप्त होने पर भी इन्होंने विवाह नहीं किया। प्रारम्भ में ये कृष्ण भक्त थे और मूर्ति पूजा में विश्वास रखते थे। इनके प्रारम्भिक गुरु का नाम राताराम था। इनके सात्विक जीवन एवं उपदेशों से प्रभावित होने के कारण इनके यहाँ हिन्दू-मुसलमान——दोनों जाति के लोगों की भीड़ लगी रहती थी। उस समय फैजाबाद नवाबों के शासन में था। अतः इन्हें नवाब का कोप-भाजन बनना पड़ा। इन्हें इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया तथा शंख आदि बजाने से रोका गया। किन्तु गोविंद साहब अपनी धुन के पक्के थे। इनका दृढ़ निश्चय था कि——

करब प्रचार अहिन्सक धर्मा, तजब न तुरुक डरन निज करमा।।
नाशमान तन हम अविनाशी भरन हेत डर सोय विनाशी।।
देश धर्म पर प्राण गवाँई, होब अहिंसक जनहिं सहाई।।[5]

परिणाम स्वरूप इन्हें नाना प्रकार की यातनायें दी गयीं। यहाँ तक कि इनके पैरों में छेद कर के, रस्सी बाँध कर, नगर भर में घसीटा गया तथा अंत में मृतक समझ कर तमसा के किनारे

फेंक दिया गया। घायल हो कर नदी के किनारे कराहते हुए देख कर चिरवुरीबाई नामक एक स्त्री इन्हें अपने घर उठवा लाई और इनका उपचार किया।

इस घटना के थोड़े ही दिन बाद इनका मन सगुणोपासना से उचट गया। मेरा अनुमान है कि इनके मूर्ति पूजा के प्रति उदासीन होने के मूल में मुसलमानों का अनाचार ही रहा होगा। जो हो, इसके उपरान्त ये दूसरे गुरु की खोज में इधर-उधर भटकने लगे। एक बार ये जगन्नाथपुरी जाते हुए वाराणसी पहुँचे। वहाँ किसी सन्त से, गाजीपुर जिलान्तर्गत भुरकुड़ा नामक स्थान के निवासी गुलाल साहब का एक पद सुन कर ये अत्यधिक प्रभावित हुए। फिर जगन्नाथपुरी की यात्रा स्थगित कर के गुलाल साहब से मिले और अपना परिचय देते हुए शिष्य बनने की इच्छा प्रकट की। गुलाल साहब ने इन्हें घर लौट कर गुरु दर्शन करने तथा अपने निर्णय पर पुर्नविचार करने की सम्मति दी। गोविंद साहब गुरु-दर्शन कर के लौटे तो देखा कि गुलाल साहब अपनी जीवन-लीला समाप्त कर के परमधाम के लिए प्रयाण कर चुके हैं। अन्त में उन्होंने गुलाल साहब के प्रधान शिष्य भीखा साहब से दीक्षा ले ली। इनका दीक्षा काल सं० १८१६ है क्योंकि गुलाल साहब का देहावसान इसी सम्वत् में हुआ था।[६] और ऊपर बताया जा चुका है कि गुलाल साहब की मृत्यु और गोविंद साहब की दीक्षा का समय प्रायः एक ही है।

दीक्षोपरान्त ये, कुछ दिन तक भुरकुड़ा में रह कर गुरु सेवा करते हुए साधना रत रहे। इसके अनन्तर ये अहिरौली नामक स्थान पर, जिसे अब गोविंद साहब के नाम से बहुत दूर-दूर तक जाना जाता है, रहने लगे और जीवन पर्यन्त यहीं रहे। इस स्थान पर निर्मित इनकी समाधि और भव्य स्मारक आज भी इनकी धवल कीर्ति का गुणगान कर रहा है। यहाँ अगहन शुक्ल दशमी से पूर्णिमा तक 'गोविंद-दशमी' का मेला लगता है जिसमें देश के कोने-कोने से बड़ी-बड़ी दूकानें आती हैं तथा संतों एवं गृहस्थों की अपार भीड़ होती है।

इनका देहावसान ९७ वर्ष से कुछ अधिक आयु भोगकर फाल्गुन कृष्ण एकादशी सोमवार सं० १८७९ में हुआ—

अष्टादश सत समत उनासी फागुन सित पछ तिथि इकादसी।
तिपहर समय वार शशिवारा तजि तन गुरु निज देश पधारा।।[७]

गोविंद साहब के प्रधान रूप से बारह शिष्य थे जिनमें पलटू साहब, बेनीसाहब, घनश्याम साहब, इच्छा साहब, बबुआ साहब, किरपा साहब और बाँके बिहारी साहब का नाम आज भी इस परम्परा के संतों की चर्चा का विषय है। शेष का नाम अतीत के अंधकार में विलीन हो चुका है। इनकी शिष्य-शाखा का प्रसार बड़ी दूर-दूर तक हुआ। इनके शिष्य किरपा साहब ने इलाहाबाद के दक्षिण नैनी स्टेशन के पास करमा बाजार को अपनी साधना भूमि बनाया। घनश्याम साहब आजमगढ़ मण्डलान्तर्गत मुहम्मदाबाद के दक्षिण करहा नामक स्थान पर निवास किये। इच्छा साहब बस्ती जिले में नगर बाजार नामक स्थान पर रहते थे और पलटू साहब का अखाड़ा अयोध्या में चला। यहाँ विस्तारभय से समस्त स्थानों की परम्परा का परिचयन देकर केवल अहिरौली (गोविंद साहब) की परम्परा दी जा रही है।

गोविंद साहब
|
बेनी साहब
|
पवहारी साहब
|
जीता साहब
|
सीताराम साहब
|
राम कोमलदास (वर्तमान)

साहित्य

गोविंद साहब ने कुल तीन ग्रंथों का प्रणयन किया था——पहला 'गोविंद-योग-भास्कर' दूसरा 'सत्यसार' और तीसरा 'सत्य टेर'। इसके अतिरिक्त इन्होंने कुछ फुटकर वाणी की रचना भी की थी। इस कथन की पुष्टि 'जीवन चरित्र' की निम्नलिखित पंक्तियों से भी होती है——

एक बार पलटू गुरु आये, प्रभु गोविंद चरणन शिर नाये॥
रहे कछुक दिन टिक गुरुद्वारे, लखि अवसर अस बचन उचारे॥
कहा स्वामि इक यौगिक ग्रंथा, रचहु देव भाषहि मन मन्था॥
योग भाषकर रचा बनाई, पुनि भाषा करि कछु कविताई॥
अन्तिम निर्णय ग्रंथ बनावा 'सत्यसार' 'सतटेर' सुहावा॥[८]

आगे इनकी वाणी का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जायगा।

१. गोविंद योग भास्कर——इस ग्रंथ में यौगिक क्रियाओं का निरूपण किया गया है। इसमें कुल ५०० छंद हैं। प्रस्तुत लेखक को यह ग्रंथ देखने को नहीं मिला। संतों से सम्पर्क स्थापित करने पर विदित हुआ कि लखनऊ के कोई सज्जन, जो अपने को शोध-छात्र बताते थे, लगभग १० वर्ष पूर्व इस ग्रंथ को माँग कर ले गये किन्तु तब से उनका कोई पता नहीं चला। यदि ऐसे ही कुछ खोजी साहित्य जगत् में आ जाय तो शायद संत-महात्माओं के पास सुरक्षित साहित्य से हमें हाथ ही धो देना पड़े।

२. सत्यसार——यह एक लघु रचना है। इसमें भ्रम का चश्मा लगा कर सत्य की खोज में भटकते हुए वाह्याचारी हिन्दू-मुसलमान दोनों जाति के लोगों की निरीहावस्था की चर्चा करते हुए वाद-विवाद त्याग कर घट-घट व्यापी और सब से न्यारे 'साहब' में लव लगाने का उपदेश दिया गया है। 'परम पद' के राहियों के लिए भी कवि का संदेश है——

पहिले कसै अहार बहुरि पुनि आसन बाँधै।
सदगुरु शरणो जाय बैठि निद्रा को साधै॥
ऐसी रहनी रहै ताहि गोविंद उपदेशै।
बिनु बाती बिनु तेल अगिन बिनु दीपक लेशै॥

दीपक के उजियार दशों दिशि में प्रकाशा।
नयनन देखै रूप छुटै तब जग की आशा।।
तन जारै मन मारि परम पद करै पयाना।
कर्म करै खैकार सोई है साधु सयाना।।[९]

यही नहीं वरन् इस कठिन मार्ग को जानने के लिए साधक को इससे भी अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है—

चलै अगोचर चाल हाल का नहिं सूझै।
जियतै मरै जो आप सोई यह मारग बूझै।।[१०]

३. **सत्यटेर**—यह भी १८ छन्दों की एक लघु कृति है। इसका भी प्रतिपाद्य विषय 'सत्यसार' जैसा है। गोविंद साहब को सत्य की उपलब्धि किस प्रकार हुई, उन्हीं के शब्दों में देखिये—

जय गोविंद गुरु हेरि फेरि घर नयन निहारा।
सुनि सुनि सब की बात फहम करि फेरि विचारा।।
ताते निर्भय शब्द हिये निज तख्त पुकारा।
आपै आप संभारि खलक तजि भयो है न्यारा।।
जय गोविंद तन जापर मारि मन सो घर देखा।
धन्य धन्य गुरुदेव युक्ति गहि योग निरेखा।।

४. **फुटकर वाणी**—गोविंद साहब की फुटकर वाणी की संख्या तीन सौ के आस पास बताई जाती है। प्रस्तुत लेखक उनके सम्पूर्ण वाणी साहित्य को संकलित करके प्रकाश में लाने के लिए प्रयत्नशील है।

नमूने के लिए उनकी 'सत्यसार' नामक रचना नीचे दी जाती है—

अथ सत्यसार

सत्य सत्य सब कहैं, सत्य का मर्म न जानै।
जय गोविन्द जो सत्य सोई साँचे पहिचानैं।।१।।
खोजन चले विदेश, देश तजि तन मन आशा।
सुत कलत्र धन धाम त्यागि जंगल में वासा।।२।।
गुरू पीर बहु किया दिया सब मिलि उपदेशा।
पूजा लेहि बनाइ छुटैं नहिं नेक अन्देशा।।३।।
षट दर्शन ब्रत नेम तीर्थ जप योग बतावहिं।
झूठी बात बताय काठ पत्थरहिं पुजावहिं।।४।।
कोइ मसजिद कोइ शोर देवघरा मत्था नवावहिं।
धाय मरहिं पछताय तहाँ, कछु फल नहिं पावहिं।।५।।

भेड़ी सब संसार सत्य बिनु थिर नहिं हो वहिं।
परैं सोई अवगाह, तरहिं नहिं शिर धुनि रोवहिं॥६॥
चंचल चपल चटाक सोई गुरु पीर कहावहिं।
बकैं झूठ बकवाद लोभ अरु मोह बढ़ावहिं॥७॥

दोहा—गोविन्द ज्ञान गरीब है, मिले तो दिव्य सयान।
जन्म जन्म का रोग था सहजहिं सहज बिलान॥१॥

रोग दोष सब गया भया अन्दर उजियारा।
भीतर बाहर सोधि बोधि मन नयन निहारा॥१॥
बहुतक पीर मुरीद घने जग गुरु अरु चेला।
बहुतक मीर अमीर सदा माया संग मेला॥२॥
बहुतक सिद्ध समाग, पकरि जग ठगि ठगि लूटहिं।
अन्त फजीहत होंहि, बहुरि पइया ज्यों कूटहिं॥३॥
जय गोविन्द बौराह, राह निज खोजि संभारा।
वेद पुराण विचारि, दीन धरि दीन नगारा॥४॥
हम फूकहिं नहिं कान, यन्त्र न मन्त्र बतावहिं।
देव पितर महजीद देवघरा ढिग नहिं जावहिं॥५॥
घट-घट साहब एक बहुरि सबहिन सों न्यारा।
देखत पाप पराय तरैं तारैं संसारा॥६॥
तासों नेह लगाय गैब गुरुज्ञान पुकारा।
गैब गुरु का भेद दीन दुनिया से न्यारा॥७॥
कहते शाह गोविंद रिन्द यह कानन करिहै।
जिनके नहीं विवेक अधम नर शिर धुनि लड़िहै॥८॥
जानहिं वेद पुराण, शब्द साखी जो बूझहिं।
राम नाम सों हेत तिन्हैं यह मारग सूझहिं॥९॥
जय गोविन्द की बात तिनहि को लहिहैं प्यारी।
जिन तन मन धन प्राण सकल प्रभु ऊपर वारी॥१०॥
जापर नाथ दयाल हाल यह सोई जानै।
सुनत मगन ह्वै रहैं गहैं तिनके मन मानैं॥११॥

दोहा—जय गोविन्द बहुराह हैं नयन सैन करि शाहि।
सहजहिं पार उतारिहैं, भव भ्रम तृण समुदाहि॥२॥

सुनत सन्त दै कान बान कर गहहु कमाना।
ता कहु नयन निहारि ठीक करि लेहु निशाना॥१॥
पूरा मिलि उस्ताद वाक बक दूरि बहावै।
ह्वै के दीन अधीन लोक की सुधि बिसरावै॥२॥

तन मन से सर साधि चित्त अन्तहिं नहिं डोलै।
सुरति ठीक ठहराय तीर तरकस से खोलै॥३॥
मारै ज्यों ठहराय घाव तब गिरा निशाना।
खुशी होय तब जीव पीव भी लखि हर्षाना॥४॥
जय गोविन्द गति बूझि कहहिं साँचा उपदेशा।
क्या हिन्दू क्या तुर्क समुझि मन छूटै अंदेशा॥५॥
छोड़ै गर्ब गुमान ज्ञान गुरु पूरा पावै।
साधै आपै आप ताप सब दूरि बहावै॥६॥
सहजहिं सत्य स्वरूप मिलै सतगुरु जब पेखै।
दिव्य दृष्टि तब खुलै हिये हरि मूरति देखै॥७॥
पहिले कसै अहार, बहुरि पुनि आसन बाँधै।
सदगुरु शरणो जाय बैठि निद्रा को साधै॥८॥
ऐसी रहनी रहै ताहि गोविन्द उपदेशै।
बिनु बाती बिनु तेल अगिन बिनु दीपक लेशै॥९॥
दीपक के उजिआर दशों दिशि में प्रकाशा।
नयनन देखै रूप छुटै तब जगकी आशा॥१०॥
तन जारै मन मारि परमपद करै पयाना।
कर्म करै खैकार, सोई है साधु सयाना॥११॥
चाँद सूर्य दोउ बीर खड़े आगे दिन राती।
ब्रह्मा विष्णु महेश, शेष शारद पछितातो॥१२॥
वेद पुराण न जाय, पवन की गमि तहँ नाहीं।
रामकृष्ण अवतार उलटि किमि तहाँ समाही॥१३॥
जय गोविन्द तेहि देश सहज ही कौन ठिकाना।
रुण्ड करै मैदान शीश पर बाँधै बाना॥१४॥
चलै अगोचर चाल हाल काहू नहिं सूझै।
जियतै मरै जो आप सोई यह मारग बूझै॥१५॥
दोऊ दीन हैं नीच बीच इक चहला भारी।
गुरु सिख पीर मुरीद सकल फँसि मुये अनारी॥१६॥
बिना चरण जो चलै हलै सोइ पारहिं जावै।
बिनु बाजन झनकार बदन बिनु वेणु बजावै॥१७॥
कहर मेहर करि दूरि आप में आप रिझावै।
तजि दे वाद विवाद लगन साँई ते लावै॥१८॥
आठ पहर खुशिहाल पलक गाफिल नहिं होवै।
प्रीतम प्रीति संभारि सेज पर मुखलिस सोवै॥१९॥

जय गोविन्द सोइ पीर गुरू आयत श्रुति जानै।
हंस सोई अलगाय नीर गहि छीरहिं छानै॥२०॥

गगन गुफा बिनु अनल अविट बिनु जामन जामै।
बिना मथानी मथै नीर बिनु नैनू तामै॥२१॥

बिनु रसना रस चाखि मगन मन मस्त फकीरा।
पत्थर सम संसार सोई जनु सज्जन हीरा॥२२॥

जय गोविन्द जगदीश शीश पर डंक बजावै।
अनहद शब्द उठाय तान रसना बिनु गावै॥२३॥

बिनु सतगुरु यह भेद कोटि यतनन नहिं पावै।
साँचा सतगुरु होय हिये विच तत्व लखावै॥२४॥

तोरहिं तिल तिल नेह तरफ निज गहि गहि आनैं।
दिव्य दृष्टि जब देहिं तबहिं हिय हरि पहिचानैं॥२५॥

खेइ उतारहिं पार सार मत देहिं बताई।
पीक विहंग सम करहिं, बहुरि पुनि देहि उड़ाई॥२६॥

दोहा—साँचा सतगुरु पाय के जय गोविंद हर्षान।
धन्य धन्य पुनि धन्य हैं सतगुरु कृपा निधान॥३॥

पढ़ै सुनै गुनि गनि रहै सतगुरु का उपदेश।
जय गोविन्द साँची कहैं, छूटै सकल कलेश॥४॥

श्री भीखा साहेब की कृपा भयो सकल आनंद।
जय गोविन्द सुख सिन्धु धँसि तोर्‌यो यम को फन्द॥५॥

इति सत्यसार

संदर्भ-संकेत—

१. युग सरि मधि सरि तमसा बहई,
नग जलालपुर तिहि तट अहई।
मण्डल अवध माँहि सो गाऊँ।—श्री गोविंद साहब जी का जीवन चरित्र, पृ० ५

२. सम्बत विक्रम रहइ बयासी, सहस एक शत सात प्रकाशी॥
अगहन मास परम सब मानै, तिहिं भरि मास करहिं असनानैं॥
दशमी तिथि हिम ऋतु सुखदाई, शुक्ल पक्ष रवि उत्तर आई॥
मध्य दिवस रह मंगलवारा, तिहि दिन सतगुरु लिय अवतारा॥—वही, पृ० ८

३. पृथुधर विप्र बसहिं तेहि ग्रामा, देवि दुलारि तासुकर वामा॥ —वही पृ० ५

४. भारद्वाज कुल अरु दिविवंशा, धर पदवी किमि कर परसंसा॥—वही, पृ० ९

५. गोविंद साहब का जीवन चरित्र, पृ०
६. संतकाव्य, पृ० ४२०
७. श्री गोविंद साहब का जीवन चरित्र, पृ० ४१
८. जीवन चरित्र, पृ० ४१
९. सत्यसार, पृ० ६
१०. वही, पृ० ७

वज्ञानिक पाठ-सम्पादन—एक विमर्श

कन्हैया सिंह

हिन्दी में "वैज्ञानिक' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। सामान्य रूप से 'विज्ञान' शब्द अंग्रेजी 'सायंस' का समानार्थी माना जाने के कारण वैज्ञानिक का अर्थ 'साइंटिफिक' ग्रहण किया जाता है। साधारणतया विज्ञान आधिभौतिक वस्तुओं के ज्ञान के कार्य-कारण संबंध आदि की सुव्यवस्थित विवेचना करने वाले शास्त्र को कहते हैं। इसमें अध्ययन के विषय प्रायः स्थूल पदार्थ होते हैं। इसी कारण सूक्ष्म तत्वों, मनोभावों, एवं अन्तर्प्रेरणाओं आदि के अध्ययन प्रस्तुत करने वाले विषय दर्शन, मनोविज्ञान, धर्मशास्त्र आदि विज्ञान के अन्तर्गत नहीं आते हैं। विज्ञान के अन्दर कार्य और कारण के सुनिश्चित एवं व्यवस्थित संबंध निर्धारित होते हैं। जैसे भौतिक विज्ञान का नियम है कि हाइड्रोजन दो भाग और ऑक्सीजन एक भाग मिलाने पर जल होता है। यह सर्वदेशीय एवं सर्वकालिक सत्य है। ज्ञान की अन्य शाखाओं में भी कार्य-कारण संबंध का निरूपण होता है पर उनके नियमों में यह सुनिश्चितता और व्यापकता नहीं होती है। उनमें पर्याप्त अपवादों के लिए भी अवकाश रहता है।

'विज्ञान' शब्द का प्रयोग 'शास्त्र' के अर्थ में भी होता है। किसी भी विषय के सुव्यवस्थित क्रमबद्ध एवं नियमानुकूल अध्ययन को शास्त्र अथवा विज्ञान कहते हैं। इस अर्थ में 'मन' के विषय में सुव्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत करने वाला विषय मनोविज्ञान, राजनीति के शास्त्रीय ज्ञान का अध्ययन प्रस्तुत करने वाला विषय राजनीति शास्त्र (Political science) समाज ज्ञान से संबंधी समाज शास्त्र (Social science) तथा भाषा-ज्ञान से संबंधित विषय भाषा-विज्ञान कहा जाता है। इन संदर्भों में प्रयुक्त विज्ञान शब्द सर्वथा 'शास्त्र' का समानर्थी है किसी भी प्रकार 'सायंस' का नहीं।

इनके अतिरिक्त 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग 'तर्कपूर्ण' के अर्थ में भी होता है। 'विज्ञान' के अन्दर तर्क के प्राधान्य अथवा आधुनिक युग के अन्दर विज्ञान की बढ़ती हुई महत्ता के कारण किसी भी अच्छी वस्तु को वैज्ञानिक कहकर वस्तु की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने की एक प्रवृत्ति आजकल देखी जाती है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण वैज्ञानिक प्रतिपादन, वैज्ञानिक अभिभाषण, वैज्ञानिक प्रवृत्ति आदि प्रयोगों में वैज्ञानिक का प्रयोग व्यवस्था एवं तर्क का ही द्योतक है।

पाठ-संपादन के लिए हिन्दी में पाठालोचन, पाठ-शोध, पाठानुसंधान आदि शब्द तो प्रचलित हैं ही पर उसे पाठ-विज्ञान भी कहा जाता है। पाठ-विज्ञान शब्द का प्रयोग किसी भी ढंग से किए गए संपादन के लिए नहीं प्रयुक्त होता, प्रत्युत संपादन की एक विशिष्ट विधि के लिए ही यह शब्द

प्रचलित है।[१] उसी विधि को वैज्ञानिक संपादन भी कहते हैं। पाठ-संपादन के संदर्भ में वैज्ञानिक शब्द का प्रयोग एक झगड़े का विषय रहा है। इस शब्द का यथार्थ प्रयोग शास्त्रीय संपादन के अर्थ में ही किया जाता है। कभी कभी इसे सामान्य अर्थ में भी प्रयुक्त किया है। अतः इस संदर्भ में इस शब्द के सही अर्थ को समझने के लिए हिन्दी पाठ संपादन की प्रवृत्तियों का सिंहावलोकन करना युक्तिपूर्ण होगा।

प्राचीन कवियों एवं लेखकों की रचनाओं की विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों में प्राप्त पाठान्तरों में से रचयिता की मूल अथवा आदि रचना के पाठ को ढूँढ़ कर प्रस्तुत करना पाठ-संपादन' कहा जाता है। हिन्दी में यह कार्य वैसे तो किसी न किसी रूप में मुद्रणयंत्रों के आविष्कार के पूर्व से होता आ रहा है और प्रतिलिपिकारों ने प्रतिलिपि करने के साथ संपादन के भी प्रयत्न किए हैं। यहाँ तक कि पाठान्तर तक नोट किया है। 'पृथ्वीराज रासो' 'बोसल देवरास', चतुर्भुजदास कृत 'मधुमालती' आदि ग्रंथों की प्रतिलिपियों में प्रतिलिपिकारों द्वारा संपादन के प्रयत्न स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। आजकल किसी रचना के संपादन में उसके मुद्रण और प्रकाशन का भी भाव सन्निहित रहता है। १९वीं सदी के प्रारंभ में जब भारत में मुद्रणयंत्रों का प्रारंभ हुआ भारत जीवन प्रेस, काशी, खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर (पटना) बंगवासी प्रेस कलकत्ता, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, वेल्वेडियर प्रेस, प्रयाग आदि ने प्राचीन लेखकों की रचनाओं को मुद्रित रूप देने का अभिनंदनीय प्रयास किया। आगे चलकर जब प्रतियों की प्राप्ति बहुलता से होने लगी और एक ही कवि की एक ही कृति की प्रतियों में सहस्राधिक ऐसे पाठान्तर मिलने लगे यह निर्णय करना भी कठिन हो जाता रहा कि ये एक ही कृति की प्रतिलिपियां हैं, तो विद्वान् संपादकों की आवश्यकता का अनुभव हुआ जो विभिन्न पाठान्तरों के मध्य मूलपाठ का योग्यतापूर्वक निर्धारण कर सकें। परिणामस्वरूप जो कार्य व्यक्तिगत संस्थाओं द्वारा हो रहा था वह अब साहित्यक संस्थाओं के सिर पड़ा। नागरी प्रचारिणी सभा ने प्राचीन ग्रंथों की खोज और उनके संपादन एवं प्रकाशन के महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। अब तक पाठ-संपादन के जो प्रयास हुए उनमें सर्वप्रथम डा० सरजार्ज ग्रियर्सन ने ही प्राप्त प्रतियों के पाठों के विश्लेषण द्वारा उनके सापेक्षिक महत्व के निर्धारण का प्रयत्न किया और अपने विश्लेषण के आधार पर उन्होंने कुछ व्यापक सिद्धान्तों का निरूपण किया और पुनः उन सिद्धान्तों के आधार संपादन का प्रयास किया। डॉ० ग्रियर्सन के व्यापक सिद्धान्त और उनकी पद्धति उनकी व्यक्तिगत प्रतिभा से प्रसूत वस्तुएँ थीं। इनके अतिरिक्त प्रायः अन्य संपादकों ने विभिन्न प्रतियों में प्राप्त पाठों में से उन पाठों का चयन किया जो अधिक अर्थगर्भित एवं तर्कसंगत लगते रहे। अर्थान्वेषण का यह प्रयास इतना अधिक बढ़ गया कि अनेक लब्धप्रतिष्ठित संपादकों ने अपनी ओर से रचना में ऐसे पाठों को स्थानापन्न किया जिनका अस्तित्व हस्तलिखित पोथियों में कदापि नहीं था। इस प्रकार हिन्दी में एक निरंकुश एवं कल्पना प्रधान संपादन का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें मनमाने संशोधन एवं सुधार तथा बिना प्रतियों के प्रमाण अथवा साक्ष्य के पाठों का ग्रहण होने लगा था। ऐसे पाठों के प्रति हिन्दी के परवर्ती संपादकों में एक प्रतिक्रिया देखी जाती है। बिहारी-रत्नाकर, कवित्त, रत्नाकर, नन्ददास-ग्रंथावली, भूषण-ग्रंथावली आदि के विद्वान् संपादक सर्वश्री रत्नाकर जी, उमाशंकर शुक्ल, ब्रजरत्नदास तथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने प्रतियों के साक्ष्य पर ही पूर्ण रूप से पाठों का ग्रहण प्रारम्भ किया। यहीं से हिन्दी पाठ-संपादन में सुव्यव-

स्थिति एवं श्रमश्लाध्य संपादन का प्रारंभ होता है। पर इन संपदाकों ने भी विषय के अध्ययन एवं अनुशीलन में किन्हीं व्यापक सिद्धान्तों का प्रयोग नहीं किया जिनसे निश्चय के साथ उनके द्वारा प्रस्तुत पाठ को मूल रचयिता का पाठ माना जा सके। उधर पश्चिम के देशों में इस विषय का अध्ययन सूक्ष्मता के साथ हुआ और कुछ ऐसे सिद्धान्तों एवं विधियों का प्रतिपादन हुआ जिनके प्रयोग द्वारा प्राचीन लेखकों के मूलपाठ तक सुगमता तथा निश्चयात्मकता से पहुँचा जा सकता है इन विधियों का प्रयोग अंग्रेजी आदि के संपादनों में हुआ और इनके परिणाम विद्वानों द्वारा समादृत भी हुए। संस्कृत में भी इस विधि का विनियोग हुआ।

पाठ-संपादन की नवीन विधि जब हिन्दी में आई, उसके पूर्व संपादन में संपादक की रुचि प्रमुख थी। एक ही प्रसंगों में मिलने वाले अनेक पाठों में से एक पाठ को मूल पाठ मानने के लिये प्रायः लेखक की रुचि ही कारण बनती थी। अब संपादन के सिद्धान्तों के अनुसार प्राप्त हस्तलेखों की विधिवत परीक्षा करके उनमें प्राप्त होने वाली निश्चेष्ट विकृतियों आदि के आधार पर उनके प्रतिलिपि संबंधों का निराकरण किया जाता है और प्रतियों का शाखाओं के अनुसार वर्गीकरण किया जाता है। इसके उपरान्त प्रत्येक शाखाओं के मूलादर्शों का पाठ तैयार करके उन मूलादर्शों के ऊपर पाठसंपादन के सिद्धान्तों के प्रयोगों द्वारा रचना के मूलपाठ की शोध की जाती है। इस प्रकार हिन्दी संपादन के इतिहास पर दृष्टिपात करने पर हमें ज्ञात होता है कि पाठसंपादन जो पहले एक स्वरुचि प्रेरित कला के रूप में था अब एक शास्त्रीय अध्ययन हो गया है। अतः हम कह सकते हैं कि जब हम वैज्ञानिक पाठ-संपादन शब्द का प्रयोग करते तो हम विज्ञान के दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करना चाहते हैं। और इसका तात्पर्य शास्त्रीय पाठ संपादन से होता है। प्रारंभ में प्रत्येक संपादक अपनी इच्छाओं और मान्यताओं के अनुसार कार्य करता था, पर इस विधि के अनुसार तो संपादन का एक विशिष्ट शास्त्र है और उसके अनुरूप ही वह काफी सम्पन्न होना चाहिए।

पाठ-संपादन की नवीन विधि अत्यन्त तर्कपूर्ण है। इसमें कार्यकारण संबंध की एक सुनिश्चितता के दर्शन हमें होते हैं। जैसे यदि दो हस्तलिखित प्रतियों में प्रथम हस्तलिखित प्रति की संपूर्ण निश्चेष्ट विकृतियाँ दूसरी प्रति में प्राप्त हों और दूसरी में कुछ और निश्चेष्ट विकृतियाँ हों जो प्रथम में न हों तो पाठ-संपादन के नियम के अनुसार निश्चय ही दूसरी प्रति प्रथम प्रति की प्रतिलिपि होगी। इसी प्रकार संपादन की इस विधि के अन्य नियमों में भी कार्यकारण संबंध सुनिश्चित होता है। इसलिए इस प्रक्रिया को हम वैज्ञानिक प्रक्रिया कहते हैं। "वह वैज्ञानिक इसी अर्थ में कही जा सकती है कि इसमें निर्धारित नियमों के अनुगमन द्वारा निर्धारित निष्कर्षों पर पहुँचा जाता है। इस विज्ञान के नियमों की तुलना भौतिक विज्ञान आदि के नियमों से नहीं की जा सकती है। पाठ-विज्ञान के प्रत्येक निर्धारित नियम के साथ अपवाद लगे रहते हैं जो इसकी सार्वभौमिकता पर प्रश्नचिन्ह लगा देते हैं। वैसे अन्य विज्ञानों की ही भाँति इसमें भी शोध-कार्य इसकी सीमा को विस्तृत करता रहता है। नवीन अनुमान इसके नवीन सिद्धान्तों की सृष्टि कर सकते हैं। यह आगमन शैली का न होकर निगमन शैली का शास्त्र है। तात्पर्य यह कि विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रचनाओं की पाठसमस्याओं को देखा और सामान्य अनुभव सर्वत्र प्राप्त हुए। उनके आधार पर कुछ नियम प्रतिपादित किए गए, जो पाठालोचन या पाठ-विज्ञान के नियम कहलाए।

इस संबंध में एफ़० डब्लू० हाल का कथन दर्शनीय है : 'बहुत से लोगों में पाठालोचन को एक रोग समझने की प्रवृत्ति है। किन्तु यह न तो एक रोग है और न विज्ञान, बल्कि एक प्रकार की समस्याओं पर, जो छानबीन प्रेरित करती हैं, सामान्य बुद्धि का प्रयोग मात्र है। इस कार्य में हस्तलिखित प्रतियों को ही आधिकारिक प्रमाण के रूप में ग्रहण किया जाता है।'[२]

हिन्दी साहित्य के समीक्षकों में प्रायः दो प्रकार के विद्वान देखे जाते हैं। एक वह हैं जो पश्चिम के दाय को अस्पृश्य समझते हैं तथा दूसरे जो पश्चिम को ही प्रमाण मानते हैं। ये दोनों प्रवृत्तियाँ साहित्य के स्वतंत्र विकास में बाधक हैं। पाठ-संपादन की वैज्ञानिक विधि वर्तमान रूप में पश्चिम से ग्रहण की गई है, पर इसके सूत्र संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों के संपादन में भी प्राप्त होते हैं। इस विषय की दुरूहता और क्षमता के कारण इसे समझने का प्रयास कम लोगों ने किया और यह विषय बहुत दिनों तक पहेली सा बना रहा। हिन्दी में डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने इस ढंग से कई संपादन प्रस्तुत किये जो हिन्दी संपादन के हरिक्यूलियन प्रयास कहे जा सकते हैं. पर इनके सुव्यवस्थित अध्ययन की बात तो दूर रही, इन पर अनेक व्यक्तिगत कारणों से आक्षेप किए गए। धीरे-धीरे हिन्दी के पल्लवग्राही लेखकों में 'वैज्ञानिक संपादन' के प्रति ही कुछ अरुचि सी उत्पन्न होने लगी। आजकल हिन्दी साहित्य का अध्ययन बढ़ रहा है, पर मूल ग्रंथों के पठन की प्रवृत्तियां कम हो रही हैं। पहले की लिखी-लिखाई या सुनी-सुनाई बातों का प्रायः पृष्ठपेषण हो रहा है। वेद पुराण का नाम बहुत लोग लेते हैं पर उनका दर्शन करने का कष्ट कम लोग ही उठाना चाहते हैं। यही स्थिति पाठों के अध्ययन के क्षेत्र में भी देखी जाती है। किसी प्राचीन कवि के नाम से जनश्रुति प्रचलित पाठ तथा किसी प्रति के प्रक्षिप्त पाठ को उसी कवि का मूल पाठ माना जाता है। उनको छोड़ने में एक साहित्यिक व्यामोह देखा जाता है। जो प्रक्षिप्त पाठों के छोड़ने के पक्ष में भी देखे जाते हैं वे प्रक्षेपों के निराकरण एवं मूल पाठ के छोड़ने के निर्णय की शास्त्रीय विधि नहीं जानते।

हिन्दी शास्त्रीय संपादन के प्रारंभ के समय ही कुछ प्रबल प्रतिक्रियाएँ हुईं। माता प्रसाद गुप्त द्वारा संपादित 'पद्मावत' (जायसी ग्रंथावली) के प्रकाशन में तथा इसके पूर्व भी 'मानस' के संपादन में उन्होंने विशिष्ट संपादकीय समस्याओं का उल्लेख किया। यद्यपि यह कहना भूल है कि माता प्रसाद गुप्त के सभी निष्कर्ष ठीक हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत पाठ निश्चित रूप से मूलपाठ हैं तथा उनमें किसी प्रकार के सुधार और संशोधन की आवश्यकता नहीं, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि डॉ० गुप्त ने हिन्दी संपादन में एक ऐतिहासिक महत्व का कार्य प्रारंभ किया है। और उन्होंने सिद्ध कर दिया कि शास्त्रीय संपादन भी उसी प्रकार से सार्वदेशीय विज्ञान या शास्त्र है जिस प्रकार भाषा-विज्ञान या भाषाशास्त्र। जिस प्रकार भाषाविज्ञान के मूल सिद्धान्तों में सर्वत्र एकता होते हुए भी विभिन्न भाषाओं की प्रकृति, विभिन्न देशवासियों की मुखाकृति आदि के कारण उसके प्रयोग में वैषम्य रहता है उसी प्रकार पाठ-विज्ञान के सिद्धान्तों में सार्वदेशीय एकरूपता होते हुए भी भाषा और लिपि की विशेषताओं के कारण उनके प्रयोग में वैषम्य देखा जाता है। इसी अर्थ में 'वैज्ञानिक संपादन' या 'पाठ-विज्ञान' शब्द का प्रयोग होता है। चूँकि वैज्ञानिक वा शास्त्रीय संपादन में पाठों के लिए प्रतियों का प्रमाण ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण होता है तथा विना

प्रमाण के कोई भी पाठ संशोधित नहीं किया जा सकता है। अतः कभी-कभी इस शास्त्रीय संपादन को 'प्रामाणिक संपादन' भी कहा गया।

नवीन विधि से कार्य प्रस्तुत करने पर बहुत सी नवीन मान्यताओं की स्थापनाएँ हुईं और कितने ही परंपरा से प्राप्त पाठ प्रक्षिप्त सिद्ध हुए। ऐसी स्थिति में प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। योरोप में भी जब पाठानुसंधान की इस विधि से पाठों का निर्णय होना प्रारंभ हुआ तो पुरातन-पंथी तथा रूढ़ मान्यताओं एवं पाठों के प्रेमी विद्वानों ने उनका विरोध किया। चॉसर के पाठों के अनेक संपादित संस्करण निकले, पर जब टरहिट नामक विद्वान् ने उसके ग्रंथों का मूल पाठ वैज्ञानिक ढंग से ढूँढ़ निकाला तो अंगरेजी वालों ने चॉसर की वास्तविक प्रतिभा को पहचाना और चॉसर-सोसायटी की स्थापना हुई। पर टरहिट के कार्य को प्रारंभ में लोगों ने महत्व नहीं दिया। धार्मिक ग्रंथों के जब वैज्ञानिक संपादन हुए तब तो लोगों ने और भी उग्र प्रतिक्रियाएं कीं। इस संबंध में 'न्यू टेस्टामेण्ट' के संपादक ने लिखा है कि 'अठारहवीं शताब्दि के प्रारंभ में सभी प्रोटेस्टैण्ट 'न्यू टेस्टामेण्ट' के प्रत्येक पृष्ठ को धर्म का प्रकटीकृत रूप समझते थे। ईसाई धर्म के सिद्धान्त और कुछ समुदायों में चर्च की परंपराएं भी इन्हीं अमानवीय ग्रंथों के पाठों से ही निःसृत समझी जाती थीं। इस दृष्टिकोण को सबसे बड़ा धक्का पाठालोचन के अध्ययन द्वारा लगा।'[३] इन्हीं कारणों से उत्पन्न प्रतिक्रिया की चर्चा करते हुए 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' के संपादकों ने लिखा है कि 'इस प्रकार मूल के अवैज्ञानिक पाठ तथा सामान्य प्रयोग में व्यवहृत मूल के नहीं प्रत्युत एक शाखा मात्र के पाठ ने पाठ के आलोचनात्मक अध्ययन का प्रतिरोध किया। इस प्रतिक्रिया में प्राचीन पाठों में से अवैज्ञानिक और असंगत अर्थ ढूँढ़ने की प्रवृत्ति ने विशेष योग दिया।"[४]

यही स्थिति हिन्दी में भी देखी गई। जब 'जायसी-ग्रंथावली' का संपादन माता प्रसाद गुप्त ने किया और वह हिन्दुस्तानी एकेडमी से छपी जिसमें पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रस्तुत पद्मावत के पाठ की आलोचना की गई थी तो शुक्ल जी के योग्य शिष्य तथा हिन्दी के धुरंधर विद्वान आचार्य चन्द्रबली पांडे तीव्र प्रतिक्रिया में उबल पड़े। पांडे जी ने अपनी सूझ से 'पद्मावत' के माता प्रसाद गुप्त द्वारा प्रस्तुत पाठ में कुछ दोषों को ढूंढ़ा पर उनका अंश बहुत ही कम है। अधिकांशतः वे विरोध एवं प्रतिक्रिया के स्वर में बोलते और लिखते रहे। एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। उन्होंने एक लेख में जायसी के शब्दों में लिखा कि 'मेरी 'पद्मावत' का आरंभ होता है पृ० १०९ से और डॉ० गुप्त की 'भूमिका' समाप्त होती है पृ० ११८ पर। बस इसी से समझ लो कि प्रयाग की 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' में हो क्या रहा है 'वैज्ञानिक संपादन की ओट में, और कहा क्या जा रहा है किसको, किस भाव और किस भाषा में।"[५]

इस कथन में अन्तिम वाक्य स्पष्ट रूप से मुखर है कि शुक्ल जी का जिस भाव और भाषा में इस संपादन के भूमिका में जो कुछ कहा गया है, उसी से पांडे जी क्षुब्ध थे। इसी क्षोभ और प्रतिक्रिया में उन्होंने जिस बात के लिए एकेडेमी और डॉ० गुप्त को कोसा है वह प्रकाशकीय भूल स्वयं पांडे जी के एकमेव संपादित ग्रंथ 'अनुराग बाँसुरी' में मिलती है जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से प्रकाशित है। 'अनुराग बाँसुरी' की भूमिका समाप्त होती है पृ० ८३ पर और उसके मूल पाठ का प्रारंभ होता है पृ० ८४ पर।

आचार्य चन्द्रबली पांडे ने, विरोध के लिए ही सही, वैज्ञानिक संपादन को पढ़ा और समझा।

था। वैज्ञानिक शब्द के प्रयोग से उन्हें उतनी चिढ़ नहीं थी जितनी प्रामाणिक संपादन से। प्रामाणिक (ऑथेण्टिक) शब्द का प्रयोग वास्तव में है भी भ्रामक। वैज्ञानिक संपादन को उन्होंने शास्त्रीय संपादन के अर्थ में भी समझा और विचारा था। उस समय इस विषय के सैद्धान्तिक पक्ष पर कोई ग्रंथ हिन्दी में नहीं था। अतः पांडे जी ने लिखा भी कि "अच्छा होता, कहीं अच्छा होता यदि 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' की ओर से पहले उस 'शास्त्रीय ढंग' का प्रकाशन हो लेता और फिर उस ढंग से संपादन करने की आशा और व्यवस्था अधिकारी विद्वानों से की जाती।"[६] अब तो प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने 'पाठ-संपादन के सिद्धान्त' नामक ग्रंथ में इस विधि का परिचय हिन्दी में कराया है, जिसका शुद्ध साहित्यिक उद्देश्य से विवेचन एवं आलोचन होना हितकर होगा।

आजकल संपादन कार्य की ओर से कुछ अरुचि सी दीख पड़ती है। यह अरुचि लेखकों, प्रकाशकों और पाठकों सभी की ओर से है। प्राचीन महत्वपूर्ण ग्रंथ के संपादन में जितना कष्ट और श्रम करना पड़ता है उसे विद्वान संपादक ही समझ सकते हैं। पर उस श्रम का फल यह मिलता है कि उन्हें प्रकाशक नहीं मिलते और यदि प्रकाशक मिल भी गए तो अर्थ की प्राप्ति भरण-पोषण भर को भी नहीं हो पाती। इन कारणों से बहुत कम विद्वान इस दिशा में प्रवृत्त हो पाते हैं। हिन्दी में आजकल प्रमुख रूप से दो विद्वान लगन एवं श्रम से इस दिशा में प्रवृत्त हैं—डॉ० माता प्रसाद गुप्त और पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र। इन दोनों विद्वानों की संपादन सरणि में अन्तर है। यहाँ उनमें से किसी के संपादनों के गुणदोष विवेचन का प्रसंग नहीं प्रत्युत उनकी सरणियों का विहंगावलोकन मात्र ही अभिप्रेत है। माता प्रसाद गुप्त की पद्धति वही शास्त्रीय वा वैज्ञानिक है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी कुछ हद तक इस पद्धति की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। उन्हीं का लेख है कि "मूल पाठ तक पहुँचने की एक पद्धति वैज्ञानिक कहलाती है। विभिन्न हस्तलेखों और जहाँ तक हो प्राचीन हस्तलेखों के संग्रह द्वारा पाठ संकलित करके और पाठ को छान कर निकालना परिश्रमसाध्य कार्य है। इसमें संदेह नहीं कि इस पद्धति द्वारा बहुत से प्राचीनतम पाठ प्राप्त हो जाते हैं। यदि हस्तलेखों के लिखने में भरपूर सावधानी हुई हो और संशोधन कम हुआ हो, तो इस पद्धति से मूल या आदि पाठ तक पहुँचा जा सकता है।"[७] फिर भी मिश्र जी इस विधि में लगे हुए 'वैज्ञानिक' शब्द के प्रयोग के कारण कुछ झिझकते हैं और पूर्णरूप से इस विधि के अवलंबन के पक्ष में नहीं हैं। उनका कहना है कि "कोरी वैज्ञानिक प्रक्रिया से मानस क्या, हिन्दी के किसी ग्रंथ का ठीक संपादन नहीं हो सकता। उसके लिए साहित्यिक सरणि का परित्याग अहितकर है। वैज्ञानिक प्रक्रिया भारतीय दृष्टि से विज्ञान होने से जड़ है। साहित्यिक प्रक्रिया दर्शन होने से चेतन है। मूलग्रंथ के लेखक से लेकर संपादक तक सभी चेतन प्राणी होते हैं। जड़ की गतिविधि जितनी व्यवस्थित होती है उतनी चेतन की नहीं। अतः चेतन का प्रयास सर्वत्र नियत नहीं होता।"[८] इसी प्रकार एक अन्य प्रसंग में वे वैज्ञानिक पद्धति को 'यान्त्रिक प्रक्रिया' कहते हैं। हम देख चुके हैं कि पाठ-संपादन किस अर्थ में विज्ञान है। अतः मिश्र जी की यह धारणा सुविचारित नहीं कही जा सकती है। पाठ-संपादन के अध्येता भली भाँति जानते हैं कि इस सरणि में चेतना के उपयोग का कितना अवकाश होता है। चेतन प्राणियों के विनियोग के प्रति वैज्ञानिक संपादक भी सावधान रहता है। डॉ० एस० एम० कत्रे ने इस संबंध में लिखा है कि "It is impossible, as Jebb remarks, to draw up a list of motives which might

lead to wilful change, or of accidents which might lead to dangers, for tne organs of tradition were not machines but men.—Introduction to Indian Textual eriticism page 54.

मिश्र जी ने वैज्ञानिक सरणि को पर्याप्त दूर से देखा है। निकट से देखने का प्रयास करने पर उनकी आपत्तियों का समुचित समाधान हो जायगा। उनका कहना है कि 'फल यह है कि कोई पाठ-संकलन की विधि जान गया तो बिना विशेष विद्याबुद्धि के भी अच्छा काम कर सकता है। उसके विपरीत अधिक विद्याबुद्धि वाला यदि उस विधि से परिचित नहीं तो अच्छा काम नहीं कर सकता।' यह कथन युक्ति पूर्ण नहीं है और नहीं पाठ-संपादन का कोई जानकार ऐसा मत ही प्रकट करता है। 'पाठ-संपादन की वैज्ञानिक विधि के संबंध में तो मेरा स्पष्ट मत है कि यह विधिशल्य क्रिया में प्रयुक्त होने वाले सुन्दर यंत्रों के समान है। ये यंत्र जितने ही योग्य, अनुभवी एवं प्रातिभ डाक्टर द्वारा प्रयुक्त होंगे, उतना ही सुखद परिणाम होगा। यदि कोई अल्पज्ञ इनका प्रयोग करे तो ये शल्य-यंत्र शूल यंत्र सिद्ध हो सकते हैं।'[९]

मिश्र जी के मत से वैज्ञानिक पद्धति के अतिरिक्त कोई साहित्यिक पद्धति भी है और इन दोनों के 'तुल्यबल संयोजन' से ही मूल पाठ तक पहुँचा जा सकता है। साहित्यिक पद्धति से उनका तात्पर्य क्या है यह देखिए :—

'हिन्दी के प्राचीन ग्रंथों के संपादन की साहित्यिक सरणि के प्रवर्तक काशी विश्वविद्यालय के दिवंगत प्राध्यापक लाला भगवानदीन, पं० रामचन्द्र शुक्ल और बाबू श्यामसुन्दर दास थे। इनके संपादित ग्रंथों में कुछ ऐसी अच्छाइयाँ हैं जो वैज्ञानिक संपादनों में नहीं रह गई हैं।'[१०]

वास्तव में जिस पद्धति का उल्लेख यहाँ किया गया है, वह कोई पद्धति नहीं थी। उस समय तो शुक्ल जी ने जहाँ स्वेच्छा से मनमाने पाठ-संशोधन किए और पाठान्तर देने का कष्ट भी नहीं उठाया, वहीं कबीर-ग्रंथावली आदि में डॉ० दास ने प्रतियों के प्रतिकूल एक भी संशोधन नहीं किया और पाठान्तर भी दिया। इसी प्रकार दीनजी की अपनी शैली और विधि थी। सब मिला कर उस समय संपादन कार्य एक स्वरुचि प्रेरित कला के रूप में था। उसके व्यवस्थित शास्त्रीय सिद्धान्तों का उपयोग नहीं हुआ था। वैसे भी साहित्यिक पद्धति, जिसमें चेतना के उपयोग की बात मिश्रजी कहते हैं, बड़ी विचित्र वस्तु लगती है। चेतना के उपयोग बिना मूलपाठके अन्वेषण में तर्कातर्क विचार कैसे होगा, पर यह चेतना आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भाँति नवीन पाठ की कल्पना प्रस्तुत करने वाली नहीं होनी चाहिए। यह साहित्यिक विधि कल्पना पर आधारित होने के कारण कोई नियमबद्ध विधि नहीं कही जा सकती। इसमें पद-पद पर भूल और भ्रम की संभावना रहती है। 'अनुराग-बाँसुरी' के एक पाठ का उदाहरण लीजिए। मूलपाठ था 'आर' एक ही प्रति के आधार पर संपादन हो रहा था। पं० रामचन्द्र शुक्ल और चन्द्रबली पांडे संपादन कर रहे थे। "प्रतिलिपि करते समय इसे 'आड़' लिखा गया। संपादन करते समय स्व० शुक्ल जी ने इसे 'आड़ि' किया। अन्त में बहुत विचार करने पर यह संस्कृत का शुद्ध 'आर' दिखाई दिया जिसका अर्थ ज्योतिष में होता है मंगल, और यत्र-तत्र शनिश्चर भी।[११]

आज हिन्दी में स्वतंत्र चिन्तन का युग है। मूल्यों के आधार पर विषयों का अध्ययन होना चाहिए। व्यक्ति विशेष के प्रति रुचि अथवा अरुचि को साहित्यिक मूल्यांकन का आधार नहीं

बनाया जा सकता। खेद है कि आज भी हिन्दी में स्थानों के आधार पर वर्ग बने हुए दीख पड़ते हैं। विशेषतः विश्वविद्यालयों में गुरुडमपरस्त गुटबंदी का बोलबाला दीख पड़ता है जो स्वतंत्र चिन्तन और अध्ययन की शत्रु है। पाठ-संपादन की वैज्ञानिक विधि, जो योरोप के सभी प्रमुख भाषाओं में स्वीकृत की जा चुकी है, संस्कृत में भी जिसके सुखद प्रयोग स्वीकार किए जा चुके हैं, हिन्दी में भी ग्रहण की जानी चाहिए। इसके बिना हम अपनी एक बहुत बड़ी राष्ट्रीय जिम्मेवारी का वहन करने में असमर्थ रहेंगे। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने ठीक ही लिखा है कि 'भारतवर्ष को ग्रंथों का देश कहा जाय तो इसमें अत्युक्ति न होगी। वाङमय के क्षेत्र में भारतवर्ष की सांस्कृतिक निधि इतनी समृद्ध है कि ज्ञात होता है कि साहित्य के किसी महान अधिदेवता ने कुबेर जैसा कोष ही भर दिया है। संस्कृत...पालि...अर्द्धमागधी, और प्राकृत...। अपभ्रंश भाषा जो आर्य भाषाओं की परंपरा में विकास की एक महत्वपूर्ण कड़ी है, अभी कुछ वर्षों से अपने विपुल साहित्य का भंडार लिए हुए हमारे दृष्टिकोण पथ में आई है। इस विशाल साहित्य को विधिवत् सुरक्षित, संपादित और प्रकाशित करने के लिए एक बड़े राष्ट्रीय अभियान की आवश्यकता है।'[१२]

संदर्भ-संकेत—

१. विस्तार के लिए 'पाठ-संपादन के सिद्धान्त' नामक, ग्रंथ देखें।
२. लेखक कृत 'पाठ-संपादन के सिद्धान्त', पृ० ६
३. Encyclopaedia Britannica Vol. 3 page 519.
४. वही।
५. ना० प्र० प० (चन्द्रबली पांडे स्मृति-अंक), पृ० ४४९
६. ना० प्र० प० (चन्द्रबली पांडे स्मृति-अंक) पृ० ४४७
७. केशव ग्रन्थावली (संपादकीय), पृ० १८
८. रामचरितमानस (आत्म निवेदन), पृ० २५-२६
९. पाठ-संपादन के सिद्धान्त (दृष्टिकोण), पृ० ९
१०. रामचरितमानस (आत्म निवेदन), पृ० २६
११. अनुराग बांसुरी (बीतीबात), पृ० ६
१२. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १९ नवम्बर १९६१, पृ० ५

बिहारी सतसई का भाषावैज्ञानिक अध्ययन— क्रियापद

• रामकुमारी मिश्र

संस्कृत धातुएँ दस गणों में विभाजित हैं। प्रत्येक गण की धातुओं के रूप उनके वचन, पुरुष एवं काल के अनुसार बनते हैं। यही नहीं, इन धातुओं के कृदन्त रूप भी बनते हैं जिससे एक-एक धातु के सैकड़ों रूप बन सकते हैं। मध्य भारतीय आर्य भाषा काल में इस जटिल धातु-प्रक्रिया को सरल करने की प्रवृत्ति पाई जाती है जिसके परिणामस्वरूप गणों की संख्या एवं कालों में कमी हो गई और अपभ्रंश काल तक भारतीय आर्य भाषा की धातु प्रक्रिया प्राचीन काल की अपेक्षा काफी सरल हो गई। इस काल में थोड़े-से ही धातु रूपों का प्रयोग अर्थ-द्योतन के लिए किया गया और संयुक्त क्रियाओं का भी प्रयोग प्रारम्भ हो गया।

भारतीय आर्य भाषा के मध्य एवं आधुनिक काल के संक्रान्तिकाल में क्रियापद पर्याप्त रूप में विश्लेषावस्था की ओर अग्रसर हुए और संयुक्त क्रियाओं का व्यवहार बढ़ा। आधुनिक काल में क्रियापद प्रक्रिया तो और भी सरल हो गई। आधुनिक आर्यभाषाओं में तिङन्त रूप थोड़े हैं। इनमें कृदन्त रूपों को ही प्रधानता मिली है और संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग बढ़ा है। डॉ० ग्रियर्सन, हार्नले तथा डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की क्रियाओं पर विचार किया है।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने "ब्रजभाषा"[१] में क्रिया सम्बन्धी व्यापक नियम प्रस्तुत किये हैं किन्तु इसके अधिकांश उदाहरण बोलचाल की ब्रजभाषा से ही ग्रहण किए गए हैं।

'बिहारी सतसई' की भाषा ब्रज है किन्तु उसका रूप साहित्यक है अतः उसमें आये हुए 'क्रियापदों' पर यहाँ विस्तार से अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। इस अध्ययन में प्रत्येक नियम के ३-४ उदाहरण ही दिये गये हैं और उनके आगे दोहों की संख्या एवं चरण संख्या भी अंकित है।

क्रिया—

बिहारी सतसई में क्रियाओं के प्रयोग दो प्रकार से मिलते हैं—

१. अधिकांश क्रियायें **कर्तरि प्रयोग** में हैं। इनमें कर्त्ता का कर्तृत्व सन्निहित है।

२. कुछ क्रियायें **कर्मणि प्रयोग** में भी पाई जाती हैं जिनके द्वारा क्रिया का कर्म स्पष्ट है उसके कर्त्ता का उल्लेख नहीं मिलता।

उदाहरण—

(क) चलति : ३१·१· **चलति** सबनु दै पीठि
२९५·१· दुचितैं चित हलति न **चलति**
३८१·१· छिनुकु **चलति**
चलाइयति : २०४·२ अबही कहा **चलाइयति** ललन चलन की बात।
४४८·१· कत बेकाज **चलाइयति** चतुराई की चाल।

(ख) देखत : ९२·१ **देखत** बुरै कपूर ज्यों
१२३·१ विय सौतिन **देखत** दई अपने हिय तें लाल
१५८·१ जस अपजस **देखत** नहीं
देखियत : ४७७·१ दिसि दिसि कुसुमित **देखियत** उपवन विपिन समाज।
५७४·२ कहि क्यों झलके **देखियत**
६७०·१ फिरि फिरि दौरत **देखियत** निचले नैंकु रहे न।

कर्तृवाच्य से कर्मवाच्य बनाने के नियम पर यथास्थान विचार किया गया है।

"बिहारी सतसई" में दो प्रकार की धातुएँ—साधारण और प्रेरणार्थक प्रयुक्त हुई हैं। साधारण धातु में **आव** जोड़ कर प्रेरणार्थक रूप सम्पन्न किये गये हैं। इन प्रेरणार्थक रूपों में कर्त्ता का कर्तृत्व बहुत कुछ निहित है।

(क) झझकत : ४८४·२ **झझकत** हियें गुलाब के
झझकावत : ३५४·२ तत्यों गुलाल मुंठी झुठी
झझकावत प्यौ जाई।

(ख) सकुचत : २९०·१ कत **सकुचत** निधरक फिरौ
५२७·२ चित **सकुचत** कत लाल
सकुचावत : ४२८·१ निज करनी सकुचेंहि कत
सकुचावत इहि चाल

(ग) उपजति : २७३·२ अति उपजति उर लाज
उपजावति : ३६२.१ खरें अदब इठलाहठी उर **उपजावति** त्रासु

काल-रचना—

"बिहारी सतसई" में प्रयुक्त क्रियाओं में तीन अर्थ पाये जाते हैं : निश्चयार्थ, आज्ञार्थ, तथा सम्भावनार्थ।

निश्चयार्थ से भूत, वर्तमान, तथा भविष्य तीनों में कार्य होने की सूचना मिलती है। आज्ञार्थ वर्तमान तथा भविष्य—इन दो कालों में मध्यम पुरुष में आज्ञा तथा अन्य पुरुषों में स्वीकार-सम्मति सूचित करता है। सम्भावनार्थ उस क्रिया का द्योतन करता है जहाँ कार्य सम्पन्न नहीं हुआ रहता। इस प्रकार से प्रयुक्त ये छः काल **सामान्यकाल** कहे जा सकते हैं। ये निम्न हैं—

१. वर्त्तमान निश्चयार्थक
२. भूत निश्चयार्थक
३. भविष्य निश्चयार्थक
४. वर्तमान आज्ञार्थक
५. भविष्य आज्ञार्थक
६. सम्भावनार्थक

इन छः कालों के अतिरिक्त सहायक क्रियाओं की सहायता से भी अन्य कालों की सृष्टि हुई है। इन्हें **संयुक्त काल** कह सकते हैं।

इस प्रकार विभिन्न कालों को दृष्टि में रखते हुए बिहारी सतसई में प्रयुक्त समस्त क्रियाओं को निम्न वर्गों में विभाजित करके उनकी विवेचना की गई है।

१. सामान्य क्रियायें क. वर्त्तमानकालिक क्रियायें
ख. आज्ञार्थक क्रियायें
ग. भूतकालिक क्रियायें
घ. भविष्यकालिक क्रियायें
२. सहायक क्रियायें
३. पूर्वकालिक क्रियायें
४. संयुक्त क्रियायें तथा
५. क्रियार्थक संज्ञा

वर्तमानकालिक क्रियायें:

बिहारी सतसई में प्राप्त वर्तमानकालिक क्रियाओं की रचना धातु वर्त्तमानकालिक पद क्रम से हुई है—

१. धातु+अइ—जब धातु के अन्त में अ, आ स्वर अथवा कोई व्यंजन रहता है तो वर्त्तमान कालिक पद का प्रारम्भिक स्वर उसमें संयुक्त हो जाता है अन्यथा यह छोड़ दिया जाता है।

चढ़+अइ=चढ़इ १८२ ' २
जमुहा+अइ=जमुहाइ ३६० ' २, ५८९ ' १
जा+अइ=जाइ १७४ ' २, २०६.२, २५३२, ४६१.२, ५०४.२, ६४४.२,
हो+अइ=होइ १.२, १३२.२, १४९.२, १७४.२

२. धातु अहिं :

ले+अहि=लेहि १०९.१

इनसे बहुवचन रूप प्राप्त करने के लिए वर्तमान कालिक पद को अनुनासिक कर दिया जाता है।

जा+अहिं=जाहिं ६३ ' १, १२७ ' १
इठला+अहिं=इठलाहिं ५०६ ' २
हो+अहिं=होहिं ५२३.२, ५४९.१, ५९०.२, ७०५.२

३. धातु+ ऐ :
कह+ऐ=कहै १८६˙२, २६८˙१, ४३१˙१
कर+ऐ=करै ९५.२, ३६२˙२, ४४१˙१
लग+ऐ=लगै ८१˙१, १११˙१, १९६˙२
बस+ऐ=बसै २९८˙१, ३७५˙१
इनसे बहुवचन रूप प्राप्त करने के लिए अन्तिम स्वर को अनुनासिक कर दिया जाता है।
कह+ऐं=कहैं १८५˙२, ५०९˙२, ५७७˙२, ५८१˙१
दुर+ऐं =दुरैं ५७९˙१
पजर+ऐं=पजरैं ५०˙२
ऐं–यह पद कहीं कहीं पूर्ण तथा आज्ञा का अर्थ भी देता है।
कियैं २३५˙१ (पूर्ण)
चलैं १५२˙२ (आज्ञा)
व्यंजनान्त धातु में—इयैं संयुक्त करने से कर्मवाच्य के रूप सम्पन्न होते हैं।
जीत+इयैं=जीतियैं १८०˙२
छाड़+इयैं=छाड़ियैं ३७५˙२
कीज+इयैं=कीजियैं ६३˙१
४. धातु+औं—इससे उत्तम पुरुष के रूप सम्पन्न होते हैं।
देख+औं=देखौं ४२४˙१
कर+औं=करौं ५६८˙२
रह+औं=रहौं ४३८˙२
लख+औं=लखौं ७०९˙१
५. धातु+अत्—इससे पुल्लिग का द्योतन होता है।
आव+अत्=आवत २०७.२, ५१५.१
उछल+अत=उछलत ५७६.२
कह+अत=कहत ११˙१, ३४˙१, ६२˙१
दे+अत=देत ४४४˙२
दौर+अत=दौरत ४६४˙१,६७०˙१
व्यंजनान्त धातु में—आवत संयुक्त करने से कर्मवाच्य के रूप सम्पन्न होते हैं।
६. धातु+अतु—इनसे स्त्रीलिग का द्योतन होता है।
चमक+अति=चमकति ८४.२
जगमग+अति=जगमगति ७२.१, १४३. १
दौर+अति=दौरति ५८५.२
हो+अति=होति १०.२, ६६.२, १११.२ १९१.२
७. धातु+अतु—यह दोनों लिंगों के साथ प्रयुक्त होता है।
कह+अतु=कहतु ३९२.१

२८

डट+अतु=डटतु १६४.१

फिर+अतु=फिरतु ४४९.२

लस्+अतु=लसतु १०६,१, १०८.१

ले+अतु=लेतु १४३,२, ४८९.२

यहाँ धातु में–इयतु संयुक्त करके कर्मवाच्य के रूप प्राप्त किये जाते हैं।

निम्नलिखित रचनाओं से वर्तमान काल में क्रिया की पूर्णता का द्योतन हुआ है।

धातु+ई :

उपट्+–ई=उपटी ४००.२

चल+–ई=चली २६.२, २०८.१, ६९३.२

बस्+–ई=बसी ५०६.१

ला+–ई=लाई ६१३.१

धातु+–ए

कर्+ए=करे १५५.१, ५४२.१

ठाढ़+ए=ठाढ़ें ३७८.१

भ+–ए=भएं ७०.२, ८८.१, १७१.१

धातु+–यौ

आ+–यौ=आयौ ६७२.१

उपज्+–यौ=उपज्यौ ९०.१

झलक+–यौ =झलक्यौ ७३.१

लाग्+–यौ=लाग्यौ ३७८.२

आज्ञार्थक क्रियायें––

"बिहारी सतसई' में आज्ञासूचक क्रियाओं की रचना निम्न प्रकार हुई है।

१. साधारण तथा २. आदरार्थक

साधारण––

१. धातु+–इ

चाह+–इ=चाहि ५८.१

जो+–इ=जोइ १४९.१, १६२.१

ला+–इ=लाइ ३१४.१

कह+–इ=कहि २२१.२

धातु+आइ से प्रेरणार्थक रूप सम्पन्न होते हैं यथा :—

छू+–आइ=छुवाइ ३

हंस+–आइ=हँसाइ ३१४.१

२. धातु+उ

आ+–उ=आउ ३८.२

ला+–उ=लाउ २३˙२

कर+–उ=करु ३९२˙१

३. धातु+औ :

कह्+–औ=कहौ ५४४·२

गह्+–औ=गहौ १२७˙१

हर्+–औ=हरौ १˙१, ९˙२

४. धातु+–ऐं :

धर+–ऐं=धरैं ६९९˙१

चित्+–ऐं=चितैं ६७५˙२

तज+–ऐं=तजैं ५८४˙१

आदरार्थक—

१. धातु+इयैं

ला+–इयैं=लाइयैं ५६९.१

सोंप+–इयैं=सौंपियैं ८५.२

बैठ+–इयैं=बैठियैं ५०१.१

इसमें दोहों के मात्रा—सन्तुलन के लिए **कीजियैं** का **कीजैं** (२७१.१,.३९२.२,) **लीजियैं** का **लीजैं** (३१०.२) तथा दीजियैं का दीजैं (२१८˙१) कर दिया गया है।

वर्तमानकालिक कृदन्तों की रचना–अतु,–अतु, –अति, और इत को धातु में संयुक्त करके की जाती है।

ऐंच्+–अत्=ऐंचत् ६०९.२

चू+–अतु=चुवतु ३८७.१

पैठ+–अति=पैठति ६१८.२

भूतकालिक क्रियायें—

"बिहारी सतसई" में भूतकालिक क्रियाओं की रचना धातु+भूतकालिक पद के द्वारा हुई है।

१. धातु+– अई चित्+अई=चितई १४.१, १४०.१, १४४.१

२. धातु+–ई

बुरा+–ई=बुराई ५९१.२

छा+–ई=छाई १७८.१

खुभ+–ई=खुभी ६.२

दे+–ई=दी ६१६.१

दे+–ई=दई १२˙१, ५३˙२

पहिरा+-ई=पहिराई २०५ˑ१
दिवा+-ई=द्याई ५१०ˑ१

३. धातु +एः

आ+-ए=आयैं ११६ˑ२, १३७ˑ१, १५६ˑ१, २०४ˑ१
*जी+-ए=जिए ३९१ˑ१, ५७८ˑ१
(*उच्चारण सक्रिय के कारण यहां दीर्घ का ह्रस्व हो गया है।)
ढर+- ए=ढरे २३३ˑ१
सीं+-ए =सोए ५७१ˑ१
लजा+-ए=लजाए ६१०ˑ१
सुका+-ए=सुकाए ४८२.२
ग+ -ए=गए १२९ˑ२, ६३९ˑ२, ५५०ˑ२

४. धातु+-यो—

आ+यो=आयो ५४४ˑ२, ६५७ˑ१
कह्+यो=कह्यो २२१ˑ१
चूम्+यो=चूम्यो ६४२ˑ१
ले+यो=लयो ५३४:१

५. धातु+-औ,~यौ:—

ग+औ=गौ ५६०ˑ२
भ+औ=भौ २०२, १८८ˑ२, २०९ˑ२
दिखा+यौ=दिखायौ २९८ˑ२, ३७६ˑ२
ग+यौ=गयौ १४८ˑ२, १६४ˑ२, २०९ˑ१ ३८३ˑ२, ५९९ˑ१

६. विशेष—

निम्नलिखित चार क्रियायें विहारी सतसई में ऐसी प्रयुक्त हुई हैं जिनपर अवधी का प्रभाव परिलक्षित होता है :
किय ४३ˑ२, २१३ˑ१
कीन २ˑ२, ४५ˑ२, ११६ˑ१
दीन ४५ˑ१, ६५३ˑ१
बिकान ८४ˑ१
भूतकालिक कृदन्त की रचना उपरोक्त समस्त पदों एवं ऐ के संयोग से हुई है।
भ+ई=भई २०७ˑ२। अटक+ई=अटकी १९३ˑ२
गड़+ -ए=गड़े ४५०ˑ१। कह+ए=कहे २८६ˑ२

पदों को अनुनासिक करके बहुवचन भूतकालिक रूप सम्पन्न किये गये हैं।
वनीं ४·२। नहैं ६१५·१

भविष्यकालिक क्रियायें--

भविष्यतकाल की रचना धातु+भविष्यत्काल पद रूप में हुई है।

१. **धातु+ इबी :**

गन+ -इबी=गनिबी ५०६·२
देख+-इबी+देखिबी ३३·१

२. **धातु+ -इबौ**

राख+इबौ=राखिबौ ४३८·२
(यह संस्कृत के तव्य प्रत्यय का रूप है)
(ब-भविष्यत् पूर्वी हिन्दी की विशेषता है। बिहारी सतसई में इससे पूर्वी हिन्दी का प्रभाव ज्ञात होता है।)

३. **धातु+इहै :**

इससे अन्य पुरुष एकवचन का द्योतन होता है--
कह् + -इहै=कहिहै ६२·२
रह+-इहै=रहिहै ३३·१, २३८·२
पा+-इहै=पाइहै ४७५·२

४. **धातु+इहै** इससे अन्य पुरुष वहुवचन का द्योतन होता है।

रह+-**इहैं :** रहिहैं ३९३·१
रीझ+-हैं=रीझिहैं ६८३·१

५. **धातु+उगै** इससे मध्यपुरुष का द्योतन होता है।

ले+ - उगै=लेहुगे ५१·१
हो+ - उगे=होहुगे ८१·२,४२६·१
(यहां-ह्-संध्याक्षर (Euphonic glide) के रूप में आया है)

६. **धातु+इहौ** इससे भी मध्यपुरुष का द्योतन होता है।

राख+इहौ=राखिहो २३०·२
रीझ+इहौ= रीझिहौ १०·१

७. **धातु-+इहों** =हों इससे उत्तमपुरुष का द्योतन होता है।

भेंट+-इहों=भेंटिहों ५७२·३
हो+-इहों=ह्वैहों ४२५·१

८. **धातु+** - उगौ इससे भी उत्तम पुरुष का द्योतन होता है।

हो+ -उगौ=होउगौ ४२५·१

९. **अन्य :**

जाइगौ ५३५·१। जाहिंगी २७४·२

सहायक क्रिया—

बिहारी सतसई में 'होना' सहायक क्रिया का प्रयोग हुआ है जिससे संयुक्त काल की रचना की गई है। स्वतन्त्र रूप से सामान्य क्रिया की भाँति यह सहायक क्रिया प्रयुक्त हुई है जहाँ विभिन्न कालों को द्योतित करने वाले रूपों की रचना पीछे दिये गये नियमों के अनुसार हुई है। सामान्य क्रिया के रूप में इसके दो रूप प्रयुक्त मिलते हैं 'होब' तथा 'भव्'। परन्तु सहायक क्रिया के रूप में केवल प्रथम रूप ही सर्वत्र मिला है। 'रहना' भी सहायक क्रिया के पुरुष में प्रयुक्त मानी जा सकती है जिससे संयुक्तकाल के द्योतन में सहायता ली गई है। इसका उल्लेख संयुक्त क्रियाओं के अन्तर्गत किया जायेगा।

वर्तमानकाल—धातु+सर्वनामीय अन्त्य से सहायक क्रिया का वर्त्तमानकाल निष्पन्न किया गया है। यह सहायक क्रिया मुख्य क्रिया के वर्त्तमान कालिक रूप से जुड़कर वर्त्तमान कालिक अर्थ प्रकट करती है।

उत्तम पुरुष—धातु+ओं=ह्+ओं=हों=जानति हों। ४७०·२

मध्यम पुरुष—धातु+औ

ह्+औ=हौ

फिरतु हौ ६४·२,१२७·२

कहति हौ ५४८·१

बने हौ २४·च

अन्य पुरुष—

एक वचन: धातु+ऐ

ह्+ऐ=है

करतु है ५३·२

सालति है ६·१

बहुवचन: धातु+ऐं

ह्+ऐं=हैं

कहत है २२६·१

करत हैं ३४·२

भूतकाल—धातु+सर्वनामीय अन्त्य से सहायक क्रिया का भूतकालिक रूप निष्पन्न हुआ है। भूतकाल में उत्तम तथा अन्य पुरुष के एकवचन के रूप समान हैं।

ह्+ओ=हो

उत्तम पुरुष—हो जान्यों ६६·१

अन्य पुरुष—हो जानतु ६६·२

तुलना कीजिये साधु हिन्दी (Standard Hindi)—मैं जानता था, वह जनाता था आदि।

दोनों लिंगों में सहायक क्रिया का एक ही रूप मिलता है। इसके द्वारा स्त्रीलिंग का बोध मुख्यक्रिया के स्त्रीलिंग रूप से ही कराया गया है। बहुवचन रूप सानुनासिक करके प्राप्त किये गये हैं।

पूर्वकालिक क्रिया—

"बिहारी सतसई" में प्राप्त पूर्वकालिक क्रियाओं की रचना **धातु+इ-अइ** (*लिखित रूप में–अइ को–ऐ द्वारा प्रदर्शित किया गया है) से हुई है। इनका प्रयोग दो रूपों में किया गया है।

१. इनसे किसी कार्य के निकट भूत में सम्पन्न करके अन्य कार्य करने की गति दिखाई पड़ती है।

२. अन्य क्रिया के द्वारा इनका अनुगमन कराकर संयुक्त क्रिया के रूप सम्पन्न किये गये हैं जिनसे विभिन्न कालों का द्योतन हुआ है।

१. उदाहरण—

छकि ४५०·१ गड़े बड़े छवि छाक छकि
४९८·१ **छकि** रसाल सौरभ सने
३२०.१ ऐंची सी चितवनि चितै
झटकि १९३·१ **झटकि** चढ़ति उतरति अटा
चितै २०३·२ कहि जु चली बिनुहीं **चितै**
लै ८२·२ जाँचि निराखरऊ चलै लै लाखनु की मौज
१५३·१ लै चुभ की चलि जात जित

२. उदाहरण—

जात दुरि ५७·२ (वर्त्तमान काल)
छुटि जाइगो ५३५·१ (भविष्यकाल)
छुटि जाइ (५६२·२ (वर्तमान काल)
ह्वै जाहिं ५८६·२ (सम्भाव्य भविष्य)
टरि गई ११७·२ (भूतकाल)

पूर्वकालिक क्रियाओं के पश्चात् दूसरी पूर्वकालिक क्रिया का भी प्रयोग मिलता है जिसमें "कै" मुख्य है। ऐसे प्रयोगों के द्वारा कार्य के भूतकाल में सम्पन्न होने की सूचना मिलती है।

आइकै ३३·२ जानि कै २·१
डारिकै ५५·१

विशेष—

ककै : बिहारी सतसई में 'ककै' क्रिया रूप दो स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है।

नाहीं ककै ६३२·१ साहसु ककै ५८५·१ यह 'ककै' रूप दो पूर्वकालिक रूपों से उत्पन्न प्रतीत होता है

कै+कै=ककै

क्रियार्थक संज्ञा (Verbal Noun)—

"बिहारी सतसई" में क्रियार्थक संज्ञाओं का प्रयोग अन्य संज्ञाओं की भाँति हुआ है।

इनमें लिंग और वचन के भेद सुस्पष्ट नहीं मिलते। सतसई में स्थान विशेषण के अनुसार एक ही अन्त्य विभिन्न कारकीय अर्थों का द्योतन करता है। इनका यथास्थान निर्देश किया जायेगा।

क्रियार्थक संज्ञा की रचना धातु में विभिन्न अन्त्यों के संयोग से हुई है :

१. धातु+ –अन् : स्वरांत धातुओं में संयुक्त होते समय-अन् का-अ–विलीन हो जाता है :

खेल+-अन्=**खेलन** ४७·१ खेलन सिखये अलि भले (कर्म०)

चल+–अन्=चलन ९०·१ **चलन** न पावत निगम मग (कर्मवाच्य)

दे+–अन=देन ३७·१ पाइ महावर **देन कौ** (सम्प्र०)

२. धातु+–ए,–एँ : इस प्रकार से प्राप्त रूप 'के' होने से' अर्थ देते हैं।

चढ़ा+–ए=चढ़ाए ५९९.२ अब **चढ़ाए** त्यौरु

नवा+–ए=नवाए ५४२.२ लाज **नवाए** तरफरत

३. धातु+–ऐ,–ऐं : इनसे भी उपरोक्त अर्थ प्रकट होता है

बढ़+–ऐ=बढ़ै ६२०·२ खरै बढ़ै परिपारि

आ+–ऐं =आऐं ३८.२ **आयें** आवति आउ

दे+–ऐ=दियै ६२२.१ न्हाति **दियै** ही पीठि

४. धातु+–ओ,-यो,–यौ,–इयौ इन, से भी उपरोक्त प्रकार के अर्थ निकलते हैं

छुट्+–यौ=छुट्यौ ५०३.२ वहै गुनी करतै **छुट्यौ**

ओढ़्+–यों=ओढ़्यो ६८९.१ सोहतु ओढ़्यो पीत पटु

पोंछ+–यौ=पोंछ्यौ १७४.२ क्यों पट पोंछ्यौ जाइ

५. पूर्वकालिक क्रिया रूप (+ई अन्त्य)+ब+ए–ऐ,–ऐ,–ओ,–औ

परि+व+–ए=परिबै ४८४.१ छाले **परिवे** के डरनु

राखि+ब+–ए=राखिवे ४१५.१ स्वच्छ **राखिवे** काज

मरि +ब+–ओ=**मरिवो** ११२.२ मरिखो भई असीस

संयुक्त क्रिया––

'बिहारी सतसई' संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है। इनमें दो क्रियायें एक साथ एक अर्थ के द्योतन के लिए प्रयुक्त हुई हैं। इन संयुक्त क्रियाओं की रचना दो प्रकार से हुई है।

१. शब्दद्वैत द्वारा अथवा वीप्सा

२. दो पृथक् क्रियाओं के संयोग से, जिनमें प्रथम सदस्य किसी भी क्रिया के पूर्वकालिक, कृदन्तीय एवं क्रियार्थक रूप+द्वितीय सदस्य के रूप में कतिपय क्रियायें हैं।

संयुक्त क्रिया के इन रूपों में द्वितीय सदस्य के रूप में आना, जाना, उठना, करना, चलना, देना, फिरना, रहना, लगना, लेना तथा सकना क्रियायें विभिन्न रूपों में आई हैं।

रचना के क्रम में प्रथम क्रिया के पूर्वकालिक, कृदन्तीय तथा क्रियार्थक संज्ञा रूप मिलते हैं।

कविता की भाषा होने के कारण संयुक्त क्रिया में प्राप्त दोनों क्रियाओं का क्रम सदैव एक

सा नहीं है किन्तु अर्थ की दृष्टि से ऊपर गिनाई गई क्रियायें सदव द्वितीय सदस्य के रूप में आई हैं और अन्य क्रियाओं से संयुक्त होकर क्रियाओं की रचना करती हैं—

उदाहरण

१. शब्दद्वैत द्वारा प्राप्त संयुक्त क्रिया

[अ] **शब्दद्वैत**— इसमें क्रिया के समकक्ष दूसरे रूप के भी योग से अर्थ में विशिष्टता लाई गयी है।

जगर मगर ४७९.२ **जगर मगर** दुति होत।

फूली फाली ४६०.१ **फूली फाली** फूल सी।

जगी पगी ५७९.१ सही रंगीले रति जगे **जगी पगी** सुख चैन।

[आ] पुनरावृत्तिः—

कृदन्तीय रूप: आवत आवत २२४.२

चलत चलत १७२.१

हँसति हँसति ५८०.१

ऊपर के उदाहरणों में कृन्दती रूपों की पुनरावृत्ति के द्वारा क्रिया का भूत से वर्तमान में निरन्तर कार्य करने के भाव को प्रकट किया गया है।

पूर्वकालिक रूप—

चलि चलि ६२४.१ झुकि झुकि ५३९.२

हँसि हँसि १८१.१ कै कै २६.२

करि करि १२१.१

ऊपर पूर्वकालिक क्रिया के रूपों की पुनरावृत्ति द्वारा क्रिया का बार बार होना द्योतित किया गया है।

क्रियार्थक संज्ञा—

उदाहरण खाये खरचे ४७८.२ **खाये खरचे** जो जुरे तो जोरिये करोरि।

दो क्रियाओं के संयोग से प्राप्त संयुक्त क्रिया—

(अ) पूर्वकालिक क्रिया के **पदग्राम से युक्त क्रिया—अन्य क्रिया**

(आ) कृदन्तीय रूप+अन्य क्रिया

(इ) क्रियार्थक संज्ञा+अन्य क्रिया। ये अन्य क्रियायें द्वितीय सदस्य की क्रियायें हैं और निम्न प्रकार हैं।

आना, उठना, करना, चलना, जाना, देना, पड़ना, रहना, लगना, लेना, सकना, पाना, बटना। यहां पर केवल आना क्रिया के विविध रूप प्रस्तुत किये जा रहे हैं। शेष क्रियाओं के रूप भी इसी प्रकार व्युत्पन्न हुए हैं। आना—वर्तमान कालिक रूप आवत, आवतु

पूर्वकालिक क्रिया रूप+आवत आवतु

कहि आवतु ३३५ ' १ **कहि आवत** इहि हेत (इस प्रकार कहने में आता है)
आवत चलि—३१७ ' १ इत **आवति चलि,** जात उत (इधर चलकर आती है)

कृदन्तीय रूप+आना

जारत आवत ५४९ ' २ जारत आवत जगत कों पावस प्रथम पयोद (पावस के प्रथम बादल जगत को जलाते हुए जा रहे हैं)

क्रियार्थक रूप+आना

देखैं आवत ७०९ ' २ देखैं आवत देखि हीं (देखने पर देखते ही आता है)
आयतु **चल्यो** ३८५ ' २ मंद मंद आवतु चल्यो कुंजरू कुंज समीरु।
(कुंज समीर रूपी कुंजर मंद मंद चला जा रहा है)

ऊपर के उदाहरणों में 'आना' के संयोग से पूर्वकालिक रूप में भूतकाल से वर्त्तमानकाल में क्रिया का सम्पन्न होना द्योतित होता है तथा कृदन्तीय एवं क्रियार्थक रूपों में भूतकाल से वर्त्तमानकाल में क्रिया का होते रहना लक्षित होता है।

सकना, पाना और बनना ये तीनों क्रियायें संयुक्त होकर सामर्थ्य का द्योतन करती हैं। **उदाहरणार्थ :—**

कहि सकै	४३३ ' १	रहि न सकी	३४४ ' १
चलन न पावत	९० ' १	बोलत बनत न	५७८ ' २

लिखित न बनें ६२ ' १।

कुछ नवीन क्रिया रूप —

"बिहारी सतसई" में द्वितीय समुदाय की क्रियाएँ संज्ञा तथा विशेषण के साथ संयुक्त होकर नवीन क्रिया रूपों की सृष्टि करती देखी जाती हैं। उदाहरणार्थ:—**रिस कै** ५६८.२ नवीन क्रिया रूप है जो रिस (संज्ञा)+करना से प्राप्त हुआ है। इसके लिए रिसाना या रिसियाना क्रिया प्रयुक्त हो सकती थी। **मीठी लगति** ४०२ ' २ के लिए भी मिठात प्रयुक्त हो सकता था किन्तु ऐसा नहीं पाया जाता जिससे स्पष्ट है कि सूक्ष्म भाव एवं अर्थ को द्योतित करने के लिए मूलकालों के अतिरिक्त क्रिया को संज्ञा और विशेषण आदि के साथ संयुक्त करने की परिपाटी बहुत पहले ही चल पड़ी थी। आधुनिक खड़ी बोली में तो इस प्रकार के संयोग ने अत्यधिक भावव्यंजक बनकर मुहावरों का रूप धारण कर लिया है। नवीन क्रिया रूपों के कुछ उदाहरण निम्न प्रकार के हैं:—

लाज आई	२८७ ' २	उठे पुलक	६३८ ' २
घूँघट करत	७०१ ' १	भली करी	४१४ ' १
छबि देइ	३३९ ' १	फीकौ परै	६६८ ' ३
होत कठोर	१०७ ' २		

संदर्भ-सङ्केत--

१. हिन्दुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित, १९५४, पृ० ९२-११५

२. आना क्रिया की धातु 'आ' विभिन्न कालवाची पदों की रचना के समय उनके पूर्व अपने रूप बदलती रहती है। इस प्रकार धातु के कई सहपद (Allomorphs) होते हैं, यथा: आ, आव--

पश्चिमी हिन्दी और उसकी विभिन्न उपभाषाओं का स्वरूप

अम्बा प्रसाद 'सुमन'

संस्कृत-नाटकों में प्रमुखरूपेण तीन प्राकृत भाषाएँ मिलती हैं।—(१) शौरसेनी (२) महाराष्ट्री (३) मागधी। प्राकृत भाषा के प्राचीनतम वैयाकरण वररुचि ने अपने 'प्राकृत-प्रकाश' में चार प्राकृतों का उल्लेख किया है—शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी और पैशाची। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'शब्दानुशासन' के अष्टम अध्याय में उपर्युक्त चार प्राकृतों के साथ-साथ अर्द्धमागधी, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश का भी उल्लेख किया है। प्रमुख रूप से हेमचन्द्र कृत 'शब्दानुशासन' में छः भाषाओं का विवरण है—शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश। मार्कण्डेय ने अपभ्रंश को २७ भेदों में विभक्त करके उन्हें मुख्त तीन वर्गों में आबद्ध कर दिया है—(१ नागर (२) उपनागर (३) व्राचड़।

प्राकृत और अपभ्रंश के ग्रन्थों में जिन साहित्यिक प्राकृतों और अपभ्रंश भाषाओं के स्वरूप के दर्शन होते हैं, उनके मूल में लौकिक रूप के बीच अवश्य मिल जाते हैं। प्रत्येक साहित्यिक भाषा अपनी लोकभाषा से ही पोषकतत्व प्राप्त करके पल्लवित एवं विकसित हुआ करती है। साहित्यिक शौरसेनी प्राकृत ने भी लोक-व्यापी ग्रामीण शौरसेनी[1] प्राकृत से ही अपना परिनिष्ठित स्वरूप प्राप्त किया होगा! पश्चिमी हिंदी के संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया-शब्दों के रूपों का यदि हम भाषावैज्ञानिक अध्ययन करते हैं तो उनके बीज हमें अपभ्रंश और प्राकृत भाषाओं में मिल ही जाते हैं। हमारे इस कथन का प्रत्यक्ष प्रमाण हेमचन्द्र का व्याकरण और 'प्राकृत पैंगलम्' पुस्तक है।

जिस प्रकार ब्रजभाषा साहित्यिक पद प्राप्त करने पर केवल ब्रज-प्रदेश तक ही सीमित न रही, अपितु सारे उत्तरी भारत का कण्ठहार बनी, ठीक उसी प्रकार शौरसेनी प्राकृत ने भी महाराष्ट्री नाम से महाराष्ट्रता प्राप्त की और साहित्य के उच्चासन को सुशोभित किया। डॉ० वूलनर ने 'इंट्रोडक्शन टू प्राकृत' में 'महाराष्ट्री' प्राकृत को शौरसेन (मध्यप्रदेश) की भाषा ही बताया है। उनका कथन है कि 'महाराष्ट्री' प्राकृत महाराष्ट्र की भाषा नहीं है। यह तो मध्यप्रदेश की भाषा के लिए स्तुतिमय पद था। वास्तव में शौरसेनी और महाराष्ट्री विभिन्न प्रदेशों तथा विभिन्न लोगों द्वारा व्यवहार में लायी गयी भाषाएँ न थीं, अपितु विभिन्न रचनाओं की सूचक थीं। गद्य-रचना के लिए 'शौरसेनी' शब्द का पद्य-रचना के लिए 'महाराष्ट्री' शब्द का व्यवहार होता था। भाषाशास्त्रियों द्वारा अब 'महाराष्ट्री' को शौरसेनी प्राकृत के रूप में मध्यप्रदेश[2] अथवा गंगा-यमुना के मध्यवर्ती विशाल प्रदेश की भाषा स्वीकार कर लिया गया है।[3]

शौरसेनी प्राकृत की ही विकास-परंपरा में शौरसेनी अपभ्रंश से 'पश्चिमी हिन्दी' का जन्म हुआ। वास्तव में अपभ्रंश नाम की कोई एक भाषा न थी। 'अपभ्रंश' एक सामान्य नाम था जिसमें कई संभाषणेतर भाषाएँ सम्मिलित थीं और जो आभीरों और उनसे सम्बन्धित कबीलों की बोलियों तथा उत्तरी, पश्चिमी एवं मध्यभारत की उपजातियों की बोलियों के मिश्रण से बनी थी। आज हरियानी, खड़ी बोली, ब्रजभाषा, कन्नौजी और बुन्देली नाम की ग्रामीण बोलियों अर्थात् उपभाषाओं में जो रूप और ध्वनितत्व मिलते हैं, उनका सामूहिक रूप पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाता है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि हरियानी, खड़ीबोली, ब्रजभाषा, कन्नौजी और बुन्देली नाम की पश्चिमी हिन्दी की उपभाषाएँ शौरसेनी प्राकृत की आत्मजा शौरसेनी अपभ्रंश की ही सन्तान हैं। इन्हीं पाँचों उपभाषाओं (जनपदीय बोलियों) के स्वरूप का दिग्दर्शन कराना ही हमारा विवेच्य विषय है।

पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत जिन पाँच उपभाषाओं अर्थात् ग्रामीण बोलियों को लिया गया है उन्हें हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—प्रथम वर्ग में हरियानी और खड़ीबोली आती है तथा द्वितीय वर्ग में ब्रज, कन्नौजी और बुन्देली गृहीत हैं। यह वर्गीकरण उनकी प्रकृति के दृष्टि-कोण से किया गया है। पश्चिमी हिन्दी के मूल रूप के दर्शन जिस प्राचीनतम प्राप्त पुस्तक में किये जा सकते हैं, वह 'प्राकृत पैंगलम्' है। इसमें हमें खड़ी बोली और ब्रजभाषा के मूल रूपों के स्पष्ट उदाहरण प्राप्त होते हैं। यद्यपि इसमें यत्र-तत्र पूर्वी हिन्दी के बीज भी दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु प्रमुख रूप से इसमें पश्चिमी हिन्दी (खड़ीबोली और ब्रजभाषा) की ही संज्ञाओं और क्रियाओं के मूल प्राकृत-रूपों के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं।

'कहना' का खड़ीबोली में भूतकाल का रूप **'कहा'** होता है। 'उगना' का ब्रजभाषा में पुल्लिग एक वचन भूतकाल का रूप **'उगौ'** या **'उग्यौ'** होता है। 'प्राकृत पैंगलम्' में उक्त दोनों क्रियाओं के उदाहरण मिलते हैं—

'कहा' (प्राकृत पैंगलम्,[४] सम्पादक चन्द्र मोहन घोष, पृष्ठ २८०, पंक्ति ३)

'उगो' [५] (प्राकृतपैंगलम्, पृष्ठ ३७०, पंक्ति ४)

संस्कृत 'रक्षतु' के अर्थ में खड़ीबोली में 'रक्खो' या 'रखो' प्रयोग है। 'प्राकृतपैंगलम्' में **'रक्खो'** (पृ० ३४३, पंक्ति ४) का उल्लेख है। 'ददातु' के अर्थ में ब्रजभाषा में **'देउ'** होता है। पृष्ठ २८५, पंक्ति २ में 'प्राकृतपैंगलम्' में इस क्रिया का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार के पचासों उदाहरण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि 'प्राकृतपैंगलम्' खड़ीबोली और ब्रजभाषा के मूल रूप को स्पष्ट करनेवाली प्राकृत भाषा की महत्वपूर्ण पुस्तक है। यह लक्षण-ग्रन्थ है जिसका रचना-काल १४वीं शती के लगभग माना जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसके प्राकृत-छन्दों का निर्माण चौद-हवीं शती से बहुत पहले हुआ होगा। ब्रजभाषा और खड़ीबोली की आद्य स्थिति का संकेत देने में जिस प्रकार 'प्राकृत पैंगलम्' एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, ठीक उसी प्रकार अवधी के आद्यरूप की झलक दिखाने में 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' का भी अत्यधिक महत्त्व है।

पश्चिमी हिन्दी की ग्रामीण बोलियों की संज्ञा-अवस्थाओं और क्रिया-रूपों का विवेचन करने से पूर्व हम यहाँ उनके उदाहरण रखना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं, ताकि उनका वास्तविक स्वरूप इस लेख से स्पष्ट हो सके।

(१) हरियानी उपभाषा—

रौहतक जिले की हरियानी के आधार पर एक लोक-कहानी—

"एक बार जाड्डे में जोर का मींह् बरसण लाग्या। चिड़िया-चिड़े अपणे-अपणे घोंसल्या में लुक गये। मानस भी अपने सारे कार छोड़कै घराँ में घुस ग्ये। पर एक बाँदर उसी मींह में इँधै-उँधै छटपटात्या रिहया। क्यूँ अक बादल की खूब जोरे तै झड़ी लाग री थी। उसनें इस तरियाँ छटपटाया देख कै एक चिड़िया अपणे घोंसले के भीतर तें बोल्यी। अक हे बन्दर राजा! यो तम ने अच्छा नहीं कर्या अक अपणे रहन के बिरियाँ घर नहीं बनाया। यही बात सै अक इब तम पाणी में भीगते हाँड़ो सो। हमनें देखो—मैं एक छोटी-सी चिड़िया सूँ। पर मिहनत करके अपने लियाँ घोंसला बना लिया सै। इतनी सुनकै बन्दर जड़ग्या और किचकिचा कै उसका घोंसला तोड़-मरोड़ कै फेंक दिया। इसी करकै तो कहा गया सै अक बेकूफ और गुसेल मानस नें सीख नहीं देनी चाहिए।"

संपूर्ण कारकों का द्योतक हरियानी का एक वाक्य—

"हे गोपाल! राम नैं अपणी आँख तै देख्या अक मोहन के बाब्बू नैं अपणे छोराँ धन की लियाँ घर तै लिकाड़ दिया सै अर वो सहर में नौकरी करण लाग्या सै।"

संज्ञा-शब्दों के रूप—

परिनिष्ठित हिन्दी भाषा	हरियानी बोली
(१) जाड़ा (सं० जाड्य)	(१) जाड्डा
(२) मेह (सं० मेघ)	(२) मींह्
(३) घोंसला	(३) घोंसल्या
(४) बादल (सं० वारिद)	(४) बादल (बादल्ड़)
(५) पानी (सं० पानीय)	(५) पाणी
(६) लड़का	(६) छोरा
(७) बापू	(७) बाब्बू

सर्वनाम-शब्दों के रूप—

(१) हमको	(१) हमनें
(२) तुमने, तुम	(२) तमनें, तम
(३) यह	(३) यो
(४) वह	(४) वो
(५) अपने	(५) अपणे

विशेषण शब्दों के रूप—

(१) बेवकूफ	(१) बेकूफ
(२) गुस्सावर	(२) गुसेल

अव्यय शब्दों के रूप—

(१) इधर-उधर; यहाँ-वहाँ; कहाँ	(१) इँवै-उँधै; अड़ै-उड़ै; कड़ै
(२) क्योंकि	(२) क्यूँ अक
(३) जोर से	(३) जोरे तै
(४) अब	(४) इब
(५) और	(५) अर
(६) इसीलिए	(६) इसी करकै
(७) कि; परन्तु	(७) अक; पर।

क्रिया-शब्दों के रूप—

(१) बरसने लगा	(१) बरसण लाग्या।
(२) लुक गये	(२) लुक ग्ये।
(३) छटपटाता रहा	(३) छटपटात्या रिह्या।
(४) बोली	(४) बोल्यी।
(५) फिरते हो	(५) हाँडो सो।
(६) निकाल दिया है	(६) लिकाड़ दिया सै।
(७) जल गया	(७) जल ग्या।
(८) है, हूँ	(८) सै, सूँ।
(९) छोड़कर	(९) छोड़ कै।

क्रिया के विभिन्न काल—

सामान्य वर्तमान—

(१) मैं घर जाता हूँ।	(१) मैं घराँ जासूँ (जाऊँ सूँ)।
(२) हम घर जाते हैं।	(२) हम घराँ जासैं (जाऐ सैं)।
(३) तू घर जाता है।	(३) तौं (तू) घराँ जासै (जावै सै)।
(४) तुम घर जाते हो।	(४) तम घराँ जासो (जाओ सो)।
(५) वह घर जाता है।	(५) वो घराँ जासै (जावै से)।
(६) वे घर जाते हैं।	(६) वो घराँ जासैं (जावै सैं)।

तात्कालिक वर्तमान (अपूर्ण वर्तमान)—

(१) मैं घर जा रहा हूँ	(१) मैं घराँ जारह्या सूँ।
(२) हम घर जा रहे हैं	(२) हम घराँ जा रहे सैं।
(३) तू घर जा रहा है	(३) तौं (तू) घराँ जारह्या सैं।
(४) तुम घर जा रहे हो	(४) तम घराँ जा रहे सो।
(५) वह घर जा रहा है	(५) वो घराँ जारह्या सैं।
(६) वे घर जा रहे हैं	(६) वो घराँ जा रहे सैं।

सामान्य भूत—

(१) मैं घर गया	(१) मैं घराँ ग्या (गया)।
(२) हम घर गये	(२) हम घराँ ग्ये (गये)।
(३) तू घर गया	(३) तौं (तू) घराँ ग्या (गया)।
(४) तुम घर गये	(४) तम घराँ ग्ये (गये)।
(५) वह घर गया	(५) वो घराँ ग्या (गया)।
(६) वे घर गये	(६) वो घराँ ग्ये (गये)।।

सामान्य भविष्य—

(१) मैं घर जाऊँगा	(१) मैं घराँ जाँगा।
(२) हम घर जायेंगे	(२) हम घराँ जाँगे।
(३) तू घर जायगा	(३) तौं (तू) घराँ जागा।
(४) तुम घर जाओगे	(४) तम घराँ जाओगे।
(५) वह घर जायगा	(५) वो घराँ जागा।
(६) वे घर जायेंगे	(६) वो घराँ जाँगे।

आसन्न भविष्य—

(१) मुझे घर जाना है	(१) मन्नें घराँ जाणा सै।
(२) हमें घर जाना है	(२) हमनें घराँ जाणा सै।
(३) तुझे घर जाना है	(३) तन्नें घराँ जाणा सै।
(४) तुम्हें घर जाना है	(४) तमने घराँ जाणा सैं।
(५) उसे घर जाना है	(५) उसने घराँ जाणा सै।
(६) उन्हें घर जाना है	(६) उन्नें घराँ जाणा सैं।

कारकों के रूप—

परिनिष्ठित हिन्दी	**हरियानी बोली**
(१) कर्ताकारक—ने	(१) कर्ताकारक—नैं
(२) कर्मकारक—को	(२) कर्मकारक—नें, आँ
(३) करणकारक—से, द्वारा	(३) करणकारक—तै
(४) संप्रदानकारक—को, के लिए	(४) संप्रदानकारक—की लियाँ
(५) अपादानकारक—से	(५) अपादानकारक—तै
(६) सम्बन्धकारक—का, की, के	(६) सम्बन्धकारक—का, की, के
(७) अधिकरणकारक—पर, में	(७) अधिकरणकारक—पर, में
(८) सम्बोधनकारक—हे!	(८) सम्बोधनकारक—हे!

(२) खड़ीबोली उपभाषा—

मुजफ्फरनगर जिले की खड़ीबोली के आधार पर लोक-कहानी—

"एक दफै जाड्डों में घणा मीं बरसण लग्या। चिड़िया-चिड़ंगुल अपणे-अपणे घोंसलों (घोंसल्ड़ों) में लुक ग्ये। लोग बी अपणे-अपणे कामकाज छोड़कै घरों में घुस ग्ये। पर एक बन्दर उस मीं में इधै-उधै छटपटात्ता र्‌ह्या। क्यूँ कै बादल (बादल्ड़) की जोरों सै झड़ लग री थी। उसै नूं छटपटात्ता देखकै एक चिड़िया अपणे घोसले में सै बोल्ली अक (एकै या कै) ए (हे) बन्दर राजा! यो तैन्नै भला नीं कर्‌या कै अपणे रहणे के खात्तर मकान नीं बणाया। योई बात है कै अब जा तम पाणी में भीगते फिर्रें। मुझै तौ देक्खो अक मैं एक केनीं-सी चिड़िया हूँ। पर महनत करकै अपणे खात्तर घोंसला बणा लिया। इतणा सुनकै बन्दर भुणग्या होर कटकटाकै उसका घोंसला तोड़-मरोड़ कै बखेल दिया। इसीलियो तौ कहा ग्या कै मूरख और गुसियारे आदमी कू सीख नीं देणी चाहा।"

संपूर्ण कारकों का द्योतक खड़ीबोली का वाक्य—

"हे गोपाल! राम नें अपणी आँक्खों सै देक्ख्या (देक्खा) कै मोहन के बाप नें अपणे वेट्टे कू धण के खात्तर घरो (घर) सै काढ़ दिया होर वो सहर में नौकरी करण लग्या।"

संज्ञा शब्दों के रूप—

परिनिष्ठित हिन्दी भाषा	**ग्रामीण खड़ी बोली**
(१) जाड़ा	(१) जाड्डा
(२) मेह	(२) मीं
(३) घोंसला	(३) घोंसला (घोंसल्ड़ा)
(४) बादल	(४) बादल (बादल्ड़)
(५) पानी	(५) पाणी
(६) धन	(६) धण
(७) आँखों	(७) आँक्खों
(८) बेटा	(८) बेट्टा

सर्वनाम शब्दों के रूप—

(१) हमको; मुझे	(१) हमकू; मुझै
(२) तूने; तुमने; तुम्हें	(२) तैन्नै; तमनें; तमैं
(३) वह; यह; उससे; उसे	(३) वो; यो; उस्सै; उसैं
(४) अपने-अपने	(४) अपणे-अपणे

विशेषण शब्दों के रूप—

(१) यही	(१) योई
(२) मूर्ख	(२) मूरख
(३) गुस्सावर	(३) गुसियारा
(४) छोटी-सी	(४) केनीं-सी

अव्यय शब्दों के रूप—

(१) इधर-उधर	(१) इंधै-उंधै
(२) क्योंकि	(२) क्यूँ कै
(३) जोर से	(३) जोरों सै
(४) यों, इस तरह	(४) नूँ
(५) अब	(५) अब जा
(६) परन्तु; कि	(६) पर; अक, एकै, कै।
(७) और; नहीं; भला	(७) होर; नीं; पड़ा।
(८) इसलिए; तो	(८) इसलियो, तौ।

क्रिया-शब्दों के रूप—

(१) बरसने लगा	(१) बरसण लग्या।
(२) छिप गये	(२) लुक ग्ये।
(३) छटपटाता रहा	(३) छटपटात्ता र्‌ह्या।
(४) लग रही थी	(४) लग री थी।
(५) बोली	(५) बोल्ली।
(६) फिरते हो	(६) फिर्रे।
(७) निकाल दिया है	(७) काढ़ दिया है।
(८) भुन गया	(८) भुणग्या।
(९) किचकिचाकर	(९) कटकटा कै।
(१०) देनी चाहिए	(१०) देणी चाहा।

क्रिया के विभिन्न काल—

सामान्य वर्तमान—

(१) मैं घर जाता हूँ	(१) मैं घर (घरो) जात्ता हूँ।
(२) हम घर जाते हैं	(२) हम घर (,,) जात्ते हैं।
(३) तू घर जाता है	(३) तू घर (,,) जात्ता है।
(४) तुम घर जाते हो	(४) तुम घर (,,) जात्ते हो।

(५) वह घर जाता है	(५) वो घर (,,) जात्ता है।
(६) वे घर जाते हैं	(६) वे घर (,,) जात्ते हैं।

अपूर्ण वर्तमान--

(१) मैं घर जा रहा हूँ	(१) मैं घर (घरो) जारा।
(२) हम घर जा रहे हैं	(२) हम घर (,,) जारे।
(३) तू घर जा रहा है	(३) तू घर (,,) जारा।
(४) तुम घर जा रहे हो	(४) तुम घर (,,) जारे।
(५) वह घर जा रहा है	(५) वो घर (,,) जारा।
(६) वे घर जा रहे हैं	(६) वे घर (,,) जारे।

सामान्य भूत--

(१) मैं घर गया	(१) मैं घर गया (घरो ग्या)।
(२) हम घर गये	(२) हम घर गये (घरो ग्ये)।
(२) तू घर गया	(३) तू घर गया (घरो ग्या)।
(४) तुम घर गये	(४) तुम घर गये (घरो ग्ये)।
(५) वह घर गया	(५) वो घर गया (घरो ग्या)।
(६) वे घर गये	(६) वे घर गये (घरो ग्ये)।

सामान्य भविष्य--

(१) मैं घर जाऊँगा	(१) मैं घर (घरो) जाउव्वाँ।
(२) हम घर जायेंगे	(२) हम घर (घरो) जावेंगे।
(३) तू घर जायगा	(३) तू घर (घरो) जागा।
(४) तुम घर जाओगे	(४) तम घर (घरो) जाओगे।
(५) वह घर जायगा	(५) वो घर (घरो) जागा।
(६) वे घर जायेंगे	(६) वे घर (घरो) जाँगे।

आसन्न भविष्य--

(१) मुझे घर जाना है	(१) मुझै घरो जाणा (जाणा है)
(२) हमें घर जाना है	(२) हमैं घरो जाणा (,,)
(३) तुझे घर जाना है	(३) तुझै घरो जाणा (,,)
(४) तुम्हें घर जाना है	(४) तमैं घरो जाणा (,,)
(५) उसे घर जाना है	(५) उसै घरो जाणा (,,)
(६) उन्हें घर जाना है	(६) उन्हैं घरो जाणा (,,)

कारकों के रूप––

परिनिष्ठित हिन्दी	ग्रामीण खड़ी बोली
(१) कर्ता––ने	(१) नें, न्नै
(२) कर्म––को	(२) कू
(३) करण––से	(३) सैं
(४) संप्रदान––के लिए	(४) के खात्तर
(५) अपादान––से	(५) सैं
(६) सम्बन्ध––का, की, के	(६) का, की, के
(७) अधिकरण––में, पर	(७) में, पर
(८) सम्बोधन––हे !	(८) हे (ए) !

हरियानी और खड़ीबोली में समानता

(१) ध्वनि-साम्य––परिनिष्ठित हिन्दी का अनुनासिक दन्त्य वर्ण 'न्' हरियानी और खड़ीबोली के अनुनासिक मूर्द्धन्य वर्ण 'ण्' में बदल जाता है। यह परिवर्तन संज्ञाओं तथा क्रियाओं में ही नहीं, अपितु सर्वनाम और विशेषण शब्दों में भी पाया जाता है। जैसे––

परिनिष्ठित हिन्दी	हरियानी तथा खड़ीबोली
(१) संज्ञा––पानी	(१) पाणी
(२) सर्वनाम––अपना	(२) अपणा
(३) विशेषण––घना	(३) घणा
(४) क्रिया––जाना है	(४) जाणा सै (हरियानी) जाणा है (खड़ीबोली)।

परिनिष्ठित हिन्दी में 'ड़्' ध्वनि अल्पप्राण, घोष, मूर्द्धन्य एवं उत्क्षिप्त है और 'ल्' ध्वनि अल्पप्राण, घोष, वर्त्स्य एवं पार्श्विक है। ल्' तथा ड् ध्वनियों की समन्वयात्मक ध्वनि से मिलती-जुलती एक ध्वनि ळ (ल्ड़) है, जो हरियानी और खड़ीबोली में स्पष्ट सुनी जाती है। 'अग्निमीळे' आदि वेद-मंत्रों में तथा मराठी एवं तमिल नामक प्रादेशिक भाषाओं में इस ध्वनि का अस्तित्व पाया जाता है। परिनिष्ठित हिन्दी के 'ल्' के स्थान पर हरियानी तथा खड़ीबोली में यही (ळ=ल्ड़) ध्वनि प्रयुक्त होती है। जैसे––

परिनिष्ठित हिन्दी	हरियानी तथा खड़ीबोली
(१) घोंसला	(१) घोंसळा (घोंसल्ड़ा)
(२) जल गया	(२) जळ गया (जल्ड़गया)

(२) रूप-साम्य––क्रियाओं के पर्याप्त रूप हरियानी और खड़ीबोली में मिलते-जुलते हैं। 'जाना' के भूत और भविष्य में दोनों बोलियों में लगभग एक-से रूप हैं––'मैं घर गया' का रूप

दोनों बोलियों में 'मैं घर ग्या' ही होता है। पूर्वकालिक क्रिया के अन्त में आये हुए 'कर' के स्थान पर दोनों बोलियों में 'कै' होता है। जैसे—'देखकर' के स्थान पर 'देखकै' प्रयोग मिलता है। हरियानी और खड़ीबोली में एक वचन पुंल्लिग संज्ञा और विशेषण शब्द प्रायः आकारान्त ही होते हैं। जैसे—बड़ा, छोट्टा।

हरियानी और खड़ीबोली में भिन्नता—

हरियानी बोली में सहायक क्रिया 'सै' या 'सो' की विशेषता है। खड़ीबोली की क्रिया 'है' या 'हो' के स्थान पर हरियानी में 'सै' या 'सो' का प्रयोग होता है। जैसे—

खड़ी बोली	हरियानी बोली
(१) उसैं घरो जाणा है	(१) उसनें घराँ जाणा सै।
(२) तम घरो जारे (जा रहे हो)	(२) तम घराँ जा रहे सो।

जहाँ हरियानी के शब्दान्त में 'य' श्रुति का योग पाया जाता है, वहाँ खड़ीबोली में द्वित्व के दर्शन होते हैं। जैसे—(बोल्यो)' (हरियानी में) और 'बोल्ली' (खड़ी बोली में)। 'छटपटात्त्या' (हरियानी में) और 'छटपटात्ता' (खड़ीबोली में)। 'पीट्या' (हरियानी में और 'पीट्टा' (खड़ीबोली में)।

हरियानी का कर्मकारकीय परसर्ग 'नें' है और खड़ीबोली का 'कू'। अपादान कारक में हरियानी प्रायः 'तैं' को और खड़ीबोली प्रायः 'सैं' को स्वीकार करती है। यही नियम करण कारक में भी पाया जाता है।

(३) ब्रजभाषा (ब्रजबोली)—

अलीगढ़ जिले की ब्रजबोली के आधार पर लोक-कहानी—

"एक पोत जाड़ेनु में जौंहर कौ मेहु बरसन लगौ (लग्यो) चिरइया-चिरंगुल अपम्पने घोंसनु में छिपि गए। आदमी ऊ अपम्पन काम छोड़िकें घन्नु में घुसि गए। परि एकु बन्दरु बाई (ग्वाई) मेह में जा लँग-ग्वालँग छटपटातु रह्यौ। जा मारैं कै बादर की जौंहर की झरी लगिरही ही (हती)। बाइ ऐसौ छटपटात भयौ देखिकें एक चिरइया अपने घोंसा के भीतत्तें (भीतर्सों) बोली कै —हे बन्दर राजा ! जि तुमने अच्छौ नाइं करौ (कर्यौ) कै अपने रहिवे के लैं घरु नाइँ बनायौ। जि ई बात ऐं कैं अब तुम पानी में भीजत फित्त औ। मोइ (मोकूँ) देखौ कै मैं एक नेंकसी चिरइया ऊँ (हूँ) परि महन्ति करिकें अपने लऐं घोंसा बनाइ लयौ ऐ (है)। इतनी सुनिकें बन्दरु जरि गौ (गयौ) औरु किचिकिचाइकें बाकौ घोंसा तोरि-मरोरिकें फेंकि दौ (दयौ)। जाई ते तौ कह्यौ गयौ ऐ (है) कै मूरख औरु गुस्सैल आदमीऐ (आदमी कूँ) सीख न दैनी चाहिऐ।"

संपूर्ण कारकों का द्योतक ब्रजबोली का वाक्य—

"हे गोपाल ! राम नें अपनी आँखिन ते (आँखिन सों) देखौ (देख्यौ) कै मोहन के बाप

नें अपने बेटाऐ (बेटा कूँ) धन के लैं (लऐं) घत्ते (घस्सों) निकारि दौ ऐ (दयौ है) औरु बु (गु) सहर में नौकरी करन लगौ (लग्यौ) ऐ।"

संज्ञा शब्दों के रूप—

परिनिष्ठित हिन्दी	ग्रामीण ब्रजबोली
(१) जाड़ों में	(१) जाड़ेनु में
(२) मेह	(२) मेहु
(३) घोंसला; घोंसलों में	(३) घोंसा; घोंसनु में
(४) बादल की	(४) बादर की
(५) महनत	(५) महन्ति
(६) आदमी को	(६) आदमीऐ, आदमीकूँ
(७) चिड़िया	(७) चिरइया
(८) झड़ी	(८) झरी
(९) घरों में	(९) घरनु में; घन्नु में
(१०) वर	(१०) घरु
(११) थकान	(११) थकानि

सर्वनाम शब्दों के रूप—

(१) हमें; हमको; मुझे; मुझको	(१) हमें; हमऐं; हमकूँ; मोइ; मोकूँ
(२) तूने, तुमने, तुझे, तुम्हें	(२) तैनें, तुमन्नें, तोइ, तोकूँ, तुमकूँ
(३) वह, उसे, उससे	(३) बु (गु); बाइ; बाकूँ; बासों, बाते
(४) अपने-अपने	(४) अपम्पने

विशेषण शब्दों के रूप—

(१) अच्छा; छोटा; काला	(१) अच्छौ; छोटौ; कारौ
(२) मूर्ख	(२) मूरख
(३) गुस्सावर	(३) गुस्सैल
(४) छोटी-सी	(४) नेंक-सी

अव्यय शब्दों के रूप—

(१) इधर-उधर	(१) जालँग-ग्वालँग (बालँग)
(२) क्योंकि	(२) जा मारैं कै
(३) ज़ोर से; धीरे-धीरे	(३) जौंहर ते, जौंहर सों; हौलें-हौलें
(४) परन्तु; कि	(४) परि; कै
(५) और; नहीं	(५) औरु; नाइँ

(६) इसीलिए तो	(६) जाई मारैं तौ
(७) यों; इस तरह	(७) ऐंआँ; जा तरियाँ
(८) क्यों; भीतर से	(८) चौं; भीतस्सों, भीतत्ते
(९) ऐसा	(९) ऐसौ

क्रिया शब्दों के रूप—

(१) बरसने लगा	(१) बरसन लगौ (लग्यौ)
(२) छिप गये	(२) छिपि गए
(३) छटपटाता रहा	(३) छटपटातु रह्यौ
(४) लग रही थी	(४) लगि रही ही (हती)
(५) फिरते हो	(५) फित्त औ (फिरत औ)
(६) बना लिया है	(६) बनाइ लौ ऐ, बनाइ लयौ ऐ
(७) जल गया	(७) जरिगौ (जरिगयौ)
(८) देनी चाहिए	(८) दैनी चहिऐ
(९) किचकिचाकर	(९) किचकिचाइकें
(१०) तोड़-मरोड़कर	(१०) तोरि-मरोरि कें
(११) (तुम) देखो !	(११) (तुम) देखौ !
(१२) देखा	(१२) देख्यौ (देखौ)

क्रिया के विभिन्न काल—

सामान्य वर्तमान—

(१) मैं घर जाता हूँ	(१) मैं (हूँ) घर जातूँ
(२) हम घर जाते हैं	(२) हम घर जातैं (जात ऐं)
(३) तू घर जाता है	(३) तू घर जात्वै
(४) तुम घर जाते हो	(४) तुम घर जातौ
(५) वह घर जाता है	(५) बु (गु) घर जात्वै
(६) वे घर जाते हैं	(६) बे (ग्वे) घर जातैं (जात ऐं)

अपूर्ण वर्तमान—

(१) मैं घर जा रहा हूँ	(१) मैं (हूँ) घर जाइरौ ऊँ (जाइरौ हूँ)।
(२) हम घर जा रहे हैं	(२) हम घर जाइरहे ऐं (जाइ रहे हैं)।
(३) तू घर जा रहा है	(३) तू घर जाइरौ ऐ (जाइरौ है)।
(४) तुम घर जा रहे हो	(४) तुम घर जाइरहे औ (जाइरहे हौ)।
(५) वह घर जा रहा है	(५) बु (गु) घर जाइरौ ऐ (जाइरौ है)।
(६) वे घर जा रहे हैं	(६) बे (ग्वे) घर जाइरहे ऐं (जाइरहे हैं)। अथवा—वे घर जाइरए ऐं।

सामान्य भूत—

(१) मैं घर गया	(१) मैं (हूँ) घर गयौ।
(२) हम घर गये	(२) हम घर गए।
(३) तू घर गया	(३) तू घर गयौ।
(४) तुम घर गये	(४) तुम घर गए।।
(५) वह घर गया	(५) बु (गु) घर गयौ।
(६) वे घर गये	(६) बे (ग्वे) घर गए।

सामान्य भविष्य—

(१) मैं घर जाऊँगा	(१) मैं (हूँ) घर जाउँगो।
(२) हम घर जाएँगे	(२) हम घर जांगे।
(३) तू घर जाएगा	(३) तू घर जाइगौ।
(४) तुम घर जाओगे	(४) तुम घर जाउगे।
(५) वह घर जाएगा	(५) बु (गु) घर जाइगौ।
(६) वे घर जाएँगे	(६) बे (ग्वे) घर जांगे।

आसन्न भविष्य—

(१) मुझे घर जाना है	(१) मोइ (मोकूँ) घर जानौ ऐ (है)।
(२) हमें घर जाना है	(२) हमें घर जानौ ऐ (है)।
(३) तुझे घर जाना है	(३) तोइ (तोकूँ) घर जानौ ऐ (है)।
(४) तुम्हें घर जाना है	(४) तुम्हें घर जानौ ऐ (है)।
(५) उसे घर जाना है	(५) बाइ (ग्वाइ) घर जानौ ऐ (है)।
(६) उन्हें घर जाना है	(६) उन्हें घर जानौ ऐ (है)।

कारकों के रूप—

परिनिष्ठित हिन्दी	**ब्रजबोली (जनपदीय ब्रजभाषा)**
(१) कर्ता—ने	(१) नें, नै
(२) कर्म—को, से	(२) कौं, कूँ, सों, ऐ
(३) करण—से, द्वारा	(३) ते, तें, सों
(४) संप्रदान—के लिए	(४) के लैं, के लएँ
(५) अपादान—से	(५) ते, तें, सों
(६) सम्बन्ध—का, की, के	(६) कौ, की, के
(७) अधिकरण—में, पर	(७) मैं, में, पै
(८) सम्बोधन—हे, ओ, अरे	(८) हे, ए, ओ, अरे, हरे

(४) कन्नौजी उपभाषा (जनपदीय कन्नौजी बोली)——

फर्रुखाबाद जिले की कन्नौजी बोली के आधार पर लोक-कहानी——

"एक बेर जाड़िन में जोर को मेहु बरसन लगो। चिरइया-चिरंगुल अपन-अपन घुँसरन में छिपि गए। आदमीऊ अपन-अपन काम छोड़ि घरन मों (में) घुसि गए। पर एक बन्दर बाई मेह में इँऐँ-उँऐँ छटपटातु रहो। काहे कै बादर की जोर की झड़ी लगी भई हती। बाइ ऐसो छटपटात देखि एक चिरइया अपन घुँसरा के भीतर से (भीतर तें) बोली कै हे बन्दर राजा! जे तुमने अच्छो नाईं करो कै अपन रहन के लए घर नाईं बनाओ। जेई बात है कै अब तुम पानी में भीगत फिरत हौ (औ)। मोइ देखौ——मैं एक नेंक सी चिरइया हूँ पर महन्ति करि अपन लिए घुँसरा बनाइ लओ है। इत्ती सुनि बन्दर जरि गओ और किचकिचाइ वाको घुँसरा तोरिमरोरि फेंकि दओ। जाई तें कहो गओ है कै बेकूप और गुस्सैल आदमी कौं सीख नाईं दैन चहिऐ।"

संपूर्ण कारकों का द्योतक कन्नौजी का वाक्य——

"हे गोपाल! राम नें अपनी आँखिन देखो कै मोहन के बाप नें बेटा को (कौं) धन के लए घर से (घतें) निकारि दओ है और बउ सहर मों (में) नौकरी करन लगो है।"

संज्ञा शब्दों के रूप——

परिनिष्ठित हिन्दी	**जनपदीय कन्नौजी-बोली**
(१) जाड़ों में	(१) जाड़िन में
(२) मेह	(२) मेहु
(३) घोंसलों में	(३) घुँसरन में
(४) महनत	(४) महन्ति
(५) आदमी को	(५) आदमी को (आदमी कौं)
(६) झड़ी	(६) झड़ी
(७) घरों में	(७) घरन मों (घरन में)

सर्वनाम शब्दों के रूप——

(१) हमको, मुझको, मुझसे	(१) हमको (हमकौं); मोइ (मोको, मोकौं); मोसे (मोतें)
(२) तुम्हें, तुझे	(२) तुम्हें (तुमकौं, तुमको); तोइ (तोको, तोकौं)
(३) उन्हें, उसे	(३) उन्हें (उनकौं, उनको); बाइ (बाकौं, बाको)

विशेषण शब्दों के रूप——

(१) अच्छा, छोटा, काला	(१) अच्छो, छोटो, कारो
(२) मूर्ख, गुस्सावर	(२) मूरख, गुस्सैल
(३) छोटी-सी	(३) नेंक-सी

अव्यय शब्दों के रूप—

(१) इधर-उधर	(१) इँऐं-उँऐं
(२) क्योंकि	(२) काहे कैं
(३) ज़ोर से; धीरे-धीरे	(३) जोर तें, हौले-हौले
(४) ऐसा	(४) ऐसो

क्रिया शब्दों के रूप—

(१) बरसने लगा	(१) बरसन लगो।
(२) छिप गये	(२) छिपि गए।
(३) छटपटाता रहा	(३) छटपटातु रहो।
(४) लग रही थी	(४) लगी भई हती।
(५) फिरते हो	(५) फित्त औ (फित्त हौ)।
(६) बना लिया है	(६) बनाइ लओ है
(७) जल गया	(७) जरि गओ
(८) देनी चाहिए	(८) दैनी चाहिऐ
(९) किचकिचाकर	(९) किचकिचाइ
(१०) तोड़-मरोड़कर	(१०) तोरि-मरोरि
(११) (तुम) देखो!	(११) (तुम) देखौ!
(१२) देखा	(१२) देखो

क्रिया के विभिन्न काल—

सामान्य वर्तमान—

(१) मैं घर जाता हूँ	(१) मैं घर जात हौं।
(२) हम घर जाते हैं	(२) हम घर जात हैं।
(३) तू घर जाता है	(३) तू घर जात है।
(४) तुम घर जाते हो	(४) तुम घर जात हौ।
(५) वह घर जाता है	(५) बउ घर जात है।
(६) वे घर जाते हैं	(६) बे घर जात हैं।

अपूर्ण वर्तमान—

(१) मैं घर जा रहा हूँ	(१) मैं घर जाइ रहो हूँ।
(२) हम घर जा रहे हैं	(२) हम घर जाइ रहे हैं।
(३) तू घर जा रहा है	(३) तू घर जाइ रहो है।
(४) तुम घर जा रहे हो	(४) तुम घर जाइ रहे हौ

(५) वह घर जा रहा है
(६) वे घर जा रहे हैं

(५) बउ घर जाइ रहो है।
(६) बे घर जाइ रहे हैं।

सामान्य भूत—

(१) मैं घर गया
(२) हम घर गये
(३) तू घर गया
(४) तुम घर गये
(५) वह घर गया
(६) वे घर गये

(१) मैं घर गओ।
(२) हम घर गए।
(३) तू घर गओ।
(४) तुम घर गए।
(५) बउ घर गओ।
(६) बे घर गए।

सामान्य भविष्य—

(१) मैं घर जाऊँगा
(२) हम घर जायेंगे
(३) तू घर जायगा
(४) तुम घर जाओगे
(५) वह घर जायगा
(६) वे घर जायेंगे

(१) मैं घर जइहौं।
(२) हम घर जइहैं।
(३) तू घर जइहै।
(४) तुम घर जइहौ।
(५) बउ घर जइहै।
(६) बे घर जइहैं।

आसन्न भविष्य—

(१) मुझे घर जाना है
(२) हमें घर जाना है
(३) तुझे घर जाना है
(४) तुम्हें घर जाना हे
(५) उसे घर जाना है
(६) उन्हें घर जाना है

(१) मोइ (मोको) घर जानो है
(२) हमें घर जानो है।
(३) तोइ घर जानो है।
(४) तुम्हें घर जानो है।
(५) बाइ घर जानो है।
(६) उन्हें घर जानो है।

कारकों के रूप—

परिनिष्ठित हिन्दी	**जनपदीय कन्नौजी बोली**
(१) कर्ता—ने	(१) नें, नै
(२) कर्म—को, से	(२) को, कौं, से, तें
(३) करण—से, द्वारा	(३) से, तें
(४) सम्प्रदान—के लिए	(४) के लिए
(५) अपादान—से	(५) से, तें
(६) सम्बन्ध—का, की, के	(६) को, की, के

(७) अधिकरण—में, पर	(७) मों, में, पर
(८) सम्बोधन—हे	(८) हे (ए)

(५) बुंदेलखंडी उपभाषा—

झाँसी जिले की बुन्देलखण्डी के आधार पर लोक-कहानी—

"एक बेर ठंड के दिनन में जोर कौ मेहु बरसन लगौ। चिरइया-चिड़ंगुल अपने-अपने घोंसलन में छुप गए। आदमीऊ अपने-अपने घरन में घुस गए। पर एक बँदरा ऊई मेह में इतैं-उतैं छटपटात रऔ। काए सैं कै बादर की जोर की झड़ी लगरई ती। ऊकौं ऐसौ छटपटात देखिकें एक चिरइया अपने घोंसला में से बोली कै हे बाँदर राजा! जौ तुमनें अच्छौ नईं करौ कै अपने रैबे के काजैं घर नईं बनाऔ। जौ ई बात आऐ कै अब तुम पानी में, भींजत फिरत हौ। मोकौं देखौ कै मैं एक चुनगुनी-सी चिरइया हूँ, पर महन्ति करिकें अपने रैबे कौं घोंसला बना लऔ है। इतनी सुनतन बौ बँदरा जर गऔ और किचकिचाइकें ऊको (बाको) घोंसला तोरि-मरोरिकें फेंकि दऔ। एई सैं कई गई है कै मूरख और गुस्सैल आदमी कौं कबऊँ सीख नईं दै चहिए।"

संपूर्ण कारकों का द्योतक बुंदेलखंडी का वाक्य—

"हे गोपाल! राम ने अपनी आँखन सैं देखौ कै मोहन के बाप ने अपने लरका कौं धन के काजैं घर सैं निकार दऔ है और बौ सहर में नौकरी करन लगौ है।"

संज्ञा शब्दों के रूप—

परिनिष्ठित हिन्दी	जनपदीय बुन्देलखंडी
(१) महनत	(१) महन्ति
(२) आदमी को	(२) आदमी कौं (आदमी को)
(३) चिड़िया	(३) चिरइया
(४) धन के लिए	(४) धन के काजैं

सर्वनाम शब्दों के रूप—

(१) मुझे, मुझको	(१) मोकौं (मोको)
(२) यह, वह, उसको, उसी को, उसका	(२) जौ, बौ, बाकौं (ऊकौं) ऊईकौं; बाको
(३) अपने-अपने	(३) अपने-अपने

विशेषण शब्दों के रूप—

(१) अच्छा, छोटा, काला	(१) अच्छौ, छोटौ, कारौ
(२) उसी	(२) ऊई
(३) मूर्ख, गुस्सावर	(३) मूरख, गुस्सैल

अव्यय शब्दों के रूप—

(१) इधर-उधर	(१) इतै-उतै
(२) क्योंकि	(२) काए सैं कै
(३) नहीं	(३) नईं
(४) इसी से	(४) एई सैं
(५) कभी	(५) कबऊँ
(६) ऐसा	(६) ऐसौ

क्रिया शब्दों के रूप—

(१) बरसने लगा	(१) बरसन लगौ।
(२) छटपटाता रहा	(२) छटपटात रऔ।
(३) लगरही थी; गया था	(३) लगरई ती, गऔ तौ।
(४) भींगते फिरते हो	(४) भींजत फिरत हौ (औ)।
(५) है, जारहा था	(५) आ, आऐ; जारऔ तौ।
(६) बना लिया है	(६) बना लऔ है।
(७) जल गया	(७) जर गऔ।
(८) किचकिचाकर	(८) किचकिचाइकें।
(९) (तुम) देखो	(९) (तुम) देखौ।
(१०) देखा; ढूँढ़ना चाहा	(१०) देखौ; ढूँढ़ै चाऔ।

क्रिया के विभिन्न काल—

सामान्य वर्तमान—

(१) मैं घर जाता हूँ	(१) हम घरै जात हैं।
(१) हम घर जाते हैं	(२) हम घरै जात हैं।
(३) तू घर जाता है	(३) तूँ घरै जात है।
(४) तुम घर जाते हो	(४) तुम घरै जात हौ।
(५) वह घर जाता है	(५) बौ घरै जात है।
(६) वे घर जाते हैं	(६) बे घरै जात हैं।

अपूर्ण वर्तमान—

(१) मैं घर जा रहा हूँ	(१) हम घरै जारए ऐं।
(२) हम घर जा रहे हैं	(२) हम घरै जारए ऐं।
(३) तू घर जा रहा है	(३) तूँ घरै जारऔ ऐ।
(४) तुम घर जा रहे हो	(४) तुम घरै जारए औ।
(५) वह घर जारहा है	(५) बौ घरै जारऔ ऐ।
(६) वे घर जा रहे हैं	(६) बे घरै जारए ऐं।

सामान्य भूत—

(१) मैं घर गया	(१) मैं घरै गओ।
(२) हम घर गये	(२) हम घरै गए।
(३) तू घर गया	(३) तूँ घरै गओ।
(४) तुम घर गये	(४) तुम घरै गए।
(५) वह घर गया	(५) बौ घरै गओ।
(६) वे घर गये	(६) बे घरै गए।

सामान्य भविष्य—

(१) मैं घर जाऊँगा	(१) मैं घरै जइहौं।
(२) हम घर जायेंगे	(२) हम घरै जइहैं।
(३) तू घर जायगा	(३) तूँ घरै जइहै।
(४) तुम घर जाओगे	(४) तुम घरै जइहौ।
(५) वह घर जायगा	(५) बौ घरै जइहै।
(६) वे घर जायेंगे	(६) बे घरै जइहैं।

आसन्न भविष्य—

(१) मुझे घर जाना है	(१) मोको (मोकौं) घर जानौ ऐ।
(२) हमें घर जाना है	(२) हमको (हमकौं) घर जानौ ऐ।
(३) तुझे घर जाना है	(३) तोको (तोकौं) घर जानौ ऐ।
(४) तुम्हें घर जाना है	(४) तुमको (तुमकौं) घर जानौ ऐ।
(५) उसे घर जाना है	(५) बाको (बाकौं) घर जानौ ऐ।
(६) उन्हें घर जाना है	(६) उनको (उनकौं) घर जानौ ऐ।

कारकों के रूप —

परिनिष्ठित हिन्दी	जनपदीय बुन्देलखंडी
(१) कर्ता—ने	(१) ने
(२) कर्म—को	(२) को, कौं
(३) करण-से	(३) सै
(४) संप्रदान—के लिए	(४) के काजैं
(५) अपादन—से	(५) सैं
(६) सम्बन्ध—का, की, के	(६) को, की, के
(७) अधिकरण——में, पर	(७) में, पै
(८) सम्बोधन—हे !	(८) ए!

ब्रज, कन्नौजी और बुन्देलखंडी में पारस्परिक समानता—

(१) ध्वनि—साम्य—तीनों जनपदीय बोलियाँ अपनी-अपनी प्रकृति से कोमल है। प्रायः तीनों ने ही उत्क्षिप्त 'ड़्' ध्वनि को त्यागकर लुंठित ध्वनि 'र्' को ग्रहण किया है। जैसे—'चिड़िया' के स्थान पर 'चिरइया' शब्द गृहीत है।

तीनों में ही संज्ञा शब्द प्रायः उकारान्त तथा इकारान्त पाये जाते हैं जैसे घरु, मेहु, महन्ति आदि।

'होना' सहायक क्रिया के विभिन्न रूपों में से महाप्राणता प्रायः तीनों उपभाषाओं ने ही त्याग दी है। जैसे 'फिरते हो' के स्थान पर 'फिरत औ' 'या' फित्त औ' बोला जाता है।

(२) रूप-साम्य—सामान्य भविष्य में कन्नौजी और बुन्देलखंडी के अन्तर्गत क्रियाओं के रूप समान मिलते हैं। दोनों में "मैं जइहौं" रूप होता है। परिनिष्ठित हिन्दी का सम्बन्ध कारकीय परसर्ग 'का' कन्नौजी और बुन्देलखंडी दोनों बोलियों में 'को' होता है। जैसे 'राम का लड़का' के स्थान पर उक्त दोनों उपभाषाओं में होगा—'राम को लरका'। ब्रज और कन्नौजी —दोनों—में कर्त्ता कारक चिन्ह 'नै' होता है। दोनों बोलियों में अपादान कारक का चिन्ह 'तें' होता है। अधिकरण का परसर्ग 'पै' ब्रज और बुन्देलखंडी में एक ही होता है। 'देखना' का भूतकालिक कर्मवाच्य रूप परिनिष्ठित हिन्दी में 'देखा' बनता है। इसका ब्रजबोली और बुंदेल खण्डी में 'देखौ' होता है। जैसे—"मैनें घोड़ा देखौ (देख्यौ)"—(ब्रजबोली में)। "मैंने घोड़ा देखौ"—(बुंदेलखण्डी में)।

ब्रज, कन्नौजी और बुन्देलखंडी में भिन्नता—

विशेषण शब्दों में—

परिनिष्ठित हिन्दी	ब्रजबोली	कन्नौजी	बुन्देलखंडी
(१) छोटा, काला	छोटौ, कारौ	छोटो, कारो,	छोटौ, कारौ
क्रिया शब्दों में—			
(१) वह गया	बु (गु) गयौ	बउगओ	बौ गओ
(२) लिया है	लयौ है (ऐ)	लओ है (ऐ)	लओ है (ऐ)
(३) किचकिचाकर	किचकिचाइकें	किचकिचाइ	किचकिचाइकें
(४) ढूँढ़ना चाहिए	ढूढ़नौ चाहिए	ढुँढ़नो चाहिए	ढूँढ़ै चहिए

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि ब्रज कन्नौजी और बुंदेलखंडी में पारस्परिक भिन्नता होते हुए भी वे बहुत सी बातों में मिलती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रज भाषा ने साहित्यिक पद पर आसीन होकर अपने शासनकाल में कन्नौजी और बुंदेलखंडी को पर्याप्तरूपेण प्रभावित किया होगा। पारस्परिक साम्य के कारण उक्त तीनों बोलियाँ एक ही वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। कुछ भाषाशास्त्रियों ने खड़ी बोली और ब्रज भाषा का अन्तर बताते हुए लिखा है कि खड़ीबोली प्रायः आकारान्त होती है और ब्रजभाषा ओकारान्त ; उदाहरण देते हुए उन्होंने 'घोड़ा' और 'घोरो' शब्द लिखे है। यह उदाहरण वास्तव में अशुद्ध है। ब्रजभाषा में भी 'घोड़ा' ही होता है। 'घोड़ा', 'गधा' 'कुत्ता, 'डंडा', आदि आकारान्त रूप में ही ब्रजभाषा में प्रयुक्त होते हैं। हाँ, इनके साथ

आनेवाले विशेषण शब्द अवश्य औकारान्त बोले जाते हैं। जैसे—चितकबरौ, घोड़ा, कारौ गधा मोटौ डंडा,बाबरौ कुत्ता इत्यादि। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि ब्रज बोली ओकारान्त नहीं है, अपितु औकारान्त है। यही औकारान्तता बुंदेलखंडी में भी पायी जाती है। जैसे-छोटौ (ब्रजबोली में); छोटौ (बुन्देलखंडी में)। यही विशेषण कन्नौजी में जाकर 'छोटो' हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि विशेषण शब्दों में ब्रज और बुंदेली औकारान्त और कन्नौजी ओकारान्त है।

परिनिष्ठित हिन्दी की भूतकालिक क्रिया का 'या' ब्रज बोली के 'यौ' में बदल जाता है और यह 'औ' बुन्देलखंडी में 'औ' हो जाता है। बुन्देलखण्डी की औ' ध्वनि कन्नौजी की 'ओ' में परिवर्तित हो जाती है। जैसे—**गया** (परिनिष्ठित हिन्दी में) **गयौ** (ब्रजबोली में) **गऔ** (बुन्देलखंडी में) और गओ (कन्नौजी में)।

पश्चिमी हिन्दी की हरियानी और खड़ीबोली को छोड़कर शेष जनपदीय बोलियाँ नाम और आख्यात-रूपों में औकारान्त या ओकारान्त हैं। केवल हरियानी और खड़ीबोली ही आकारान्त हैं। इस आकारान्तता का कारण हमें पंजाबी का प्रभाव प्रतीत होता है। पश्चिमी हिन्दी की बोलियों में विवृत्ति नहीं पायी जाती अर्थात् दो स्वर पृथक् रूप से साथ-साथ नहीं देखे जाते, जिस तरह कि पूर्वी हिन्दी की बोलियों में देखे जाते हैं। जैसे **'स्यार'** (खड़ी बोली, हरियानी, ब्रजभाषा कन्नौजी और बुन्देलखंडी में) और **'सिआर'** (अवधी में)। इसी विवृत्तिहीनता की प्रवृत्ति के आधार पर हरियानी, खड़ीबोली, ब्रज, कन्नौजी और बुन्देलखंडी उपभाषाएँ पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत मानी जाती हैं। पश्चिमी हिन्दी संज्ञा और विशेषणों में जहाँ आकारान्त या औकारान्त (ओकारान्त भी) है, वहाँ पूर्वी हिन्दी अकारान्त है। जैसे, **खोटा, खोटौ, खोटो** (पश्चिमी हिन्दी में) और **खोट** (पूर्वी हिन्दी में)।

संदर्भ-संकेत—

१. डा० मनमोहन घोष के मतानुसार शौरसेनी प्राकृत का उत्तरकालीन रूप 'महाराष्ट्री प्राकृत' के नाम से विख्यात हुआ। डा० चटर्जी शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश की मध्यवर्ती अवस्था को 'महाराष्ट्री प्राकृत' कहते हैं। वास्तव में 'महाराष्ट्री प्राकृत' के सम्बन्ध में दोनों का मत एक है।—लेखक

२. उत्तर में शिमला; उत्तर-पश्चिम में अम्बाला; दक्षिण में रायपुर, खंडवा; पूर्व में भागलपुर और पश्चिम में जैसलमेर को स्पर्श करती हुई रेखा खींची जाय तो उससे आवृत्त भूभाग मध्यदेश या हिन्दी प्रदेश कहायेगा।

३. देखिए एस० एस० डाग, नोट्स ऑन मेडिवियल मराठी-लिट्रेचर, इंडियन लिटरेचर नं० २, १९५२ ई०

४. प्रकाशक—एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, न्यूसीरीज नं० ९६७ (सन् १९०० ई० से १९०२ ई० तक) ७ जिल्दों में।

५. आजकल कन्नौजी बोली में 'उगो' और ब्रजबोली में 'उग्यौ' बोला जाता है।

६. 'बादल' के अंतिम वर्ण ल की ध्वनि मूर्धन्य है।

७. यह मूर्धन्य ल् है।

अपभ्रंश और हिन्दी-कोश | देवेन्द्र कुमार जैन

भारतीय आर्य भाषाओं में शब्दों के जो विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं उनमें परिवर्तन की धारा स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। विशेष रूप से मध्य भारतीय भाषाओं का इस दृष्टि से अत्यन्त महत्व है। इतिहास देखने से पता चलता है कि उनका युग 'संक्रमणशील' था जिसमें भाषा और साहित्य की उन्नति जातीय एवं विजातीय तत्वों से मिलकर हुई है। इस देश में विविध जातियों का संगम उन्मुक्त रूप से इसी युग में दिखाई देता है। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि भाषा तथा साहित्य में किसी न किसी प्रकार वे तत्व भी समाहित होते जो लोक-जीवन में अपना लिये गये थे। भारतीय साहित्य में यद्यपि वे आंशिक रूप में गृहीत हुए हैं किन्तु उनका अपना स्थान भी है।

प्रत्येक भाषा युगानुरूप अन्य भाषाओं से सम्बन्ध स्थापित करती रहती है। यही नहीं, उनमें परस्पर लेन-देन भी होता है। यह कई रूपों में देखा जाता है। प्राचीन युग में साहित्य तथा व्यापार के माध्यम से यह लेन-देन चलता रहा है। धार्मिक संप्रदायों ने भी अपने मत एवं वाद का प्रचार कर भाषाओं का प्रसार किया है। परिणाम स्वरूप कई भाषाएँ सम्प्रदाय विशेष तक ही सीमित रही हैं। यदि 'पालि' बौद्ध-वाङमय की भाषा रही है तो 'अर्द्धमागधी' आरम्भिक जैन-वाङमय की और प्राचीन फारसी (अवेस्ता की भाषा) पारसियों की। कालान्तर में सम्प्रदाय विशेष की भाषाओं से प्रादेशिक भाषाएं विकसित हुई हैं। किन्तु तब वे जनता में लोकबोलियों के रूप में प्रचलित थीं और उनमें रूपगत परिवर्तन स्पष्ट हो चले थे। इसके विपरीत शास्त्रीय (Classical) भाषाओं में भी साहित्य रचा जाता रहा है पर परिवर्तन की मात्रा उनमें नाम-मात्र ही रही है।

भारतीय आर्य भाषाओं की आकर-भाषा संस्कृत कही जाती है। संस्कृत भी-प्राचीन वेदों की भाषा है। भारतवर्ष में इससे पुरानी किसी भी-भाषा की बानगी अभी-तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। किन्तु ऋग्वेद की भाषा में भी—परिवर्तनगत विविध रूप दिखाई पड़ते हैं। एक ही शब्द के कई रूप वैदिक-साहित्य में आज तक सुरक्षित हैं। वैयाकरणों ने शब्दों की दृष्टि से ही-मुख्यतः भाषा का निर्वाचन किया है। वैदिक युग की बोलियों के जब शब्द-रूप धीरे-धीरे रूढ़ हो गये तब उस में जो साहित्य-रचना हुई उसे 'संस्कृत' नाम दिया गया। किन्तु उसमें भी-एक शब्द के कई रूप प्राप्त होते हैं।[१] यही नहीं अर्थ की दृष्टि से भी-उनमें भेद है। केवल वैदिक भाषा में ही नहीं आर्मेनियन ग्रीक, लेटिन आदि में भी बोलियाँ सुरक्षित हैं।[२] ये बोलियां क्रमशः साहित्य में घुलमिल जाती हैं। इनका ही परवर्ती रूप हमें काव्य में दिखाई देता है। इसीलिए हमें वैदिक

भाषा से वाल्मीकि रामायण की भाषा में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। किन्तु आंशिक रूप में उस में वैदिककालीन भाषाओं का प्रभाव एवं वैदिक शब्द-रूप स्पष्टतः लक्षित होते हैं।

'प्राकृत' वैदिक युग की एक बोली थी जो किसी समय समूचे भारतवर्ष में बोली जाती थी। किन्तु कालान्तर में वह शिष्ट जनों से व्यवहृत होकर साहित्य की भाषा बनी और उसे 'पालि' नामरूप प्रदान किया गया। 'पालि' वैदिक भाषा के अधिक निकट है। ध्यान से देखने पर पता-लगता है कि वह वैदिक संस्कृत से बहुत प्रभावित है। आर्यों की जो भी लोक बोली साहित्य का माध्यम बनी संस्कृत की रीति-नीति का अनुसरण करती रही। यह इसलिए भी आवश्यक था कि इस देश में सबसे पहला व्याकरण संस्कृत में लिखा गया था। यद्यपि 'पालि' वैदिक तथा संस्कृत भाषा से कुछ-कुछ मिलती-जुलती है पर उस पर देशी बोलियों का पानी चढ़ा हुआ है। प्रत्यय-रूपों तथा देशी शब्दों की प्रचुरता देखकर सहज में ही उसका अनुमान लगाया जा सकता है। प्राकृत की तो कई धाराएँ एक ही समय प्रवाहित रही हैं। लेकिन शताब्दियों बाद उसकी भी वही दशा हुई जो किसी समय संस्कृत की हुई थी। इसीलिए प्राकृत की लीक छोड़कर-अपभ्रंश में साहित्य रचा जाने लगा। परिवर्तन भाषा का स्वभाव है। किसी भाषा के विकास का पता हमें उसके उलट-फेर से ही लगता है। भाषा के बदलाव में शब्द-रूप मुख्य हैं और हमारा ध्यान सबसे पहले उन पर जा टिकता है। भाषा में परिवर्तन भी पहले पहल शब्दों से होता है। इसलिए वैयाकरणों की सम्मति में भाषा की सबसे पहली विकारपूर्ण अवस्था शब्दों का 'अपशब्द' होना है।[३] किन्तु आचार्य व्याडि यह भी कहते हैं कि अपभ्रंश होना तो शब्दों का स्वभाव ही है।[४] किसी समय 'प्राकृत' को भी 'अपभ्रंश' कहा जाता था। संस्कृत से भिन्न सभी भाषाएँ अपभ्रंश हैं, क्योंकि उनका संस्कार नहीं हुआ है। परन्तु प्राकृत के साहित्य के पद पर आरूढ़ होने के बाद तथा विद्वानों से समादृत होने पर वह 'अपभ्रंश' नहीं रही। अब, वह जिस लोक-बोली से विकसित होते-होते इस अवस्था को प्राप्त हुई थी उस धारा की जो बोली चलन में थी तथा उसमें जो साहित्य लिखा जाने लगा था वह 'अपभ्रंश' कही जाती थी। वस्तुतः यह स्थिति प्राकृतों की अन्तिम अवस्था में थी। अतएव अपभ्रंश में प्राकृतों की सामान्य विशेषताएँ मिलती हैं। यही नहीं, कुछ प्रत्यय तथा रूप-रचना में भी समानता देखी जाती है। परवर्तीकालिक अपभ्रंश पुरानी हिन्दी के अधिक निकट है। हिन्दी के परसर्ग, सर्वनाम तथा अधिकांश क्रियारूपों का विकास अपभ्रंश से हुआ यह निश्चित प्रतीत होता है। फिर भी, हम हिन्दी के प्रत्येक शब्द को संस्कृत-कोशों में ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं और जब नहीं मिलता है तो हठात् कोई न कोई व्युत्पत्ति बैठाने की चेष्टा करते हैं। परन्तु इसके बाद भी कुछ शब्द ऐसे मिलते हैं जिन्हें हम 'देशी' कह कर संतोष कर लेते हैं पर यथार्थ में वे आज भी मध्य भा० आ० भाषाओं में विद्यमान हैं। मेरी राय में शब्दों की व्युत्पत्ति ढूँढ़ते समय हमें उस भाषा की समीपवर्ती बोलियों तथा भाषाओं में ही पहले पहल छान-बीन करनी चाहिए। वैदिक भाषा के कई शब्द आज भी लोक-बोलियों में प्रचलित हैं। शब्दों के अध्ययन की भले ही यह अनुलोम विधि हो पर प्रकृति की दृष्टि से इसे ही उचित तथा प्रामाणिक कहा जायगा। उदाहरण के लिए हिन्दी में दस, असाढ़, फागुन, चैत, सावन, भादों, बिजली, सिर, केसर, उसीर, पापड़ आदि संस्कृत से निकले हुए होने पर भी अब हिन्दी के अपने बन गये हैं, इसलिए उनके स्थान पर संस्कृत के या तत्सम रूपों को ही शुद्ध मानना दुराग्रह मात्र होगा। इसी प्रकार गड्ढा, गोख, गधा,

गँवार, खिड़की, प्यारी, चाँदनी, बासी, आठ, गला, तथा बाप आदि शब्दों की व्युत्पत्ति खोजने के लिए देशी भाषाओं के गड्ढ, गोक्ख, गढ्ढ, गवार, खिडिक्का, प्यारी, चंदइ ? बासी ?, अट्ठ, गल्ल, बप्प आदि शब्दों की जानकारी आवश्यक है। संस्कृत में भी प्राकृत तथा देशी भाषाओं के अनेक शब्द हिल-मिल गये हैं। ऐसे शब्दों में से कुछ ये हैं—होलक (होला), बण्टः (बाँट, हिस्सा), बठर (बट्ठर, मूर्ख), भण्टा (भटा, बैंगन), गोविन्द (गोवृन्द-अधिपति, कृष्ण), चिरायता, घाट, इंगाल (अंगाल, अंगार), दोरक (दोरा, डोरा) इत्यादि। कुछ शब्द अनार्य भाषाओं से भी गृहीत हुए हैं। उन सब पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे।

हिन्दी में अभी तक ऐसा कोई शब्द-कोश प्रकाशित नहीं हो सका है जो सम्यक् रूप से शब्दों की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालने वाला हो तथा यह काम तब तक पूरा नहीं हो सकता है जब तक मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं का भलीभांति मन्थन न हो जाय, क्योंकि आ० भा० आर्यभाषाएँ म०भा०आ० भाषाओं से विकसित हुई हैं न कि प्राचीन अ० भा० भाषाओं से। यह सच है कि म० भा० आ० भाषाएँ प्राचीन भा० आ० भाषाओं से विकसित हुई हैं पर जब हमारी उत्पत्ति पूछी जायगी तब हम अपने बाप का ही नाम बतायेंगे, न कि पुरखों (पूर्व पुरुषों) का। हम भले ही यह मान लें कि 'बाप' शब्द 'संस्कृत के 'वप्तृ' शब्द से निकला है जिसका अर्थ बोने वाला है पर यथार्थ में—प्राकृत, अपभ्रंश के बप्प' से मराठी, गुजराती, 'बप्पा' तथा हिन्दी के 'बाप' शब्द का विकास हुआ है। मुझे इसमें आपत्ति नहीं है कि बाप-दादाओं के साथ पुरखों की भी नामावली प्रस्तुत की जाय, क्योंकि उनके नाम बताने से हमें इसका बोध हो जाता है कि किस परिवार तथा वंश के हैं। किन्तु ऐसा करते समय मूल वंश की भी खोज आवश्यक है। यदि हम दो-तीन पीढ़ियों का ही नाम बता सकते हैं तो हमारी वह जानकारी अधूरी ही समझी जायगी। सम्भव है कि तीन पीढ़ी पहले के जिस वंश से आपकी उत्पत्ति हुई है उसी से हमारी भी हुई हो, पर परिवार के मुख्य सदस्यों के बिछुड़ जाने से अब बहुत कुछ अन्तर आ गया हो। प्रा० भा० आर्य-भाषाओं के सम्बन्ध में यह बात पूरी तरह लागू होती है। संस्कृत की भाँति प्राकृत का भी मूल स्रोत वैदिक भाषा कहा जाता है। अन्तर केवल इतना ही है कि भाषा शिष्टजनों की है और प्राकृत जन-सामान्य की।[५] प्राकृत पहले लोक-बोली थी। भाषा का ढाँचा उसे कई शताब्दियों बाद मिला। किन्तु लोक-जीवन से उसका सम्बन्ध बराबर बना रहा है। कहीं-कहीं संस्कृत में भी लोक-जीवन की शब्दावली दिखाई देती है। परवर्ती अपभ्रंश पर संस्कृत का प्रभाव अधिक है। प्राकृत की भी यही अवस्था है।

संक्षिप्त हिन्दी शब्द-सागर के विद्वान् सम्पादकों ने शब्द-व्युत्पत्ति के संबंध में जो कार्य किया है वह स्तुत्य होने पर भी भूलों से भरपूर है। यद्यपि उन्होंने सांकेतिकी में अप० (अपभ्रंश) लिखकर उसके शब्दों का उल्लेख किया है पर कोश के भीतर मुझे कोई अपभ्रंश शब्द लिखा हुआ नहीं मिला है। हिन्दी के कोशों में सबसे महत्त्वपूर्ण जो बात दिखाई देती है वह यह है कि अधिकांश हिन्दी-शब्दों को संस्कृत से व्युत्पन्न माना है। बहुत कुछ यह सही होने पर भी भाषा-विकास की दृष्टि से यह अध्ययन एकांगी ही माना जायगा। और फिर हमें हिन्दी की प्रकृति का भी ध्यान रखना है। उदाहरण के लिए, संस्कृत शब्द है 'ग्रन्थि'। इस ग्रन्थि से प्राकृत 'गंठि', अपभ्रंश 'गंठ' तथा हिन्दी की गाँठ का विकास हुआ है। इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती है। पर क्या हिन्दी

के गठीला, गठौंद, गठौत, गठौती, गठिया, गठुआ, गठरी, गट्ठा, गट्ठर, गट्ठी, गठेरवा, गठाव, तथा गट्टा आदि शब्द भी 'ग्रन्थि' शब्द से निकले हैं ? हिन्दी-शब्दसागर के पहले खण्ड में 'गट्टा' शब्द संस्कृत के 'ग्रन्थ', प्रा० गंठ से व्युत्पन्न हुआ लिखा मिलता है। इसी प्रकार 'गड्ड' का विकास संस्कृत 'गण' तथा 'गप्कने' का सं० 'कण्ठ' से लिखा गया है। यही नहीं, 'अँकड़ी' की उत्पत्ति सं० 'अंकुर' और 'गलारी' की सं० गल्प, प्रा० गल्ल से मानी गई है। अधिक क्या कहें, हिन्दी के कड़ुआ और खट्टा दोनों ही शब्द सं० कटु से निकले माने गये हैं। यदि खट्टे के लिए कोई संस्कृत शब्द देना ही था तो 'कड़कं' लिख देते, जिसका अर्थ 'लवण विशेष'[६] कहा गया है। संभवतः इस नमक में कुछ खटाई का अंश हो। वैसे तो 'खट्टा' शब्द संस्कृत का कहा जाता है।[७] पर वस्तुतः वह देशी शब्द है।[८] ऐसे ही स० 'खुड' या 'खुंड' देशी 'खुट्ट' का परवर्ती रूप है।[९] निश्चित रूप से पता लगाना कि किस भाषा से कौन-सा शब्द निकला है—टेढ़ी खीर है। किन्तु भाषा की प्रकृति को ध्यान में रखकर, प्रत्ययों पर विचार कर पता लगाया जा सकता है। यह भी सम्भव है कि एक भाषा के प्रत्यय दूसरी भाषा ने अपना लिये हों पर प्रत्येक भाषा के अपने निजी शब्द-रूप तथा प्रत्यय होते हैं जिनका उपयोग वह बार-बार करती हुई दिखाई देती है। मनुष्य का रूप-रंग और बनावट ही उसकी जाति विशेष को सूचित कर देता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर भाषाओं का वर्गीकरण किया गया है।

'हिन्दी-शब्दसागर' में भावों की रीति का अनुसरण कर जिन शब्दों की व्युत्पत्ति दी गई है वह बहुत कुछ शुद्ध एवं निष्फल प्रतीत होती है, किन्तु कई स्थलों पर संस्कृत के जिन शब्दों से व्युत्पन्न हुआ लिखा है वे उस अर्थ में संस्कृत-कोशों में नहीं मिलते हैं। ऐसे शब्दों में उदाहरण के लिए—घूँस, घूस (सं० गुहाशय), घोंसला (सं० कुशालय), घूरा (सं० कूट), कुल्ला (सं० कवल), कुल्हड़ (सं० कुल्हर), कटार, कटारी (सं० कट्टार)—इन शब्दों[१०] को लिया जा सकता है। इन अर्थों में ये शब्द संस्कृत के सबसे बड़े कोश 'शब्द कल्पद्रुम' में गृहीत नहीं हैं। किन्तु छान-बीन करने पर इनमें से 'कट्टार' शब्द केवल 'शब्दार्थ चिन्तामणि' में मिलता है।[११] 'वाचस्पत्य-कोश' में भी यह शब्द नहीं है। इसी प्रकार 'कवल' शब्द भी विस्तृत अर्थ में उसमें मिलता है।[१२] लेकिन इसमें वह भाव नहीं है जो मुँह को स्वच्छ करने के लिए गरारे या कुल्ले में देखा जाता है। 'हलायुध' कोश में तो 'कूट' शब्द को छोड़कर अन्य दिखाई नहीं देते हैं। 'कूट' शब्द 'तुच्छ' अर्थ में श० चि०, अनेकार्थ संग्रह, मेदिनी, हलायुध तथा अन्य कोशों में भी मिलता है। किन्तु 'घूरा' अर्थ कैसे हो गया—यह विचारणीय है। उक्त शब्दों में से यही एक ऐसा शब्द है जो प्रायः सभी कोशों में उपलब्ध है। परन्तु 'कुल्हड़' के लिए (सं० कुल्हर[१३]) 'कुल्हर' शब्द किसी भी कोश में नहीं मिला। संभव है किसी अभिनव कोश में मिलता हो। इसी प्रकार 'गल्प' शब्द का भी मुझे कोई पता नहीं लगा। हाँ, अर्थ की दृष्टि से 'घूस' (चूहा) के लिए 'गुहाशय' शब्द 'शब्दार्थ चिन्तामणि'[१४] में मिलता है। 'वाचस्पत्यम्' कोश में—उसी का प्रमाण उद्धृत है। 'घोंसला' वाची 'कुशालय' शब्द नया गढ़ा हुआ जान पड़ता है। किसी भी कोश में इसका अस्तित्व नहीं है। 'बृहत् हिन्दी कोश' के लेखकों ने शब्दों की व्युत्पत्ति इसीलिए नहीं दी है कि 'हिन्दी-शब्दसागर' में दी हुई व्युत्पत्तियों में से कई भ्रमात्मक हैं और अब मान्यताएँ भी बदल गई हैं। उनका कहना है कि 'कटोरा' शब्द 'कटोर' का स्त्रीलिंग है, न कि काँसा+ओरा से मिलकर बना हुआ शब्द।[१५]

किन्तु संस्कृत में कटोरें, कटोरा शब्द प्रायः पुराणों में दिखाई देते हैं जिससे सहज में अनुमान लगता है कि यह देशी शब्द रहा होगा। पुराणों में कई ऐसे शब्दों का पता मिलता है जो देशी-प्रवाह में से होकर उनमें हिल-मिल गये हैं। 'निशीथ चूर्णि' में 'कट्टोर' शब्द कटोरा वाचक मिलता है।[१६] अपभ्रंश साहित्य में 'कच्चोल' शब्द प्रायः देखा जाता है।[१७] संस्कृत-कोशों में 'झालर' वाद्य के लिए झर्झर, झर्झरी, झलरी झुल्लरी तथा झल्ली आदि कई शब्द प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार 'झाँझ' के लिए 'झल्लकं'; डलिया के लिए 'डल्लकं'; करेला के लिए कटिल्लकः; कारवेल्लकः; डोरा के लिए डोरं, डोरा, डोरकं; कटोरा के लिए कटोर, कटोरा, कटोरकं; चेला के लिए चेटक; घुटन्ना के लिए 'घुंटक'; टेरा (बंगला; हिं० ऐंचा, भेंगा) के लिए टेरकः तथा टिटहरी के लिए 'टिट्टिभकः', मूलकः (मूली) आदि शब्द देशी कहे जा सकते हैं। संस्कृत के प्रायः सभी स्वार्थिक 'क' प्रत्यय वाले तथा उणादिकोश के शब्द बोलचाल के प्रतीत होते हैं। संस्कृत में विदेशी शब्दों के प्रवेश के लिए 'क' स्वार्थिक प्रत्यय द्वार का कार्य करता है। फिर, प्रकृति के अनुकूल भाषा विविध रंगों में उन्हें रंग कर उपयोग में लाती रही है और आज वे उसके अपने अंग हैं।

'हिंदी-शब्दसागर' में कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति छूट गई है। बेटी, बेड़िन, आदि बेड़ी शब्दों की व्युत्पत्ति उसमें नहीं है। और चोया या चोवा शब्द ही कोश में नहीं आने पाये हैं। ऐसे शब्दों की अलग से तालिका भी दी जा सकती है पर इस चर्चा को आगे न बढ़ाकर मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि आलोच्य विषय पर अभी तक ठीक से कार्य नहीं हुआ है। इसके लिए हमें प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं का ही ज्ञान होना आवश्यक नहीं है अपितु आ० भा० आर्य भाषाओं तथा बोलियों की जानकारी भी नितान्त अनिवार्य है। उदाहरण के लिए बुंदेलखण्डी शब्द 'बक्खर' को लिया जा सकता है। 'बक्खर' का अर्थ बखर है पर लाक्षणिक प्रयोग में उसका अभिप्राय 'मूर्ख' होता है। यथा—तुम निरे बैल हो। 'सन्देश रासक' में यह प्रयोग मिलता है। किन्तु इस बुंदेलखण्डी मुहावरे का ज्ञान न होने से अनुवादक ने उसका अर्थ उपस्कर (रूप-वस्तु) किया है जो अनुचित है।[१८] अपभ्रंश में बंगला, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, बुंदेल-खंडी तथा ब्रज आदि अनेक भाषाओं के शब्द मिलते हैं। प्राकृत, संस्कृत, पाली तथा वैदिक भाषाओं में तो देश-विदेश की प्रायः सभी भाषाओं से कुछ न कुछ लेन-देन होता रहा है। यह एक अलग विषय है। हिन्दी भाषा के विकास में अपभ्रंश का जो महत्त्वपूर्ण योग रहा है उसको ध्यान में रखकर हम यहाँ कुछ ऐसे शब्दों की तालिका दे रहे हैं जिनसे वर्तमान भाषा का सीधा सम्बन्ध है। ऐसे शब्द हैं—

पल्लंग	(सं० रा०, १८८)	पलँग
डर	(प० च०, १४।२।३)	डर
डाल	(प० च०, ८।८।३)	डाल
डोला	(प० च०, १४।२१)	डोला
झल्लरि	(प० च०, १।११।४)	झालर
ढिल्ल	(प० च०, १८।९।६)	ढीला
इकल्लिय	(सं० रा०, १९०)	अकेली
इक्कह	(सं० रा०, १८९)	एक ही

वद्दल	(सं० रा०, १४८)	बादल
उक्खल	(प० च०, १७।१३।२)	ऊखल
जहिं	(भ० क०, १।५।४)	जहाँ
तहिं	(भ० क०, १।५।९)	तहाँ
उट्ठु	(भ० क०, १।६।१०)	उठ
देक्खइ	(भ० क०, १।६।१०)	देखा
दो	(भ० क०, १।९।२)	दो
ढुक्कउ	(भ० क०, १।१०।३)	ढूँका (ढूँकना, क्रिया)
हुले हुले	(भ० क०, १।१०।८)	हौले-हौले (धीरे-धीरे)
लइ लेहु	(भ० क०, १।१०।८)	ले लो
पेल्ल	(भ० क०, २।१।४)	पेलना
लिज्जइ	(भ० क०, २।१।७)	लिया जाता है।
ऊसरु	(भ० क०, २।७।७)	ऊसर
संभालिड	(भ० क०, २।११।५)	सम्हाला
चंगउ[19]	(भ० क०, २।१२।३)	चंगा (मराठी), अच्छा भला।
पउर	(भ० क०, ३।८।२)	पौर (बुन्देली), बैठका (घर में बैठने का कक्ष[20])
खुट्टइ	(भ० क०, ३।१२।१३)	खुटना (राजस्थानी), खुटलें, खुडणें (मराठी) टूट कर गिरना।
गय	(भ० क०, ३।१४।१४)	गया
कहइ	(भ० क०, ३।१५।१)	कहता है।
बोल्लिउ	(भ० क०, ३।१३।१०)	बोला
पत्तल	(भ० क०, ३।२४।११)	पत्तल, पातर
खुड	(भ० क०, ३।२४।४)	खूँटना
पडिउ	(भ० क०, ३।२५।१०)	पड़ा
खिसिय	(सं० रा०, २६)	खिसक गई (गया)
झंप	(सं० रा०, २९)	झाँपना, ढाँकना
फिरइं, फिरता	(गु० रा०, १।३२६, ५।१०२)	फखुं (गु०), फिरणें (म०), फिरना (हिं०)
बेटउ	(गु० रा०, १।१०३)	बिट्ट (प्रा०), बेटा (म०), बेटो (गु०) बेटा
बेटी[21]	(गु० रा०, १४७)	बिट्टी (प्रा०), बेटी (गु० म० अ०)
बेंडी[22]	(गु० रा०, १।११७)	बेड (प्रा०), बेडो (गु०), बेडा (म०), बेड़ा

भिड, भिडइ	(प० च०, ४।३।३)	भिड़ना
बोल्ल	(प० च०, १२।३।१)	कथा (बोल, म० गु०)
वुड्ढ	(प० च०, १४।१३।६)	बूढ़ा (सं० वृद्ध, गु० बूढो)
वुड्ड[२३]	(प० च०, १५।५।५)	बूढ़ना, डूबना (बुडवुं गु०)
सेल्लग्ग	(प० च०, १७।६।४)	रोल, सेला, भाला।
वुक्क, वुक्कइ	(प० च०, १९।३।४)	भूँकना (भुक्क, देशीना०) ६।१०६
भुलउ	(गु० रा०, २।५६०)	भूलना (भुल्लइ, देशी०, ६।१०६)
भलउ	(गु० रा०, ३।१८१)	भला
बाण	(प० च०, १३।१०।३)	बाण
वप्प	(प० च०, ३।९।६)	बाप
कथीर	(गु० रा०, ५।३३)	कतीर (सं० कस्तीर), (गु० कथीर), (म० कथील) कथीर।
बोकड[२४]	(गु० रा०, ५।५५)	बकरा (प्रा० बोक्कड़), (गु० बोकडो) (म०बोकड
हेठि[२५]	(गु० रा०, १।३१२)	नीचा (प्रा० हेट्ठा), (गु० म० हेठ)
हूं, हउं	(गु० रा०, १।४८१)	मैं (ब्रज-हौं)
झुल्लंति	(सं० रा०, १३४)	झलते हैं।
घुरहुरइ	(सं० रा०, १३९)	कड़कता है, घुड़कता है।
कोइ	(सं० रा०, १८३)	कोई
मच्छर	(सं० रा०, १४६)	मच्छर
चडिउ	(सं० रा०, १४४)	चढ़ा, चढ़ गया।
दोहउ	(सं० रा०, १५१)	दोहा।
घुट्ट	(सं० रा०, १६२)	घूँट
घुम्म, घुम्मइ	(प० च०, १।५।४)	घूमना (गु० घूमवुं)
गिल्ल	(प० च०, १।१५।१)	गीला
चप्प	(प० च०, १३।१।८)	चाँपना, भींचना
छोड, छोडाविय	(प० च०, ११।१०।४)	छुड़ाया (गु० छोडव्यो)
ढोर	(प० च०, २।७।३)	पशु (गु० बुंदेली ढोर)
ताम	(प० च० १।१६।७)	तब
चाउल	(प० च० २।१७।३)	चावल, चाँउर
चव, चवइ	(प० च० ९।२।४)	कहना(गु०चववुं)चवाना[२६](ब्रज)

चुक्क	(प० च०, १०।९।१)	चूकना
घल्लू	(प० च०, १९।१२।५)	मारना (बुंदेली), धक्का देना, (घालवुँ गु०), (घालना, राजस्थानी)।
मेल्ल	(प० च०, ५।४।६)	छोड़ना (गु० मेलवुँ), मेलना (राजस्थानी)
खेल	(प० च०, ९।४।१)	खेल
कहिं	(प० च०, १।१०।३)	कहाँ
चउरी	(गु० रा०, १।३७६)	चौरी (सं० चत्वरिका), (प्रा० चउरिया), (गु० चोरी), चौंरी (बुंदेली)
घरबार्धिर	(गु० रा०, ५।१०७)	घरबार
चउक	(गु० रा०, १।६५१)	आँगन (प्रा० चउक्क), (सं० चतुष्क), (म० चौक), (गु० चाक), चौक।
चीठी	(गु० रा० १।५३३)	चिट्ठी (प्रा० चिट्ठिआ), (गु० चीठी), (म० चिठी)
छिल्लरइं[२७]	(गु० रा०, ६।८५)	छीलर, पोखर (प्रा० गु० छिल्लर) सं० पल्लव
जव	(गु० रा०, ३।६१	जब (प्रा० जओ, गु० जव)
जींण	(गु० रा०, २।३२३)	जीन
जुहार	(गु० रा०, ६।३८)	नमस्कार (गु० जुहार, म० जोहार)
जोड	(गु० रा०, १।३७५)	जोड़, जोड़ा
टोल[२८]	(गु० रा०, ३।१८)	मुहल्ला या घर (प्रा० टोल्ल) (सं० प्रतोली)
ठीक	(गु० रा०, ६।११६)	ठीक (प्रा० ठिअक्क)
ठेलइ	(गु० रा०, २।३८)	ठेलना (गु० ठेलवुं) (म० ठेलणें)
डोकर	(गु० रा०, ५।११४)	डुकरा (बूढ़ा), (सं० डोलत्करः) (गु० डोकरी), (म० डोकरा)
तूं	(गु० रा०, १।९०)	(प्रा० तुमं, वै० तुवं, गु० तुं, म० तूं)

थाट	(गु० रा०, १।४०६)	ठाठ
दिणू, दिनि	(गु० रा०, १।७६९, २।२४२)	दिन
छबिउ	(गु० रा०, ६।१७२)	छाबना (बुंदेली), (छोवइ गु०) (छवइ, छिवइ प्रा०)
छांटइं	(गु० रा०, ३।७९)	छांटना (प्रा० छंटइं), (गु० छांटवुं)
छांडर	(गु० रा०, ५।१३)	छोड़ना
हक्कार, हक्कारइ	(प० च०, ७।१।९)	पुकारना (हकारना, बुंदेली)
सव्वल	(प० च०, ११।८।४)	कुशी,[29] सव्वल
विसूरय	(प० च०, १९।१६।१०)	दुःखी होना, विसूरना।
वद्धावणय	(प० च०, ९।५।१)	बधावना, (वधावणा, रा०) (वधामणुं, गु०)
भुक्खा-मार	(प० च०, २।८।२)	भुखमरी।
भुम्भल*[30]	(प० च०, १४।२।९)	भोली (गु० भम्मर)
बीडां	(गु० रा०, २।३२२)	बीड़ा (पान का), (सं०वीटक) (गु० बीडुं)
आगलि	(गु० रा०, २।२५२)	अगली

अपभ्रंश-साहित्य में अनुकरणात्मक शब्दों की विपुलता है। बहुत-से हिन्दी के शब्द पुरानी रचनाओं में आज भी सुरक्षित मिलते हैं। ध्वनि-तत्त्व की दृष्टि से उनका मूल्यांकन अपेक्षित है। यद्यपि 'गुर्जर रासावली' की भाषा जूनी गुजराती कही जाती है पर वस्तुतः वह अपभ्रंश है। ध्वन्यात्मक अनुकरणमूलक शब्दावली का एक उदाहरण देखिए:—

धमधमिउ धुरि नाद नीसाण नउ।
गहगहिउ सुखवर्ग मसाण नउ॥
कलकली वहली रिणकाहली।
टलवली प्रज हूई आकुली॥
दडदडी द्रमकी द्रमक्या अरी
हुदुहुडाट हुउ हुडकी करी।
कलकलइ जिस वारिनिधि प्रलइ॥
किसिउं भूधर कोंपि टलटलइ॥—गु० रा०२।७७-७८

महाकवि पुष्पदन्त के महापुराण, जसहचरिउ तथा स्वयम्भू के पउमचरिउ में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई देती है। देशी शब्द भी इनमें अनगिनत मिलते हैं। किन्तु कठिनाई यह है कि म० भा० आर्यभाषाओं का सम्यक् विश्लेषण नहीं हो सका है। फिर, उन पर संस्कृत का भी परम्परागत प्रभाव बना हुआ है। तीसरे, मूल-स्रोत की जानकारी के बिना अध्ययन अधूरा ही होगा। उदारण के लिए—वैदिक 'जूर्ण' शब्द लिया जा सकता है। प्रा० में यह 'जुण्ण' बनता है और

राजस्थानी में 'जूणां' हो जाता है। गु० में जूनुं' तथा म० में 'जुना' बन कर वह हिन्दी में 'जूना' बन गया है। यदि अब हम उसका सम्बन्ध संस्कृत के 'जीर्ण' शब्द से लगायें तो वह ठीक नहीं होगा।

स्पष्ट ही भाषा की अपनी प्रवृत्ति विशेष होती है। रचना-काल में (कथ्य अवस्था में) उनकी बनावट एक-जैसी गतिशील रहती है। धीरे-धीरे उनमें परिवर्तन अधिक स्पष्ट होता जाता है। यथा—'जा' धातु से जाइ, जाउ, जाए, जाऐ, जाओ, जाइव, जाइवि, जाइवी, जाइस, जाइवे, जाइवै आदि रूप सम्भव हैं। आज भी प्रादेशिक बोलियों में एक से अधिक रूप देखें जाते हैं। प्राकृत में एक शब्द है—'पुप्फा', उसी के विकसित शब्द रूप हैं—पुप्फिअ, पुप्फिआ, पुप्फा और पुप्फी। हिन्दी के फूफा, फूफी शब्द इनसे ही विकसित हुए हैं; न कि संस्कृत 'पितृष्वसा' से। इसी प्रकार अपभ्रंश में 'बप्पुड' शब्द का अर्थ है—दीन, विचारा। गुजराती में वह 'बापडुं' कहा जाता है और मालवी तथा मराठी में 'बापड़ा' प्रचलित है। किन्तु हिन्दी-शब्दसागर में 'बापुरा' के कोठे में संस्कृत 'बर्बर' शब्द दिया हुआ है जिसका अर्थ तुच्छ लिखा है। पर रहीम ने स्पष्ट कहा है—

जे गरीब पर हित करें ते रहीम बड़ लोग।
कहा सुदामो बापुरो कृष्ण मिताई जोग॥

इसी प्रकार हि० श० सा० में 'छाप' शब्द के कोठे में हि० छापना लिखा है तथा 'छापना' को संस्कृत 'चपन' से निष्पन्न माना जाता है। किन्तु संस्कृत कोशों में 'चप' धातु का—अर्थ चिपकाना या चाँपना है।[31] जो भी हो, पाली के 'छाव' तथा अपभ्रंश के 'छाब' शब्द से उसका विकास माना जा सकता है। 'छाया' शब्द मूल में संस्कृत का है पर छाहडी, छांह, छाँहीं, छइयाँ, छैंयाँ आदि शब्द किसके माने जायेंगे ?

अपभ्रंश के बहुत-से शब्द देखने में हिन्दी के लगने पर भी अपभ्रंश से ज्यों के-त्यों-अपना लिये गये हैं। कुछ शब्द इस प्रकार हैं—

घोड़ा, गली, बोल, ठूंठ, टोपउ (टोप), ढोल, ढाल, डाल, डंक, कटार, चावल, ठट्ठ, डूंगर, ढिल्ला (ढीला), चेल्ला, चेल्ली, पोत्था-पोत्थी, डर, बेटा, बेटी, घूंट, नही (नहीं), खाजा, झूमका, झूलना, गड़बड़, पटेल, छिज्जइ∠छीजउ∠छीजना, खडखड, को, जो, सो, तो, हौं, हूँ, तेंहइ, हो, होइ, हाक, हां, हवइ, हल्लि (हल्ला), रेला, भुज्ज∠भुज्जी∠भुजाइ∠भोजाइ∠ भोजाई; माखी, माटी, माँड, मायल, मुह, मुझ, तुझ, मूली, गाजर, भंटा, मोरी, मोटा, मोडर∠ मोड़ना; मेह, थाल, थाली, रली, बद्दल, बद्दली, वच्छा, वच्छि, वणिजारा<वणजारो<वणजार <बंजारा; बड़ी, घटी, घुंट<घूंट, थाट<ठाठ! तेरा, मेरा, तुम्हार<तुम्हारा; अम्हार<हमारा, चट्ट<चट (चटशाला); चंगा, घी, घाट, घरणि, गूझ, गूझा, अमिय, गमार, गई, खेड, खेडा, खोटा, खीजर<खीजना; खाल, खांड, केवडी, केवडो<केवड़ा; कूंड, कूडा, कुंअरि, कुंअरु, कुंवर, कवित्त, कवित, करोडि, करोड, कन्ह, कान्ह, कान्हा, कथीर<कतीर, एग्गारह, खोंसिइं<खोंसना, चडइ<चड़ना इत्यादि।

अनुकरणमूलक और देशी शब्दों से प्राकृत तथा अपभ्रंश दोनों ही भाषाएँ धनी-मानी

हैं। किसी समय 'छु छु' कर पशु आदि को बुलाने के लिए 'छुच्छुक्कर' शब्द प्रयुक्त होता था। आज भी 'छू-छू' कर बुलाते हैं। अपभ्रंश के खुडुक्कर, घुडुक्कर, खोक्खा (खोखा), दडबड, हडबड़, गडबड, टलटल, झलझल, खडखड, तडतड, बुलबुल आदि ऐसे ही शब्द हैं। हिन्दी के खटखट, चटचट, खुड़कना, तडतड, फटफट, चटकनी, खडकनी, मटकनी इत्यादि का विकास इसी धारा से हुआ है। हिं० श० सा० में लुक्का और खुड़कना दोनों ही शब्द नहीं हैं। अपभ्रंश में 'लुक्का' के लिए 'लुक्कु' शब्द मिलता है। पहले इसका अर्थ होता था—लुक-छिप कर देखना, बुरी नजर डालना। बाद में यह 'लुच्चा' अर्थ का वाचक हो गया। अर्थ-संकोच का यह एक अच्छा उदाहरण है। प्राकृत के 'भडक्क' से भड़क तथा तड़क-भड़क (तडक्क-भडक्क), खडुक्क से खुड़कना, खड़कना, घुड़कना (घुडुक्क), और झलकन (झलक्क) आदि पर अपभ्रंश की छाप स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

इस प्रकार शब्दों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रज और खड़ीबोली पर ही नहीं लगभग सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं पर देशी पानी चढ़ा हुआ मिलता है। वैदिक और संस्कृत के सम्बन्ध में भी यह लागू होती है। भारतीय भाषाओं पर भले ही संस्कृत की चमक-दमक हो; उनका भी संस्कार हुआ हो पर वे देशी पानी पीकर ही फली-फूली हैं। भाषाओं के परवर्ती विकास के अध्ययन में यह तथ्य भलीभाँति निरखा-परखा जा सकता है।

सङ्केत विशेष—

सं० रा०	– सन्देशरासक (अब्दुलरहमान)
प० च०	– पउमचरिउ (स्वयम्भू)
गु० रा०	– गुर्जररासावली
भ० क०	– भविसयत्तकहा (धनपाल)
हिं० श० सा०	– हिन्दी-शब्दसागर
प्रा०	– प्राकृत
अप०	– अपभ्रंश
गु०	– गुजराती
म०	– मराठी

संदर्भ-सङ्केत—

१. बहुलं छन्दसि। अष्टाध्यायी, २।४।३९, २।४।७३, २।४।७६, ३।२।८८, ५।२।१२२, ६।१।३४, ७।१।८, ७।१।१०, १।१।१०३, ७।३।९७, ७।४।७८ तथा बहुलं छदस्यमाङ्योगे०, वही, ६।४।७५।

२. "These languages themselves possessed dialects, as is shown by traces in Vedic itself, to say nothing of the Various historic Greek dialects and of Oscan, Umbarian, etc., beside Latin."

ग्रे० एच० लूइस—फाउन्डेशन ऑव लेंग्वेजेज, द्वितीय संस्करण, १९५८, पृ० ३०४।

३. "अपशब्दत्वं व्याकरणानुगतशब्दस्येषशद्भ्रंशन एव प्रसिद्धमिति भावः।—पातञ्जलमहाभाष्यं, १।१।१

४. यथाह संग्रहकारः—'शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः' इति।—वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड), १४९

५. "The language of the Common people of the early Vedic age changed continually and after several centuries assumed the form which we call Prakrit Sanskrit is the reformed, literary and elegant form of the same language at an early stage of its development."
सरकार दिनेशचेन्द्र—ए ग्रामर ऑव दि प्राकृत लैंग्वेज, प्रथम संस्करण, १९४३, भूमिका, पृ० १।

६. राधाकान्तदेव—शब्दकल्पद्रुम, प्रथम संस्करण, द्वितीयकाण्ड, पृ० १२

७. दे०, 'शब्दचन्द्रिका', वही, द्वितीय काण्ड, १८०९ शकाब्द, पृ० २७२।

८. खट्टं कढिआइ खडं तिणम्मि खद्धखरिआ य भुत्ताम्मि खवओ खन्धे असईह खंडई खड्डिओ .मत्ते।—देशीनाममाला, २।६७

९. दे०, वही २।७४

१०. हिन्दी-शब्दसागर (दूसरा खण्ड), पृ० ८९६, ८९८, ६०५, ४३० और ७८०

११. सुखानन्दनाथ—शब्दार्थ चिन्तामणि, पृ० ४६३। 'कट्टारः कटिशस्त्रे।'

१२. वातपित्तकफघ्नस्य द्रव्यस्य कवलं मुखे।
अर्द्धं निक्षिप्य संचर्व्य लिष्ठीवेत् कवले विधिः॥
कवलः कुरुते काङ्क्षां भक्ष्येषु, हरते कफम्।
तृष्णां शौचं च वैरस्यं दन्तचालञ्च नाशयेत्॥ वही, पृ० ५४५

१३. दे०, हिन्दी-शब्दसागर, पृ० ६०५

१४. श० चि०, पृ० ८२४

१५. दे० हिन्दी-शब्दसागर, दूसरा खण्ड

१६. पं० हरिगोविन्ददास—पाइअसद्दमहण्णव (कट्टोरग, दे०), पृ० २७१। प्रथम संस्करण।

१७. खगे कच्चोल थाल ओयारिय, परियल सिप्पि सङ्ख वित्थारिय। स्वयम्भूः पउम चरिउ, २५।११।३

'वीसलदेवरासो' तथा 'भविष्यदत्तरासो' आदि राजस्थानी रचनाओं में 'कचोल' शब्द मिलता है। यथा—

ऊभडी भावज दीयइ छइ सीख।
रतन कचोलइ किम पाडइ भीख॥ वीसलदेवरास ४७

तथा—मूंक्यां सोवनमय बहु थाल मूक्यां कचोलां सुविसाल। दे०, गुर्जररासावली, ६।२०९

१८. तसु सुयण निवेसिय भाइण पेसिय मोहवसण बोलंत खणे,
महु सामिय वक्खरु हरि गउ तक्खरु जाऊँ सरणि कसुपहिय भणे।
अब्दुलरहमान : सन्देशरासक, ९५६।४

१९. 'चंगा', दे० गुर्जररासावली, १।१६८

पउढं तथा पऊढं गृहम्। पउढो गृहस्य पश्चिमप्रदेश इति केचित्।

२०. कप्पासम्मि अ पलही पविआ खगपाणपत्तम्मि।

पउढपऊढा गेहम्मि मिगविसेसम्मि पसओ अ॥—आचार्य हेमचन्द्रः देशीनाममाला,

२१. बड़ी नाव को 'बेड़ा' कहते हैं। गाँवों में आज भी इस शब्द का चलन है। शुद्ध शब्द 'बेडो' या 'बेडा' प्रतीत होता है। कहा भी है—

बुक्कासारो भीरु बुलंबुला बुब्बुए चेअ।

बेली थूणा बेडो तरीइ मंतुम्मि बेड्डबोड्डरया॥—देशीनाममाला, ६।९५

मल्लाह को 'बेडीवाहा' कहा गया है।—गु० रा०, १।११८

२२. स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' में 'विहिय' शब्द प्रयुक्त है। म० प्र०, अवध तथा बुन्देलखण्ड में आज भी 'बिटिया' शब्द प्रचलित है।

२३. दे० वही, 'बूडा' (प्रा० बुड्डइ, गु० बुडवुं, म० बुड़णें) १।५९३

२४. छागम्मि बोक्कडो बोदरं पिहू पव्वहगम्मि बोहित्थो।—देशीनाममाला, ६।९६ संस्कृत में इसके लिए 'वर्करः' शब्द कहा जाता है। यथा—

वर्करः परिहासे स्याच्छागे युवपशावपि।—मेदिनी २७।२१० 'वर्कर' शब्द का परिहास अर्थ प्राकृत और अपभ्रंश-साहित्य में भी देखा जाता है। अनुमान है कि 'वर्कर' का वास्तविक अर्थ मेमना था। 'अमरकोश' की टीका में भरत ने यही अर्थ माना है।

२५. बुंदेलखण्ड तथा ब्रज में 'छोटे' को या 'खोटे' को 'हेटा' कहते हैं।

२६. ब्रजभाषा में 'चबाइ' शब्द चुगली के अर्थ में मिलता है। 'ब्रजभाषा सूर' कोश में इसका अर्थ चुगलखोर है। दे० तृतीय खण्ड, पृ० ४८२

मैया मोंहि दऊ बहुत खिझायौ।

सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत।

सूरस्याम मोंहि गोधन की सौं, हौं माता तू पूत॥—सूरसागर, दशमस्कन्ध, ८३३।

२७. टोला' शब्द आगरे में 'मुहल्ला' के लिए प्रचलित है। यथा—छीपी टोला, घासी टोला आदि।

२८. दे० 'छिल्लर', प० च० १९।६।५

२९. 'सब्बल' लोहे का मोटा डंडा जैसा बड़ा आयुध होता है जो मुँह पर चपटा तेज धार वाला होता है। बुंदेलखण्ड में इसे 'सब्बल' तथा इससे छोटे को 'कुश' कहते हैं।

३०. भंभलसद्दो अधिअजडेसु भित्तं च देरगेहेसु।

भंभलं अप्रियम्। भंभलो मूर्खः।—देशीनाममाला, ६।११०

३१. 'चपयति तण्डुलं शिला।' इति दुर्गादासः। दे० शब्दकल्पद्रुम, पृ० ४३२

भारवि का कृतित्व—अनछुये कुछ प्रेरक पहलू

नवजीवन रस्तोगी

भारवि महाप्राण कवि हैं—आदर्श-स्फूर्त मेधा के मनस्वी स्वामी। उनके जीवन का गंभीर संगीत काव्य के रूप में मुखरित हुआ है जिसमें तरलित है उनका उदात्त, अभिजात और पुरुषार्थी पुरुष। संस्कृत-काव्य में आभिजात्य दो ही कवियों की सम्पत्ति बन पाया है—वे हैं बाण और भारवि। दोनों में अंतर भी है। बाण के आभिजात्य में विलास है, जीवन की सम्पन्नता भरी अनुगूंज है, भारवि के आभिजात्य में जीवन-मूल्यों के प्रति निष्ठा भरा संकल्प है, अध्यवसाय है। स्वस्थ जीवन मूल्यों में यह अपराजेय आस्था भारवि की कविता को रँगती और ढालती है। बाण के शब्दों में रंगों का विलास है, वर्ण-विच्छित्ति है। भारवि की कविता का रंग एक है, पर वह एक रेखा है जो अपनी स्निग्ध, सहज सिधाई से पथिक को सौन्दर्य-लीन करती है, गंतव्य तक पहुँचने के उसके विश्वास को संबल देती है। कुन्तक ने ऐसे ही कवियों के संबंध में कहा है, "जिन महाकवियों के प्रबंध उच्चतर मूल्यों की सिद्धि के लिए नित नए मार्गों का विधान करते हैं, "उन कृतियों में वक्रता का एक विलक्षण सौन्दर्य रहता है।[१]"

गीता की अंतिम उक्ति बड़ी सारगर्भित है। इन शब्दों में संजय की सारी आस्था बोल उठी है कि जहाँ योग के स्वामी कृष्ण और धनुर्धर अर्जुन हैं वहीं श्री, विजय और समृद्धि निहित है।[२] भारवि का सारा का सारा काव्य इसी जीवन-दर्शन का अनुवंदन है। समत्व-बुद्धि[३] और कर्म-कुशलता,[४] इन दोनों को गीता में योग कहा गया है। इनके स्वामी कृष्ण और धनुष लिए अर्जुन दोनों का एक साथ रहना युक्ति और कर्म के एकान्वय-समन्वय का प्रतीक है और यह सहभाव श्री, विजय, और समृद्धि का नियामक बनता है। युक्ति-कर्म, विजय, समृद्धि परस्पर कारण-कार्य के संबंध से बँधे हैं। संजय की बुद्धि और नीति की राह इस क्षेत्र में एकमत है। भारवि की सारी विचार-संपत्ति और नये पथ के अनुसरण का आग्रह सिर्फ श्री, कल्याण और जय की प्राप्ति में पर्यवसित होता है, ऐसी श्री, विजय और विभूति—जिसकी उपलब्धि नीति-पथ और तदनुवर्तिनी व्यवसायात्मिका बुद्धि के समन्वय से ही संभव है। चाप और बाण भारवि के काव्य में इसी के मूर्त प्रतीक बनकर आए हैं। चाप पौरुष का चिह्न है और शर बुद्धिरूपी मंत्री का।[५] यह समन्वय सिद्धि और सम्पत्ति का अमोघ साधन है।[६] अन्वर्थ बाणों में विजय उसी तरह निश्चित है जैसे अन्वर्थ शब्दों में भावार्थ।[७]

प्रो० जानी ने अपने 'क्रिटिकल स्टडी ऑव नैषधीयचरितम्' में किसी अज्ञात लेखक की एक उक्ति उद्धृत की है जिसमें प्रसिद्ध पाँच महाकाव्यों की परम्परा में किरातार्जुनीय की गिनती

पुरुष काव्य की कोटि में की गयी है।[८] लेखक का अभिप्राय चाहे जो भी हो, उसकी व्यंजना के सम्बन्ध में भारवि हमें संदेह और ऊहापोह का अवसर नहीं देते। वे पुरुष प्रधान काव्य के सिरजनहार हैं, पुरुष-कवि हैं, कवियों में पुरुष हैं और उनका काव्य पौरुष का काव्य है। पूरे काव्य में क्लीवता, निराशा और क्लान्ति की एक क्षीण आवाज तक सुनाई नहीं देती। जीवन के प्रति दृढ़ आस्था एवं प्रबल उल्लास उनके काव्य की संवेद्यभूमि और सृजन का प्रेरकसूत्र एक साथ बनते हैं।

भारवि का स्वर अपने उत्तरदायित्व के प्रति सचेत कवि का स्वर है। वह जीवन के प्रति सजग हैं और जीवन को उसकी सार्थकता में जीना चाहते हैं। उनका यह दायित्व बोध उनके रचना-शिल्प में भी छूटा नहीं है। इसीलिए कुन्तक ने उन्हें 'अवहित कवि' कहा है।[९] कालिदास और भारवि में इसी कारण मौलिक अंतर आ जाता है। कालिदास सौन्दर्य के कवि हैं, भारवि स्वस्ति के। कालिदास के लिए सौन्दर्य पुरुषार्थ है, भारवि के लिए पुरुषार्थ सौन्दर्य है, कमनीय है। कालिदास सौन्दर्य से स्वस्ति तक आते हैं, भारवि स्वस्ति के माध्यम से सौन्दर्य तक पहुँचते हैं। पर दोनों ही अपना काम्य रसपेशल संवेदना और सहजानुभूति के धरातल पर उपलब्ध करना चाहते हैं, अतः कवि के कृतित्व का रागात्मक श्रृंगार बना रहता है। कवि-कर्म में सौन्दर्य-बोध और स्वस्ति चेतना एक दूसरे की पूरक हैं। अतः कालिदास और भारवि दोनों महाकवि हैं, केवल उनका महाकवित्व दो भिन्न बिन्दुओं पर उभरता है।

इस प्रकार भारवि की कल्याणी-गिरा में उनकी स्वस्ति चेतना अनुगुंजित है और अपने इस स्वस्ति संकल्प को भारवि ने सुन्दर और अन्वर्थ शब्द दिये हैं "श्री"—"लक्ष्मी।[१०]" दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं और भारवि के काव्य-सरित् के दो छोर हैं। एक से कविता की धारा उमगती है और दूसरे पर विश्रान्त होती है। रास्ते में कछार का हर घाट 'लक्ष्मी' से बना है। तरंग का हर कम्प श्री-मय है, सश्रीक है। श्री पर भारवि की इतनी जबर्दस्त निष्ठा है कि श्री उनके लिए अशेष-मांगल्य का वाहक बन बैठती है। फलतः काव्य के प्रारम्भ के लिए उन्हें किसी मंगलवाची शब्द की खोज में भटकना नहीं पड़ता।[११] "लक्ष्मी बार बार तुम्हारे पास आए" यह द्रौपदी की आकुल आकांक्षा भी है और काव्य के नायक अर्जुन का निष्कंप संकल्प भी।[१२] श्री, स्वयं श्रेय से भी श्रेयस्कर है। अमोघ सफलता का पहला गुण श्री को आकर्षित कर लेना है।[१३] अपने अस्तित्व को अखण्ड-अक्षुण्ण रखने वाला अकृशलक्ष्मी मनुष्य ही महार्घ पौरुष का अधिकारी है।[१४] अखण्ड तप के द्वारा अर्जुन की एकमात्र अभिलाषा लक्ष्मी को पा लेना है।[१५] श्री के बिना मुक्ति भी विजय की राह में बाधक है।[१६] अर्जुन के प्रति इंद्र का अंतिम वर लक्ष्मी को उत्कंठित कर सकने का आश्वासन मात्र है।[१७] शिव श्री, से युक्त हैं।[१८] तपः लक्ष्मी से दीप्त[१९] धनंजय शोभा तो पाते ही हैं,[२०] जयलक्ष्मी उनको वरती भी हैं।[२१] जयिनी भुजवीर्यलक्ष्मी के सहारे अर्जुन जय की महत्वाकांक्षा सोच रहे हैं।[२२] कीर्ति और लक्ष्मी की अभीप्सित सिद्धि के लिए प्रकृष्ट पराक्रम और सत्व की कामना भारवि के लिए सर्वोत्तम वस्तु की प्रार्थना करने के बराबर है।[२३] जिस समृद्धि से विजयाभियान में सहायता मिलती है अर्जुन उसी की याचना करते हैं।[२४] और इसीलिए जयलक्ष्मी से अन्वित अर्जुन से हमारा अंतिम और भावपूर्ण परिचय कराकर गीतकार की भाँति भारवि जयलक्ष्मी के प्रति हमारे उत्साह को भी एक प्रेरणा मधुर-स्पर्श दे जाते हैं।

इस प्रकार भारवि जिस "श्री" और "लक्ष्मी" के उद्‌गाता हैं वह अपने व्यापकतम अर्थों में अपनी समृद्धतम मण्डन-श्री के साथ उनके काव्य में व्यक्त हुई है। शोभा, संपत्ति, समृद्धि, राज्य, विजय, विभूति, चंचल वैभव, मनोरमता, वर्णता, श्रेय आदि परम्परागत अर्थों की वाचक हो कर भी "श्री" और "लक्ष्मी" एक नए एवं उदात्त अर्थ को भी व्यक्त करती हैं—उच्चतम जीवन-मूल्य, परमकाम्य, चरम उपलब्धि। जीवन में जो कुछ भी शिव और काम्य है, वही "श्री" का अभिधेय भी है। श्री शब्द को इतनी समर्थ अर्थवत्ता दे पाने के कारण ही भारवि की आतपत्रलक्ष्मी[२५] उन्हें आतपत्रभारवि की सार्थक कीर्ति दे जाती है। यहीं नहीं, जहाँ कहीं भी "श्री" और "लक्ष्मी" का स्वतन्त्र प्रयोग हुआ है वे जीवन के परम प्रयोज्य, साध्य या लक्ष्य की वाचक बन कर ही आ पायी हैं।[२६] दीप्ति, रुचि, छाया, कांति, विलास, विभ्रम, चारुता, संपत्, शोभा आदि अनेक शब्दों का स्वतन्त्र प्रयोग स्वयं श्री के अर्थ में हुआ है। इस पर भी श्री और लक्ष्मी के स्वतंत्र प्रयोगों की संख्या भारवि के अवेचतन स्तर पर मचलती श्रेयोपजीवा चिन्तनपद्धति को उभार जाता है। भारवि की "श्री" की अर्थगत व्यापकता मर्यादा और अभिविधि दोनों को समेट लेती है। उनके लिए विजय श्री है, लक्ष्मी है। कवि को "जय-श्री" अत्यन्त प्रिय है।[२७] राज्य[२८] ही नहीं स्वयं राजा भी श्री-रूप है।[२९] समृद्धि, प्रकर्ष भी श्री ही हैं।[३०] मानसी चेष्टाएं, हमारे कार्य व्यापार, हमारे शरीर के अवयव, तन की कान्ति, वनस्थली की शोभा, ऋतुओं का चक्र, काल का गतिक्रम, बाहरी विकार, लक्ष्मी की चंचलता, गुण, उपयोगी पदार्थ, वंश परम्परा, हमारे लक्ष्य, आयुध तथा सामर्थ्य सभी कुछ श्री की अपनी भूमि है। भारवि की सौन्दर्य-सृष्टि में समुद्र जलधि-श्री,[३१] आकाश नभः श्री,[३२] सुगन्धि परिमलजा लक्ष्मी,[३३] खिले हुए पलाश के फूलों का ढेर विकचपलाशचयश्री,[३४] तन्वंगी लता श्री मल्लता,[३५] स्थिर कमल अचलनलिन लक्ष्मी,[३६] जंगल वन-श्री,[३७] फसल सस्यसंपत्,[३८] शरत् शरत् गुण श्री,[३९] बरसात घनागमश्री[४०], बसन्त ऋतु बसन्त लक्ष्मी,[४१] नगर के उपवन पुरोपवनजा लक्ष्मी[४२] बन कर उल्लसित होते हैं। और यह सौन्दर्य-भरी दृष्टि हमारे सहज प्रत्यक्ष को अनुभूति की सम्पन्नता से रंग जाती है।

हमारा उद्दाम पौरुष, बल, तपोमय जीवन, विजय क्रमशः भारवि के लिए तेजःश्री,[४३] भुजवीर्य लक्ष्मी,[४४] तपः लक्ष्मी,[४५] गुरुजय लक्ष्मी[४६] की शब्दावली में अभिव्यक्ति पाते हैं। दिन, हमें दिन-श्री[४७] या वासर-लक्ष्मी[४८] बन कर मिलता है। अधर, कपोल, दांत, उंगलियाँ कहने में कवि के रस बोध का वह उन्मेष नहीं होता जो अधर पल्लव श्री,[४९] कपोल लक्ष्मी[५०] कान्तदन्त पदमण्डन लक्ष्मी,[५१] कुपितन्तकतर्जनांगुलि श्री[५२] में होता है। धनुष, छाता, पलंग और पताका तक धनुः श्री,[५३] कनकमयातपत्र लक्ष्मी,[५४] शयनीय लक्ष्मी,[५५] एवं तुरंगकेतु लक्ष्मी के वाच्य बन कर रम्य हो गए हैं। अलंकार, प्रसाधन, गुण तो स्वतः श्री रूप हैं।[५६] हाथी, घोड़े तक श्रीयुक्त हैं।[५७] हास्य का अपना निराला वैभव होता है।[५८] यौवन का मादक विलास 'यौवन-श्री' से ही व्यंजित हो पाता है।[५९] हमारा व्यक्तित्व वंशलक्ष्मी[६०] का रक्षक बन कर ही अक्षत रह सकता है, भले ही फिर वह चाहे जिस पर हावी हो जाए।[६१] इन्दु की ज्योत्स्ना हो[६२] चाहे कुसुम-संभार सौन्दर्य की, श्री की सृष्टि होती ही है।[६३] हमारे मन की प्रत्येक भावतरंग,[६४] हमारी आकृति की एक एक विकृति हमारे मांसल सौन्दर्य की ही तो व्यंजक है। प्रसादलक्ष्मी,[६५] मद-श्री,[६६] रात्रिसंभोग लक्ष्मी[६७] हमारी कुरूप चेष्टाओं को सौन्दर्य के धरातल पर उन्मिषित कर उनकी आंतरिक प्रसन्नता को,

लक्षित करती हैं। वैसे ही जैसे कीचड़ में उपजा कमल पंक के जल की असीम स्वच्छता को व्यक्त करता है। "श्री" चपला लक्ष्मी के केलिविलास की विभिन्न मुद्राओं को भी उन्मीलित और कलाभिषिक्त करती आई है।[६८] स्वयं शब्द और अर्थ की परम्परा तक संपत्ति, लक्ष्मी बन कर ही आ पाई है।[६९]

यहां पर केवल कुछ ही उदाहरणों को इकट्ठा किया गया है, तब भी इनसे श्री एवं लक्ष्मी के प्रयोग के प्रति भारवि के आग्रह की आकृति व प्रकृति का अच्छा परिचय मिल जाता है। यह भी स्पष्ट है कि भारवि ने हमारे जीवन के प्रत्येक पहलू को उसकी विशद विविधता में श्री और लक्ष्मी से अन्वित, विलसित और समीकृत कर शिव और सुन्दर के, काम्य और कमनीय के युगपत् विनियोग की सूचना ही नहीं दी है, एक जीवित सांस्कृतिक आदर्श को काव्य की आत्मा के रस से अभिसिंचित भी किया है। और इस अभिषेक से नए काव्य-आदर्श के अंकुर भी फूटे हैं।

भारवि का यह श्री-दर्शन जीवन के उनके अंतरंग अनुभव, सहज उदार दृष्टि, निकट का पर्यवेक्षण और सौन्दर्य-पृथुलतलोन्मेषी मेधा पर आधारित है। निरीक्षण से उपलब्ध सत्य को उन्होंने अपनी कल्पना की नहीं अपितु जागतिक विवेक की कसौटी पर कसा है। कवि-कर्म उनका केवल इतना रहा है कि सर्जनात्मक प्रतिभा में शिव-चेतना को संचरण का पूरा मौका मिला है। जीवन में शिव के इसी स्तर पर उन्होंने सौन्दर्यमयी अनुभूति को घटित किया है। पौरुष, अनुशासन और सिद्धि ये जीवन की निर्बाध और निराकुल गतिशीलता के केन्द्रबिन्दु हैं।

श्री, जीवन का परम पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ-सिद्धि पौरुष-सापेक्ष है। नीति के बिना पौरुष असफल रहता है अर्थनीति रहित अर्थ का, प्रयोजन का तिरस्कार नैषधकार ने भी किया है।[७०] नीति और अनुशासन एक दूसरे की पर्याय हैं। गीताकार की 'युक्ति' या 'योग' यही है। युक्ति से पुष्ट कृति अर्थवती होती है। नीति पौरूष की सहायक है, श्री की साधक है, जय का कारण है।[७१] समयानुकूल नीति-पथ का आश्रय पौरुष एवं वर्चस्व के विस्तार का आधार बनता है।[७२] नीति से पायी गयी सिद्धि व्यक्ति के सत्व और ऊर्जा का भूषण है।[७३] गुण सम्पत्ति, श्री और तेजस्विता की वृद्धि नया चरण के अनिवार्य परिणाम हैं।[७४] जो अपनी परिस्थितियों पर हावी हैं उनका सारा चिन्तन क्रम नीतिपथ का ही अनुवर्तन करता है।[७५] नीति के अनुशासन में स्थिर हो टिक सकना विजिगीषा की पहली शर्त है।[७६] भारवि का दुर्नीति के दुष्प्रभावों से भी गहरा परिचय है। हमारी अज्ञता की दौड़ बड़ी लम्बी है। हमारी मूढ़ता हमें नीति मार्ग से फिसला देती है। लोक जीवन में नीति से विमख व्यक्ति का सामाजिक अस्तित्व शून्य और ओछा बन जाता है।[७७] नीति के विरुद्ध जाने वाले को असफलता और निराशा ही हाथ लगती है।[७८] दुर्नीति या नीति-भ्रंशता विजयकाम व्यक्ति को जर्जरित कर देते हैं।[७९] दुर्विनय, अवसान और पतन का हेतु है।[८०] इस प्रकार भारवि ने जय-श्री, सिद्धि, प्रभुता, पौरुष, यश-महिमा, गुण-गरिमा सब का मूल कारण जीवन के विधिवत् अनुशासन को माना है।

नीति-दर्शन को भारवि ने दो पद्धतियों के सहारे पल्लवित किया है। एक है कथन-पद्धति; जिसमें अन्वय-मुख और निषेधमुख दोनों ही शैलियों का आश्रय लिया गया है। अन्वय-शैली में अनुशासन के स्वरूप और महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। निषेध के सहारे दुर्नय के परिणामों और विभीषिकाओं का अंकन किया गया है। दूसरी है अलंकार-पद्धति; जहाँ वचन-वक्रता,

और अप्रस्तुत विधान के सहारे नीति, तत्सम्बन्धी गुण या प्रभाव को ले कर महत्वपूर्ण निष्कर्षों को व्यक्त किया गया है। भारवि के मन्तव्यों को ठीक से समझ पाने के लिए जहाँ पहली पद्धति उपयुक्त सिद्ध हुई है, वहीं दूसरी पद्धति से काव्यसंस्कार और काव्य-सौन्दर्य की निष्पत्ति हुई है। चूंकि दोनों ही पद्धतियाँ पृथक् न चल कर संसृष्ट रूप से चली है, भारवि के आत्मीय दर्शन को कलात्मक परिवेश के कारण समृद्ध अभिव्यक्ति निरन्तर मिलती गयी है।

इसका प्रभाव हमें एक विशेष क्षेत्र में बिल्कुल साफ दिखाई पड़ता है। कालिदास उपमाओं के कवि हैं, बाण उत्प्रेक्षाओं के और भारवि अर्थान्तिरन्यास के। चित्र-सौन्दर्य के प्रतिबिम्बन के लिए उपमा, उत्प्रेक्षा अलंकार सबसे अच्छे साधन हैं। अर्थान्तिरन्यास वस्तु के चित्र सौन्दर्य को नहीं उसके अर्थ-सौन्दर्य को उभारता है। दूसरे अर्थ का विन्यास कथ्य का पोष, समर्थन करता है। उपमा, उत्प्रेक्षा बिम्ब का प्रतिबिम्ब देती है—सौन्दर्य दुगुना हो जाता है। अर्थान्तिरन्यास दूसरी परिस्थिति को सामने लाता है, वस्तु-बोध की गरिमा स्फुट हो जाती है। यही नहीं, कवि के रचना-शिल्प के सभी आयाम इससे प्रभावित हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र भारवि की इस विदग्ध उपलब्धि से अत्यन्त चमत्कृत हुए हैं। नीति और अनुशासन को ले कर कवि की वंशस्थ-मुखर काव्यात्मक उद्भावना की प्रशंसा किए बिना वह नहीं रह सके हैं।[८१] यह बात कवि के कृतित्व के मूल-तन्तुओं तक हमें पहुंचा देती है।

जहाँ भारवि ने महाभारत से कथा के आधारभूत तंतु चुने हैं, वहीं सृजन और संहार की संधि रेखा पर रची गई इस मूल कथा-वस्तु से उन्होंने कथा की प्रतीकार्थकता भी ग्रहण की है। उनके काव्य की तात्विक रेखाओं में सत्य और सिद्धान्तों के अमूर्त तागे प्रतीकों के मूर्त और चटकीलें रंगों में रँगे जा कर निखरे हैं। भारवि जीवन के मनीषी कवि हैं। समग्र जीवन, संबंध और अर्थ—का एक ही लक्ष्य है वह है उच्चतर स्थिति का वरण। असत् से सत् की ओर जाने का आर्ष-संकल्प, कवि की तन्मयता तरल वाणी के आर्द्र स्वरों में व्यक्त हो रहा है। अथर्व-श्रुति का यह ओजस्वी आह्वान—"उद्यानं ते पुरुष ! नावयानम्" (अरे पुरुष, तेरा मार्ग ऊपर की ओर है नीचे की ओर नहीं) उनके काव्य का अंतर्मर्म है। हमारे जीवित रहने का सारा उपक्रम उच्चतर और निम्नतर के युद्ध में उच्चतर के वरण के प्रति तैयारी मात्र है। आचार, अनुशासन और थोथे उथले मूल्यों के सतत संघर्ष में विजय पाना ही जीवन का परम अर्थ है, प्रयोजन है। उत्साह, मनस्विता और आत्मविश्वास सुचिन्तित नीति के अनुशासन में बँध कर श्रेय-प्रेय को बरबस खींच लाते हैं। दुर्योधन जीवन के उस दुर्बल पक्ष का प्रतीक है जो अपनी सारी शक्ति लगा कर व्यक्ति को पराभूत कर लेना चाहता है। धनंजय जिगीषा के प्रतीक हैं और उनका चाप तथा बाण, पौरुष एवं बुद्धि के समन्वय का। तपोविधि की सारी कल्पना आचार और अनुचिन्तन का नीति रूप अनुशासन है जिसमें नियंत्रित है अर्जुन का दुर्धर्ष पौरुष, अदम्य साहस जिसके सहारे जय श्री के जीतने का संकल्प सधता है। युधिष्ठिर का विश्वास सारी तप-साधना में धनंजय को अपने उत्तरदायित्व के प्रति सचेत रखता है। समरभूमि में युधिष्ठिर रूपा यह आशा अंततः "जयिनी" होती है। भारवि के प्रसिद्ध अर्थ गौरव की अन्यतम सिद्धि रूपकों की भाषा में प्रतीकार्थकता के सहारे यहीं पर हो जाती है।

महाभारत से प्रासंगिक कथांश का ग्रहण भारवि की इसी मौलिक दृष्टि से प्रभावित है।

भारवि के विषय का निर्वाचन और प्रतिपादन जिस अभिमत अर्थ का पोषण करता है उससे, आनंदवर्धन के शब्दों में, उसका महाकवित्व प्रतिष्ठित और पुष्ट होता है—"परस्वादानेच्छाविरत मनसः सुकवेः सरस्वत्येषा भगवती यथेष्टं घटयति वस्तु। येषां सुकवीनां प्राक्तनपुण्याभ्यासपरिपाकवशेन प्रवृत्तिस्तेषां परोपरचितार्थपरिग्रहनिःस्पृहाणां स्वव्यापारो न क्वचिदुपयुज्यते। सैव भगवती सरस्वती स्वयमभिमतमर्थमाविर्भावयति। एतदेव हि महाकवित्वम् महाकावीनाम्।"*—

*ध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत, अंतिम पक्ति।

संदर्भ-सङ्केत—

१. नूतनोपायनिष्पन्ननयवर्त्मोपदेशिनाम्।
महाकविप्रबन्धानां सर्वेषामस्तिवक्रता॥ वक्रोक्तिजीवित, ४-२६

२. यत्र योगेश्वरः कृष्ण यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्री विजयोभूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ गीता अध्याय १८

३. समत्वं योग उच्यते।

४. योगः कर्मसु कौशलम्।

५. "इतितेन विचिन्त्य चाप नाम प्रथमं पौरुषचिह्नमाललम्बे।
उपलब्धगुणः परस्य भेदे सचिवः शुद्ध इवाददे बाणः॥—किराता० १३-१४

६. "स क्षत्रियस्त्राणसहः सतां यस्तत्कार्मुकं कर्मसु यस्य शक्तिः।
वहन् द्वयीं यद्यफलेऽर्थजाते करोत्यसंस्कारहतामिवोक्तिम्॥" किरात० १-५; ३-४८

और भी देखिए

"अथापदामुद्धरणक्षमेषु मित्रेष्ववास्त्रेषु तिरोहितेषु।
धृतिं गुरु श्रीगुरुणाभिपुष्यन् स्वपौरुषेणेव शरासनेन॥' कि० १३-३९; १७-१

७. "जगं यथार्थेषु शरेषु पार्थःशब्देषु भावार्थमिवावशंसे।"—वही, १७-६

८. "द्वे स्तोत्रे प्रकृतेः पुंसो द्वे, चेकमुभयोरपि।
पंचस्वेतेषु पांडित्यं पुरुषार्थो हि पंचमः॥

रघुवंशकुमारसंभवे स्त्रीप्रधाने, किरातार्जुनीयमाघकाव्ये पुरुषप्रधाने, नैषधाख्यं काव्यं स्त्रोपुरुषप्रधानम्। ओरियण्टल इंस्टिट्यूट, बडोदा, हस्तलिखित प्रति सं० १०८८।

९. वक्रोक्तिजीवित १-७ पर कुन्तक की स्वोपज्ञ वृत्ति।

१०. आर० वी० कृष्णमाचार्य ने भारवि काव्य को 'लक्ष्मीपादांक" कहा है। देखिए, एम० कृष्णमाचारियर कृत "हिस्ट्री आव क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर" पृ० १५१ में उद्धृत।

११. "श्रियः कुरुणामधिपस्य पालनीम्"—किरात १-१।

माघ का काव्य भी "श्री" से प्रारम्भ होता है। परन्तु माघ का जोर "श्री" पर न होकर 'श्रीपति' या 'श्रियः पतिः' पर है। इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि माघ का श्री-प्रयोग जीवन-दर्शन के कारण होकर सम्प्रदाय विशेष के धार्मिक आग्रहों से प्रभावित है। हाँ, माघ भारवि से भी प्रभावित है, कम से कम इस शब्द के व्यापक प्रचलन को लेकर।

१२. किरात० १-४६।

१३. वही ३-७।

१४. अकृशमकृशलक्ष्मीश्चेतसाशंसितं स स्वमिव पुरुषकारं शैलमभ्याससाद।" वही ५-५२।

१५. वही १०-६३।

१६. वही ११-६९, १३-४०।

१७. वही ११-८१।

१८. वही १२-५४।

१९. वही १२-४७।

२०. वही १५-१३, १७-५०।

२१. वही १४-६५।

२२. वही १६-६४।

२३. वही १७-६४।

२४. वही १८-४३।

२५. किरात ५-३९

२६. उदाहरण के लिए देखिए, किरात—१-१, १-३१, १-४६, २-६०, ५-२४, ७-१, ७-५, ७-२७-८, ७-३७, ८-२४, ८-३८, ८-४०, ८-४४, ८-५०, १०-६३, ११-३९, ११-८१, १४-१८, १५-५३, १६-६३, १७-१ आदि।

२७. वही ३-१७, ४-११, ४-२१, ९-३३, ११-६९, १३-४०, १४-६५, १५-५३ आदि।

२८. वही १-१

२९. वही १-४४, २-१४, १५

३०. वही ४-४

३१. वही ९-९। ३२. वही ४-२८, ९-१६। ३३. वही १०-१। ३४. वही १०-२७। ३५. वही ५-२८। ३६. वही ६-४६। ३७. वही ८-२०। ३८. वही ४-१८। ३९. वही ४-२ ६-७५। ४०. वही ४-२२। ४१. वही १०-३१। ४२. किरात० ७-४०। ४३. किरात०, १७-५५। ४४. वही १६-६४। ४५. वही १८-४७। ४६. वही १८-४८। ४७. वही ३-५०। ४८. वही ९-२। ४९. वही ४-७। ५०. वही १०-५७। ५१. वही १९-५९। ५२. वही १३-२५।

५३. किरात० ४-३६। ५४. वही ५-३९। ५५. वही ८-५७। ५६. वही ६-३३, १०-१, ११-११। ५७. वही ७-१। ५८. वही ८-४४। ५९. वही १०-१७, ११-१२। ६०. वही ११-६९ ६१. आक्रान्तलक्ष्मीकः", वही ११-७। ६२. वही १२-१२। ६३. वही २-५९। ६४. वही ३-६०। ६५. वही ३-२। ६६. वही ७-३, ९-६३। ६७. वही ९-७८। ६८. वही १-३१; २-१९, २-३९, ११-२१, ११, २४-२५। ६९. वही १-१५, १४-५।

७०. अर्थो विनेवार्थनयो पसीदन्नाल्पोऽपि धीरैरवधीरणीयः।

७१. नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः। किरात १-७

७२. विभज्य नक्तंदिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम्। वही १-९

७३. वही २-३२। ७४. वही ५-२४। ७५. वही ६-३८। ७६. वही १०-२९। ७७. वही २-४९। ७८. वही ११-४३। ७९. वही १३-२९। ८०. वही २-५२।

८१. षाड्गुण्यप्रगुणानीतिर्वंशस्थेन विराजते।
नीतिर्यथा भारवेः।" सुवृत्ततिलक ३-१८

और भी देखिए—

वृत्तछत्रस्य सा कापिवंशस्थस्य विचित्रता।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता॥ वही ३-३१।

मृच्छकटिक—एक सामाजिक अनुशीलन

सिद्धेश्वरी नारायण राय

संस्कृत के नाटकों में शूद्रक-कृत मृच्छकटिक का स्थान विशिष्ट है। इसकी रचना गुप्त-काल में हुई थी। नाट्य-कला के अपेक्षित गुणों के समाहार के अतिरिक्त यह कृति सामाजिक अध्ययन की दृष्टि से भी बड़े महत्व की है। समाज के भिन्न-भिन्न पहलुओं को कवि ने जिस रूप में नाटकीय कलेवर से संघटित किया है वह उसकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति, व्यापक अनुभूति तथा यथार्थोन्मुखी दृष्टि का द्योतक है। प्रस्तुत निबंध में इस वस्तु का विवेचन किया जायगा कि इस नाटक के विभिन्न स्थल तत्कालीन समाज की रूप-रेखा तैयार करने में किस सीमा तक सहायता पहुँचाते हैं।

वर्ण-व्यवस्था--मृच्छकटिक के रचना-काल के समय वर्ण-व्यवस्था प्रतिष्ठित हो चुकी थी समाज के नियमन में स्मृतियों के निर्देश क्रियाशील थे। मनु को आदर्श के रूप में ग्रहण किया जाता था।[1] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र चारों वर्णों के कर्तव्य निर्धारित हो चुके थे। ब्राह्मण का प्रधान कर्तव्य अध्ययन था। वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण की समाज में विशेष प्रतिष्ठा थी। उसकी जीविका अकष्ट-साध्य तथा सुलभ थी।[2] श्रीसंपन्न तथा प्रतिष्ठित ब्राह्मणों का सन्निवेशभूत समाज आदर्श माना जाता था।[3] व्रत उपवास आदि धार्मिक कृत्य तभी सफल हो सकते थे जबकि इनमें ब्राह्मण निमंत्रित हों।[4] वह गाय के तुल्य पूज्य था तथा उसकी इच्छा को पूर्ण करने की यथेष्ट चेष्टा की जाती थी।[5] ब्राह्मण का शाप लोगों के भय का कारण था।[6] उसका धन पवित्र तथा अहार्य माना जाता था।[7] ब्राह्मण के सामने वाहन आदि से जाना अनुचित था।[8] यज्ञोपवीत धारण करना ब्राह्मण के लिए अनिवार्य था। यह ब्राह्मणत्व का द्योतक था। कभी कभी ब्राह्मण इससे 'प्रमाणसूत्र' आदि का भी कार्य लेता था। मुक्ता, सुवर्ण आदि के अभाव में भी यह ब्राह्मण के लिये परम अलंकरण माना जाता था।[9] नित्य-नैमित्तिक नियमों का पालन करना सच्चे ब्राह्मण की कसौटी थी। इसका ज्वलन्त उदाहरण चारुदत्त का चरित्र है। विषम परिस्थितियों में भी उसके संध्यादि दैनिक कृत्य निर्बाध रूप में चलते हैं।[10] क्षत्रिय वर्ण में शास्ता, रक्षक धर्म-प्रवण आदि का समाहार था। उसका उदात्त सामाजिक स्तर 'द्विज' शब्द से ही अभिव्यक्त हो जाता है जो राजा शूद्रक के लिए विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया है। शूद्रक के प्रति निरूपित प्रशंसात्मक वचनों के द्वारा क्षत्रिय तथा शासक के सभी प्रधान कर्तव्य स्पष्ट हो जाते हैं। उसकी शक्ति अबाध थी। समर उसका व्यसन था। उसमें प्रमाद का अभाव था। अपने शासन को उसने अश्वमेध-यज्ञ संपन्न कर सफल बनाया था।[11] नाटक के भरत-वाक्य में धर्मनिष्ठ होना

तथा शत्रुओं को पराभूत करना राजा के विशेष कर्तव्य माने गये हैं।[१२] यज्ञ करना तो मानो उसके लिए अनिवार्य-सा था। यहां तक कि दुराचारी राजा पालक के भी यज्ञ-आचरण के प्रति संकेत मिलते हैं।[१३] वैश्य का कर्त्तव्य क्रय-विक्रय था। सामान्यतः उसे वैश्य अथवा वणिक ही कहते थे। पर कभी-कभी समृद्ध व्यापारी को 'सार्थवाह' की भी संज्ञा दी जाती थी। कर्मों के विपर्यय के कारण ब्राह्मण भी सार्थवाह हो सकता था। चारुदत्त को 'द्विज-सार्थवाह' कहा गया है।[१४] विक्रय-कार्य में वणिक सक्रिय रहता था। वसन्तसेना के धरोहर सुवर्ण-माण्ड से मुक्त होने के बाद मैत्रेय अपनी उपमा उस व्यापारी से देता है जो अपनी सामग्रियों को बेचकर चैन से सोता है।[१५] वणिक अपनी धूर्त्तता के लिए कुख्यात था। चारुदत्त से मैत्रेय कहता है कि अलोभी वेश्या तथा अवंचक वणिक की संभावना भी नहीं की जा सकती है।[१६] शूद्र सेवा-कार्य में नियुक्त किये जाते थे। उनका जीवन अपने स्वामी के संकेत पर निर्भर था। प्रायः उन्हें दास-वृत्ति अपनानी पड़ती थी। कार्य-अकार्य के निर्णय में उनकी स्वेच्छा का कोई भी स्थान नहीं था। सामान्य परिस्थितियों में दासता से मुक्ति संभव नहीं थी।[१७] चाण्डाल चतुर्वर्ण-परिधि के बाहर थे। उनका एक प्रधान होता था। उनका व्यवसाय घृणित था। वे जल्लाद का कार्य करते थे। मनुष्य का सिर काटने में वे जरा भी नहीं हिचकते थे।[१८]

स्त्रियों की दशा—मृच्छकटिक के स्थलों द्वारा स्त्री-समाज की दशा पर भी प्रकाश पड़ता है। स्त्रियों की रक्षा करना लोग अपना प्रशस्त कर्तव्य समझते थे। स्त्री का वध करना अधर्म माना जाता था। चारुदत्त के घर में शर्विलक चोरी करने जाता है। घर के सभी सदस्य सो रहे हैं। पर अचानक रदनिका जग जाती है। वह अन्य लोगों को जगाने का उपक्रम करती है। शर्विलक उसका बध करने जाता है। पर उसके स्त्री होने के कारण वह अपने निश्चय को बदल देता है।[१९] राज-श्याल शकार अपने अनुचर विट को वसन्तसेना का बध करने के लिए बाध्य करता है। पर विट इस जघन्य कार्य के लिये उद्यत नहीं होता क्योंकि ऐसा करने से उसे परलोक रूपी नदी को पार करना दुष्कर हो जायगा।[२०] स्त्री गृहस्वामिनी मानी जाती थी। गृहान्तर का समस्त भार उसी के कन्धे पर था। संगीतशाला को सज्जित करने के उपरान्त सूत्रधार घर लौटता है। वह अपनी पत्नी के द्वारा रचे हुये घर के 'संविधानक' को देखकर प्रसन्नचित्त हो जाता है। इस वैभव-बहुल वातावरण का कारण उसे मालूम नहीं है। अतएव वह अपनी 'कुटुंबिनी' को बुलाकर परामर्श लेता है।[२१] स्त्री उस सुहृद् के तुल्य मानी जाती थी जो समय तथा कुसमय में अपनी सहायता तथा सहयोग प्रदान करती है। अपने मित्र को संकटापन्न देखकर शर्विलक उसके उद्धार के लिये बद्धपरिकर हो जाता है। वह उसकी उपमा वनिता से देता है जो प्रिय होने के कारण सुरक्षा के योग्य है।[२२] स्त्री में मार्दव तथा स्नेह का सन्निधान था। शकार का सहृदय अनुचर विट वसन्तसेना की उपमा लता से देता है जिसके पल्लवों को काटना उचित नहीं है।[२३] बधू का पद अत्यन्त अभिलषणीय माना जाता था। वसन्तसेना उस समय स्वयं को कृतार्थ मानती है जब राज्याभिषिक्त होने के उपरान्त चारुदत्त उसे 'बधू' शब्द से अनुगृहीत करता है।[२४] पतिव्रत का स्थान महत्वपूर्ण था। सती स्त्री जन्मान्तर में भी उसी पति को पाने की कामना करती थी। सूत्रधार की पत्नी इसी दृष्टि से 'पारलौकिक-व्रत' का अनुष्ठान करती है।[२५] पति उसके लिए जीवन के तुल्य था। घर में चोरी होने के उपरान्त जिस समय चारुदत्त की पत्नी

उसे सकुशल एवं अक्षत शरीर देखती है, वह अपने जीवन को धन्य मानती है।[२६] उदार एवं विशाल हृदय वाली नारी सभी परिस्थितियों में अपने पति के लिए परम संतोष का कारण थी। विषम और दारुण दशा में पड़ा हुआ चारुदत्त सुख-दुख में सदा साथ देनेवाली अपनी 'विभवानुगता' भार्या पर गर्व करता है।[२७]

सती तथा पर्दा-प्रथा का प्रचलन—सती-प्रथा प्रचलित थी। जिस समय चारुदत्त को मृत्यु-दण्ड मिलता है, उसकी पत्नी प्रज्वलित पावक में प्रवेश करना चाहती है। इस अवसर पर उसके सुत-स्नेह का बन्धन भी शिथिल हो जाता है।[२८] सती-प्रथा की भाँति पर्दा-प्रथा भी विद्यमान थी। मुख-अवगुण्ठन सुहाग का द्योतक माना जाता था। परिणीता स्त्री के लिए यह गर्व का कारण था। मदनिका का पति उसे वसन्तसेना का ऋणी मानता है जिसके कारण उसे 'बधू' शब्द तथा अवगुंठन प्राप्त हुआ।[२९] वसन्तसेना तथा चारुदत्त का परिणय-सुयोग संपन्न होने के उपरान्त जब वसन्तसेना बधू बनती है, शर्विलक उसे अवगुंठन-युक्त कर चारुदत्त को समर्पित करता है।[३०] धनिक-वर्ग की स्त्री जिस वाहन से जाती थी उसे अवगुंठन-युक्त करते थे। राजश्याल ने वसन्त-सेना को लाने के लिये जिस प्रवहण को भेजा था, उसमें अवगुंठन लगा हुआ था।[३१]

स्त्री के प्रति अनुदार दृष्टिकोण—ऐसे स्थल भी प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर स्त्रियों की गिरी हुई दशा का अनुमान लगाया जा सकता है। अपनी प्रेयसी मदनिका पर अविश्वास करता हुआ शर्विलक कहता है कि वे मनुष्य मूर्ख हैं जो स्त्री और लक्ष्मी का विश्वास करते हैं। ये दोनों ही सर्प-कन्या की भाँति बदलती रहती हैं। स्त्रियां धन के लिये कभी हँसती हैं तो कभी रोती हैं। ये पुरुष का अपने में विश्वास उत्पन्न कराती हैं, पर उसका विश्वास नहीं करतीं। समुद्र की लहरों के समान इनका स्वभाव चंचल होता है। संध्याकालीन आकाश की भाँति इनका अनु-राग क्षणिक होता है। धन का अपहरण कर ये पुरुष को निचोड़े हुये आलक्तक की भांति छोड़ देती हैं।[३२] कन्या की अपेक्षा पुत्र का जन्म अधिक अभिनंदनीय माना जाता था। संगीतशाला को सजाते हुए सूत्रधार कहता है कि जो पुरुष पुत्र-विहीन है, उसका घर सूना रहता है।[३३] वध्य स्थान पर चारुदत्त चाण्डालों से कहता है कि यदि उसकी विशुद्धता सिद्ध हो जाय तो उसे मारे जाने पर भी पुत्र-जन्म के समान सुख मिलेगा।[३४] स्त्री-शिक्षा व्यापक नहीं थी। वह प्राकृत में ही बोलती थी। शिक्षितों की भाषा संस्कृत पर उसका अधिकार नहीं था। चारुदत्त से विदूषक कहता है कि स्त्री को संस्कृत पढ़ना हास्यास्पद लगता है, क्योंकि ऐसे समय में स्त्री 'सू' 'सू' शब्द करती है, जैसे नई गाय के नथूनों में रस्सी बाँधी हुई हो।[३५]

वेश्या—कुलबधू तथा वेश्या के जीवन में पर्याप्त अन्तर था। अपरिचित व्यक्ति के लिये वह अदर्शनीय थी। पर वेश्या 'प्रकाशनारी' थी। वह सर्वगम्य मानी जाती थी। नगर-वेश्या वसन्तसेना राजश्याल के प्रति उदासीन है। वसन्तसेना को समझाते हुए शकार का अनुचर उसकी उपमा लता से देता है। उसका उपभोग सभी लोग कर सकते हैं। सुप्रिय तथा अप्रिय सभी लोगों के साथ उसे समान व्यवहार करना चाहिए। उसका शरीर पण्यभूत है जिसका हरण धन के द्वारा हो सकता है। वह बावली के समान है जिसमें द्विज की भाँति निकृष्ट वर्ण का व्यक्ति भी स्नान कर सकता है।[३६] वेश्या का संपर्क निकृष्ट दृष्टि से देखा जाता था। कुलांगना के लिये वह शोक थी।[३७] कुलपुत्रों में वह अभिमान, माया, कपट तथा मिथ्या का जनन करने वाली थी। रति की

वह क्रीड़ाभूमि थी। उसमें शठता का बाहुल्य था। उसका समाज एक ऐसा बाजार था जिसमें सुरतोत्सव की सामग्रियाँ संचित रहती थीं। उसके शरीर का क्रय होता था। विरले लोग ही दाक्षिण्य-वश उसका निष्क्रय कर सकते थे।[३८]

वस्त्र-आभूषण—सभ्य समाज में वस्त्र तथा आभूषण शिष्टाचार का अंग था। उत्तरीय तथा अधोवस्त्र मुख्य थे। इन्हें 'प्रवानवासस्' की संज्ञा दी जाती थी।[३९] उत्तरीय दान तथा परिधान दोनों के लिए उपयुक्त था। वसन्तसेना के सेवक को जब चारुदत्त अपना उत्तरीय प्रदान करता है, उसे परम संतोष होता है।[४०] रसिक लोग इसे सुगंधित रखते थे। चारुदत्त के प्रिय सुहृद जूर्णवृद्ध ने उसे उपहार के रूप में जिस प्रावारक को भेजा था वह जाति-कुसुम से सुवासित था।[४१] प्रावारक नामांकित भी रहता था। वसन्तसेना को मृत समझ कर शकार उसे अपने प्रावारक से ढकने जा रहा था। पर नामांकित होने के कारण प्रत्यभिज्ञान के भय से फिर उसने ऐसा नहीं किया?[४२] प्रावारक के छोर लम्बे हुआ करते थे तथा इस प्रकार का प्रावारक लोगों की स्पृहा का कारण होता था। विट को अपने पक्ष में करने के लिये शकार उसे 'लंबदशाप्रावारक' का प्रलोभन देता है।[४३] रेशमी वस्त्र अधिक आकर्षक माना जाता था। वर्षाकालीन मेघ में संश्लिष्ट विद्युत् की उपमा चारुदत्त कौशेय वस्त्र देता है।[४४] इसका रंग प्रायः लाल रहता था। शकार से बचने के लिये जिस समय वसन्तसेना भाग रही थी उसके रक्त-अंकुश के छोर हवा में लहर खा रहे थे।[४५] उत्तरीय वस्त्र के रूप में कंचुक पहना जाता था। इसे निम्न स्तर के लोग भी पहनते थे। अपने परिचारक की कंचुक-युक्त परछाई देखकर शकार को राक्षसी-आदि की भ्रांति उत्पन्न होती है।[४६]

अलंकारों की उपयोगिता तथा विशिष्ट अलंकार—अलंकारों का विशेष वर्णन मिलता है। अलंकार का निर्माण करने वाले शिल्पी अपनी कला में अत्यन्त निपुण होते थे। अधिकरण में लाये हुये वसन्तसेना के अलंकारों को देखकर उसकी माता को बड़ा ही आश्चर्य होता है। वह तदनुरूप अलंकारों का निर्माण करने वाले शिल्पी की कला-कुशलता की प्रशंसा करती है।[४७] इस संबंध में अधिकरणिक शिल्पियों के हस्तलाघव की विशेषताओं का वर्णन करते हुये कहता है कि अलंकारों को देखकर वे तद्सदृश अलंकार सफलता के साथ बनाते हैं।[४८] वसन्तसेना के सुवर्ण-भाण्ड को देखकर ऐसे विचार विदूषक भी प्रकट करता है।[४९] आकर्षण तथा शिष्टाचार की दृष्टि से स्त्रियों का अलंकार तथा प्रसाधन से युक्त रहना आवश्यक था। जिस समय वसन्तसेना चारुदत्त से मिलने जाती है, वह अपनी परिचारिका को प्रसाधनों को लाने का उपदेश देती है तथा प्रसाधन-युक्त होकर जाती है।[५०] पति-वियुक्त नारी आकर्षण-विहीन रहती थी। मेघाच्छन्न दिशाओं की उपमा वसन्तसेना उन स्त्रियों से देती है जो अपने कान्त से वियोग के कारण आकर्षण-विहीन रहती है।[५१]

जिन विशिष्ट अलंकारों का प्रसंग मिलता है उनमें आंगुलीयक विशेषरूप से उल्लेखनीय है। स्त्री के अतिरिक्त इसका प्रयोग पुरुष भी करते थे। वसन्तसेना के सामने अपने हाथ को आंगुलीयक-विहीन देखकर चारुदत्त लज्जा का अनुभव करता है।[५२] अलंकार तथा उनके निर्माण में उपयोजनीय उपकरणों का अत्यन्त विशद वर्णन वसन्तसेना के घर के संबंध में मिलता है जिसके छठें प्रकोष्ठ में अनेक शिल्पी अलंकारों के निर्माण में व्यस्त थे। कहीं सुवर्ण के द्वारा बनाये हुये अलंकारों में मणि पिरोये जा रहे थे। कहीं रक्त-सूत्र में मोती के गहने गूंथे जा रहे थे। कहीं मूँगे

घिसे जा रहे थे। कहीं शंखों में छेद बनाये जा रहे थे। सुवर्ण-रत्नों से जो काम किया जा रहा था उसके कारण वह स्थान इन्द्रायुध का सन्निवेश प्रतीत हो रहा था।[५३] सोने से बने हुये अलंकारों में कटक का उल्लेख मिलता है। चेट से अपना कार्य साधने के लिये शकार उसे सुवर्ण-कटकों का प्रलोभन देता है।[५४] कण्ठाभूषण का प्रयोग स्त्रियाँ करती थीं। ऐसे अलंकारों में रत्नावली का प्रसंग आता है जो चारुदत्त की पत्नी धूता का प्रिय अलंकार था।[५५] नूपुर को पैरों में पहने जाने का प्रचलन था। जिस समय वसन्तसेना चारुदत्त के घर जाती है, उसके नूपुर-युक्त पैरों में कीचड़ लगे हुये थे।[५६]

अनुलेप तथा अंजन—सौन्दर्य-परिवर्धन के लिये अनुलेप तथा अंजन का प्रयोग होता था। वसन्तसेना के घर में, जिस स्थान पर अनेक प्रकार के सौन्दर्य-संभार सज्जित किये जा रहे थे, चंदन को घिस कर रस निकाला जा रहा था।[५७] चारुदत्त अपने पुत्र की उपमा हृदय को शीतलता प्रदान करने वाले चन्दन तथा उशीर से बने हुये अनुलेप से देता है।[५८] वर्षाकालीन श्यामल मेघ वसन्तसेना को अंजन की भांति प्रतीत हो रहे थे।[५९]

अन्न-पान—समाज में शाकाहार तथा मांसाहार दोनों का भक्षण होता था। वसन्तसेना के महानस में इन दोनों प्रकार के आहार को तैयार किया जा रहा था। वहां रसोइया 'बहुविध आहार-विकार' बनाने में व्यस्त था।[६०] महानस के हींग तथा तेल के गंध से चारुदत्त के द्वारा भेजा हुआ विदूषक बरबस आकर्षित हो रहा था। अनेक प्रकार की सुरभि से युक्त धूमोद्गार से ऐसा लगता था कि मानों महानस का द्वार निःश्वास ले रहा हो। विविध भक्ष्य-भोजन के गंध से विदूषक का कौतूहल बढ़ता जा रहा था। पटच्चर की भांति कसाई का लड़का मरे हुए पशु की उदर-पेशि को साफ कर रहा था। एक स्थान पर मोदक तथा पूए तैयार किए जा रहे थे।[६१] भोजन का विशद वर्णन सूत्रधार के प्रसंग में मिलता है। जिस समय सूत्रधार संगीत आदि की व्यवस्था करने उपरान्त थक कर अपनी पत्नी से 'प्रातराश' की जिज्ञासा करता है, वह अपने घर की आहार-व्यवस्था को देखकर गद्गद् हो जाता है। घर की रथ्या चावल के पानी के प्रवाह से भर गई थी। लोहे की कड़ाही के खींचे जाने से घर की भूमि काली पड़ गई थी। गुड़ में पकाया हुआ चावल, घी, दही, सादा भात तथा अन्य सभी भोक्तव्य आहार वहां प्रस्तुत किये गये थे।[६२] मिष्ठान्नों में मोदक अत्यन्त प्रिय था। विपन्न अवस्था को प्राप्त विदूषक चारुदत्त की समृद्धि का स्मरण करता है जबकि वह सुरभि-युक्त तथा सावधानी से बनाये हुये मोदकों पर हाथ फेरता था।[६३] मांसाहार राजवर्ग में खूब प्रचलित था। राजश्याल शकार अपने कामदग्ध हृदय की उपमा अंगार-राशि में छोड़े हुए मांस-खंड से देता है।[६४] जिस समय वसन्तसेना को मारने के लिये विट तैयार नहीं होता है, शकार उसे मांसाहार का प्रलोभन देता है।[६५] मदिरा-पान के संबंध में सीधु, सुरा तथा आसव तीन प्रकार की मदिराओं का उल्लेख हुआ है।[६६] स्त्री एवं पुरुष दोनों ही मदिरा-पान करते थे। वसन्तसेना के घर में वेश्या तथा रसिक मदिरा-पान में मस्त थे।[६७]

शिक्षा तथा कला—शिक्षा से संबंधित जो उद्धरण प्राप्त होते हैं उनसे प्रतीत होता है कि वैदिक विद्या को अत्यन्त महत्ता दी जाती थी। राजा शूद्रक की प्रशंसा करते हुए उसे वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ बताया गया है। ऋग्वेद तथा सामवेद में वह पारंगत था।[६८] मृत्यु-दंड के समय जब चाण्डाल चारुदत्त का नाम लेकर उसकी मृत्यु की घोषणा कर रहे थे वह अपने अतीत को स्मरण-

कर रहा था जबकि धार्मिक अवसरों पर उसके नाम के साथ वैदिक मंत्रों का पाठ किया जाता था।[६९] वेद-ज्ञान की भांति गणित का भी स्थान महत्वपूर्ण था। शूद्रक ने शिक्षा के भिन्न-भिन्न विषयों में जानकारी प्राप्त की थी उनमें गणित का भी उल्लेख किया गया है।[७०]

तरह तरह की कलाओं में भी लोग प्रशिक्षित होते थे। वेशिकी-कला तथा हस्ति-कला में शूद्रक निपुण था।[७१] चौर्य-वृत्ति को भी शिक्षा तथा कला के अन्तर्गत रखा जाता था। चारुदत्त के घर में सेंध लगाते समय शर्विलक अपनी चौर्य-शिक्षा के बल का स्मरण करता है जिसमें ऐसी सेंध लगाने का विधान किया गया था कि चोर अपना शरीर आसानी से प्रविष्ट कर सके।[७२] आगे के वर्णन में शर्विलक कहता है कि चौर्य-मार्ग का प्रवर्तन द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा ने किया था। सेंध के लिये उपयुक्त स्थल के संबंध में वह कहता है कि यह स्थान ऐसा होना चाहिए कि जल के अवसेक से ढीला हो सके, संधि लगाने से शब्द न हो, दीवाल में बड़ी दरार हो, मिट्टी के खारे होने के कारण मकान जीर्ण हो गया हो तथा स्त्री का दर्शन न हो।[७३] स्थान निश्चित करने के उपरांत वह सेंध के आकार का निर्णय करता है जिसके कारण दूसरे दिन पुरवासी उसके कला की प्रशंसा करें। इस संबंध में निम्नांकित आकारों की सूचना मिलती है—विकसित कमल के सदृश, भास्कर के सदृश, बालचन्द्र के सदृश, आयताकार, स्वस्तिक-आकार तथा पूर्णकुंभ का आकार।[७४] चरण-संवाहन को भी कला माना जाता था तथा लोग इसका सप्रयास प्रशिक्षण प्राप्त करते थे। पाटलिपुत्र का निवासी संवाहक वसन्तसेना से कहता है कि उसने चरण-संवाहन को कला के रूप में सीखा था पर समय के हेर-फेर से यही उसकी आजीविका हो गई। वसन्तसेना इसे 'सुकुमार' कला बताती है।[७५] समाज में नाटक आदि की शिक्षा देने वाले भी होते थे। इन्हें नाट्याचार्य कहते थे। जिस समय शर्विलक चारुदत्त के घर में प्रवेश करता है उसे निश्चित स्थानों पर मृदंग आदि बाजे तथा पुस्तकें दिखाई देती हैं। इन्हें देखकर उसे नाट्याचार्य के घर की भ्रांति होती है।[७६]

मनोविनोद के साधन—द्यूत-मनोविनोद के जिन साधनों का प्रचलन था उनमें सर्वप्रथम द्यूत का उल्लेख किया जा सकता है। इसके दोषों को अनेक स्थलों पर प्रकट किया गया है। चारुदत्त का सेवक कहता है कि द्यूत में आसक्त मनुष्य को रोकना कठिन कार्य है। ऐसे मनुष्य की तुलना वह सस्य के लोभी बैल तथा परपुरुष में आसक्त स्त्री से करता है जिनके सहज दोष को रोकना दुष्कर है।[७७] द्यूत में अतिशय आसक्त दर्दुरक नामक पात्र कहता है कि उसे द्यूत के द्वारा द्रव्य, दारा तथा मित्र प्राप्त हुये। द्यूत से उसने दान तथा भोग किया तथा इसी के कारण उसका सर्वस्व नष्ट हो गया।[७८] मृच्छकटिक का वातावरण इतना द्यूतमय हो गया है कि कहीं-कहीं द्यूत को उपमान के रूप में ग्रहण किया गया है। एक स्थल पर चारुदत्त कहता है कि वर्षाकालीन परिवेश में कोकिल वैसे ही दृष्टि से ओझल हो गयी हैं जैसे द्यूत में हारे हुये पांडवों को घर छोड़ना पड़ा था।[७९] द्यूत-कीड़ा को सहृदयता का द्योतक माना जाता था। जिस समय वसन्तसेना को यह ज्ञात होता है कि उसका प्रिय चारुदत्त द्यूतप्रिय है उसका अनुराग बढ़ जाता है तथा चारुदत्त को वह 'द्यूतकर' कह कर संबोधित करती है।[८०]

संगीत—द्यूत के समान संगीत भी नागरिकों के मनोविनोद का प्रिय साधन था। गीत और वाद्य के विशेषज्ञ, रसिकों के समाज में बड़े ही लोकप्रिय थे। नाटक में संगीतज्ञ रेभिल का

उल्लेख मिलता है जिसकी संगीत-कला की चारुदत्त भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। उसके अनुराग-युक्त, मधुर, सम, स्फुट, भाव-समन्वित तथा मनोहर संगीत को सुनकर ऐसा लगता था कि संगीत के आवरण में वनिता छिपी हुई हो।[८१] संगीत में चारुदत्त इतना आनन्द-विभोर हो गया था कि संगीत के समाप्त होने पर भी उसे संगीत-श्रवण का आभास हो रहा था।[८२] वीणा के लोग अत्यन्त प्रेमी होते थे। चारुदत्त इसे रत्न की कोटि में रखता है, यद्यपि अन्य रत्नों की भांति यह समुद्र से नहीं निकली है।[८३] इसके गुणों का वर्णन करते हुये वह आगे कहता है कि उत्कंठित के लिये वह वयस्या के समान है जो हृदय के अनुकूल रहती है। संकेतक व्यक्ति के देर करने पर यह विनोद का काम देती है। विरह-व्यथित व्यक्ति के लिए यह प्रियतमा की भांति है जो सहानुभूति प्रदान करती है। अनुरागी व्यक्ति के लिए यह प्रमोद के समान है जो अनुराग को प्रवृद्ध करता है।[८४] एक स्थल पर चारुदत्त वर्षा की धाराओं की उपमा संगीत के समय बजाई जाने वाली वीणा से देता है। उनके गिरने से तालवृक्षों पर तीक्ष्ण, वृक्षों की शाखाओं पर कठोर, शिलाखंडों पर रूक्ष तथा जल में प्रचंड ध्वनि उत्पन्न हो रही थी।[८५]

पशु-पक्षी-पालन——नाना प्रकार के पशुओं तथा पक्षियों को पालकर भी लोग अपना मनो-रंजन संपन्न करते थे। इसका बड़ा ही विशद वर्णन वसन्तसेना के भवन के संबंध में मिलता है। भवन के दूसरे प्रकोष्ठ में पहलवान की तरह मेड की ग्रीवा में मर्दन किया जा रहा था। मन्दुरा में चोर की भांति कबूतर बंधा हुआ था। सातवें प्रकोष्ठ में कबूतर के जोड़े एक दूसरे का चुंबन कर रहे थे। पिंजरे में बैठा हुआ तोता रट लगा रहा था जैसे दही और भात खाकर ब्राह्मण वैदिक सूक्त पढ़ रहा हो। सम्मान पाई हुई गृह-दासी की भांति मैना कुरकुरा रही थी। अनेक फलों का स्वाद पाकर कुंभदासी की तरह कोयल कूक रही थी। लावक नामक पक्षियों को लड़ाया जा रहा था। भौंरे आलाप कर रहे थे। पिंजरों से कबूतर इधर-उधर भेजे जा रहे थे। गृहमयूर नृत्य कर रहे थे। राजहंसों के मिथुन कामिनियों के पीछे घूम रहे थे। बूढ़े पहलवानों की भांति गृह-सारस इधर-उधर संचरण कर रहे थे। संपूर्ण दृश्य को देखने से ऐसा लग रहा था कि जैसे वसन्तसेना के घर में पक्षियों की प्रदर्शिनी लगाई गई हो।[८६]

लोक विश्वास तथा प्रचलन——समाज में अंधविश्वासों का काफी बोलबाला था। जिस समय अधिकरण में चारुदत्त जा रहा था, वह भिन्न-भिन्न अनिमित्तों के कारण भावी अमंगल की आशंका कर रहा था। उसके सामने रूखे स्वर में कौआ बोल रहा था, बाईं आंख तथा भुजा बार-बार फड़क रही थी तथा मार्ग में काला साँप सोया हुआ था।[८७] स्त्री की दाहिनी आँख का फड़कना अशुभ का द्योतक माना जाता था। प्रवहण-परिवर्तन के कारण वसन्तसेना, जिसे चारुदत्त से मिलने जाना था, शकार के उद्यान में पहुंच जाती है। वहाँ उसकी दाहिनी आँख फड़कने लगती है। अतएव उसका हृदय धड़कने लगता है, दिशाएं शून्यवत् प्रतीत होती हैं तथा सभी कुछ आकुल-सा दिखाई देता है।[८८] मार्ग में श्रमण का मिलना भी अशुभ का द्योतक समझा जाता था। वसन्तसेना को मृत समझकर जब शकार अपने बचाव के लिये घर जाने लगता है तो उसे बार-बार श्रमण दिखाई देता है। इससे उसे अपने भावी अनिष्ट की आशंका होने लगती है।[८९] इन्द्रध्वज का उड़ाया जाना, बच्चा देती हुई गाय, नक्षत्रों का गिरना तथा सज्जन का प्राणोत्सर्ग देखना अपशकुन माना जाता था।[९०] किन्तु शत्रु का प्राणोत्सर्ग देखना शुभ समझा जाता था।

शकार अपने शत्रु का शूलारोहण जन्मान्तर में अक्षि-रोग से छुटकारा पाने के लिए देखना चाहता है।[९१]

भवितव्यता—इसमें लोगों की पूर्ण आस्था थी। चारुदत्त तथा वसन्तसेना के जीवन में इसके प्रभाव को कवि ने प्रारंभ में ही स्वीकार किया है।[९२] अन्यत्र चारुदत्त के प्रति आदरसूचक शब्द प्रयुक्त न करने वाले चाण्डाल को उसका साथी समझता है कि उसे ऐसा करना अनुचित है क्योंकि नियति पर किसी का वश नहीं चलता। यह उद्दाम किशोरी की भांति होती है जो अभ्युदय तथा अवसान के समय निरवरुद्ध होकर रात दिन चलती रहती है।[९३]

ज्योतिष—समाज में ज्योतिषियों का पर्याप्त अभाव था। कभी कभी राजनीति भी उनके निर्णय के अनुसार ही निर्दिष्ट होती थी। राजा पालक ने आर्यक को गूढ़ागार में इसलिये बंधवाया था कि ज्योतिषियों ने उसके राजा होने की भविष्योक्ति की थी।[९४] जिस समय चारुदत्त न्यायालय में आता है, न्यायाधीश को यह विश्वास ही नहीं होता कि ऐसा व्यक्ति भी जघन्य अपराध कर सकता है क्योंकि उसकी नाक लम्बी तथा नेत्र दीर्घ अपांगों वाले थे।[९५] आर्यक के बंधनागार से मुक्त होने पर राज सेनापति चंदनक कहता है कि आर्यक को बचाने वाले व्यक्ति का सूर्य अष्टम स्थान के चंद्रमा चतुर्थ स्थान में, मंगल पांचवें स्थान में, शुक्र एवं वृहस्पति छठें स्थान में तथा शनि नवें स्थान में हैं। ग्रहस्थानों की इस प्रतिकूलता के कारण वह आर्यक के संरक्षक का भविष्य उज्ज्वल नहीं मानता है।[९६]

पारलौकिक-जीवन—इसमें भी लोगों का दृढ़ विश्वास था। इसे शुभ तथा उज्ज्वल बनाने के लिये पाप-कर्म से परिहार किया जाता था। शकार के कहने पर भी विट वसन्तसेना को मारने के लिये उद्यत नहीं होता, क्योंकि ऐसा करने पर उसे परलोक रूपी नदी को पार करने के लिये नौका नहीं मिलेगी।[९७] परलोक की परिभाषा देते हुए शकार का सेवक उसे समझाता है कि परलोक सुकृत तथा दुष्कृत का परिणाम है। पूर्वजन्म के सुकृत के कारण उसका स्वामी प्रभूत सुवर्ण से मंडित था। दुष्कृत के फलस्वरूप वह स्वयं दासता की दशा को प्राप्त था।[९८] "स्त्रियों में पारलौकिक उपवास" का प्रचलन था। इसका अनुष्ठान वे अपने पति के कल्याण के लिये तथा जन्मान्तर में उसे पुनः प्राप्त करने के लिये करती थीं।[९९]

शिष्टाचार—सभ्य एवं संभ्रांत व्यक्तियों का आसन आदि से स्वागत करना शिष्टाचार माना जाता था। जिस समय चारुदत्त तथा मैत्रेय घर लौटते हैं, चेट उन्हें आसन निवेदित करता है।[१००] जब चारुदत्त अधिकरण में प्रवेश करता है, उस समय अधिकरणिक आसन देकर उसका अभिनन्दन करता है।[१०१]

नगर-योजना तथा गृह-विन्यास—नाटक में उज्जयिनी का उल्लेख एक समृद्धिशाली नगर के रूप में हुआ है। यह नगर सुव्यवस्थित ढंग पर बसा हुआ था। बाहरी शत्रुओं से रक्षा के लिये इसे प्राकार-परिवेष्ठित किया गया था। प्राकार भिन्न-भिन्न खंडों में विभक्त था। ऐसी व्यवस्था थी कि इसके किसी एक खंड पर चढ़कर शत्रु की गति-विधि का निरीक्षण किया जा सकता था। इसी प्रकार के एक प्राकार-खंड पर चढ़ कर राजसेना का नायक वीरक शत्रुओं को सतर्कता के साथ देख रहा था।[१०२]

नगर-द्वार—नगर का प्राकार द्वार-युक्त रहता था। इसकी पूर्वी-दिशा में प्रधान

द्वार का निर्माण किया जाता था। इसे प्रतोली-द्वार कहते थे। इसी प्रकार पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर की दिशाओं में भी भिन्न-भिन्न द्वार निर्मित किये जाते थे। शत्रु की शंका-मात्र होने पर भी इन सभी द्वारों पर राजसैनिक सतर्क हो जाते थे।[१०३] **राजमार्ग**—नगर के अन्तर्भाग में राजमार्ग बने थे। राजमार्ग चौड़े रहते होंगे, इसीलिये उन पर काफी चहल-पहल रहती थी। द्यूत में हारे हुए संवाहक को द्यूतकर-मंडली राजमार्ग पर ले जाती है, जहाँ पर्याप्त जन-संमर्द था।[१०४] रात के समय राजमार्ग सूने रहते थे, अतएव रक्षकों को विश्वास दिलाने के लिये लोग दीये लेकर चलते थे। जिस समय चारुदत्त वसन्तसेना को उसके घर पहुंचाने जाता है, वह अपने परिचारकों को दीये जलाने का आदेश देता है।[१०५] रक्षकों के रहने पर भी राजमार्ग पर चोरों का भय बना रहता था। वसन्तसेना के घर लौटते समय चारुदत्त मैत्रेय से कहता है कि राजमार्ग शून्य है और रक्षक घूम रहे है, फिर भी उन्हें वंचना से बचना चाहिये, क्योंकि रात्रि अनेक दोषोंवाली होती है।[१०६] राजमार्ग नगर का महत्वपूर्ण एवं अभिन्न अंग था, अतएव प्रहरी इस पर सतर्क रहते थे। राजा पालक के विरुद्ध जिस समय शर्विलक के नेतृत्व में क्रांति उद्‍घोषित होती है, राजसैनिक राजमार्गों में सचेष्ट हो जाते हैं।[१०७] **चत्वर**—राज-मार्गों के कटान से जो चौराहा बनता था उसे चत्वर अथवा चतुष्पथ कहते थे। चौराहों का व्यापारिक महत्व था। नगर के धनी मानी सेठ यहीं रहते थे। इसे श्रेष्ठि-चत्वर कहा जाता था। चारुदत्त का निवासस्थान श्रेष्ठि-चत्वर पर ही था।[१०८] व्यापार के अतिरिक्त चौराहों का धार्मिक महत्व भी था। इन्हें पवित्र तथा देवसन्निवेश माना जाता था। जिस समय चारुदत्त गृहदेवियों का बलिकर्म निष्पन्न करता वह मैत्रेय को चतुष्पथ पर मात्रिकाओं को बलि चढ़ाने का आदेश देता है।[१०९]

भवन-प्रकोष्ठ—नागरिकों के घरों के संबंध में कतिपय महत्वपूर्ण सूचनायें मिलती हैं। समृद्ध लोगों के घरों में अनेक प्रकोष्ठ बने रहते थे। जिस समय विदूषक वसन्तसेना के यहां पहुंचता है, वह उसके 'बहुवृत्तान्त' से युक्त आठ प्रकोष्ठों वाले घर को देखकर चकित हो जाता है। भिन्न-भिन्न प्रकोष्ठों के अलग-अलग उद्देश्य थे। पहले प्रकोष्ठ में दौवारिक बैठा हुआ था। दूसरे में भिन्न-भिन्न प्रकार के 'पशु' बाँधे हुये थे। तीसरा प्रकोष्ठ वसन्तसेना का निजी बैठका था। यहां पर लोगों को बैठने के लिये आसन रखे हुये थे। चौथा प्रकोष्ठ कला-गृह था। जहां तरह तरह के बाजे रखे थे। पांचवां प्रकोष्ठ रसोई घर के निमित्त बना हुआ था। यहाँ रसोइये तरह तरह के आहार तैयार कर रहे थे। छठाँ शिल्प-गृह था, इसमें शिल्पी सोने चाँदी आदि के गहने गढ़ रहे थे। सातवें प्रकोष्ठ में पक्षी पाले हुये थे। आठवें और अंतिम प्रकोष्ठ में वसन्तसेना अपने घर के सदस्यों के साथ स्वयं रहती थी।[११०] घर की दीवालों को बनाने में कई प्रकार की ईंटों को प्रयोग में लाया जाता था। चारुदत्त के घर में सेंध लगाते समय शर्विलक चार प्रकार की ईंटों का वर्णन करता है—पकी ईंटें, कच्ची ईंटें, पिंडाकार ईंटें तथा काष्ठमयी ईंटें।[१११]

गृह-द्वार—भवन का एक अभिन्न अंग इसका द्वार होता था। द्वार कपाट-युक्त होते थे। कभी कभी कपाट का आकार बहुत बड़ा होता था। चारुदत्त के घर के सामने से होकर जब आर्यक जाता है उस समय वह घर के महाकपाट को देखकर चारुदत्त की अतीत समृद्धि का अनुमान लगाता है।[११२] समृद्ध व्यक्तियों के गृह-द्वार में काफी तड़क-भड़क रहती थी। वसन्तसेना के गृह-द्वार में हरे रंग का लेप लगाया गया था। द्वार की ऊंचाई इतनी अधिक थी कि जैसे आकाश

को देखने के कुतूहल से उसका सिर ऊंचा किया गया हो। इसे मल्लिका की माला से अलंकृत किया गया था। माला इतनी लंबी थी कि उसे देखने से ऐरावत के सूंड का भ्रम हो रहा था। द्वार का तोरण हाथी-दांत का बना था जिसके कारण उसमें काफी चमक-दमक आ गई थी। इसमें सौभाग्य की सूचक पतकाएं लगी हुई थीं जो रत्नों के उपराग के कारण शोभायमान हो रही थीं। पवन के चलने से इनका अग्रभाग चंचल हो रहा था। ऐसा लगता था कि वे अपने पास बुला रहा है। द्वार के दोनों ओर मंगल कलश रखे हुये थे। इन्हें आम्र-पल्लवों से अलंकृत किया गया था तथा तोरणों को धारण करनेवाली स्तंभ वेदिकाओं पर स्थापित किया गया था। इसका कपाट सोने का बना था जिसमें निरंतर मणि जड़े हुये थे। यह महादैत्य के वक्षःस्थल के समान दुर्भेद्य था।[११३] प्रधान द्वार के अतिरिक्त घर में गौण द्वार भी होते थे। इन्हें 'पक्ष-द्वार' कहते थे। यह न केवल घर ही में अपितु उद्यान में भी बना रहता था। इसी प्रकार के द्वार का उल्लेख चारुदत्त की वृक्षवाटिका के संबंध में हुआ है।[११४] **चतुःशाल-गृह** के अंतर्भाग में चतुःशाल रहता था। इसमें नागरिक की कुटुंबिनी रहती थी। अपरिचित तथा अनिच्छित व्यक्ति इसमें नहीं जा सकते थे। चारुदत्त के चतुःशाल में प्रवेश करते समय वसन्तसेना को हिचक होती है।[११५] चतुःशाल तथा बहिर्भाग के बीच एक द्वार रहता था। चारुदत्त की समृद्धि के समय ऐसे ही द्वार पर बैठकर विदूषक सुगंध युक्त मोदकों का भक्षण करता था।[११६] चतुःशाल घर का सुरक्षित भाग था, अतएव बहुमूल्य वस्तुओं को लोग इसी में रखते थे। वसन्तसेना के धरोहर सुवर्ण-भाण्ड को विदूषक घर के चतुःशाल में रख कर निश्चित होना चाहता है।[११७] चारुदत्त के घर में सेंध लगाते समय शर्विलक चतुःशाल को भेद कर अपना कार्य करता है।[११८]

वातायन तथा गवाक्ष---खिड़की तथा रोशनदान को वातायन अथवा गवाक्ष कहते थे। वातायन से पुरस्त्रियाँ बाहर का दृश्य देखती थीं। जिस समय चारुदत्त को चाण्डाल वध्यस्थान को ले जा रहे थे स्त्रियाँ अपने घर के वातायनों के अर्धभाग से मुंह निकाल कर चारुदत्त के प्रति सहानुभूति प्रकट कर रही थीं।[११९] वसन्तसेना के प्रासाद के स्फटिक-निर्मित वातायन प्रासाद के मुख की भांति प्रतीत हो रहे थे।[१२०] गवाक्ष को काफी ऊंचाई पर निर्मित किया जाता था। शकार का सेवक जिस समय गवाक्ष से कूदना चाहता है, वह अपनी मृत्यु से डर रहा है।[१२१] गवाक्ष के पास पानी से भरे घड़े भी रखे रहते थे। वसन्तसेना के प्रासाद के संबंध में ऐसा ही वर्णन मिलता है।[१२२] लगता है घर को ठंडा करने के लिए ऐसा किया जाता था। गृहोद्यान-सौंदर्य-बृद्धि तथा रक्षा की दृष्टि से घर के समीप उद्यान आरोपित किया जाता था। चारुदत्त के घर के समीप इसी प्रकार का उद्यान था। इसके चारों ओर एक दीवाल थी। चारुदत्त के घर में घुसने के पूर्व शर्विलक को इस दीवाल को छिन्न भिन्न करना पड़ा था।[१२३] धनी लोग तरह-तरह के उपकरणों के द्वारा गृह-उद्यान को बनाने की चेष्टा करते थे। वसन्तसेना के उद्यान में अनेक प्रकार के वृक्ष लगाये गये थे। युवतियों के झूलने के लिये स्थान-स्थान पर रेशमी झूले बने हुये थे। इसमें भाँति भाँति के फूल स्वयं गिरे हुए थे, जैसे सुवर्ण, यूथिका, शेफालिका, मालती, मल्लिका, नवमल्लिका कुरबक तथा अतिमुक्तक। इनके कारण वसन्तसेना का उद्यान नन्दन-वन को भी हतप्रभ कर रहा था। उद्यान में एक जलाशय भी था, जिसमें उदयकालीन सूर्य की प्रभा के समान कमल विद्यमान थे। अशोक का वृक्ष नवोद्गत फूलों के कारण समरभूमि में स्थित रक्त से लथपथ सैनिक की भाँति

लग रहा था।[१२४] कभी कभी उद्यान में भवन का भी निर्माण किया जाता था। चारुदत्त के उद्यान-भवन में वेदियाँ बनी हुई थीं, जिन पर कबूतर क्रीड़ा कर रहे थे। इसमें द्वार भी रहते थे, जिस समय वसन्तसेना का भेजा हुआ चेट आता है, वह चारुदत्त के उद्यान का द्वार बंद पाता है।[१२५] गृह-उद्यान के अतिरिक्त नगर में पृथक रूप में भी उद्यान रहते थे। राजा पालक का सेनापति अपने सैनिकों को क्रांतिकारियों के निरीक्षण के लिये उद्यानों में सतर्क रहने का आदेश देता है।[१२६] चारुदत्त का पुष्पकरण्डक नामक उद्यान इसी प्रकार का था। यह विलास तथा मनोरंजन का केन्द्र था। इसी उद्यान में चारुदत्त ने वसन्तसेना के साथ अभिरमण करने की योजना बनाई थी। इसमें बैठने के लिये जो शिला रखी हुई थी वह बिना संस्कार के ही रमणीय लग रही थी। इसके वृक्ष बनियों की भाँति , पुष्प विक्रेय वस्तुओं की भांति तथा मधुकर शुल्क साधने वाले राजकर्मचारियों की भांति प्रतीत हो रहे थे।[१२७] शकार का उद्यान जिसमें उसने वसन्तसेना का वध करने की योजना बनाई थी, प्राकार से घिरा हुआ था।[१२८]

कामदेवायतन तथा कामदेवगृह—सार्वजनिक मनोविनोद के लिये नगर में एक प्रकार का घर रहता था जिसे कामदेवायतन कहते थे। इसके साथ एक उद्यान भी बना रहता था। इसी प्रकार के उद्यान में वसन्तसेना प्रथम बार चारुदत्त से अनुरक्त हुई थी।[१२९] संपन्न व्यक्ति इस प्रकार के घर का निर्माण अपने निवास-गृह में कराते थे। वसन्तसेना के घर में इसी प्रकार का कामदेव-गृह बना था। यह घर प्रतीक्षा-गृह का भी काम देता था। वसन्तसेना से मिलने के लिये मदनिका शर्विलक को इसी घर में प्रतीक्षा करने का निर्देश देती है।[१३०] **बन्धनागार तथा गूढागार**—कारागार के लिये बने हुये राजकीय गृहों को बन्धनागार अथवा गूढ़ागार नाम दिया जाता था। राजा पालक ने अपने भावी प्रतिस्पर्द्धी आर्यक को इसी में कैद कर रखा था।[१३१] कारागार की दीवालों को गुप्ति कहते थे। इसका निरीक्षण करने वाला गुप्तिपालक कहलाता था। आर्यक ने गुप्ति को तोड़कर गुप्तिपालक की हत्या की थी।[१३२] **अधिकरण मंडप एवं व्यवहार मंडप**—कचहरी के लिए निर्मित भवनों के नाम थे। यहाँ बैठने के लिये भिन्न-भिन्न लोगों के लिये अलग-अलग आसन लगे रहते थे। कचहरी लगने के पूर्व इन्हें यथास्थान सज्जित किया जाता था। इस कार्य को संपन्न करनेवाला शोधनक कहलाता था। न्यायाधीश को अधिकरणिक कहते थे। व्यवहार तथा निर्णय आदि को लेखबद्ध करने वाले अलग से नियुक्त रहते थे। इन्हें श्रेष्ठि तथा कायस्थ कहा जाता था।[१३३] सज्जन व्यक्ति कचहरी में जाना पसन्द नहीं करते थे। वे इसे कपट, कूट आदि का केन्द्र मानते थे। चारुदत्त जैसे सज्जन को न्यायालय समुद्र की भांति लग रहा था। इसमें ऐसे व्यक्ति एकत्र थे जो हिंसक जीवों से कम नहीं थे। वकील चिंताकुल थे, क्योंकि सामुद्रिक जीवों की भांति वे शिकार की तलाश में थे। सफेदपोश राजदूत कभी दिखाई देते थे तो कभी दृष्टि से ओझल हो जाते थे जैसे समुद्र की लहरों में शंख इतरा रहे हों। मगर तथा नाक की भाँति किनारे किनारे गुप्तचर खड़े थे। स्थान स्थान पर हाथी और घोड़े दिखाई दे रहे थे। इधर उधर दलाल कंक पक्षी की भांति विचरण कर रहे थे। लेखक वहाँ पर वैसे ही जमे थे जैसे कि वे साँप हों। समुद्र-तट की भांति न्यायालय की मर्यादा राजनीति के द्वारा सर्वथा उल्लंघित हो रही थी।[१३४]

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मृच्छकटिक के नाटकीय रूप में तत्कालीन समाज के विधायक प्रायः सभी अंग संयोजित किये गये हैं। इनके द्वारा सामाजिक अनुशीलन की

दिशा में यथेष्ट सहायता मिलती है। इसमें सन्देह नहीं कि मृच्छकटिक के रचयिता ने स्मृतियों की मान्यताओं को स्वीकार किया है,[135] जिनका तत्कालीन समाज पर विशेष प्रभाव था, तथापि उसका दृष्टिकोण कहीं कहीं नवीन भी है, जिनकी समता स्मार्त नियमों से नहीं दिखाई देती है। स्मृतियों के नियम के अनुसार आपत्तिकालीन दशा में ब्राह्मण क्षत्रिय का ही व्यवसाय अपना सकता है, वैश्य का नहीं।[136] पर मृच्छकटिक में निरूपित ब्राह्मण चारुदत्त कर्मों के हेर-फेर से व्यापार अर्थात् वैश्य का व्यवसाय अपनाता है। इसी प्रकार चारुदत्त सदाचार, सत्य और शिष्टाचार की प्रतिमूर्ति है। पर अपनी सती साध्वी गृहिणी धूता के विद्यमान होते हुये भी जिस समय वह मृत्युदंड से मुक्त होता है अपनी प्रणयिनी गणिका वसन्तसेना को 'बधू' के रूप में स्वीकार करता है।[137] इसमें सन्देह नहीं कि समाज में ऐसी बातें घटित होती रही होंगी, यद्यपि कवि की कल्पनात्मक प्रसूतियों को हम अस्वीकार नहीं कर सकते हैं।

संदर्भ-सङ्केत--

१. मृच्छकटिक अंक ६ ३९

२. वही अंक ४। ३. वही अंक १०। ४. वही अंक १।

५. वही, अंक ३। ६ वही, अंक ३ । ७. वही, अंक ४। ८. वही, अंक ८। ९. वही. अंक ९-१७। १०. वही, अंक ३। ११.। अंक १-३-५। १२. वही, अंक १,०-६१। १३. वही अंक १०।

१४. वही, अंक १। १५. वही, अंक ३। १६. वही, अंक ५। १७. वही, अंक ८। १८. वही, अंक १०।

१९. वही, अंक ३। २०. वही, अंक ८-२३। २१. वही, अंक १।

२२. द्वयमिदमतीव लोके प्रियं नराणां सुहृच्च वनिता च। वही, अंक ४-२४

२३. अग्राह्याः मूर्धजेष्वेताः स्त्रियो गुणसमन्विताः।
न लताः पल्लवच्छेदमर्हन्त्युपवनोद्भवाः। वही, अंक ८-२१

२४. वही, अंक १०।

२५. वही, अंक १। २६. वही, अंक ३। २७. वही, अंक ३। २८. वही, अंक १०।

२९. सुदृष्टः क्रियतामेष शिरसा वन्द्यतां जनः।
यत्र ते दुर्लभं प्राप्तं वधूशब्दावगुंठनम्। वही, अंक ४-२४

३०. वही, अंक १०। ३१. वही, अंक ४।

३२. अपंडितास्ते पुरुषामता मे ये स्त्रीषु च श्रीषु च विश्वसंति।
श्रियो हि कुर्वन्ति तथैव नार्यो भुजंगकन्यापरिसर्पणानि।
एता हसंति च रुदंति च वित्तहेतोविश्वासयंति पुरुषं न तु विश्वसन्ति।
समुद्रवीचीव चलस्वभावाः संध्याभ्रलेखैव मुहूर्त्तरागाः।
स्त्रियो हृतार्थाः पुरुषं निरर्थं निष्पीडितालक्तकवत्त्यजंति ॥—वही, अंक ४.१२-१५

३३. शून्यमपुत्रस्य गृहं....वही, अंक १.८

३४. विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमो भवेत्। वही, अंक १०-२७

३५. वही, अंक ३

३६. वही, अंक १-३१, ३२। ३७. वही, अंक ५-१२। ३८. वही, अंक ५-३६। ३९. वही, अंक ६। ४०. वही, अंक ५। ४१. वही, अंक १।

४२. वही, अंक ८। ४३. वही, अंक ८। ४४. वही, अंक ५-३। ४५. वही, अंक १-२०। ४६. वही, अंक ८। ४७. वही, अंक ९।

४८. दृष्ट्वा क्रियामनुकरोति हि शिल्पिवर्गः।
सादृश्यमेव कृतहस्ततया च दृष्टम्। वही, अंक ९-३४

४९. वही, अंक ५

५०. वही, अंक ६। ५१. वही, अंक ५-२५। ५२. वही, अंक ५। ५३. वही, अंक ४। ५४. वही, अंक ८।

५५. वही, अंक ६। ५६. वही, अंक ५-३५। ५७. वही, अंक ४। ५८. वही, अंक १०-२३। ५९. वही, अंक ५।

६०. बहु विधाहारविकारमुपसाधयति सूपकारः। वही, अंक ४

६१. वही, अंक ४

६२. वही, अंक १। ६३. वही, अंक १।

६४. कामेन दह्यते खलु हृदयं तपस्वि
अंगाराशिपतितमिव मांसखंडम्। वही, अंक १-१८

६५. वही, अंक ८-२२। ६६. वही, अंक ४-३०। ६७. वही, अंक ४।

६८. वही, अंक १-४, ५। ६९. वही, अंक १०-१२। ७०. वही, अंक १-४। ७१. वही, अंक १-४। ७२. वही, अंक ३-९। ७३. वही, अंक ३-१२।

७४. वही अंक ३-१३। ७५. वही अंक २। ७६. वही अंक ३।

७७. सस्यलंपटबलीवर्दो न शक्यो वारयितुमन्यप्रसक्तकलत्रं न शक्यं वारयितुम्।
द्यूतप्रसक्तमनुष्यो न शक्यो वारयितुम् योऽपि स्वाभाविकदोषो न शक्यो वारयितुम्। वही, अंक ३-२।

७८. द्रव्य लब्धं द्यूतेनैव दारा मित्रं द्यूतेनैव दत्तं भुक्तं द्यूतेनैव सर्वं नष्टं द्यूतमेनैव। वही अंक २-८

७९. अक्षद्यूतजितो युधिष्ठिर इव अध्वानं गतः कोकिलो। वही, अंक ५-६

८०. वही अंक ४

८१. रक्तं च नाम मधुरं च समं स्फुटं च भावान्वितं च ललितं च मनोहरं च।
किं वा प्रशस्तवचनैर्बहुभिर्मदुक्तैरन्तर्हिता यदि भवेद्वनितेति मन्ये। वही, अंक ३-४

८२. यत्सत्यं विरतेऽपि गीतसमये गच्छामि श्रृण्वन्निव। वही, अंक ३-५

८३. वीणा हि नामासमुद्रोत्थितं रत्नम्। वही, अंक ३

८४. उत्कंठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या संकेतके चिरयति प्रवरो विनोदः।
संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणाम् रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः॥ वही, अंक ३-३

८५. तालीषु तारं विटपेषु मद्रं शिलासु सलिलेषु चंडम्।
संगीतवीणा इव ताड्यमानास्तालानुसारेण पतंति धाराः। वही, अंक ५-५१२

८६. वही, अंक ४

८७. वही। अंक ९.१०-१३। ८८. वही। अंक ८। ८९. वही। अंक ८।

९०. इन्द्रः प्रवाह्यमाणो गोप्रसवः संक्रमश्च ताराणाम्।
सुपुरुषप्राण विपत्तिश्चत्वार्येतानि न द्रष्टव्यानि।—वही। अंक १०.७

९१. वही। अंक १०

९२. वही। अंक १.७

९३. अभ्युदयेऽवसाने तथैव रात्रिंदिवमहतमार्गा।
उद्वामेव किशोरी नियतिः खलु प्रत्येषितुं याति। वही। अंक १०.२०

९४. वही। अंक ४

९५. घोणोन्नतं मुखमपांगविशालनेत्रम्।
नैतद्धि भाजनमकारणदूषणानाम्। वही। अंक ९.१६

९६. वही। अंक ६.१०

९७. वही। अंक ८.२३। ९८. वही। अंक ८। ९९. वही। अंक १। १००. वही अंक ३। १०१. वही। अंक ९। १०२. वही। अंक ६।

१०३. वही, अंक ६। १०४. वही, अंक २।

१०५. तद्राजमार्गविश्वासयोग्याः प्रज्वाल्यतां प्रदीपकाः। वही, अंक १

१०६. राजमार्गो हि शून्योऽयं रक्षिणः संचरति च।
वंचना परिहर्तव्या बहुदोषा हि शर्वरी। वही, अंक १.५८

१०७. वही, अंक ६

१०८. वही, अंक २।

१०९. वही, अंक १।

११०. वही, अंक ४।

१११. वही, अंक ३।

११२. वही, अंक ६.३।

११३. वही, अंक ४।

११४. वही, अंक ६।

११५. वही, अंक ७।

११६. वही, अंक ६।

११७. वही, अंक १।

११८. वही, अंक ४।

११९. एता पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो मां वातायानाधन विनिःसृतास्याः।
हा चारुदत्तेत्यभिभाषमाणा वाष्पं प्रणालीमिरिवोत्सृजंति। वही, अंक १०.११

१२०. वही, अंक ४।

१२१. वही, अंक १०।

१२२. वही, अंक ४।

१२३. वही, अंक ३। १२४. वही, अंक ४। १२५. वही, अंक ५। १२६. वही, अंक ६।

१२७. वही, अंक ७। १२८. वही, अंक ६। १२९. वही, अंक १। १३०. वही, अंक ४। १३१. वही, अंक ४। १३२. वही, अंक ६।

१३३. वही अंक ९

१३४. चिंतासक्तनिमग्नमंत्रिसलिलं दूतोर्मिशंखाकुलम्।
पर्यंतस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंसाश्रयम्।
नानावाशककंकपक्षिरचितं कायस्थसर्पास्पदम्।
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रः समुद्रायते। वही, अंक ६.१४

१३५. द्रष्टव्य पृष्ठांक १

१३६. उदाहरणार्थ मनुस्मृति १०.८१

१३७. द्रष्टव्य पृष्ठांक ३

सुकवि चन्द रचित भारत भास्कर— महाभारत का हिन्दी पद्यानुवाद

आगर चन्द नाहटा

हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज का कार्य गत ६३ वर्षों से निरन्तर चल रहा है। और इसके फलस्वरूप सैकड़ों कवियों की हजारों रचनाओं की जानकारी प्रकाश में आई है। खोज रिपोर्ट में उन रचनाओं का बहुत ही संक्षिप्त विवरण प्रकाशित होता है अतः उसके द्वारा किसी कवि की रचना का मूल्यांकन करना सम्भव नहीं होता। आवश्यकता है उनमें से जो-जो अच्छे कवि और महत्व की रचनाओं संबंधी जानकारी प्रकाशित हुई हों उन कवियों एवं रचनाओं को सांगोपांग अध्ययन करके उनकी विशिष्टताओं को प्रकाश में लाया जाय। हिन्दी में शोध के नाम से इधर कुछ वर्षों से काम तो बहुत हो रहा है पर प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के अनुसंधान द्वारा नई जानकारी प्रकाश में लाने का प्रयत्न बहुत ही कम हो रहा है। खेद है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास एवं शोध प्रबन्ध लेखकों ने नवीन खोज का उपयोग भी बहुत कम किया है। अभी अनेक प्राचीन ग्रन्थालय अज्ञात-से ही पड़े हैं। वास्तव में उन ग्रन्थालयों में पहुँच कर वहां की हस्तलिखित प्रतियों की खोज करना एक कठिन कार्य है। क्योंकि अधिकांश लोग अपने संग्रह की प्रतियों को दिखाते तक नहीं और यदि कोई दिखा देते हैं तो उनके उपयोग करने की सुविधा प्रायः नहीं ही देते। पर शोध कार्य-करने वाले इन कठिनाइयों से हतोत्साहित न हो कर उस अज्ञात सामग्री को विशेष प्रयत्नपूर्वक प्रकाश में लाते हैं। यह अत्यावश्यक है। यदि अभी उन हस्तलिखित प्रतियों की खोज का प्रयत्न नहीं किया गया तो थोड़े वर्षों बाद उनका अस्तित्व ही मिट जाने वाला है।

राजस्थान में हस्तलिखित प्रतियों का बहुत बड़ा संग्रह है और इन दिनों अनेकों ग्रन्थालयों की प्रतियां कबाड़ियों के हाथों जोरों से बिकतीं व नष्ट होती जा रही है। गत् २-४ वर्षों में जयपुर के कई कबाड़ियों के यहां मैंने पूर्ण-अपूर्ण प्रतियों का ढेर पड़ा देखा है। बेसमझदार व्यक्ति पूर्ण प्रतियों के पन्ने भी इधर उधर ढेर लगा कर उन प्रतियों को त्रुटित या खण्डित कर देते हैं। फिर उन प्रतियों के ग्राहक नहीं मिलने से वे रद्दी के भाव बिक जाती हैं और तब पसारियों व अन्य दुकानदारों के हाथों में वे पन्ने पड़कर पुड़ियाँ बांधने के काम में आते हैं बहुत बार तो कूड़े कचरे के ढेर में फेंक दिये जाते हैं।

गत ३५ वर्षों से हस्तलिखित प्रतियों की खोज और संग्रह के कार्य में मुझे सर्वाधिक अभिरुचि रही है। और इसी के फलस्वरूप अब तक लक्षाधिक प्रतियों का अवलोकन और २० हजार से अधिक प्रतियों का संग्रह अपने अभय जैन ग्रन्थालय में कर सका हूं।

कुछ महीने पूर्व जयपुर के एक सज्जन ने मुझे यह सूचना दी कि चन्द कवि का एक लक्षाधिक श्लोक परिमित वृहद ग्रन्थ की प्रति बिकाऊ है, तो मैंने उनसे इस ग्रन्थ का पूरा विवरण मंगवाया। और गत दिसम्बर में तो मैंने वह ग्रन्थ अपने संग्रहालय के लिए खरीद भी लिया है। ग्रन्थ का नाम "भारत भास्कर" तो पहले ही विदित हो गया था। पर ग्रन्थ का रचना काल विदित नहीं हो सका था। वास्तव में यह महाभारत का पूरा हिन्दी पद्यानुवाद है। यह अनुवाद कार्य सं० १९०९ से ले कर १९२३ तक चलता रहा है और प्राप्त प्रति भी सं० १९२३ की लिखी हुई ही है। ग्रन्थ के अन्त में तो कवि ने अपना परिचय व रचना काल आदि नहीं दिया, केवल महाराजा रामसिंह की आज्ञा से ही रचे जाने का उल्लेख किया है। पर बीच के सर्गों में राजवंश और कवि वंश का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। प्रस्तुत लेख में वे दोनों महत्वपूर्ण वर्णन प्रकाशित किये जा रहे हैं।

महाभारत के १८ पर्वों के इस अनुवाद में ३-४ पर्वों में ही रचनाकाल का उल्लेख है पर उन उल्लेखों के अनुसार यह सिद्ध होता है कि सब से पहले कवि ने कर्ण पर्व और शल्य एवं गदा पर्व की रचना की। पहला आदि पर्व २ वर्ष बाद और तीसरा वन पर्व तो उसके १३-१४ वर्ष बाद रचा, संभवतः अन्य पर्व भी पीछे ही रचे गये। कर्ण पर्व के प्रारम्भ में ७ पद्यों में तो मंगलाचरण है। ८वें पद्य में इस अनुवाद का नाम 'समर सार' बतलाया है और ९ वें में इसका रचनाकाल संवत् १९०९ नभ मास कृष्ण पक्ष की द्वादशी का उल्लेख किया है। १३ वें से १५ वें पद्य में कूरम (कछुआ) वंशीय नृपति राम (सिंह) की आज्ञा से कर्ण पर्व की भाषा चन्द कवि द्वारा बनाये जाने का उल्लेख है। ग्रन्थ का रचनाकाल आदि के पद्य इस प्रकार है—

एक ऊन विंशति शतक, नव उपर नभ मास।
कृष्ण पक्ष तिथि द्वादशी, भयो ग्रन्थ परकास॥९॥
कूरम राम नरेस घर, घने कविन के वृन्द।
देव मनुज वानि निपुन, निरख्यो तहं कवि चन्द॥१३॥
कह्यौ चंद कवि कौं नृपति, कृपा विलोक निवाय।
कर्ण पर्व की कहि कथा, भाषा कहो बनाय॥१४॥
हुकम पाय नृप राम को, महा मुदित मन चन्द।
कर्ण जुध रचना करो, विविध बांधि वर छन्द॥१५॥

शल्य और गदा पर्व के नाम पद्यानुवाद का "समर सिन्धु" रखा गया है। शल्य पर्व के प्रारम्भ में मंगलाचरण के बाद नृप वंश वर्णन संक्षेप में देकर रचनाकाल का उल्लेख इस प्रकार किया है—

संवत सै उन्नीस नौ अधिक भाद्रपद मास।
समर सिन्धु कवि चन्द के, मुख तें भयो प्रकास॥९॥
समर सिन्धु मांहि करन, गदा पर्व को धन्ध।
सुकवि चन्द वन्दन करत, वाहु लेय लघु बंध।११॥

शल्य पर्व गदा पर्व के अन्त में जो उल्लेख है उसके अनुसार पहला पर्व 'समर सिन्धु' का पूर्व खण्ड है और दूसरा उत्तर खण्ड। अर्थात् इन दोनों का अनुवाद एक संलग्न ग्रन्थ के रूप हुआ है। भीष्म पर्व के अनुवाद का नाम "जंग रत्नाकर" रखा गया है और वह भी पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो खण्डों में विभक्त है। पूर्वार्द्ध के मंगलाचरण के बाद नृपवंश वर्णन संक्षेप में किया है। और इस पर्व का माहात्म्य बतलाते हुए कहा है––

सुनत जंगरत्नाकरहि, कायरता कढ़ि जाय।
क्षत्र वंश के अंग में, रण उमंग अधिकाय॥७॥

जंग रत्नाकर की रचना का प्रारम्भ सं० १९१६ जेठ बदि ५ रविवार को हुआ। ग्रन्थ के प्रारम्भ में नृप वंश वर्णन के बाद ही इसका उल्लेख किया गया है। यथा––

रितु मयंक जोगीस शशि (१९१६) संवत जेष्ठ सुमास।
शुक्ल पक्ष रवि पंचमी, भयो ग्रन्थ परकास॥९॥
रामसिंह महाराज कै, निकट चन्द कबिराज।
कहत 'जंग रत्नाकर' हि, पूरण प्रीति दराज॥११॥

इससे यह स्पष्ट है कि महाभारत का यह पद्यानुवाद क्रमबद्ध न हो कर आगे-पीछे यथानुकूलता किया जाता रहा है। विराट पर्व के प्रारम्भ में रचना काल सूचक निम्नोक्त पद्य है––

बाण ब्रह्म योगी शशि, संवत् जानहु सार।
भौम माघ शित पंचमी, लियौ ग्रन्थ अवतार॥

अर्थात् सं० १९१५ के भौमवार माघ सुदी ५ को विराट पर्व रचा गया। उद्योग पर्व का अनुवाद सं० १९१२ के अग्रहण कृष्ण द्वादशी को प्रारम्भ करने का उल्लेख मंगलाचरण (२६ पद्यों के देवी स्तवन) के बाद ही किया गया है––

एक ऊन-विंशति शतक, संवत् द्वादश वर्ष।
कृष्ण आग्रहण द्वादशी, रच्यौ ग्रन्थ हिय हर्ष॥

आरण्य पर्व या वन पर्व के आरम्भ में ही उसका रचनाकाल संवत् १९२२ के आश्विन शुक्ला सप्तमी, सोमवार का उल्लेख किया है।

"एक ऊन विंशति उपरि, द्वाविंशति शशिवार।
क्वार सप्तमी कृष्ण लियो, आरण्यक अवतार॥

१८ पर्वों में सब से बड़ा 'वन पर्व' ही है। इसलिए इसे सब पर्वों के बाद में रचा गया है। इससे छोटा आदि पर्व है जिसकी रचना संवत् १९११ के भाद्र शुक्ल पक्ष के रविवार को हुई।

'रुद्र गगन योगीस शशि, भाद्रशुक्ल रविवार।
'भारत भास्कर' ग्रन्थ यह, तब लिन्हौ अवतार॥६३॥

इस पद्य से पहले २६ पद्यों तक देवी की स्तवना है। इसके बाद ४८ पद्यों में नृपवंश वर्णन है। तदनन्तर कवि वंश वर्णन है। इन दोनों वर्णनों को मूल रूप से आगे दिया जा रहा है। कवि वंश वर्णन के द्वारा विदित होता है कि अन्तर्वेद के उतनवास वनपुर में **चन्द्रमणि** नामक कान्यकुब्ज ब्राह्मण रहते थे। उनके पुत्र 'गिरधर' अजीविका के लिए दिल्लीपती के पास गये। उनके पुत्र 'शिरोमणि' ने दिल्लीपती से मान प्राप्त किया। तत्पुत्र **माधव** ने **जयसाह** का सुजस वर्णन किया उनके पुत्र (**लच्छीराम** को जय साह ने प्रसन्न हो कर दिद्ध दस गांव दिये। उनके पुत्र **रामचन्द्र** ने महाराज जयसाह के लिए अलंकार ग्रन्थ बनाया। तत्पुत्र **शोभाचन्द** ने माधवेश (माधोसिंह) से सम्मान प्राप्त किया। उनके पुत्र **लालचन्द** ने महाराजा प्रताप का गुण-गान किया। तत्पुत्र **दुलीचन्द** ने रामसिंह की कृपा प्राप्त कर देश-विदेश में ख्याति प्राप्त की और रामसिंह नरेन्द्र के लिए सात या 'दस सात' ग्रन्थ बनाये। आदि पर्व के कवि वंश वर्णन वाले पद्य में "किये ग्रन्थ दस सात" पाठ है जब कि अन्य पर्व में इसके स्थान पर "कियै ग्रन्थ जिहि सात" पाठ है। आदि पर्व वाले पद्य में भी दस शब्द पहले के किसी शब्द को काट के ऊपर लिखा गया है। इसलिए कवि ने उस समय तक सात ग्रन्थ ही बनाये होंगे पर वे कौन से कौन से ग्रन्थ हैं? इसका पता नहीं चलता। हमारे संग्रह में संस्कृत मुद्राराक्षस का पद्यानुवाद भेद प्रकाश नामक ग्रन्थ इसी कवि की रचना है। जो महाराजा रामसिंह की आज्ञा से सं० १९०४ में रची गई। सम्भवतः यह कवि की प्रथम रचना है। और संवत् १९११ तक में इसने ५-६ ग्रन्थ और बना लिए। "**भारत-भास्कर** की प्रति सं० १९२३ की लिखी हुई है। अतः यह सम्भव है कि सं० १९११ से १९२३ के बीच में कवि ने १० (दस) ग्रन्थ और बना लिये हों और इसीलिए जिहि सात की जगह दस सात पाठ कर दिया गया हो। कवि वंश वर्णन से कवि का पूरा नाम 'दुलीचन्द' ज्ञात होता है। चन्द कवि इस नाम का संक्षिप्त रूप ही है। भेद प्रकाश और भारत भास्कर के अतिरिक्त कवि की अन्य रचनायें कौन-सी कौन है? इसका पता लगाना आवश्यक है।

संवत् २००१ में प्रकाशित 'राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ १९ में कवि दुलीचन्द और उनके वंशजों का विवरण उनकी रचनाओं के उदाहरण के साथ देते हुए लिखा गया है। कविवर दुलीचन्द जी ने महाराजा सवाई मानसिंह जी द्वितीय की आज्ञा से सम्पूर्ण महा-भारत का पद्यानुवाद किया था। हमने आपके वंशज गणेशी लाल जी से आपकी कवितायें और हाल माँगा था परन्तु उन्होंने बतलाने से साफ इन्कार कर दिया। हमें एक कवित्त कविवर दुलीचन्द जी का "कवि मण्डल" से प्राप्त हुआ वह यहां दिया जाता है। आपके पुत्र रामप्रताप जी महाराजा श्री सवाई माधव सिंह जी द्वितीय के समय में अच्छे कवि हुए थे। आपकी कविता हमें प्राप्त नहीं हो सकी। इस समय इस वंश में गणेशी लाल जी, चिम्मनलाल जी और शालिगराम जी हैं। गणेशी लाल जी की तो कोई रचना हमें प्राप्त नहीं हुई। चिम्मन लाल जी और शालिगराम जी की कविता 'कवि मण्डल' से प्राप्त हुई वह यहां देते हैं।

कवि के 'भेद प्रकाश' का विवरण तो सन् १९०६ से १९०८ की रिपोर्ट में प्रकाशित हुआ था। महाभारत भाषा का उल्लेख उपरोक्त ग्रन्थ के अनुसार डा० मोतीलाल मेनारिया ने अपने 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' नामक शोध प्रबन्ध के पृष्ठ २४३ में भी दिया है। पर सम्भवतः अभी तक किसी ने भी इस ग्रन्थ को देखा नहीं। इसलिए इसके भारत भास्कर आदि नामों तथा

रचनाकला आदि का उल्लेख कहीं भी नहीं किया गया। प्रस्तुत ग्रन्थ अब हमारे संग्रह में होने से इसका पूरा विवरण यहां प्रकाशित किया गया है। प्राप्त प्रति में उद्योग पर्व, द्रोण पर्व, और कर्ण पर्व अपूर्ण हैं। संभव है इनके अन्तिम १-२ पन्ने इधर उधर हो गये। इस प्रति की कुल पत्र संख्या २७६५ (पृष्ठ ५५३०) प्रति पृष्ठ में १५ पंक्ति और प्रति पंक्ति में ४० से ५० अक्षर हैं। तदनुसार ग्रन्थ का परिमाण १०२०० श्लोक करीब बैठता है। वन पर्व के अन्त में ग्रन्थ की रचना और प्रति का लेखन काल इस प्रकार दिया है––संवत् १९२३ द्वितीय ज्येष्ठ कृष्ण पक्ष दसम्याम् समाप्त कृतं निर्माणेन भारत भास्करः। पत्रों का साईज १३ × ८।। इंच का है। अक्षर बड़े-बड़े और लिपि बहुत सुन्दर है। कागज इतने टिकाऊ नहीं है।

नृपवंश

कूरमराम नरेंद्र कौ राजत लोक प्रशंश।
ग्रंथ रीति प्राचीन लखि वर्नत हौं नृपवंश।।१।।

दोहा––शयन करत जो सलिल में प्रलय ठानि संसार।
तिही नाभि के कमल तें भो ब्रह्मा अवतार।।१।।

छंद बैताल––ब्रह्मा कुमार मरीचि भोता तनय कश्यप जानि।
तिहिं पुत्र सूरज तास मनु वैवस्वतै अनमानि।।
इक्ष्वाकु भो मनु छीकतें ता सुत्त विकुक्षि वदेत।
तिहिं द्वितिय नाम शशाद भो शश अदन को लहि हेत।।२।।

ताके पुरंजय इंद्रवाहक कुस्थहू तिहिं नाम।
प्रगटयौ अनेना तास पृथु तिहिं विश्वगंध ललाम।।
तिहिं चंद्रभो युवनाश्व जातैं महाभूप उदार।
ब्रहदश्व तातै कुवलयाश्व जुधुंध्व दैत्य ममार।।३।।

इहिं हेतु तें भय नाम दूजो धुंध्व मार विख्यात।
तातैं दृढाश्व तदीय भो हरियश्व नामक तात।।
ताके निकुंभ नरेश भो तिहिं वर्हिनाश्व बभूव।
ताके कृशाश्व प्रसेनजित युवनाश्व तातैं हूव।।४।।

उहिं पियौ ऋषि पुंशवन कौ जल जाय आश्रम ठाम।
तिहिं कुक्षितैं परगट भयौ सुत मांधाता नाम।।
पुरकुत्स भे त्रशदस्यु तिहिं अनिरण्य त्यौं हरिदस्य।
तिहि अरुन तास त्रिवंधनै सत्यव्रतै सुत तस्य।।५।।

तिहिं नाम दूज त्रिशंकु भो सुत हरिश्चन्द्र तदीय।
तिहिं तनय रोहित हरित जाके करन नष्ट वदीय।।

ता तनय चंप नरेश भो ता सुत सुदेव नृपाल।
तिहिं भरुक नाम नरेश भो वृक तिहिं विपक्ष न काल॥६॥

ताके भयौ नरनाह वाहुक सगर भो सुत जास।
ताके भयौ असमंजसै तिहिं अंशुमान प्रकाश॥
ताके दिलीप ततो भगीरथ अरिनकारक भंग।
उद्धरन साठि सहस्र बांधव अवनि आनिय गंग॥७॥

ता तनय भो श्रुत नाम तास तदीय सिंधु द्वीप।
अयताय ताके पुत्र भो ह्तुपर्ण जास महीप॥
वह ह्वै रथी नल औधि तैं कुंडिन गये बल सीम।
दमयंति कों दूसर स्वयंवर करत सुनि कै भीम॥८॥

ताके कुमार सुदास भो सौदास मित्र सहैव।
ताके भयौ वसुतेज भो कल्माष पाद वहैव॥
नरनाह अस्मक तास मूलक भयौ पुत्र ललाम।
भय राम के तिय भेष तें नारीकवच भो नाम॥९॥

सुत जास दशरथ अैड विड तिहिं विश्व सह भयतात।
उनके दिलीप भयौ जिहीं खट्वांग नाम प्रख्यात॥
ऋषि धेनु के सेवन कियें रघुनाम पुत्र अवाप।
तिहिं पुत्र भो दशरथ्य जाकी सवन ऊपर छाप॥१०॥

तिहिं भानुमंत कुमार भै तिय कौशिला जिहिं नाम।
तहं औतरे जगती उवारन असुर मारन राम॥
जिन रावणादिक रक्ष मारे जाय लंका थान।
ताको चरित्र सुविस्तरै किय वालमीकि बखान॥११॥

तिनके भये कुश अतिथि तिनके निषध भूपति ठीक।
नभ पुंडरीक रु क्षेमधन्वा सुने देवा नीक॥
तिनके अहीनगु पारिजात नल स्थलै अरिशाल।
तिहिं वज्रनाभ रुखगन भूपति विधृत भो महिपाल॥१२॥

तिहिं भयो भूप हिरण्यनाभ तनूज ताको पुख्य।
ध्रुव संधि लेखि सुदर्शनै तिहिं अग्निवर्ण प्रमुख्य॥
तिहिं शीघ्र मरु ताके प्रसश्रुत संधि नाम कुमार॥
नृप भो प्रमर्षण तास अंगज महःस्वान उदार॥१३॥

तिहिं विश्वसाहु प्रसेनजित तक्षक तनूज तदीय।
ताके वृहद्वल जंगजै अभिमन्यु के संग कीय॥

ताके वृहद्रन उरक्रिय तिहिं वत्सवृद्ध नरेश।
प्रतिव्योम तास महीपभान दिवाक-भास्वर भेश॥१४॥

सहदेव तिहिं वृहदश्व ताके भानुमान भुवाल।
प्रतिकाश्व ताके सुप्रतीक अनीक मैं अरिकाल॥
मरुदेव ताके सुनक्षत्र तनूज पुष्कर तास।
तिहिं अंतरिक्ष तदीय सुत पा जास उद्धत भास॥१५॥

ताके नरेश अमित्रजित जिहिं वृहद्भाज उदंड।
वरही कृतंज रणंज संजय विदित जे नव खंड॥
तिनके भयौ सुत शाक्य तिहिं शुद्धोद सिंधु समान।
पुनि लांगलौ महिपाल गीत प्रसेनजित वडसान॥१६॥

क्षितिपाल क्षुद्रक कुणक रथ जिहिं कीर्तिलोक पवित्र।
तिनके भयौ अवनी अखंडल महा बाहु सुमित्र॥
तप करत जौंन कलाप मैं कलि को विलोकि प्रचार।
पुनि वहै कृतयुग मांझ करिहै वंश को उपचार॥१७॥

तिहिं भाय भूपति भयौ कूरम नाम जाकौ कच्छ।
तव तैं भये कछवाह हारक समर मांहिं विपच्छ॥
बुधसेन भे तिहिं धर्मसेन तनूज तिहिं ध्वजसेन।
तिहिं लोकसेन तदीय लक्ष्मीसेन सादृश मैन॥१८॥

भय राजसेन भुवाल ताके कामसेन कुमार।
रविसेन कीरतिसेन तिहिं महसेन ओज अपार॥
तिहिं धर्मसेनहिं अमरसेन समत्थ भो अजसेन।
तिहिं तनय अमृतसेन भो तिहि इंद्रसेन अगेन॥१९॥

ता तनय रज्जमई भयौ सु विजैमई सुत जास।
शिवमई देवमई रु रिद्धिमई भये नृप तास॥
तिहि भयौ रेवमई महीपति तास सिद्धिमई य।
तिन तैं त्रिशंकुमई भयौ, जातै विपत्ति गईय॥२०॥

तिहिं भूपश्याममई भयौ, महिमई भो तिहिं तात।
तिहिं पुत्र धर्ममई जु कर्ममई भयो अवदात॥
महिपाल सुरतमई भयौ तिहिं तात शीश मईय।
तिहिं सुवन भो सुरमई शंकरमई अद्वयतीय॥२१॥

कहियै ज् कुस्ममई तिही तेजस्मई वडसान।
महिपाल गौतम तास नल जिहिं रच्यौ नरवर थान।।
सुत भयो ढोला तास भूपति भयौ लछिमन राय।
तिहिं भानु कैसो तेज भूपति राज भानु गनाय।।२२।।

भयवज्र धाम तनै तिहीं मधु ब्रह्म मंगल राय।
अमनैक भेसव अवनि मैं यश रह्यौ भूतल छाय।।
तिनके त्रिविक्रम से वली नृप जगत विक्रम ढाल।
लहि मूल देव भये वयालिश दुगुन जिनतै पाल।।२३।।

कहियै महीप अनंगपालहि भयउ तिहिं श्रीपाल।
ता तनय सांवतपाल भे, जिहिं भीमपाल भुवाल।।
तिहि गंगपाल महंतपाल महेन्द्रपालहिं जानि।
तिन राजपालरु पद्मपाल अनंदपाल प्रमानि।।२४।।

पुनि वंशपाल भयौ तनै तिहिं विजयपाल भुवाल।
तिहिं कामपाल अनंत कीरति ब्रह्मपाल नृपाल।।
तिहिं विस्नुपाल बखानियै नृप धुंधुपाल उदार।
तिहिं कृश्नपाल लुहंगपाल प्रतापवान अपार।।२५।।

तिहिं अजयपाल नरेश भोज सुपाल अश्वहि पाल।
तिहिं श्यामपालरु अंगपाल वसंतपाल भुवाल।।
फिरि हस्तिपाल नरेश भो तिहिं कामपाल उदंड।
तिहिं चंद्रपाल गुविंदपालरु उदैपाल प्रचंड।।२६।।

तिहिं तात वंग सपाल भो तिहिं रंगपाल गनाय।
तिहिं पुष्पपाल नरेश भो सुत हरीपाल सुभाय।।
तिहिं अमरपाल भुवाल भो तिहिं छत्रपाल नरेश।
तिहिं श्रवनपाल तनूज भो तिहिं धीरपाल धरेश।।२७।।

ताके नरेश सुगंधपाल रु पद्मपाल प्रचंड।
तिहिं रुद्रपाल रु विनयपाल प्रताप जिहिं नव खंड।।
तिन अक्षपाल उदंड भैरोंपाल पर्म सुजान।
तिहिं सहजपाल भुवाल भो तिहिं देवपाल अमान।।२८।।

प्रगट्यौ त्रिलोचनपाल ताके भो विलोचनपाल।
तिहिं रसिकपाल बखानियै जिहिं सहजपाल नृपाल।।
तिहिं तनय सूरजपाल भो तिहिं सुगमपाल प्रमानि।
अत्तिपाल तके भूप भो गजपाल भूपति जानि।।२९।।

तिहिं तनय भो योगेंद्रपाल रु मंजुपाल भुवाल।
तिहिं रत्नपाल तनूज ताको श्यामपाल नृपाल॥
हरिचंदपाल तदीय भो सुत किसुनपाल प्रवीन।
सुत भयौ तास तिलोकपाल समग्र ही गुन लीन॥३०॥

धनपाल तिहिं नखपाल भो परतापपाल अगाह।
नृप धर्मपाल भयौ तहीं तन तेजवान अथाह॥
तिनके जु पृथ्वीपाल भो तिन इन्द्रपाल क्षितीश।
गिरिपाल तिनके जानि कीरतिपाल औनि अधीश॥३१॥

तिहिं कर्ण की सम कर्णपाल रु अंगपाल अथाह।
तिहिं उग्रपाल गनाइयै शिवपाल दुर्जन गाह॥
भनि मानपालहि परशपाल रु चंद्रपाल नृपाल।
गुनपाल तास किशोरपाल गंभीरपाल भुवाल॥३२॥

बुधपाल बुद्धि प्रवीन ताके शूरपाल नरेश।
गुन को गंभीर गंभीरपाल रु तेजपाल दिनेश॥
तिहिं सिंधुपाल गनाइयै गुनपाल उग्र भुवाल।
इन सबनही के अंत मै भय ज्ञानपाल नृपाल॥३३॥

दोहा—ज्ञानपाल के तनय भो काहनि भूपति ठीक।
ताके तनय प्रकाश भो भूपति देवा नीक॥३४॥

देवो नीक तनूज भो ईश्वरसिंह उदार।
बोलि पंडितनकौं सदन कीन्हौं रामि विचार॥३५॥

दोहा—कौन भांति कछवाह को अवनि रहै थिर राज।
भागिनेय द्विज दान कौं पंडित कह्यौ इलाज॥३६॥

ईश्वरसिंघ तवै कियौ सकल राज्य धन दान।
शोढ देव संजुत कुँवर वसे अन्य किहिं थान॥३७॥

छप्पय—शोढ देव के भये राव दूलह शक वंधिय।
पत्थ जेमि समरत्थ महापुरुषारथ कंधिय॥
जिन लिल्लिय द्यौसाद वाय वड गुज्जर गंजिय।
सज्जि मांचि गढ आय पाय वर मीननि भंजिय।
तिहिं कुंवर भये काकिल नृपति अंबखोह आमेरिकिय।
यादवन कुट्टि वैराट लहि कुँवर ज्येष्ट दोऊन दिय॥३८॥

तनय तास हनु भये जास सुत जा नर देवहि।
भयउ तास पज्जवन जास पौरुष अनमेवहि।।
गंजि भीम गुजरात गह्यौ गौरी पठान रन।
पृथीराज चौहान हेत कनवज्ज दियौ तन।
ता तनय मलैशी नृपति भो जित्ते वयाशी जिहिं दुरग।
नागौर आदि गढ गंजिबहु तहां आनि वांधे तुरंग।।३९।।

ताके सुत वीजल नरेश तिहिं राजदेव भय।
तिहिं तनूज कील्हन नरेश चील्हन जिमाय जय।
जिहि कुमार कुंतल नरेश कुंतलगढ वट्टिय।
अरि दवट्टिरण कट्टि लुत्थिजुत्थन धर पट्टिय।
तिहि भयउ भूपवर जौंह्न सी कित्ति जौन्हसी जग करिय।
नृप उदैकरन ताके भयउ मुदै करन जग अनुसरिय।।४०।।

तिहिं नरेश नरसिंह जासवण वीर उपज्जिय।
ताके भो उद्धरन मही उद्धरन विरज्जिय।
चंद्रसेन ता तनय जंग जिहिं पौरुष ठायहु।
मांडव को पतिसाह वेग रहि मारि भगायहु।।
ता सुवन भूप पृथिराज भय भक्ति जास हरि मे वढिय।
विन गये द्वारका आप तिहिं अंगछाप आपहि कढिय।।४१।।

देश ढुंढांहार मध्य सर्वसुख संपति भ्राजत।[१]
अमरावति सम अवनि मांझ आमेरि विराजत।
जास[२] भूप पृथिराज सदा हरि भक्ति परायन।
भारमल्ल तिन तनय खगा खंडन अरि पायन।
भगवंतदास नृप तास सुवद खल जेन दक्षिन करिय।
सुत मान सिंह[३] षढशष्टि रणजित्ति[४] जगत जश वित्थरिय।।४२।।

तास कँवर जगतेश खांन ईशव जिन खंडिय।
महासिंह तिन तनय कीर्त्ति महिमंडल मंडिय।
भयउ तास जयसिंह जीति सेवागहि आनिय।
तास पुत्र नृपराम अमल आसाम विठानिय।[५]
भय कृस्नसिंह तिनके तनय विस्नु सिंह जिन सुत लियउ।
जयसिंह सवाई सजि नगर[६] अश्वमेध अध्वर कियउ।।४३।।

माधवेश नरनाह तनय तिन के परगट्टिय।
जिन वचाय मनसूरअली[७] जट्टन दह वट्टिय।

तिन तनूज परताप ताप दुज्जन दल मंड्डिय।
करि पटैल मद भंग जंग दक्षिन खल[८] खंडिय।
राजाधिराज जगतेश भय जिन जहांन जश वित्थरिय।
करि समरकज्ज कमधज्ज को रण भजाय कमधज्ज किय॥४४॥

तिन तनूज जयसाह तरनिसम तेज उडल्ले।[९]
जन्म लेत जिन तिमिर तुल्य[१०] भय नष्ट मुसल्ले।
कूरम राम नरेन्द्र तनय तिन के परगट्टिय।
पुहिमि मांझ पुरहूत जेमि प्रभुता निज[११] पट्टिय।
रसवीर मांहि[१२] वट्टियसुरुचि सुनन चाह भारत धरिय।[१३]
भाषा निबंध[१४] कविचंद को करन हेतु शासन[१५] करिय॥४५॥

दोहा — लशत भूरि कूरम सदन कवि कोविद वर वृंद।
देव मनुज भाषा निपुन जानत भे[१६] कविचंद॥४६॥

दोहा — कियौ चंद कवि कौं हुकुमराम नरेंद्र उदार।
तुम प्रबंध वर्नन करौ भारत के अनुसार॥४७॥

दोहा — कूरमराम नरेंद्र कौ श्रवन ठानि[१७] मुख शंस।
लखि प्रबंध प्राचीन विधि वदत चंद निज वंश॥४८॥

अथ कवि-वंश वर्णनम्—

दोहा — उतनवास वनपुर विशद अंतरवेद मझार।
भयौ चंद्रमणि विप्रकुल कान्यकुब्ज अवतार॥४९॥

तिहिं तनूज गिरधर भये गिरधर को हिय वास।
वसे जाय रुजगार लहि दिल्लीपति के पास॥५०॥

भये शिरोमणि तास सुत पंडित परम सुजान।
लहि निदेश आनेइतै दिल्लीपति तें मान॥५१॥

तिन तनूज माधव भये चरनउ माधव चाह।
जिन हमेश वर्नन किये सुजस बड़े जयसाह॥५२॥

भये प्रगट तिनके तनय नामक[१८] लच्छीराम।
तिन्हैं[१९] रीझि जयसाह नृप दिये दिघ्घ दश ग्राम[२०]॥५३॥

रामचंद्र तिनके भये पैरि सवै गुन पंथ।
महाराज जयसाह हित अलंकार किय ग्रंथ॥५४॥

प्रगट पुत्र तिनके भये सोभाचंद सुजान।
माधवेश नरनाह तें लह्यौ सरस सनमान॥५५॥

तिनके सुवन सपूत भे लालचंद इक आय।
महाराज परताप कौ रहे सदा गुन गाय।।५६।।

दुलीचद[२१] तिनको तनय भो गुन उत्तम गात्र।
रामसिंह नरनाह[२२] के भयौ कृपा को पात्र।।५७।।

देश विदेशन मै भयौ कवि पंडित विख्यात।
कूरमराम नरेंद्र हित किये ग्रंथ दश[२३] सात।।५८।।

हुकुम पाय नृप[२४] राम को भारत के अनुसार।
वरन्यौ भारत भासकर[२५] सूरन कौ शृंगार।।५९।।

सर्व भांति तैं समुझि कै कविता मांहिं प्रवीन।
यातै पुत्र प्रताप कौं इहां सहायक कीन।।६०।।

श्रवन सुनत ही क्षत्रकुल कायरता कटि जाय।
अंग अंग प्रति जंग की मन उमंग अधिकाय।।६१।।

छप्पय—व्यास उक्त भारत कथा नइ[२६] तलै विस्तारिय।
ग्रंथ वढन भय हेतु व्यर्थ सु विशेषण वारिय[२७]।
उक्ति जुक्ति वहु आनि अमित वर छंद प्रगट्टिय।
अखिल ओज गुण वलित[२८] ललित पद संग्रह पट्टिय।
विरच्यौ सह भारत भासकर अमल[२९] कृस्न कीरति कलित।
जुत सर्व[३०] धर्म साहस कठिन चतुरवर्ग फल संवलित।।६२।।

दोहा—रुद्र गगन योगीश शशि भाद्र शुक्ल रविवार।
भारत भास्कर ग्रंथ यह तव लीन्हौं[३१] अवतार।।६३।। १९११

विराट पर्व का नृपवंश वर्णन

छप्पय—तरनिवंश आमेरिनाथ जयसिंघ भूप भय
माधवेश तिन तनय भये अरि जंग लेन जय
तिन तनूज परताप ताप दुज्जन दल दायक
सुवन तास जगतेस मान मर्दन मरु नायक
जयसिंघ सिंघ सम सूत जिन अरि गयंद किन्हैं गरद।
तिन रामसिंघ भूपति भये अति उदार आहव मरद।।४।।

दोहा—कुल सुभाव दरियाव दिल सुनन जंग जिय चाह।
कह्यो चंद कवि कौं करन भारत ग्रंथ उछाह।।५।।

लहि निदेश नृपराम कौ सुकवि चंद मुख खास।
अब विराट पर्वार्थ कौ वर्नन करत प्रकाश।।६।।

शल्यपर्व का नृपवंश वर्णन

छप्पय — कूरमकुल अवतंस भयौ नृप चंद्रसेन सुव।
अमरनाथ जिमि इंद्र प्रगट आमेरिनाथ हुव।
राज राज पृथिराज सदा हरिभक्त परायन।
भारमल्ल भय तास भोज हूतैं सरसायन।
भगवंतदास ता तनय हुव मानसिंघ महिमा अडग।
सत सष्टि जीति संग रस बल हठि समुद्र खोल्यहु खडग ॥४॥

छप्पय — तास कुंवर जगतेश जास महसिंघ उपज्जिय।
तिन तनूज जयसिंघ दखल दक्षिन उपरज्जिय।
तास कंवर नृपराम अमल आसाम जु किन्हहुं।
कृस्नसिंघ भय तास विस्नु अवतार जु लिन्हेंउं।
जै सिंघ सवाई भूपवर जन्म आप जिन घर लियउ।
कलिजुग्ग मांहि कविचंद कह अश्वमेध मख जिन कियउ ॥५॥

जिन वसाय जैनग्र धर्म चहुं वर्ण चलायौ।
करिअ मीर सब रद्द जेजिया जिन छडवायौ।
माधवसिंघ महीप तनय तिन के परगट्टिय।
जिन व्रजमंडल जट्ट ठट्ट दहवट्टि विघट्टिय।
परतापसिंघ तिनके भये हनि पटैल जशविथ्थरिय।
जगतेश जास कमधज्ज कौ रन भजाय कम धज करिय ॥६॥

जन्म लेत जयसाह जास दुसमन हलहल्ले।
हिंदु भये हुसियार मिटे तमाम मुशल्ले।
तिन तनूज नृपराम कामतरु लौं कर किन्हउं।
क्षीर सिंधु तें मनहु इंदु अवतार जु लिन्हउं।
रसवीर सुनत वट्ठी उमग कह्यउ चंद कहँ चित धरहु।
भारथ्थ सर्व को सारगनि शल्यपर्व भाषा करहु ॥७॥

दोहा — हुकुम पाय नृप राम को हरष ठाय कवि चंद।
गुरु गनेश हरि पाय भजि कियउ ग्रंथ गुनि छंद ॥८॥

संवत सै उगनीश नव अधिक भाद्रपद मास।
समर सिंधु कविचंद के मुख तें भयौ प्रकाश ॥९॥

संदर्भ-सङ्केत—

१. साजत, २. तास, ३. मान जीति, ४. जस जहान घन, ५. जुठानिय, ६. जाम्र जिन्ह, ७. जवाहि रहि जेर ठानि, ८. दल, ९. उझल्ले, १०. तूल, ११. जिन, १२. मांझ, १३. द्रोण जुद्ध चित अनुसरिय, १४. प्रबंध, १५. आयश १६. निरख्यो तहँ।

१७. वानि, १८. जाहिर, १९. जिन्है, २०. याम, २१. सुकवि चंद, २२. कूरमराम नरेंद्र के, २३. जिहिं, २४. जिहिं, २५. द्रोण पर्व, २६. सुसंग्राम सागर रच्यो, २७. द्रोणपर्व की विशद कथा इतलै, २८. टारिय।

२९. कलित। ३०. संग्रामचंद सागर सुघर रचिय। ३१. क्षत्र। ३२. द्वैजि द्रोण संग्राम निधि लियौ ग्रंथ।

कविवर मनोहरराय—परिचय और कृतियाँ

राजेन्द्रकुमार

चैतन्य-मत के कवियों द्वारा प्रणीत ब्रजभाषा-साहित्य परिमाण में कम होते हुए भी काव्यरूपों की विविधता, साहित्यिक उत्कृष्टता तथा ऐतिहासिक तथ्यों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में चैतन्यमत के कुछ भक्तिकालीन कवियों का ही उल्लेख मिलता है। किन्तु इधर चैतन्य मतानुयायी मथुरा के कुसुम सरोवर निवासी बाबा कृष्णदास के श्रम-साध्य अनुसंधान के फलस्वरूप चैतन्य मत के अनेक उत्कृष्ट कवि और उनकी रचनायें प्रकाश में आई हैं। भक्तमाल के यशस्वी टीकाकार प्रियादास के गुरु विवेच्य मनोहर राय चैतन्य मत के ऐसे ही महत्वपूर्ण कवियों में से हैं।

मनोहर नामधारी विविध कवि—

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में मनोहर नाम के कई कवियों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि चैतन्यमतानुयायी विवेच्य 'मनोहर राय' अन्य सभी मनोहर नामधारी कवियों से प्रियादास प्रदत्त 'राय' उपाधि के कारण सहज ही पृथक् हो जाते हैं, तथापि मिश्रबन्धुओं ने इन्हें और जैन मतानुयायी मनोहर कवि को भ्रांतिवश एक ही समझकर त्रुटिपूर्ण सूचनायें दी हैं।[१] अतएव मध्ययुग के मनोहर नामधारी कवियों पर संक्षेप में विचार कर लेना उपयुक्त प्रतीत होता है।

१. प्रथम मनोहरदास चैतन्य मत के प्रसिद्ध कवि राम राय के समकालीन थे। ये कलवार जाति के थे। इन्हें मदिरा पान का व्यसन था। एक बार जगन्नाथपुरी जाते हुए उनके पटना प्रवास में मनोहरदास की भेंट हुई थी। राम राय के संसर्ग से इनकी प्रवृत्ति भगवदोन्मुख हो गई थी। इसके उपरांत मनोहरदास ने राम राय का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। इनका कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिलता।[२]

२. दूसरे मनोहरदास मालवा निवासी थे। इन्होंने संवत् १७०० के लगभग "अवध विलास" नामक ग्रंथ की रचना की थी।[३]

३. तीसरे मनोहरदास निरंजनी थे। ये निरंजनी सम्प्रदाय के साधु थे। इनका समय संवत् १७१७ के लगभग है। इनके द्वारा रचित षटप्रश्नी, शतप्रश्नोत्तरी, ज्ञानभंडारी, वेदांत परिभाषा और ज्ञान वचन चूर्णिका नामक रचनाएँ प्राप्त होती हैं।[४]

४. चौथे, मनोहरदास कबीर पंथी हैं। इनके रेखते और झूलने हस्तलिखित ग्रंथों में मिलते हैं। इनका समय अज्ञात है।[५]

५. पाँचवे मनोहरलाल खंडेलवाल हैं। ये संवत् १७७५ के लगभग विद्यमान थे। ये जैन मतानुयायी सांगानेर निवासी थे। इनका धर्मपरीक्षा नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है।[६]

६. छठे मनोहरदास संवत् १८५७ के लगभग हुए थे। ये सेवक जाति के चारण और जोधपुर नरेश महाराजा मानसिंह के आश्रित थे। इनके गुरु आयसु लाडलूनाथ ने एक लाख रुपया दिया था तथा एक गाँव मानसिंह की ओर से पुरस्कार स्वरूप मिला था। इनके 'जस आभूषण' 'भाषा चंद्रिका' और 'फूलचरित्र' नामक दो ग्रंथ बताए जाते हैं।[७]

७. सातवें मनोहरदास विवेच्य मनोहर राय के परवर्ती हैं। इनकी चैतन्य लीला नामक गद्य रचना प्राप्त है। इनका रचनाकाल संवत १९५७ है।[८]

अंतिम चैतन्य मतानुयायी विवेच्य मनोहर राय हैं। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट की सूचना के अनुसार ये संवत् १७५७ के लगभग विद्यमान थे। इन्होंने 'राधा रमण रस सागर' की रचना की। 'शिवसिंह सरोज' में इनका जन्म संवत् १७८० दिया गया है, जो अशुद्ध है। ग्रियर्सन ने भी इसी संवत की पुनरावृत्ति की है।[९]

मनोहर राय का परिचय और रचना काल––

मनोहर राय के प्रामाणिक जीवन वृत्त और व्यक्तित्व के संबंध में थोड़ी बहुत जानकारी उनकी रचनाओं के ही द्वारा प्राप्त होती है। वाह्य स्रोतों में मनोहर राय के शिष्य प्रियादास कृत भक्तमाल की टीका से उनके विषय में स्फुट प्रशंसात्मक संकेत प्राप्त होते हैं। मनोहर राय की रचनाओं के अन्तःसाक्ष्य से ज्ञात होता है कि वे चैतन्य मत के गोपाल भट्ट (संवत १५५७) की परंपरा में रामचरण भट्टराज के शिष्य थे।[१०] राधारमण रस सागर के अनुसार चैतन्य महाप्रभु के कृपा-पात्र गोपाल भट्ट के शिष्य श्री निवासाचार्य थे और उनके शिष्य रामचरण चक्रवर्ती थे। मनोहर राय के गुरु रामचरन चट्टराज इन्हीं रामचरण चक्रवर्ती के शिष्य थे। मनोहर राय की एक अन्य रचना संप्रदाय बोधिनी से भी इस तथ्य की पुष्टि होती।[११] अन्तः साक्ष्य से इसके अतिरिक्त मनोहर राय की जीवनी विषयक अन्य तथ्य प्राप्त नहीं होते है। सामग्री के अभाव में उनके समुचित जन्म और देहावसान संवतों का भी निर्धारण नहीं हो सका है।

मनोहर राय की कृतियों में निर्दिष्ट रचनाकाल से उनके समय निर्धारण में कुछ सहायता मिलती है। उनके द्वारा रचित 'संप्रदाय बोधिनी' तथा 'राधारमण-रस-सागर' के रचना संवत क्रमशः संवत् १७०७[१२] और संवत १७५७ है।[१३] सवत् १७६९ में रचित भक्तमाल की टीका में प्रियादास ने उसे अपने गुरु मनोहर की प्रेरणा का प्रसाद माना है। अतः संवत १७६०-६५ तक मनोहर राय की विद्यमानता की सम्भावना की जा सकती है।[१४] इस प्रकार मनोहर राय का रचना काल संवत् १७०० के लगभग से लेकर सं० १७७० पर्यंत मानना अनुचित न होगा। प्रियादास कृत भक्तमाल की टीका से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय वे वृन्दावन में प्रचलित रसोपासना के प्रतिष्ठित गौड़ीय आचार्य थे––

रसिकाई-कविताई जाहि दीनो तिन पाई,
भई सरसाई हिये नव नव पाय हैं।

उर रंग भवन में राधा रमन बसें,
लसें ज्यों मुकुर मध्य प्रतिबिम्ब भाय हैं।

रसिक समाज में विराज रसराज करैं,
चहैं मुख सब फूले सुख समुदाय हैं।
जन मन हरि लाल नाम मनोहर पायौ।
उनहू कौ मन हरि लीनों तातै 'राय' हैं।[15]

मनोहर राय उपाधि अथवा वास्तविक नाम—

राधारमण रस सागर से ज्ञात होता है कि मनोहर दास इनका गुरुप्रदत्त नाम था।[16] मनोहर राय के वास्तविक नाम का न तो कोई संकेत उनकी रचनाओं द्वारा ही प्राप्त होता है और न प्रियादास कृत भक्तमाल रसबोधिनी टीका ही एतद्‌विषयक कोई सामग्री प्रस्तुत करती है। प्रियादास ने अपने गुरु के लिए 'मनहर नत्रू' और 'मनोहर राय' नामो का प्रयोग किया है। अपनी रचनाओं में उन्होंने मनोहरदास, मनहरणदास, मनोहर और दास मनोहर छापों का प्रयोग किया है।[17] प्रियादास द्वारा निर्दिष्ट 'राय' उपाधि उनके उद्‌भट रसिक आचार्य व्यक्तित्व का प्रतीक है। कदाचित इसीलिए गुरु प्रदत्त नाम मनोहरदास के साथ ही वे मनोहर राय नाम से भी विख्यात थे।

रचनाएँ—

मिश्रबंधुओं ने मनोहरदास के नाम से 'राधारमण रस सागर', 'नामलीला' और 'धर्म परीक्षा' नामक तीन रचनाओं का उल्लेख किया है।[18] परन्तु बाबा कृष्णदास के अनुसार राधा रमण रस सागर के अतिरिक्त सम्प्रदायबोधिनी, रसिकजीवनी और क्षणदागीतिचिन्तामणि भी मनोहर राय की ही रचनायें हैं।[19] वेद प्रकाश गर्ग ने अपने एक लेख में उनके स्फुट पदों का भी स्वतंत्र रचना के रूप में उल्लेख किया है।[20] वास्तव में मिश्रबंधुओं द्वारा निर्दिष्ट धर्मपरीक्षा विवेच्य मनोहर राय की रचना न होकर उक्त विवेचित जैन मतानुयायी सांगेर निवासी मनोहरलाल खण्डेलवाल की रचना है।[21] धर्म परीक्षा के रचनाकार के रूप में जैन मतावलम्बी मनोहरलाल का उल्लेख मिश्रबंधु विनोद में दो स्थानों पर मिलता है।[22] अतः स्पष्ट है कि प्रथम विवरण के अन्तर्गत मनोहर के नाम पर धर्म परीक्षा नामक ग्रंथ को भ्रमवश लिख दिया गया है। इसके अतिरिक्त मिश्र बंधुओं द्वारा निर्दिष्ट नामलीला भी विवेच्य मनोहर राय की कोई स्वतंत्र रचना नहीं है। वस्तुतः मिश्रबंधुओं को राधारमण रससागर के प्रारंभिक शब्दों के आधार पर राधारमणरससागर और नामलीला के संबंध में उनके दो पृथक रचनायें होने का भ्रम हो गया था। राधारमण रस सागर की प्रतियों में प्रारंभ में ऐसा उल्लेख मिलता है—

'अथ श्री राधारमण रस सागर नामलीला लिख्यते।'

अथवा

श्री राधारमण जयति अथ श्री राधारमण रससागर नामलीला मनोहरदासकृत लिख्यते।

ऐसा ज्ञात होता है कि उक्त उल्लेख के ही आधार पर मिश्रबंधुओं ने 'राधारमण रस-सागर' और नामलीला को दो भिन्न रचनाएं मान लिया था। मनोहर राय की कृतियों को प्रकाश में लाने वाले बाबा कृष्णदास ने इनकी नाम लीला विषयक किसी भी रचना का उल्लेख

नहीं किया है और न किसी अन्य साम्प्रदायिक स्रोत से ही नामलीला का मनोहर राय कृत होने का कोई विवरण प्राप्त होता है।

मनोहर राय के पदों का कोई स्वतंत्र संग्रह अब तक लेखक के देखने में नहीं आया है। मनोहर राय द्वारा संकलित 'क्षणदागीतिचिन्तामणि" में व्रज भाषा के अन्य वाणीकारों के पदों के साथ उनके भी २१ पद मिलते हैं।

'क्षणदागीतिचिन्तामणि' के पदों के अतिरिक्त बाबा कृष्णदास ने मनोहर राय के चैतन्य महाप्रभु विषयक पदों का भी उल्लेख किया है। किन्तु उन्होंने पदों के निश्चित् प्राप्ति स्रोत का कोई संकेत नहीं दिया है।[२३] कदाचित् बाबा कृष्णदास के उल्लेख एवं क्षणदागीतिचिन्तामणि के आधार पर ही गर्ग जी ने पदावली का मनोहर राय की स्वतंत्र रचना के रूप में उल्लेख किया है। इस प्रकार मनोहर राय कृत निम्नलिखित रचनाएं सिद्ध होती हैं—

१—संप्रदाय बोधिनी, २—रसिकजीवनी,[२४] ३—क्षणदागीतिचिन्तागणि और ४—राधारमण रससागर।

सम्प्रदायबोधिनी—

यह मनोहर राय की सर्वप्रथम कृति ज्ञात होती है क्योंकि इससे पूर्व इनकी किसी भी रचना का उल्लेख नहीं मिलता। संप्रदाय बोधिनी की पुष्पिका में उसका संवत् १७०७ की प्रति से लिखा जाना बताया गया है। रचनाकाल एवं प्रतिलिपिकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता।[२५]

प्रामाणिकता का प्रश्न—

श्री प्रभुदयाल मीतल ने संप्रदाय बोधिनी की प्रामाणिकता में संदेह प्रकट करते हुए लिखा है कि ऐसा प्रतीत होता है कि यह रचना मनोहर राय की न हो कर इसी नाम के चैतन्यमतानुयायी किसी अन्य कवि की है। इसका रचनाकाल भी प्रामाणिक नहीं जान पड़ता। जब राधारमण रस सागर की रचना संवत १७५७ में हुई तब इसकी रचना १७०७ में नहीं हो सकती—इसकी रचना शैली अत्यंत शिथिल है और इसमें आधुनिकता की छाप है।[२६]

मेरे विचार से निम्नलिखित कारणों से सम्प्रदायबोधिनी विवेच्य मनोहर राय की ही रचना ज्ञात होती है—

१. सम्प्रदाय बोधिनी और राधारमण रस सागर के रचनाकालों में ५० वर्षों का अन्तर लम्बी अवधि अवश्य है, परन्तु 'क्षणदागीतिचिन्तामणि' के संकलनकाल तथा रसिकजीवनी एवं स्फुट पदों के रचनाकालों की जानकारी के अभाव में एतद्विषयक कोई भी निर्णय नहीं लिया जा सकता। संप्रदायबोधिनी के पूर्व और 'राधारमण रस सागर' के पश्चात् मनोहर राय की किसी अन्य रचना का उल्लेख नहीं मिलता। अतः इस अवधि में ही उक्त दोनों कृतियों का रचनाकाल एवं संकलन काल पड़ना चाहिए। तात्पर्य यह है कि संवत १७०७ से स० १७५७ की अवधि मनोहर राय के कृतित्व से शून्य नहीं कही जा सकती।

२. संप्रदाय बोधिनी यदि किसी अन्य मनोहर राय की रचना होती तो राधारमण रस सागर तथा उससे प्राप्त कवि विषयक सूचनाओं में अन्तर अवश्य होता। परन्तु दोनों रचनाओं

की कवि परिचय की सामग्री में पूर्ण साम्य है। इनसे प्राप्त सूचनाएं एक ही मनोहरराय के आत्मोल्लेख हैं।

३. यह कहना तर्कसंगत नहीं है कि सम्प्रदायबोधिनी में आधुनिकता की छाप है। कवि ने जिस सन्दर्भ में इस शब्द का प्रयोग किया है वह चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित रस-साधना की श्रेष्ठता निर्दिष्ट करने के प्रयोजन से प्रयुक्त हुआ है[२७] अतएव आधुनिक शब्द के आधार पर संप्रदाय-बोधिनी को परवर्ती अथवा अन्य मनोहरराय की रचना नहीं माना जा सकता।

४. संप्रदायबोधिनी में वैष्णव संप्रदायों एवं भक्ति-सिद्धान्तों का सरल शैली में कथन मात्र हुआ है। कवि ने विविध संप्रदायों की गुरु और शिष्य परंपराओं के निरूपण में उनके आधारभूत ग्रंथों का आश्रय नहीं लिया है। अतः उसमें आचार्य अथवा शिष्य परंपरा की पूर्ण सामग्री खोजना असंगत होगा। वैष्णव भक्त संप्रदायों तथा उनके सिद्धान्तों की सूचनात्मक रचना होने के कारण संप्रदायबोधिनी और राधारमण रस सागर के कलापक्ष की तुलना करना समीचीन नहीं ज्ञात होता। क्योंकि एक इतिहासपरक सिद्धान्त ग्रंथ है और दूसरा काव्य-ग्रन्थ।

५. चैतन्य मत के अद्यावधि ज्ञात मनोहर नाम के किसी भी अन्य ब्रजभाषा कवि द्वारा रचित सम्प्रदायबोधिनी नाम की कृति का उल्लेख नहीं मिलता।[२८]

नाभादास कृत भक्तमाल और सम्प्रदायबोधिनी का सम्बन्ध—

संम्प्रदायबोधिनी में कई स्थलों पर नाभादास कृत भक्तमाल के अनुकरण का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त भक्तमाल के रामानुजाचार्य, रामानन्द, और विट्ठलनाथ गुसाईं संबंधी छप्पय भी उद्धृत किए गए हैं। संप्रदायबोधिनी के ऐसे संदर्भ विषयक दोहे और छप्पय नीचे उद्धृत किए जा रहे हैं:—

भक्तमाल के अनुकरण के उल्लेख—

(क) कठिन भैया इनकी कृपा, अद्भुत अतुल अनन्त।
भक्तमाल नाभा रचित, तामैं कछुक लिखन्त॥

—संम्प्रदायबोधिनी, दो० १६

(ख) साढ़े बारह सिष भये, इनके मुख्य महंत।
भक्तमाल अवलोकियो, नाभाविरचित संत॥

—संप्रदायबोधिनी दो० २०

(ग) भक्तमाल नाभा रचित, तामैं छप्पय एक।
तामैं लिखहिं सौ देखियो मैं कहा कहूँ विशेषि॥

—संप्रदायबोधिनी, दो० ७९

भक्तमाल के उद्धृत छप्पय—

क—रामानुजाचार्य विषयक छप्पय—

सहस्रास्य उपदेश करि जगत उधारन जतन कियो।
गोपुर ह्वै आरूढ़ उच्च सुर मन्त्र उचार्यौ।
सूते नर परे जागि बहत्तर श्रवनन धार्यौ।
तिनतेई गर देव पद्धति भई न्यारी न्यारी।
गोपुर ह्वै आरूढ़ उच्च सुर मन्त्र उचार्यौ।
सूते नर परे जागि बहत्तर श्रवनन धार्यौ।
तिनतेई गर देव पद्धति भई न्यारी न्यारी।
कुरु तारक शिष्य प्रथम भक्ति वपु मंगलकारी।
कहुं कृष्णपाल करुणासमुद्र श्री रामानुज सम नहिं तियो।[२९]

ख—रामानन्द विषयक छप्पय—

रामानन्द ज्यों, द्वितीय सेतु जगतरण किय।
अनन्तानन्द कबीर सुखा, पद्मावत नरहरि॥
पीपा भावानन्द सेन सुरसुर की धरनी हरि।
औरो शिष्य प्रसिष्य एक ते एक उजागर।
विश्व मंगल आधार भक्ति दशधा के आगर॥
बहुत काल वपु धारिकै प्रणत जनन कौ पार दिय॥[३०]

विट्ठलनाथ गुसाईं विषयक छप्पय—

श्री विट्ठलनाथ ब्रजराज ज्यों लाल लड़ाय के सुख लिया।
राग भोग नित विविध रहत परिचर्य्या तत्पर।
शय्या भूषन बसन रुचिर रचना अपने कर।
वह गोकुल वह नन्द सदन दीक्षत को सोहै।
प्रगट विभव जंह घोष देखि सुरपति मन मोहै।
वल्लभ सुत बल भजन के कलियुग में द्वापर कियौ॥[३१]

सम्प्रदायबोधिनी से नाभादास कृत भक्तमाल के उल्लेख विषयक उक्त दोहों और छप्पयों से इतना तो निश्चित है कि संप्रदायबोधिनी की रचना भक्तमाल के पर्याप्त प्रसिद्ध हो जाने के उपरान्त हुई होगी।

संप्रदायबोधिनी को भक्तमाल की परवर्ती रचना मान लेने पर भक्तमाल की रचनाकाल एवं स्वरूप विषयक समस्याओं पर पुर्नविचार के लिए निम्नलिखित नवीन संदर्भ प्राप्त होते हैं:—

(क) संप्रदायबोधिनी और भक्तमाल के उक्त सबंधों के आधार पर हम संप्रदायबोधिनी के अधिक से अधिक भक्तमाल की समसामयिक कृति होने की कल्पना कर सकते हैं। संवत १७०७ को यदि संप्रदायबोधिनी का प्रतिलिपि काल न मान कर उसका रचना-काल ही समझें तो भी यह समस्या विचारणीय हो जाती है कि संवत १७०० तक भक्तमाल का कोई न कोई रूपान्तर अवश्य बन चुका होगा जिससे प्रेरित होकर मनोहर राय ने उक्त उल्लेखों के साथ छप्पय उद्धृत किए।

(ख) भक्तमाल के स्वरूप की समस्या उसके रचनाकाल की समस्या से निरपेक्ष्य नहीं कही जा सकती। घटनाओं की समसामयिकता को ध्यान में रखकर भक्तमाल के जसवन्त सिंह विषयक छप्पय के आधार पर उसका रचनाकाल संवत १६५५-६० से लेकर १७१४-१७१५ तक माना गया है।[३२] इस छप्पय के संबंध में अभी तक किसी विद्वान ने आपत्ति नहीं की है किन्तु सम्प्रदायबोधिनी के साक्ष्य के आधार पर भक्तमाल की पूर्ति संवत १७०० के पूर्व हो जानी चाहिए। अतः भक्तमाल में मिलने वाले इसके बाद की घटनाओं एवं चरित्रों को प्रक्षिप्त मानना होगा। ऐसी स्थिति में भक्तमाल को तासी, ग्रियर्सन और किशोरीलाल गुप्त आदि विद्वानों का अग्रदास, नाभादास और नारायणदास का संयुक्त कृतित्व मानने का पक्ष प्रबल हो जाता है।[३३]

(ग) भक्तमाल के प्रतिकाल को संवत् १७१५ का पूर्ववर्ती मानने पर हमें नाभादास के निधन काल में भी परिवर्तन करना होगा। अधिकतर विद्वानों ने नाभादास का निधन काल संवत १७२०-२३ के आसपास माना है।[३४] संवत् १७०० के पूर्व भक्तमाल की पूर्ति का यह तात्पर्य है कि उनका निधन-काल भी उसी के लगभग निर्धारित करना होगा।

संप्रदायबोधिनी के संदर्भ में भक्तमाल का स्वरूप एवं रचनाकाल विषयक संभावनाओं का समुचित मूल्यांकन भक्तमाल के वैज्ञानिक संपादन पर ही संभव हो सकेगा। अतएव भक्तमाल के संपादन में सम्प्रदायबोधिनी की उक्त विवेचित सामग्री को दृष्टि में रखना अत्यन्त आवश्यक है।

क्षणदागीतिचिन्तामणि—

प्रस्तुत रचना निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य, राधावल्लभ और हरिदासी संप्रदायों के ४४ पदकारों के उत्कृष्ट पदों का संग्रह है। क्षणदागीतिचिन्तामणि के संग्रह का आदर्श १८वीं शती के बंगला कवि विश्वनाथ चक्रवर्ती का वैष्णव पदकारों का इसी नाम से प्राप्त संग्रह है।[३५] इस संग्रह में कृष्ण प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा पर्यन्त तीस क्षणदा हैं। जो राधा माधव की विविध कृष्ण लीलाओं पर आधारित है। संपूर्ण रचना दो भागों में विभक्त है, कृष्ण क्षणदा और शुक्ल क्षणदा। इनमें से प्रत्येक के अन्तर्गत १५ उपक्षणदा है। अन्य माधुर्यलीलाओं की अपेक्षा रासलीला विषयक पद अधिक मात्रा संख्या में संकलित है। रासलीला का विस्तार आठवीं क्षणदा से पैन्द्रहवीं क्षणदा पर्यन्त है।

क्षणदागीतिचिन्तामणि में मनोहरराय के २१ पद संकलित हैं। अन्य पदकारों के पदों की संख्या इस प्रकार है:—

नाम	पद सं०	नाम	पद सं०	नाम	पद सं०
चतुर्भुजदास	१०	जगन्नाथ कविराय	४	गिरधर	१
कृष्णदास	१५	नरवाहन	१	जादो प्रभु	१
हरिवल्लभ	९	कवि मण्डन	१	विट्ठल विपुल	३
गोपाल	१	किशोर दास	२	गदाधर प्रभु	४
नन्ददास	१४	मथुराहित	१	रामराय	४
विहारिणीदास	४	हित अनूप	१	हरिनारायण श्यामदास	१
गोविन्दप्रभु	१३	हितब्रजलाल	१	गोवर्द्धनेश	१
स्यामखी	१	हरिदास	५	बनवारी	२
नागरीदास	१	सदानन्द प्रभु	३	सीलचन्द्र	१
सूरदास	९	हित मोहन	१	हित भगवान	१
सूरदास मदनमोहन	१७	परमानन्द	७	नवल सखी	२
मुरारीदास	६	व्यास जी	३	नामदेव	२
दामोदरहित	४	चतुर बिहारी	१	जनहरिया	१
हितहरिवंश	२४	वल्लभ जी	९		
कुंभनदास	५	विद्यापतिश्रीगोपाल	२		

क्षणदागीतिचिन्तामणि में कुल २२२ पद संकलित हैं। इस संग्रह का प्रयोजन राधाकृष्ण की माधुर्यलीलाओं तथा विविध कृष्णभक्ति सम्प्रदायों के अन्तर्गत प्रचलित माधुर्योपासना के सामान्य रूप का निर्देश है। मनोहर राय ने निम्बार्क, वल्लभ, राधावल्लभ और हरिदासी संप्रदायों के पदकारों को यथास्थान महत्व दिया है। व्यक्तिगत दृष्टि से हित हरिवंश के पद सबसे अधिक हैं। किन्तु सम्प्रदायों के अनुसार चैतन्य मत के ही ब्रजभाषा कवियों के पदों को प्राथमिकता मिली है। 'क्षणदागीतिचिन्तामणि का इस दृष्टि से भी अपना महत्व है कि इसमें अनेक अप्रसिद्ध पदकारों के पद संकलित हुए हैं। ऐसे पदकारों के जीवनवृत्त एवं पदों का स्वतंत्र आलोचनात्मक अध्ययन अपेक्षित है। संपूर्ण ब्रजभाषा साहित्य में 'क्षणदागीतिचिन्तामणि' ही एकमात्र ऐसा पद संग्रह है जिसका आदर्श बंगला का उसी नाम का समसामयिक पद संग्रह है।

राधारमण रस-सागर—

यह मनोहरराय की सर्वश्रेष्ठ रचना है। राधारमण रस-सागर का रचना-काल संवत् १७५७ है। इसमें कुल ११३ छंद हैं। रचयिता के अपने गुरु रामशरण और गोपाल भट्ट की बंदना के अनन्तर विविध ऋतुओं के क्रमानुसार राधाकृष्ण की अष्टकालिक एवं माधुर्यलीलाओं का सरस शैली में कवित्त छंदों के अन्तर्गत वर्णन किया गया है। कवित्त के अतिरिक्त छप्पय त्रिपद्री

और अरिहल छंदों का भी प्रयोग हुआ है। प्रकृति चित्रण की दृष्टि से रचना का विशेष महत्व है। विविध ऋतुओं में प्रकृति आराध्य युगल की केलि-क्रीड़ाओं में योग देती है। राधारमण रस-सागर से वसन्त-विषयक कवित्तों के रचना की सरसता का सूक्ष्म अनुमान लगाया जा सकता है:—

वसंत बिहार—

आगम बसंत रसवंत प्रिय परिजन,
वन उपवन सोभा सम्पति सौ छाए हैं।
स्वकर कुसुम जल छिरकी पराग बुका,
चंदन कपूर लै गुलाब लटकाए हैं।
अरस परस राधारमण सुमन गेंद,
सखिन समाज खुल खेल त्यों मचाए हैं।
नैनन नचाई भोंह भेद सतराइ प्यारी,
कंदुक चलावै मनोहरन बचाए हैं।

—राधारमण रस-सागर, कवित्त ५७

यमुना के तीर धीर मलय समीर दुरै,
लटक कदम्ब साखा नीर परसत हैं।
नीलमणि हीरनि जटित कल मण्डल में,
राधिकारमण कैसे नोके दरसत हैं।
केसर कपूर मेल विविध सुगंध रेल,
चंदन चरच बागे सोभा सरसत हैं।
कंचन कलित स्वच्छ पगिया कनक गुच्छ,
मनोहर चंद्रिका में रंग बरसत हैं।

—राधारमण-रस-सागर, कवित्त ८२

मनोहरराय का कृतित्व उनके व्यक्तित्व की विविधता का परिचायक है। चैतन्यमत के ब्रजभाषा कवियों में मनोहरराय ही एकमात्र ऐसे कवि हैं जो एक साथ भक्त, संप्रदाय प्रचारक, इतिहासकार और संग्रहकर्ता के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। 'संप्रदायबोधिनी' उनकी वेष्णव-भक्ति संप्रदायों के प्रति समान निष्ठा और इतिहासकार के व्यक्तित्व की प्रतीक है। क्षणदागीति चिन्तामणि नामक पद संग्रह मनोहरराय के उद्भट माधुर्योपासक एवं संग्रहकर्ता के व्यक्तित्वों का बोध कराता है तथा 'राधारमण रस-सागर उनके रससिद्ध कवि होने का प्रमाण है। चैतन्य मत के ब्रजभाषा कवियों में मनोहरराय महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं।

संदर्भ-सङ्केत—

१. नाम (६११) मनोहर कविताकाल १७५७ [द्वि० त्रै० वि०] ग्रंथ (१) राधा रमण रस सागर, नामलीला (पृ० ३८) धर्म परीक्षा।

२. चैतन्यमत और ब्रज साहित्य, पृ० १८४, श्री प्रभुदयाल मीतल।

३. नागरी प्रचारिणी सभा, खोज रिपोर्ट सन् १९०९-११ से १७०।

४. नागरी प्रचारिणी सभा, खोज रिपोर्ट सन् १९०१ सं० ५८, १९०३ सं० ८३ तथा १९०६-८ सं० २९३।

५. कबीर ग्रंथावली, भूमिका पृ० ४७, डॉ० पारसनाथ तिवारी।

६. नागरी प्रचारिणी सभा, खोजरिपोर्ट सन् १९०० सं० १२२।

७. वही, सन् १९०२ सं० १३, १९०९-११ सं० १९२

८. चैतन्यमत और ब्रजसाहित्य, पृ० ३४९ श्री प्रभुदयाल मीतल।

९. "Manohar wrote the Radha Raman RasSagarLila dealing with the pleasures of krishna in Sambat 1757 (1700 A.D. Shiva Singh says that the poet was born in Sambat 1780 (1723 A.D.). Which date is accordingly reported by Grierson also, but in view of the above authentic date 1700 A. D. as that of the composition of work this unverified alleged date of the poets birth must be rejected. No other poet of this name flourished about this time."

—Search Report 1909–11–No. 192.

(ख) मनोहरदास प्रियादास के गुरु थे। इन्होंने संवत् १७५७ में 'राधारमण रस सागर लीला' नामक ग्रंथ रचा था। अतः १७२३ ई० (संवत् १७२०) इनके जीवन का सांध्यकाल है, न कि जन्मकाल।—सरोज सर्वेक्षण सं० (६८२)—डा० किशोरीलाल गुप्त

१०. श्री चैतन्य कृपाल कृपा करि भट्ट गोपालै।
तिन श्री निवासाचार्य वर्य, करुना को आलै॥
रामचरन तिन कृपा, चक्रवर्ती विख्याता।
रामसरन भट्टराज कृपा तिन सारहि ज्ञाता॥
सुद्ध-भक्ति रस राग तिन करुना कर दीक्षा दई।
दास मनोहर नित्य गुरु पद फूली सिर पर लई॥

—राधारमणरससागर, छप्पय सं० २

११. चट्टराज कुल कमल रवि, छवि फवि परम उदार।
रामशरण गुरु चरण पर मनोहर प्रान अधार॥—सम्प्रदायबोधिनी, दो० १

१२. सम्प्रदाय बोधिनी, पृ० १२

१३. संवत सत्रह सौ सत्तावन जानि कै।
स्रावन बदि पंचमी महोत्सव मानि कै॥
निरखि श्री राधारमण लड़ैती लाल को।
'मनोहर' सपूरन बनराज बिचार्यौख्याल को॥—राधारमण रस-सागर, छं० ११३

१४. महाप्रभु कृष्णचैतन्य मनोहरण जू के,
चरण को ध्यान मेरे नाम मख गाइये।
ताही सब नाभा जी ने आज्ञा दई लई,
धारि टीका विस्तार भक्तमाल को सुनाइये॥—भक्तमाल सटीक, कवित्त १

१५. भक्तमाल सटीक, पृ० ३५०, कवित्त ६२७

१६. सद्गुन समुद्र दया सिंधु प्रेम पारावार,
सील सदाचार कौ कवित्त जग छाया है।
ता दिन सफल जन्म भयौ है अनाथ बंधु,
मनोहर नाम राखि मोहि अपनाया है॥
—राधारमणरससागर, छप्पय सं० १

१७. द्रष्टव्य:—
राधारमणरससागर, छं० १, २, ४, ७, ८, ९ आदि
सम्प्रदाय बोधिनी, पृ० ११ दो० १६
क्षणदागीति, चिन्तामणि पृ० १, पद २।

१८. मिश्रबंधु विनोद भाग २, पृ० ४६६

१९. क्षणदागीतिचिन्तामणि, भूमिका पृ० ७।

२०. साहित्य, वर्ष १२, अंक २

२१. खोज रिपोर्ट नागरी प्रचारिणी सभा, सन् १९०० स० १२१।

२२. मिश्रबंधु विनोद, भाग २, पृ० ४३०।
वही, भाग ४, पृ० ८३।

२३. क्षणदागीतिचिन्तामणि भूमिका—बाबा कृष्णदास।

२४. रसिक जीवनी नामक रचना लेखक को यत्न करने पर भी सुलभ नहीं हो सकी। अतएव प्रस्तुत विवेचन के अंतर्गत उसके संबंध में विचार नहीं किया गया है।

२५. इति श्री रसिकशिरोमनि स्वामी मनोहरदास विरचित सम्प्रदायचतुष्टय वर्णनमयी सम्प्रदायबोधिनी सम्पूर्ण।—सम्प्रदाय बोधिनी, पृ० १३।

२६. चैतन्यमत और ब्रज साहित्य, पृ० २३९।

२७. श्री गौड देश अति पूर्व ते अद्यावधि सब होय।
माध्व सम्प्रदा कहत है बालै वृद्ध अरू जोय॥७१॥
अब नवीन आधुनिक मत सुन कै भक्त समाज।
दिविधा मन में मत करौ पूर्वा पर मत राज॥७२॥

२८. चैतन्य मत और ब्रजसाहित्य, पृ० १८४, २३४, ३४९। सम्प्रदाय बोधिनी पृष्ठ २।

२९. भक्तमाल, रूपकला संस्करण, पृ० २६२, छप्पय सं० ३१; संप्रदायबोधिनी, पृ० ३, छंद १७।

३०. भक्तमाल, रूपकला संस्करण, पृ० २८२, छप्पय सं० ३६; संप्रदायबोधिनी, पृ० ३४, छप्पय २१।

३१. भक्तमाल, रूपकला संस्करण, पृ० ५६९, छप्पय सं० ९६; संप्रदायबोधिनी, पृ० ९, छंद सं० ८०।

३२. हिन्दी भक्त वार्ता साहित्य (अप्रकाशित),—डा० लालताप्रसाद दुबे।

३३. द्रष्टव्य:—

हिन्दुई साहित्य का इतिहास पृ० १२७—गार्सा द तासो; हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, कवि० सं० ५१—ग्रियर्सन।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६३ से २०१५, अंक ३-४।—भक्तमाल का संयुक्त कृतित्व।

३४. द्रष्टव्य:—

मिश्रबन्धु विनोद, भाग १, पृ० २४७; हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २४७—पं० रामचन्द्र शुक्ल; हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, सं० ५१—ग्रियर्सन; हिन्दी भक्त वार्ता साहित्य, पृ० ५३ (अप्रकाशित) —डा० लालताप्रसाद दुबे।

३५. बंगला साहित्य की कथा, पृ० ९१—सुकुमार सेन।

प्रतिपत्तिका

एक

•

भावात्मक एकता और हिन्दी*

बालकृष्णराव

आपके इस भव्य समारोह में हमें अनायास ही भारत की उस भावात्मक एकता का संस्पर्श प्राप्त हो रहा है जिसे हमारे राजनीतिक नेता, जान पड़ता है, ढूँढ़ते ही रहते हैं, कभी पाते नहीं। इसका कारण मैं यह नहीं समझता कि हम अपने राजनीतिक नेताओं से अधिक बुद्धि और दृष्टि-सम्पन्न हैं, या अपने देश को उनसे अधिक प्यार करते हैं, बल्कि केवल यह कि हम यह मानकर नहीं चलते कि देश की भावात्मक एकता खो गयी है और उसे ढूँढ़कर सामने लाने की आवश्यकता है। मुझे यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होता कि हम जो लेखक हैं, शिक्षक हैं, भाषा-प्रचारक हैं, सामान्य सामाजिक कार्यकर्त्ता हैं, बुद्धि और दृष्टि में राजनीतिक-विशारदों की तुलना में निर्बल, असमर्थ और छोटे हो सकते हैं। पर यदि मैं यह स्वीकार करने में संकोच नहीं करता तो यह दावा करने में भी किसी प्रकार की हिचक का अनुभव नहीं करता कि हमारी यह असमर्थता ही हमें अपने अधिक कार्यक्षम राजनीतिक बंधुओं से अधिक आश्वस्त और आशावान् बनने की प्रेरणा भी देती है। यदि हमने यह जाना ही नहीं, कभी यह अनुभव ही नहीं किया कि भारत की भावात्मक एकता अदृश्य या अज्ञेय हो गयी है, तो उसे ढूँढ़ने या प्रमाणित करने के लिए हमें किसी प्रकार की बेचैनी क्यों हो? जो हमारे लिए सहज सत्य है उसे प्रमाणित करने की हमें चिंता क्यों होने लगी? हम अपने देश और राष्ट्र की भावात्मक अखण्डता में सहज आस्था रखनेवाले सामान्य-जन अनेक भाषाओं की विभीषिका से क्यों आतंकित हों? अनेक अवतारों में रूपायित एक विष्णुमूर्ति की कल्पना करनेवाला राष्ट्र क्या मात्र अनेक भाषाओं के माध्यम से अभिव्यक्त होने के कारण भारतीय वाङमय की विराट अखण्डता को पहचान ही नहीं सकता?

मेरा विश्वास है कि हम जितनी सहज, जितनी शुद्ध भारतीय दृष्टि से अपने देश और समाज को देखते हैं, उतनी ही स्पष्टता से हम अपने राष्ट्र के समस्त वैविध्य के पीछे उस भारतीय भावात्मक एकता का रूप देख सकते हैं, जो असहज दृष्टियों के लिए अनिवार्यतः अदृश्य है। यह सहजता हमारे असंख्य धर्मप्राण ग्रामीणों की दृष्टि में समस्त देश के प्रत्येक तीर्थ स्थान को एक दूसरे से सम्बद्ध कर देती है। मैं प्रयाग का निवासी हूँ, इस कारण सहज, सरल ग्रामीणों की आस्था का जीवंत परिचय प्राप्त करने का अवसर मुझे सर्वदा सुलभ है। प्रतिवर्ष माघ के महीने में कोने-

कोने से यात्री आते हैं। हिन्दी का एक शब्द भी न जानने के बावजूद, गाँव से बाहर की दुनियाँ से सर्वथा अपरिचित होने के बावजूद, निःसंकोच प्रयाग-दर्शन और त्रिवेणी-स्नान के लिए सोत्साह चले ही आते हैं। क्यों? इसलिये कि उनके मन में एक अडिग विश्वास जम कर बैठा ही नहीं है, एक शक्तिमती प्रेरणाशक्ति के रूप में उनके मन और मस्तिष्क को पूरी तरह व्याप्त किये रहता है। निश्चय ही उनकी यह आस्था अशिक्षा और रूढ़िग्रस्तता पर टिकी है। पर दो बातों को फिर भी हमें मानना ही पड़ेगा—एक यह कि उनकी यह आस्था उनके लिए सर्वथा सहज है, या यों कहें कि यह आस्था उनकी चारित्रिक सहजता का ही एक रूप है, दूसरी यह कि दूरस्थ, अन्य भाषा-भाषी प्रयाग उनकी दृष्टि में उनके अपने घर का ही एक कोना है, वह कोना जिसमें उन्होंने अपने इष्टदेव की मूर्ति स्थापित कर दी है, जो उनके घर का ही एक भाग होते हुए भी घर की अन्य सभी कोठरियों और कोनों से भिन्न और विशिष्ट है। प्रयाग नगर उनके लिए परदेश है, पर तीर्थराज प्रयाग उनका अपना है, गहरे से गहरे और बड़े से बड़े अर्थ में उनके लिए स्वदेश का ही एक भाग है।

उन ग्रामीण तीर्थ-यात्रियों को परदेश में स्वदेश का साक्षात्कार अनेक बार इतना सहज जान पड़ता है कि वे निःसंकोच प्रयाग के ही पुण्य-स्थलों के सम्बन्ध में अपने को प्रयाग-वासियों से अधिक जानकार मान लेते हैं। मुझे स्पष्ट स्मरण है कि एक बार भारद्वाज आश्रम के सामने सड़क पर जाते हुए एक तेलुगु-भाषी परिवार को आपस में बातें करते हुए सुना था। वे भारद्वाज आश्रम का दर्शन करके लौट रहे थे, पैदल जा रहे थे, उसी दिशा में जा रहे थे जिधर मैं भी प्रायः उनके साथ-साथ चल रहा था। जिस पुजारी ने उन्हें दर्शन कराये थे और आश्रम का माहात्म्य बताया था, उसने ढेरों मनगढ़ंत बातें बतायी होंगी। यात्री उन बातों को दुहरा-दुहरा कर हँस रहे थे—पुजारी की मूर्खता पर। एक वृद्ध से रहा न गया और वह कहने लगा—"बात यह है कि यहाँ के आदमियों को प्रयाग के विषय में कुछ मालूम-वालूम नहीं है।"

इस छोटी-सी बात को यह कहकर उड़ा दिया जा सकता है कि इससे और कुछ नहीं प्रमाणित होता, मात्र इतना ही कि अंधविश्वास और रूढ़िग्रस्तता से वह परिवार इतना आक्रान्त था कि बचपन से सुनी 'बुढ़िया पुराणों की कहानियाँ' उसके लिए स्वतःसिद्ध सत्य थीं। पर क्या इससे यह भी प्रमाणित नहीं होता कि उन दाक्षिणात्यों के लिए उत्तर प्रदेश का वह स्थल बिल्कुल "अपना" था? क्या उस तेलुगु-भाषी वृद्ध के अशिक्षित स्वर में उस समय भारत की भावात्मक एकता ही मुखर नहीं हो रही थी? उस हिन्दी-भाषी पुजारी की जगह किसी तेलुगु-भाषी पुजारी को रख दीजिए। भारद्वाज आश्रम की जगह आंध्र प्रदेश के किसी तीर्थ को रख दीजिए। तो भी क्या वह वृद्ध ठीक उसी प्रकार, उसी भावना से, उसी सहज आत्म-विश्वास के साथ, पुजारी के अज्ञान पर न हँसता?

जो आस्था, जो श्रद्धा, धर्म और तीर्थ के प्रति भारतवासियों के लिए सहज है, क्या वही आस्था और श्रद्धा समस्त भारत-भूमि के लिए सहज नहीं हो सकती? मैं तो मानता हूँ कि हो सकता ही नहीं, है भी। "गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वती, नर्मदे सिन्धु कावेरी", की एकत्रता, अथवा एकता की कल्पना में क्या देश के समस्त प्रदेशों और जातियों, भाषाओं और रीतिरिवाजों की एकता का विश्वास निहित नहीं है? शंकर, रामानुज और वल्लभाचार्य को क्या उत्तर भारत

विदेशी समझता है? क्या कबीर, सूरदास, तुलसी को दक्षिण उसी अपनत्व और आदर से स्मरण नहीं करता जैसे दाक्षिणात्य सन्तों को करता है? कहाँ हैं वे भाषा की भित्तियाँ जो एक को दूसरे से पृथक् करती हैं?

जो अंग्रेजी के माध्यम से सोचने-विचारने, लिखने-पढ़ने, बोलने-सुनने के आदी होने के कारण अपने को समस्त संसार के नागरिक मानते हैं, जो इसका दावा करते हैं कि उनके लिए न अंग्रेजी पर-भाषा है न इंग्लैंड परदेश, वे भारत को भाषा-भित्तियों से खंड-खंड बँटा हुआ ही देख सकते हैं, उसकी आंतरिक एकता को नहीं। उनकी दृष्टि कुएँ की जगत पर ही पड़ती है, कुएँ के जगत को वे क्या जानें? प्रत्येक कुआँ विशिष्ट है, प्रत्येक दूसरे कुएँ से उसकी सत्ता पृथक् है, प्रत्येक की जगत उसकी अपनी जगत है, उसके वैशिष्ट्य का प्रमुख ही नहीं, प्रायः एकमात्र प्रमाण और आधार है; पर बेचारे कूपमण्डूकों की दृष्टि की ऊँची से ऊँची पहुँच भी कुएँ की जगत तक नहीं पहुँच पाती, वे परिचित हो पाते हैं केवल कुएँ के जगत से——उसके जल से। यह सीमित दृष्टि ही वह वरदान है जिसके कारण एक कूप का मण्डूक सहज ही प्रत्येक कूप के मण्डूकों के साथ अनुभव-सादृश्य के आधार पर सहज ही तादात्म्य स्थापित कर लेता है। प्रत्येक कुएँ की जगत उसकी अपनी है, पर प्रत्येक कुएँ का जगत उसका भी है और अन्य सभी कूपों का भी "सलिलमेव हि तत्समस्तम्।" अपनी सीमाओं में जकड़ा, अपनी अशक्ति से अभिशप्त कूपमण्डूक सहज ही संसार के सभी कूपों का नागरिक है, पर बुद्धिमान् मनुष्य एक कुएँ की जगत पर बैठ कर हर कुएँ की जगत पर बैठे मनुष्यों के साथ एकात्म नहीं हो पाता।

शायद यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि मैं यहाँ जिस गुण पर बल दे रहा हूँ वह कूप-मण्डूकता नहीं, सहजता है। कबीर एक अर्थ में कूपमण्डूक ही तो थे——विदेशी क्या किसी देशी भाषा को भी नहीं जानते थे, परिवेश की परिधि ही उनके लौकिक-ज्ञान की सीमा थी। पर वे देश और काल की सभी सीमाओं के परे शाश्वत सत्य का साक्षात्कार कर सके, क्योंकि उन्होंने सहजता को ही साधना और साध्य बना लिया। उनका प्रसिद्ध पद रहस्यवादी साधना के संदर्भ में ही नहीं, सामान्य लौकिक सामाजिक जीवन में भी हमारे लिए सार्थक है। कबीर कहते हैं—

संतो, सहज समाधि भली।
साँई ते मिलन भयो जा दिन तें, सुरत न अंत चली।।
आँख न मूँदूँ कान न रूँधूँ, काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन तें हँसि हँसि देखूँ, सुंदर रूप निहारूँ।।
कहूँ सो नाम सुनूँ सो सुमिरन, जो कछु करूँ सो पूजा।
गिरह-उद्यान एकसम देखूँ, भाव मिटाऊँ दूजा।।

इसी प्रकार हमारे सहज धर्मप्राण अशिक्षित ग्रामीण को भारतकीभावात्मक एकता का संस्पर्श पाने के लिए कोई साधना नहीं करनी पड़ती, आँखों को मूँदना नहीं पड़ता, कानों को बन्द करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह जो करता है, वही भारत की भावात्मक एकता का भूजन बन जाता है, जिस भाषा को अपनाता है उसी के स्वांतःस्वीकरण के द्वारा भारत-भारती का साक्षात्कार

कर लेता है। क्योंकि वह सहज है—अर्थात् भारतीय है, और भारतीय होने में ही, वह भारत की भावात्मक एकता का बोध अनायास प्राप्त कर लेता है।

आधुनिक युग में हमने ही नहीं, समस्त संसार ने प्रवेश किया। सभी देशों ने आगे-पीछे, किसी न किसी रूप में, किसी न किसी अंश तक, 'आधुनिकता' को अपनाया, अपना पुनः संस्कार किया। पर हमारे लिए आधुनिक युग में प्रवेश करने का एक विशेष अर्थ इस कारण हो गया कि एक पाश्चात्य राष्ट्र की आधीनता में, उसके अंकुश के नीचे, उसके द्वारा दिखाये मार्ग पर, उसके द्वारा नियंत्रित गति से, उसके द्वारा निर्दिष्ट दिशा की ओर चलने के लिए विवश थे। फलतः हम आधुनिक होने के साथ-साथ असहज भी होते गये, हमारी आधुनिकता का विकास देश की भूमि से उगने और वहीं से जीवन-प्राण की शक्ति पाने वाली वन्य-वनस्पति के विकास की भाँति नहीं, गमले में उगे पौधे की तरह हुआ। माना कि यह गमला बहुत ही लम्बा, चौड़ा, गहरा गमला साबित हुआ, पर कुछ भी हो, गमला गमला ही तो रहेगा। अंग्रेजों के नेतृत्व में हमने जिस युग में प्रवेश किया, उसमें हमारा अपने सहज रूप को क्रमशः गँवाते जाना अनिवार्य था। आज हम जहाँ पहुँच गये हैं, वहाँ इसकी आवश्यकता जान पड़ती है कि हमें सहज, स्वाभाविक ढंग से अपनी भारतीयता को, अपने देश और राष्ट्र की भावात्मक एकता को, फिर से देख सकने योग्य बनाया जाय। भावात्मक एकता को दृढ़ करने के लिए, उसके प्रति देशवासियों की आस्था को जगाने के लिए, आज राजनीतिक नेताओं की ओर से अनेक प्रयास किये जा रहे हैं। पर वास्तव में जो एकमात्र प्रयास फलप्रद हो सकता है, वह है प्रत्येक भारतीय को सहज, स्वाभाविक ढंग से अपने को, अपने परिवार, ग्राम, प्रदेश को, अपनी भाषा और साहित्य को, अपने रीति-रिवाजों को जानने, मानने, अपनाने की प्रेरणा देना। अपने ग्राम से प्यार करनेवाला ही भारत से प्रेम कर सकता है। अपने परिवार और समाज के प्रति अनुराग ही राष्ट्र के प्रति आदर और आस्था में विकसित हो सकता है, अपनी भाषा को पूरे मन से अपनाकर ही भारत वासी राष्ट्रभाषा का सान्निध्य प्राप्त कर सकता है।

यदि मुझसे यह कहा जाय कि 'तुम क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक भाषाओं पर बल देकर भूल कर रहे हो क्योंकि यही तो वे भी चाहते हैं जो राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार नहीं करते, जो भिन्न-भिन्न प्रादेशिक भाषाओं के आधार पर देश के खंडशः विभक्त हो जाने की संभावना से भी नहीं डरते', तो मैं उत्तर में यही कह सकता हूँ कि भारत का कल्याण इसी में है कि प्रत्येक भारत-वासी अपनी भाषा को सर्वोच्च स्थान दे। यदि वह ऐसा न करेगा तो अपनी भूमि से और अपनी परंपरा से कटकर अलग हो जाएगा, सांस्कृतिक दृष्टि से निष्प्राण हो जाएगा। ज्यों-ज्यों हमारी जनतांत्रिक शासन-प्रणाली अधिकाधिक विकसित, अधिकाधिक सार्थक और अधिकाधिक सच्ची होती जायगी, त्यों-त्यों अधिकाधिक व्यक्ति अपनी प्रादेशिक भाषा के अतिरिक्त अन्य भारतीय—और आगे चलकर विदेशी-भाषाओं से भी परिचय प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे। किसी भी समय किसी भी प्रदेश की अधिकांश जनता अपनी प्रादेशिक भाषा के माध्यम से ही अपना सारा काम चलाया करेगी। पर धीरे-धीरे उनकी भी संख्या बढ़ती जायगी जो उस भाषा से पर्याप्त परिचय प्राप्त किये बिना न रहेंगे जिस भाषा से केन्द्रीय शासन देश का संचालन करेगा—अर्थात् राजभाषा से। यह जनतंत्रात्मक शासन-प्रणाली की अनिवार्य परिणति है, इसके बिना जनतंत्र

का ढाँचा ही ढाँचा रह जाता है, उसमें प्राणों का संचार नहीं हो सकता। यदि हम यह मान भी लें कि इस आधुनिक युग में धर्म के आधार पर एकता अधिक दिन टिकी नहीं रह सकती, तो भी हमें यह मानना ही पड़ेगा कि एक शासन-तंत्र के द्वारा परिचालित अनेक जन अनिवार्यतः एक-दूसरे से एक भाषा के सूत्र में बँध ही जायँगे। अंग्रेजों के दासत्व के युग में भी सारा देश एक शासन-तंत्र के आधीन था। इस कारण सारे देश ने अंग्रेजी सीखी। पर अंग्रेज़ों का शासन इसकी माँग नहीं करता था कि प्रत्येक भारतीय अंग्रेजी जान जाय, क्योंकि उसका काम कुछ थोड़े से लोगों के अंग्रेजी सीख लेने से मज़े में चल रहा था। अब स्थिति सर्वथा भिन्न है। शासन न केवल हमारा अपना है, वह जनतंत्र के सिद्धान्त पर आधारित है और समाजवादी व्यवस्था उसका घोषित लक्ष्य है। दासता के संस्कारों में पली हुई पीढ़ी सहसा अंग्रेज़ी के आतंक से मुक्त नहीं हो पायी। क्योंकि शासन का भार इसी पीढ़ी के कंधों पर रहा है, इस कारण अब तक अंग्रेज़ी का ज़ोर दीख पड़ता है पर यह अधिक समय तक टिकने वाला नहीं है। नातिदूर भविष्य में देश के विधायक और शासक उस पीढ़ी के लोग होंगे जो इन दिनों शिक्षार्जन कर रहे हैं। उनमें भी अनेक अंग्रेजी जानने वाले होंगे, पर जब तक वे कार्यभार सम्हालने योग्य बनेंगे तब तक शासन का कार्यभार सौंपने वाली शक्ति आज से कहीं अधिक व्यापक और सच्चे अर्थ में एक ऐसे विराट् जनसमूह के हाथ में पहुँच चुकी होगी जो अंग्रेजी से अपरिचित नहीं होगा, कार्यवाहों के कंधों पर शासन का भार डाल कर निश्चित और उदासीन न हो जाया करेगा। ज्यों-ज्यों अपनी सत्ता और शक्ति का बोध सामान्य जनता को होता जायेगा, त्यों-त्यों वह देश के कार्य-संचालन की गतिविधि के प्रति अधिकाधिक जागरूक होती जायगी, प्रत्येक प्रशासकीय कार्य के औचित्य का परीक्षण करना चाहेगी, हर समय अधिकारों का उपयोग करने के लिए आतुर रहेगी। उस समय देश का संचालन किसी ऐसी भाषा के माध्यम से ही हो सकेगा जिससे देश की बहुसंख्यक जनता परिचित हो। संविधान में एक नहीं, एक सहस्र संशोधन किये जायँ। अंग्रेजी को देश की राजभाषा बनाये रखने के उद्योग निरंतर होते रहें, पर इन सारी कोशिशों के बावजूद अंग्रेजी भारत में एक उपयोगी विदेशी भाषा के सिवा और किसी रूप में टिक न सकेगी।

अंग्रेज़ी निःसंदेह महत्वपूर्ण और समृद्ध भाषा है। इस समय संसार की अन्य सभी भाषाओं से अंग्रेज़ी ही अधिक उपयोगी है। हमारा वर्षों का अंग्रेज़ी पढ़ने का अभ्यास, अंग्रेज़ी का हमारा ज्ञान, हमारी उपलब्धियाँ हैं, इन्हें हम यों ही, अकारण क्यों गँवायें ? इसी तरह की अनेक दलीलें अंग्रेज़ी के पक्ष में दी जाती हैं। और हमें यह मानने में कोई हिचक न होनी चाहिए कि इन दलीलों में दम है। पर इससे क्या ? हम यह तो नहीं कहते कि भारत से अंग्रेजी का बहिष्करण होना चाहिए। हम अंग्रेजी पढ़ने पर कोई रोक लगाने के पक्ष में तो हैं नहीं। इतना ही नहीं, हम तो यह कहेंगे कि जो भी अंग्रेज़ी सीखे वह उसे ठीक से सीखे, भली प्रकार सीखे, ऐसी अच्छी तरह सीखे कि अंग्रेज़ी का साधिकार प्रयोग कर सके। हम जो नहीं चाहते वह है अंग्रेजी की दासता, अंग्रेज़ी की अनिवार्यता का आतंक, अंग्रेज़ी का राजभाषा के रूप में प्रयोग। हमें मुक्त होना है अंग्रेज़ी की गुलामी से—जो अंग्रेज़ की गुलामी से कहीं अधिक घातक है। अंग्रेज़ी की दासता के कारण ही हम अपने ही देश में प्रवासी की तरह रहते हैं, अपने-जैसे अन्य स्वदेशवासी प्रवासियों की छोटी-सी दुनिया में ही जीते हैं, उसी में मर जाते हैं। अंग्रेजों के शासनकाल में और उनके शासन के

फलस्वरूप अंग्रेज़ी जाननेवाले अल्पसंख्यक भारतीय प्रशासकीय पदों पर प्रतिष्ठित होते रहे, अंग्रेज़ी न जाननेवाले अपने बहुसंख्यक देशवासियों से अधिक सुखी और संपन्न रहे। वही स्थिति अब भी है। अब भी अंग्रेज़ी जाननेवालों के लिए जितने द्वार खुले हैं, उतने स्वभाषा पर निर्भर व्यक्तियों के लिए नहीं हैं। स्वभावतः अंग्रेज़ी जाननेवाले अपने अधिकारों का उपयोग इसी उद्देश्य से करेंगे कि उनके उत्तराधिकारी उन्हीं जैसे व्यक्ति हों, कि प्रशासकवर्ग का अभिजात्य सुरक्षित रहे। यही कारण है कि युग की माँग की अवहेलना कर हमारे शासक आज भी देश को अंग्रेज़ी की दासता से मुक्त कराने की चेष्टा नहीं, उसका अभिनय मात्र कर रहे हैं।

विचित्र बात तो यह है कि वे भारत की भावात्मक एकता के संरक्षण के नाम पर अंग्रेज़ी का आधिपत्य बनाये रखना चाहते हैं। मानो भारत की भावात्मक एकता अंग्रेज़ या अंग्रेज़ी की देन हो! मानो अंग्रेज़ों के आगमन से पूर्व भारत राजनीतिक खंडों में ही नहीं, भावात्मक खंडों में भी विभक्त रहा हो! मानो तीर्थाटन की प्रेरणा अंग्रेज़ों की रेलों ने दी हो! मानो कबीर के पद रेडियो द्वारा देश के कोने-कोने में पहुँचाये गये हों! अंग्रेज़ और अंग्रेज़ी को भारत की भावात्मक एकता के निर्माण अथवा आविष्कार, प्रवर्द्धन अथवा संरक्षण का श्रेय देने वाले यह भूल जाते हैं कि राजनीतिक सीमाएँ सांस्कृतिक और भावात्मक सीमाएँ नहीं होतीं। वे यह भूल जाते हैं कि भारत की सांस्कृतिक और भावात्मक एकता की आधार-भूमि वह स्थूल भूखण्ड नहीं था जिसे अंग्रेज़ों ने अनेक राज्यों में विभक्त पाया था और छल-बल से अपने शासनाधिकार के नीचे एक कर दिया था। भारत की भावात्मक एकता उसकी संस्कृति पर और उसकी संस्कृति उसके धर्म पर आधारित थी। यह धर्म और यह संस्कृति भारत को अंग्रेज़ों से नहीं मिली।

पर यदि हम क्षण भर के लिए यह मान भी लें कि भारत की भावात्मक एकता अंग्रेज़ी के माध्यम से उपलब्ध हुई तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि अंग्रेज़ी के कारण इसलिए उपलब्ध हो सकी कि अंग्रेज़ हमारे शासक थे और उनकी भाषा होने की वजह से अंग्रेज़ी हमारी राजभाषा थी। अंग्रेज़ी का प्रभाव भारत पर इसी कारण तो पड़ सका कि वह उसकी राजभाषा बनी। अंग्रेज़ी के जिस एकीकरण के प्रभाव को हम कृतज्ञता के साथ स्मरण करते हैं वह उसके अंग्रेज़ी होने के कारण नहीं, राजभाषा होने के कारण ही सम्भव हुआ। कोई भी भाषा क्यों न हो, यदि समस्त देश का कार्य-संचालन एक भाषा के द्वारा सम्पन्न होगा तो उसका प्रभाव वही होगा जो अंग्रेज़ों के शासन में अंग्रेज़ी का हुआ। स्वतंत्र भारत की राजभाषा का प्रभाव परतंत्र भारत की राजभाषा के प्रभाव की तुलना में अधिक व्यापक और गंभीर ही हो सकता है। इतना ही नहीं, स्वतंत्र भारत की राजभाषा का प्रभाव अधिक उदात्त भी होगा, क्योंकि वह केवल व्यावहारिक, राजनीतिक स्तर पर ही नहीं, भावना और संस्कृति के स्तर पर भी हमारी आत्माभिव्यक्ति का माध्यम होगी, क्योंकि उसमें हमारी युग-युगों की सांस्कृतिक उपलब्धियाँ सँजोयी रहेंगी, क्योंकि वह मात्र एक अल्पसंख्यक अभिजातवर्ग की ही नहीं, समूचे देश के सामान्य जन-समूह की अपनी भाषा होगी। अँग्रेज़ी के माध्यम से देश के विभिन्न प्रदेशों के थोड़े-से उच्चवर्गीय जन परस्पर विचार-विनिमय करके संतुष्ट हो लेते हैं कि अंग्रेज़ी ने देश को एक कर दिया। पर अपने समकक्ष भिन्न-प्रदेशवासी से अँग्रेज़ी में विचार-विनिमय कर संतुष्ट होनेवाला उच्चवर्गीय व्यक्ति यह भूल जाता है कि जिस अंग्रेज़ी की एकनिष्ठ साधना ने उसे एक ओर देश भर के अभिजातवर्ग का सान्निध्य प्रदान किया

है उसी के कारण वह अपने ही क्षेत्र की बहुसंख्यक सामान्य जनता से कट कर अलग हो गया है। और यही सामान्य जनता निकट भविष्य में देश और प्रदेश के प्रशासन में सक्रिय सहयोग के अपने जन्मसिद्ध अधिकार का उपयोग करने जा रही है। उस समय इस अभिजातवर्ग के प्रति किसे सहानुभूति होगी ?

मैंने कहा है कि निकट भविष्य में यह स्थिति होने वाली है—क्योंकि मैं स्वीकार करता हूँ कि आज यह स्थिति नहीं है। राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करके भी भारत अभी तक मानसिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक स्वतंत्रता के उषःकाल की बाट ही जोह रहा है। महात्मा गाँधी के स्वप्नों के भारत का अभी तक सच्चे अर्थ में हमें साक्षात्कार प्राप्त नहीं हुआ है। इस अवसर पर युगपुरुष गाँधी के कुछ शब्दों को दुहराना उचित जान पड़ता है। गाँधी-साहित्य के तीन छोटे-छोटे अवतरणों को इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किया जा सकता है :—

> "अगर हम बनावटी वातावरण में न रहते होते तो दक्षिणवासी लोगों को न तो हिन्दी सीखने में कोई कष्ट मालूम होता, और न उसकी व्यर्थता का अनुभव ही होता। हिन्दी-भाषी लोगों को दक्षिण की भाषा सीखने की जितनी जरूरत है, उसकी अपेक्षा दक्षिणवालों को हिन्दी सीखने की आवश्यकता अवश्य ही अधिक है। सारे हिन्दुस्तान में हिन्दी बोलने और समझने वालों की संख्या दक्षिण की भाषाएँ बोलनेवालों से दुगुनी है। प्रान्तीय भाषा या भाषाओं के बदले में नहीं, बल्कि उनके अलावा एक प्रान्त का दूसरे प्रान्त से सम्बन्ध जोड़ने के लिए एक सर्व-सामान्य भाषा की आवश्यकता है। ऐसी भाषा तो हिन्दी-हिन्दुस्तानी ही हो सकती है।
>
> कुछ लोग, जो अपने मन से सर्व-साधारण का ख़याल ही भुला देते हैं, अंग्रेज़ी को हिन्दी की बराबरी से चलनेवाली ही नहीं, बल्कि एकमात्र शक्य राष्ट्रभाषा मानते हैं। परदेशी जुए की मोहिनी न होती, तो इस बात की कोई कल्पना भी न करता। दक्षिण-भारत की सर्व-साधारण जनता के लिए, जिसे राष्ट्रीय कार्य में ज़्यादा से ज्यादा हाथ बँटाना होगा, कौन-सी भाषा सीखना आसान है—जिस भाषा में अपनी भाषाओं के बहुतेरे शब्द एक से हैं और जो उन्हें एकदम लगभग सारे उत्तरी हिन्दुस्तान के सम्पर्क में लाती है वह हिन्दी, या मुट्ठीभर लोगों द्वारा बोली जानेवाली सब तरह से विदेशी अंग्रेज़ी ?
>
> इस पसन्द का सच्चा आधार हमारी स्वराज्य-विषयक कल्पना पर निर्भर है। अगर स्वराज्य अंग्रेज़ी बोलनेवाले भारतीयों का और उन्हीं के लिये होनेवाला हो, तो निःसन्देह अंग्रेज़ी ही राष्ट्र-भाषा होगी। लेकिन अगर स्वराज्य करोड़ों भूखों मरनेवालों का, करोड़ों निरक्षरों का, निरक्षर बहनों का और दलितों वा अन्त्यजों का

हो और इन सब के लिए हो, तो हिन्दी ही एक मात्र राष्ट्रभाषा हो सकती है ?"––(यंग इंडिया, १८-६-३१)

"अंग्रेज़ी का इससे आगे बढ़ना मैं असंभव समझता हूँ, चाहे कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाय। अगर हिन्दुस्तान को हमें सचमुच एकराष्ट्र बनाना है, तो चाहे कोई माने या न माने, राष्ट्रभाषा तो हिंदी ही बन सकती है, क्योंकि जो स्थान हिन्दी को प्राप्त है, वह किसी दूसरी भाषा को कभी नहीं मिल सकता।"

––(इन्दौर में सन् १९३५ में हुए हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के २४वें अधिवेशन में अध्यक्ष-पद से दिये गये गाँधी जी के मूल हिन्दी भाषण से।)

"करोड़ों लोगों को अंग्रेजी की शिक्षा देना उन्हें गुलामी में डालने जैसा है। मेकाले ने शिक्षा की जो बुनियाद डाली, वह सचमुच गुलामी की बुनियाद थी। उसने इसी इरादे से अपनी योजना बनायी थी, ऐसा मैं सुझाना नहीं चाहता। लेकिन उसके काम का नतीजा यही निकला है।...यह क्या कम जुल्म की बात है कि अपने देश में अगर मुझे इन्साफ़ पाना हो, तो मुझे अंग्रेज़ी भाषा का उपयोग करना पड़े! बैरिस्टर होने पर मैं स्वभाषा बोल ही न सकूँ। दूसरे आदमी को मेरे लिए तरजुमा कर देना चाहिए! यह कुछ कम दंभ है? इसमें मैं अंग्रेज़ी का दोष निकालूँ या अपना? हिन्दुस्तान को गुलाम बनाने वाले तो हम अंग्रेज़ी जाननेवाले लोग हैं। प्रजा की हाय अंग्रेज़ी पर नहीं पड़ेगी, बल्कि हम लोगों पर पड़ेगी।"

––(हिन्द स्वराज्य, पृ० ७४-७५, १९५९)

महात्मा के इन शब्दों को दुहराने के बाद मुझे और कुछ नहीं, केवल इतना ही कहना है कि आप जो दक्षिण के इस भव्य प्रदेश में हिन्दी-प्रचार का कार्य कर रहे हैं, वास्तव में भारत की भावात्मक एकता को और उसके जनतांत्रिक शासन के स्वप्न को साकार और सार्थक बनाने में अमूल्य योगदान कर रहे हैं। संविधान ने हिन्दी को राजभाषा बनाया नहीं है, उसे औपचारिक स्वीकृति मात्र दी है––क्योंकि हिन्दी भारत की नैसर्गिक जनभाषा है और जनतंत्रात्मक शासन-पद्धति में जनभाषा ही राजभाषा हो सकती है। हिंदी उत्तर प्रदेश या उत्तर भारत की भाषा नहीं है, उत्तर प्रदेश और उत्तर भारत ने केवल उसे अन्य क्षेत्रों से पहले अपना लिया है––जैसे बंगाल और मद्रास ने पहले अंग्रेज़ी अपनायी थी। हिन्दी भारत की भाषा है, किसी प्रदेश-विशेष की नहीं, और आप कर्नाटक के हिन्दी-भक्तों की तपस्या इस सत्य का देदीप्यमान् प्रमाण है। जय हिन्दी! जय हिन्द!

***[गत ३० अप्रैल १९६४ को धारवाड़ (मैसूर) में कर्नाटक प्रान्तीय हिन्दी प्रचार सभा के रजत-जयन्ती के अवसर पर दिया गया अध्यक्षीय भाषण]**

दो

हिन्दी-साहित्य में काल-नामकरण

मोहन अवस्थी

साहित्य-इतिहास-लेखक काल एवं युग इन दो शब्दों में प्रायः कोई अन्तर नहीं समझते। कोई 'मध्ययुग' लिख देता है, तो कोई 'मध्यकाल' का प्रयोग करता है। यही नहीं, काल के भीतर भी काल की योजना मिलती है—जैसे 'आधुनिक काल' के भीतर 'भारतेन्दु-काल'। 'युग' शब्द के साथ हमारा ध्यान सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग पर जाता है। अर्थात् 'युग' शब्द निश्चित वर्षों की अवधि का सूचक है। काल एक अविभाज्य अविच्छिन्न धारा है। भूत, वर्तमान या भविष्य उसके व्यावहारिक दृष्टि के भेद हैं, अन्यथा न भविष्य का कोई अस्तित्व है, न भूत का। और वर्तमान, वर्तमान कहते ही भूत हो जाता है। तात्पर्य यह है कि भूत, वर्तमान, भविष्य संज्ञाभिहित इस अखंड धारा में सैकड़ों युग अन्तर्हित हैं। इस प्रकार काल अपेक्षाकृत बड़ा विभाजन है और युग छोटा। इसलिए इतिहास लेखकों को काल तथा युग का प्रयोग सावधानी से करना चाहिए।

हिन्दी साहित्य के बारह सौ वर्षों के समय को साधारणतः चार कालों में विभक्त किया जाता है। इन में दो कालों के नामकरण के विषय में लगभग सभी विद्वान् सहमत हैं। ये काल हैं—भक्तिकाल एवं रीतिकाल। इन नामों से यदि किसी का मत-वैभिन्य है, तो वह केवल मत-वैभिन्य के लिए है। तर्क तथा प्रमाण-पुष्ट इन दो कालों के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। सन् ७६० से १३१८ तथा १८४३ ई० से आज तक ये दो काल नाम के प्रसंग में अभी तक विवादग्रस्त हैं। इस लेख में ७००-१३१८ई० तक के काल की नामोपयुक्तता पर विचार किया गया है।

काल के नामकरण में कई दृष्टियाँ कार्य करती हैं। कभी उसे प्रवृत्ति-प्राबल्य के अनुसार पुकारते हैं, कभी राजनैतिक आन्दोलनों पर ध्यान रखा जाता है। कोई विद्वान् किसी साहित्यिक नेता के सहारे काल का परिचय देता है, तो कोई उसे किसी शासक से सम्बद्ध करना चाहता है। यद्यपि ये सभी दृष्टियाँ ठीक हैं, लेकिन उनके लागू होने के लिए काल के विभिन्न प्रभावों का पर्यवेक्षण पहली आवश्यकता होती है।

साहित्य के इतिहास के संदर्भ में सामाजिक और राजनैतिक इतिहास का अन्तर चलते समझ लेना चाहिए। राजनैतिक परिवर्तन प्रायः जीवन के ऊपरी तल पर चलते हैं, सामाजिक परिवर्तन जीवन के आंतरिक पक्ष को प्रभावित करते हैं। एक नरेश राजनैतिक

युग में प्रवर्तक हो सकता है, लेकिन सामान्य जनता उससे बिल्कुल अनभिज्ञ रह सकती है। सामाजिक चेतना ही सामाजिक इतिहास है। साहित्य इस चेतना की अभिव्यक्ति है। साहित्य का इतिहास इसी सामाजिक चेतना का विकास दिखाता है। वह सारी घटनाओं का विवरण नहीं है। चाहे दस राजाओं ने एक ही से कार्य किए हों, चाहे कोई निकम्मा ही रहा हो, राजनैतिक इतिहास सभी का वर्णन करेगा। साहित्य का इतिहास उच्छिष्ट भोजियों की पर्वाह नहीं करता वह उन्हीं का विवरण देता है जो भावों के ऊर्जस्वीकरण में किसी न किसी रूप से सहायक होते हैं अथवा समाज की इस मानसिक यात्रा में कोई न कोई योग प्रदान करते हैं।

शासक के नाम पर साहित्य के कालों का नामकरण हिन्दी-साहित्य के कहाँ तक अनुकूल है, इसे भी देख लेना उचित होगा। इस प्रकार का विचार इग्लैंड के राजनैतिक एवं साहित्यिक इतिहास को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया जाता है। वहाँ साहित्य को 'एलिज़ाबिथन' और 'विक्टोरियन' कालों में विभक्त किया गया है। लेकिन इग्लैंड और भारत की पृष्ठभूमि एक-सी नहीं है। भारत की बात छोड़िये, सम्पूर्ण इग्लैंड का क्षेत्रफल उत्तर प्रदेश से भी छोटा है। अतएव वहाँ एक राजनैतिक परिवर्तन जन-जीवन पर पूरा प्रभाव डाल सकता है। यातायात के सर्व-सुलभ साधनों के अभाव में (८ वीं श० से १७ वीं श०) भारत में ऐसा प्रभाव कहाँ तक संभव हो सकता था। फिर दूसरी बात यह है कि एलिज़ाबेथ और विक्टोरिया ने क्रमशः ४५ तथा ६४ वर्षों तक राज्य किया। यह पर्याप्त लम्बा समय है। ये दोनों शासिकाएँ न केवल राजनैतिक नेत्रियाँ थीं, प्रत्युत उनका शासन जनता की मनोदशा का प्रतिविम्ब था। आज भी 'एलिज़ाबिधन स्पिरिट' अथवा 'विक्टोयिरन मारल्स' सदृश मुहावरे तत्कालीन सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति करते हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में देखने से हिन्दी-साहित्य पर यह सिद्धांत चरितार्थ नहीं होता। हिन्दी-साहित्य उत्तर भारत में रचा गया। उत्तर भारत में अकबर (१५५५-१६०५ ई०) तथा औरंगज़ेब (१६५८-१७०७ ई०) ने अर्द्धशताब्दी के लगभग राज्य किया। अकबर ने 'दीन इलाही' धर्म चलाया, किन्तु मूल में यह एक राजनैतिक सहिष्णुता थी, जिसका सम्बन्ध दरबार तक ही सीमित था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इस प्रकार के आन्दोलन जीवन की ऊपरी सतह तक ही रह जाते हैं। अकबर की नीति के राणा प्रताप राजनैतिक दृष्टि से विरोधी थे किंतु जनता ने भी उसके वैवाहिक सम्बन्धों के साथ वैचारिक समझौता नहीं किया। यह अवश्य है कि उसके राज्य में अपेक्षाकृत अधिक शांति रही, अतएव साहित्य की उन्नति हुई, लेकिन उस काल का साहित्य राजनैतिक-जीवन का प्रतिविम्ब नहीं है। औरंगज़ेब की धार्मिक कट्टर नीति तो स्पष्ट ही लोक विपरीत थी। अतएव शासकों की दृष्टि से नामकरण समीचीन नहीं हो सकता। अतः नामकरण का आधार सामाजिक चेतना के अनुकूल ही किया जाना चाहिए।

हिन्दी-साहित्य के प्रारंभिक काल को—वीरगाथा काल, चारण काल, सिद्ध-सामंत-युग, आदिकाल—चार प्रमुख नाम दिए जाते हैं। कालों के नामकरण का प्रथम और अत्यंत दृढ़ क़दम आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने उठाया था। उनसे पहले सामग्री का ऐसा वैज्ञानिक वर्गीकरण करने का प्रयास नहीं हुआ था।

वीरगाथा काल

आचार्य शुक्ल ने इस काल को 'वीरगाथा काल' नाम दिया है। उन्होंने यह काल संवत् १०५० से १३७५ तक माना है। क्योंकि "मुंज और भोज के समय में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य रचनाओं में भी पाया जाता है।[१] स्पष्ट है कि शुक्लजी के सामने १०५० विक्रमी से पूर्व का अधिक साहित्य नहीं था। सिद्धों में उन्होंने 'सरह' की चर्चा करते हुए लिखा है कि "सिद्धों में सरह सब से पुराने अर्थात् वि० सं० ६९० के हैं। अतः हिन्दी-काव्य-भाषा के पुराने रूप का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है।"[२] लेकिन उनके विचार में "सिद्धों और योगियों की रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं।"[३] इसलिए वीरगाथात्मक प्रवृत्ति को देख कर उन्होंने इस काल को 'वीरगाथा काल' नाम देकर उचित न्याय किया था। लेकिन अब स्थिति कुछ भिन्न हो गई है।

शुक्लजी के समय तक जैन-साहित्य के अन्तर्गत हेमचन्द्र, सोमप्रभसूरि तथा मेरुतुंग की रचनाएँ ही उपलब्ध थीं। इनका साहित्यिक महत्व है, लेकिन ये रचनाएँ वीरगाथाओं के सामने कम हैं और इसलिए उनका प्रवृत्ति-निर्माण में कोई हाथ नहीं था। लेकिन इधर आठवीं शताब्दी से जो जैन-काव्य उपलब्ध हुए हैं उनसे पुरानी धारणाएँ निर्मूल हो गई हैं। स्वयंभू (७९० ई०) तथा पुष्पदंत (९५९ ई०) के काव्य साहित्यिक परम्परा की एक लम्बी और सुदृढ़ कड़ी उपस्थित करते हैं। इन काव्यों को विचार-भूमि से बाहर नहीं रक्खा जा सकता। ऐसे काव्यों के बाद वे रचनाएँ आती हैं, जो धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक रंग से अछूती रह कर लिखी गई हैं। 'संदेश रासक' एवं 'प्राकृत पैंगलम्' के दोहों के आदर्श पर रचित काव्य इस कोटि के हैं। 'वीरगाथा' नाम इन दोनों प्रकार के उत्कृष्ट ग्रन्थों की विल्कुल उपेक्षा कर देता है। बहुत संभावना है कि इस प्रकार के और भी ग्रन्थ निकट भविष्य में प्राप्त हो जायँ। इस काल में दूसरे प्रकार की 'रासो' कही जाने वाली आदि रचनाएँ मौखिक-परम्परा में विकसित होती हुई अपने परिवर्तित संदिग्ध रूप में प्राप्त हैं। भाषा की जाँच करने से सिद्ध होता है कि रासो काव्य चौदहवीं शताब्दी से पूर्व के नहीं है। शुक्लजी ने स्वयं उनके समय तथा प्रामाणिकता के बारे में संदेह प्रकट किया है। इन ग्रंथों में अनेक तो १५ से १७ शताब्दी तक की रचना माने जाते हैं।

संत नामदेव का जन्म तेरहवीं शताब्दी (१२६७ ई०) में हुआ। अर्थात् तेरहवीं-चौदहवीं सदी की साहित्यिक चिन्ता धारा में वह प्रबल मोड़ आया जिसे संत-काव्य कहते हैं। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के बाद जो रासो ग्रंथ लिखे गए उनका स्वर कबीर जैसे क्रान्तिकारी कवियों के सामने अवश्य दब गया होगा। जैन-साहित्य को यदि हम छोड़ भी दें और इन वीरगाथात्मक रासो ग्रंथों को एक राशि-रूप में न देखकर कालक्रम की दृष्टि से देखें, तो भी इस काल में उनका प्राधान्य सिद्ध नहीं होता और 'वीरगाथाकाल' नाम सारहीन हो जाता है।

चारण काल––'चारण काल' नाम तो 'वीरगाथा काल' से भी अधिक सीमित है। इस नाम का प्रतिपादन करने का अर्थ यह है कि या तो उस काल के सारे रचनाकारों को चारण मान लिया जाय अथवा उस प्रकार की कविताओं को चाटुकारिता के वर्ग में रक्खा जाय। 'वीरगाथा' शब्द से जिस भावना का आलोक फैलता है, 'चारण' शब्द उसे भी खोखला कर देता है।

'सिद्ध-सामन्त' काल——महापंडित राहुल जी ने इस काल को सिद्ध-सामन्त-युग कहा है। प्रथम तो 'सिद्ध' शब्द की व्यापकता देखना आवश्यक है। आठवीं सदी में जहाँ सरहपा, शबरपा जैसे सिद्ध-कवि हैं, वहीं स्वयंभू देव जैसा महाकवि भी मौजूद है। नवीं शती में लुईपा, विरूपा आदि सिद्धों के साथ पुष्पदन्त विद्यमान हैं। अतएव इस साहित्य को देखते हुए इस काल को 'सिद्ध-युग' कह देना अव्याप्ति दोष है। इस नाम से जैन-साहित्य की उपेक्षा हो जाती है। यह ठीक है कि सिद्धों की रचनाएँ साहित्य-कोटि में आती हैं, भले ही उच्च कोटि में नहीं। घिसे-पिटे उपदेश भी साहित्य हैं, फिर नए प्रकार के उपदेश तो निस्सन्देह साहित्य कहे जाएँगे। सिद्धों ने अपने दोहों में रूढ़ियों एवं पाखंडों का विरोध भी किया है। उनकी वाणी में भावोद्रेक भी है। नालंदा के प्रसिद्ध पंडित सरह जब दमघोटू बौद्ध-जीवन छोड़ किसी नीच वर्ण की तरुणी को लेकर विचरने लगे[२], तो स्पष्ट ही उनकी रचना में मुक्त-प्रेम का अवतार हुआ। सिद्धों के काव्य में शृंगार की बहुत ही मधुर अभिव्यक्तियाँ मिलती हैं——

> **जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएहिं, तिमि घरिणि लइ चित्त।**
> **समरस जाइ तक्खणे, जइ पुणु ते सम णित॥——कण्हपा**

लेकिन ऐसी रसपूर्ण रचनाएँ अधिक नहीं हैं। ज्यादातर तो रहस्यवाद, वैराग्य, साधना, गुरु-स्तुति ही है। इसके विपरीत जैन-काव्यों में मनोभावों की पकड़ अधिक गहरी है यद्यपि यह रस भी धार्मिक पात्र में ही संचित है। अतएव प्रवृत्ति की दृष्टि से दोनों ही रचनाएँ धार्मिक काव्यों के वर्ग में रक्खी जाएँगी। तब 'सिद्ध युग' कहने से तत्कालीन समग्र साहित्य का ज्ञान कैसे हो सकता है ?

'सामंत' शब्द राजनैतिक अवस्था-सूचक है, काव्यावस्था-सूचक नहीं। सामंत-युग में रह कर भी जैन-कवियों ने न केवल धार्मिक रूढ़ियों का खंडन किया, अपितु नायक के आदर्श को अपने चरित काव्यों में नहीं माना। राहुलजी ने अपनी पुस्तक 'हिंदी काव्य-धारा' में युग की आर्थिक-सामाजिक अवस्था का जो विवरण दिया है, उससे सामन्तों, महन्तों, पुरोहितों एवं सेठों के विलासी जीवन का पूर्ण चित्र सामने आ जाता है। साथ ही लेखक यह भी कहता है कि "उस समय का सामंत मृत्यु की बिल्कुल ही पर्वाह न करता था। उसकी सारी शिक्षा-दीक्षा उसे यही सिखलाती थी कि मौत से डरना—कायरता—उसके लिए चिल्लू भर पानी में डूब मरने की चीज है।"[१] अब यदि सामंत शब्द से विलासी जीवन भी अभीष्ट है, तो यह शब्द अपूर्ण है; क्योंकि 'सामंत' शब्द स्वतः इस प्रवृत्ति पर प्रकाश डालने में सक्षम नहीं है। सामंत शब्द में लेखक के अभिप्रेत दोनों अन्तर्भुक्त अर्थों को तभी समझा जा सकता है जब साहित्य का इतिहास हाथ में लेने से पूर्व पाठक इस काल का राजनैतिक इतिहास हिफ्ज कर ले। फिर दूसरी कठिनाई यह है कि सामंतों के संरक्षण में लिखे गए काव्य के कारण इस काल का नाम यदि सामंत-काल रक्खा जाएगा तो रीतिकालीन काव्य भी इसी श्रेणी में आएगा, क्योंकि वह अधिकतर सामंतों के आश्रय में ही लिखा गया है। तो फिर सामंत काल के गाल में क्या-क्या रक्खा जाएगा ? रीतिकालीन सामंतों के आश्रित काव्यों के लिए राहुलजी ने यह दलील दी है कि "वह अधिकांश थोथी चापलूसी है, यह हमें मालूम है।"[१] लेकिन साहब जो अल्पांश चापलूसी नहीं है उसका क्या होगा ? इस नामकरण में

एक बहुत ही मोटी बात भुला दी गई है। साहित्य, इतिहास या गणित का सत्य नहीं है। वह भावना का सत्य है। साहित्य में हम भावों की ईमानदारी, अभिव्यक्ति-सामर्थ्य, मार्मिक प्रभावोत्पादन पर विचार करते हैं न कि आलम्बन के ऐतिहासिक तथ्य पर। हमारे लिए दुष्यंत का ऐतिहासिक चरित्र महत्वपूर्ण है या 'शकुन्तला नाटक'। अतएव काव्यों को देखने की जरूरत है, न कि सामंतों की उखाड़-पछाड़ करनी है। यदि आश्रयदाताओं पर नामकरण होगा तो वर्तमान काल में सरकार के आश्रित कवियों-लेखकों का सारा सत्साहित्य 'सरकारी काल' के भीतर चला जाएगा।

आदिकाल—एक सुझाव यह भी दिया गया कि शुक्लजी द्वारा इंगित नाम 'आदिकाल' ही मान लिया जाय। शुक्ल जी ने १०५०-१९८४ वि० तक के साहित्य को तीन खंडों में बाँट कर आदि, मध्य और आधुनिक नामों से निर्दिष्ट कर दिया है।[७] लेकिन इस प्रकार का विभाजन परम उपहासास्पद है। सोचने की बात है कि १०० या २०० वर्षों के बाद इस विभाजन का क्या होगा? बेचारा 'मध्यकाल' खिसक कर कहाँ जाएगा? और आधुनिक की क्या दशा होगी? इसलिए इस प्रकार का नामकरण समस्या को सुलझाना नहीं, प्रत्युत उससे दूर भागना है।

'आदि' शब्द के विरुद्ध सब से बड़ी और सब से पहली आपत्ति तो यही है कि यह शब्द अपनी व्यंजना के कारण अत्यंत भ्रामक है। 'आदि' शब्द से विकास-धारा में प्रारंभिक अवस्था का बोध होता है। जिस प्रकार सृष्टि का आदि उसकी ऊबड़-खाबड़, असभ्य दशा का सूचक है, उसी प्रकार साहित्य का आदि काल चिन्तन की प्रथम सीढ़ी की ओर संकेत करता है और कल्पना, छंद, प्रबंध आदि के बाल-प्रयास का सूचक है। किन्तु जिस काल पर हम विचार कर रहे हैं वह इस धारणा के एकदम प्रतिकूल साहित्यिक सम्पन्नता, वैचारिक परिपक्वता का काल है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी आदिकाल स्वीकार करते हुए यह शर्त लगा दी है कि यदि पाठक भ्रामक धारणा से सावधान रह सकें "तो यह नाम बुरा नहीं है।"[८] लेकिन इस धारणा से सावधान कैसे रहें? 'आदिकाल' शब्द के साथ यह धारणा स्वाभाविक है।

इस काल की भाषा को पुरानी हिन्दी कहा गया है। वस्तुतः वह भाषा अपभ्रंश भाषा है, जिसे 'अवहट्ट' 'देशी भाषा' आदि नामों से पुकारा गया है। हिन्दी-भाषा इसी अपभ्रंश की परम्परा में विकसित हुई है। इस भाषा में 'ण' का बाहुल्य है और कई व्यंजन स्वर में बदल जाते हैं। उदाहरणार्थ सरहपा की भाषा इस प्रकार है—

अलिओ! धम्म महासुह पइसइ।
लवणो जिमि पाणीहि विलिज्जइ।
मन्तह मन्ते सन्ति ण होइ।
पडिलाभित्ति की उट्ठिइ होइ।[९]

प्रथम दो पंक्तियाँ सरलता से समझ में आ जाती हैं, लेकिन दूसरी अर्द्धाली (मन्तह=मंत्रहिं, मन्ते=मंत्रे, पडिलाभित्ति=प्रतिलब्धी, उट्ठिइ=उत्थित) अपभ्रंश भाषा-सम्बन्धी-नियम बिना जाने हुए मात्र हिन्दी पूँजी पर समझना दुष्कर है। पड़िलाभित्ति प्रतिलब्धी का रूप है, यह समझ

लेना तो वर्तमान-हिन्दी-भाषी की कल्पना के नितांत परे है। स्वयंभू की भाषा के विषय में भी इसी प्रकार की कठिनाई उत्पन्न होती है—

बुह-यण सयंभु पइँ विण्णवइ
मह सरिसउ अण्ण णाहि कुकइ।
वायरण कयाहं ण जाणियउ
णइ वित्ति-सुत्त वक्खाणियउ।
णा णिसुणिउ पंच महाय कब्बु
णउ भरहु ण लक्खन छंदु सब्ब।[१०]

यहाँ बुहयण=बुधजन, विण्णवइ=बिनबइ आदि सुगम हैं, लेकिन वायरण=व्याकरण, णिसुणिउ=सुनेउ, भरहु=भरत आदि अगम।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि यह भाषा हिंदी कही जाने वाली भाषा से बिल्कुल पृथक् नहीं है। यह अवश्य है कि वह एकदम बोधगम्य भी नहीं प्रतीत होती। दूसरे शब्दों में भाषा-गत-सूत्र एक ही है यद्यपि भाषा विकास करते-करते उस अवस्था से इतनी भिन्न हो गई है कि अब सरलता से उसे नहीं समझा जा सकता। चंदबरदाई की भाषा के विषय में यही बात कही जा सकती है। यहाँ भी 'क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं' दिखाई पड़ता है—

हाल हालाहलं। सोव्व वित्थौ तलं?

यह जम्वाल जाल धीरे-धीरे साफ़ होता हुआ चौदहवीं शताब्दी के उदय तक प्रवहमान हिंदी-भाषा-सरिता का शुभ्र स्वरूप स्पष्ट करने लगता है। इस प्रकार भाषा की दृष्टि से सन् ७०० से १३१८ ई० तक का काल अपनी आदिम अवस्था में कहा जा सकता है।

इस काल का नया नाम आधार काल

भाषा के पश्चात् जब हम साहित्य पर दृष्टि डालते हैं तो पता चलता है कि इस काल की साहित्यिक परम्परा भक्तिकाल तक ज्यों की त्यों निभती रही। क्या काव्य-रूढ़ियाँ, क्या छंद; क्या मुहावरा प्रयोग, क्या तुक-बंध; सभी में हिन्दी साहित्य ने उसी सम्पत्ति का उपभोग किया। अपभ्रंश-काव्य ने छंद-क्षेत्र में जो स्वतंत्र अनुसंधान किया था, उसी पर आगामी काव्य खड़ा हुआ, संस्कृत की नींव पर नहीं। भाव-क्षेत्र में संस्कृत के साहित्य ने भी अपना प्रभाव डाला, लेकिन यह अतर्क्य है कि अपभ्रंश-कवियों ने अपने अनुभव-चक्षु उन्मीलित रक्खे और भक्ति काल तक कवियों ने अनुभव को रूढ़ि के ऊपर ही रक्खा। सिद्धों की वाणी में रूढ़ियों के विरुद्ध जो विद्रोहात्मक स्वर है उसका अधिक विस्तृत एवं उच्च रूप कबीर में मिलता है। यही नहीं जैन कवियों ने अपने प्रबंध-काव्यों में पौराणिक चरित्रों की तर्क-संगत व्याख्या करने की जो चेष्टाएँ की थीं, वह प्रवृत्ति बीसवीं सदी में और भी प्रबल हुई। कहने का तात्पर्य यह है कि आगे का साहित्य इसी काल (७००-१३१८ ई०) के साहित्य पर आधारित हुआ। इस दृष्टि से हम इस काल को हिन्दी-साहित्य का 'आधार काल' कह सकते हैं। आदि-काल तो वह भाषा का है, भाव, छंद,

संदेश एवं कल्पना का नहीं। भाव-विचार-शैली की आगामी इमारत तो इसी काल के आधार पर निर्मित हुई, अतएव मेरी समझ में 'आधार काल' नाम अत्यन्त उपयुक्त, सार्थक एवं भ्रामक धारणा-विहीन है।

संदर्भ सङ्केत--

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (संशोधित सं०), पृ० ३।
२. वही, पृ० २०।
३. वही, पृ० २१।
४. देखिए, राहुलजी की हिंदी काव्यधारा, पृष्ठ ४८।
५. वही, पृ० १७।
६. वही, पृ० २९।
७. देखिए, हिन्दी-साहित्य का इतिहास (परिवर्द्धित संस्करण), पृ० १३।
८. हिन्दी साहित्य, पृ० ८३।
९. राहुल--हिंदी-काव्यधारा, पृ० २।
१०. वही, पृ० २२।

तीन

•

अग्निवेश रामायण परम्परा एवं पृष्ठभूमि

श्रीमन्नारायण द्विवेदी

अग्निवेश रामायण मुख्यतः राम-कथा की विशिष्ट घटना तिथियों का उल्लेख करने वाला लघु ग्रन्थ है। सम्भवतः इस प्रकार की और अन्य कई रचनाओं का उल्लेख मिलता है जिसमें राम-कथा की यह घटना तिथि परम्परा उपलब्ध होती है। 'समयादर्श रामायण' और 'समयनिरूपण रामायण' इसी रचना के विभिन्न संस्करण माने जाते हैं। डॉ० फादर कामिल बुल्के ने अपने शोध प्रबन्ध--रामकथा उद्भव और विकास में राजेन्द्र लाल मित्र के केटलाग में अग्निवेश

कृत 'रामायणसार' तथा 'रामायण रहस्य' वा रामहृदयम् (भाग ८ पृ० १३५) के प्राप्त होने का उल्लेख किया है। तंजोर केटलाग में ५०० श्लोकों वाले अग्निवेश रामायण के प्राप्त होने की चर्चा भी की गई है किन्तु प्रतिपाद्य अग्निवेश रामायण एक छोटी सी रचना है और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ देश के कतिपय शोध संस्थानों में प्रचुर मात्रा में संरक्षित भी हैं। इसमें राम-कथा की तथाकथित प्रमुख घटनाओं का वर्णन है और सीताराम की वैवाहिक अवस्था और राज्याभिषेकादि की तिथियों का उल्लेख है। राम-कथा की घटना-तिथियों का इस प्रकार उल्लेख करने वाले प्राचीनतम ग्रन्थ सम्भवतः स्कन्द पुराण एवं पद्म पुराण हैं। इस परम्परा का पर्यवेक्षण करते हुए डॉ० बुल्के ने लिखा है—"स्कन्द पुराण (ब्राह्म खण्ड के अन्तर्गत धर्मारण्य खण्ड, ३० अध्याय) तथा पद्म पुराण में (पातालखण्ड ३६ अध्याय) में सम्भवतः इस प्रकार की सबसे प्राचीन राम-कथा सुरक्षित है। पद्मपुराण में लोमश ऋषि इस रामचरित के वक्ता माने जाते हैं ......।"

अस्तु राम-कथा से सम्बद्ध इस परम्परा का अनुशीलन करने में अग्निवेश से पूर्व की इस सामग्री का प्रतिपादन भी अभीप्सित है। अग्निवेश रामायण एवं उपर्युक्त इन कृतियों के तद्वत इन प्रसङ्गों में इस दृष्टि से कोई बहुत बड़ा विलगाव नहीं प्रतीत होता। किन्तु इस पूरी परम्परा से लोक-चेतना अनुप्राणित रही है। अस्तु, इसका अनुशीलन उपादेय सिद्ध होगा। दूसरी ओर कथा की दृष्टि से नवीनता न होते हुए भी इसकी विशेषता इसमें सन्निविष्ट है कि यहाँ रामायण की घटनाओं की तिथियों का अपने क्रम से उल्लेख है। यह विशिष्ट तिथि विवरण रामायण की घटनाओं के विकसित क्रम और उपबृंहण का सूचक है और पुराणकारों की नवीन उद्भावना का द्योतक भी—जिसका रामचरित के अनुक्रम में निःसंदिग्ध महत्व है।

स्कन्दपुराण ब्राह्म खण्ड के तीसवें अध्याय में राम-कथा का संक्षिप्त वर्णन है और इसी स्थान पर सम्भवतः राम-कथा की घटनाओं का तिथि क्रम उल्लिखित है। इसके अनुसार राम और सीता की विवाहकालीन अवस्था १५ और ६ वर्ष बतलाई गई है :—

"ईश्वरस्य धनुर्भग्नं जनकस्य गृहेस्थितम्।
रामः पञ्चादशेवर्षे षड्वर्षां चैवमैथिलीम्॥"—श्लो० ८

परिणय के उपरान्त राम अयोध्या लौटकर सीता सहित द्वादश वर्षों तक सुखपूर्वक निवास करते हैं और २७ वर्ष की अवस्था में उनको युवराज पद प्रदान करने की बात उठती है।

ततो द्वादश वर्षाणि रेमे रामस्तया सह।
सप्तविंशतिमे वर्षे यौवराज्य प्रदायकम्॥
राजानमथ कैकयी वरद्वयमयाचत्॥—श्लो० ११-१२

कैकयी द्वारा राम को वनवास का आदेश प्राप्त होने पर वह सीता तथा लक्ष्मण सहित वन-प्रस्थान करते हैं और पाँचवें दिन जब चित्रकूट में पहुँचते हैं तो राजा का प्राणान्त हो जाता है। १३ वर्ष तक रामादि पंचवटी में निवास करते हैं और इसी मध्य शूर्पणखा नामक निशाचारी का विरूपीकरण होता है। रावण माघ कृष्ण पक्ष अष्टमी के दिन वृन्द संज्ञक मुहुर्त में सीता का अपहरण

करता है तथा सीता माघ कृष्ण पक्ष नवमी तक रावणालय में प्रस्तुत होती हैं। राम और सुग्रीव के मिलन के उपरान्त हनुमान आदि वानर सीतान्वेषण में तत्पर होते हैं और दसवें मास के उपरान्त उन्हें सम्पाति द्वारा सीता का पता ज्ञात होता है। हनुमान द्वादशी के दिन शिंशपा वृक्ष के नीचे सीता जी का दर्शन करते हैं, त्रयोदशी को वे अक्षादि से युद्ध में प्रवृत्त होते हैं और उसी दिन मेघनाद द्वारा बाँध लिए जाते हैं। लंकादहन कर हनुमान पूर्णिमा के दिन महेन्द्र पर्वत पर पुनरागमन करते हैं। मार्गशीर्ष प्रतिपदा से पाँच दिनों तक मार्ग में निवास कर वर्षेह्नि में पुनः आकर मधुवन को ध्वस्त करते हैं। सप्तमी के दिन राम को सीता का प्रत्यभिज्ञान प्रदान कर हनुमान उनसे सारी बातों का निवेदन करते हैं। फाल्गुन अष्टमी विजय मुहूर्त में सूर्य की मध्याह्न स्थित दशा में राम दक्षिण दिशा में लंका के लिए प्रस्थान करते हैं। सात दिनों तक राम की सेना समुद्र के किनारे निवास करती है। वे पौष शुक्ल प्रतिपदा की तृतिया तक सैन्य का उपस्थापन करते हैं, चतुर्थी को विभीषण राम की संगति प्राप्त करते हैं और पंचमी के दिन समुद्र संतरण की मंत्रणा होती है। चार दिनों तक राम प्रायोपवेशन करते हैं ; दशमी से लेकर त्रयोदशी तक सेतुबन्धन का समापन होता है और चतुर्दशी को सेना सुवेल पर्वत पर आरूढ़ होती है। पूर्णिमा से द्वितीया तक तीन दिनों में राम शूर वानरों की सेना सहित समुद्र संतरण करते हैं। तीज से दशमी तक आठ दिनों सेना लंका के समीप टिकी रहती है। एकादशी के दिन शुकसारण राम के पास आते हैं। पौष के द्वादशी तक सैन्य संख्या का परिगणन होता है। त्रयोदशी से तीन दिनों तक लंका में रावण अपने योद्धाओं को युद्ध के लिए प्रेरित करता है और माघ शुक्ल प्रतिपदा को दौत्य कर्म में प्रवृत्त होते हैं। इसी मध्य सीता को राम का मायाशिर दिखाई पड़ता है। माघ शुक्ल द्वितीया से सप्तमी अष्टमी तक राक्षसों और वानरों में घोर युद्ध होता है तथा माघ शुक्ल नवमी को इन्द्रजित रण में प्रवेश करता है और राम-लक्ष्मण को नागपाश में आबद्ध करता है। वायु द्वारा उपदिष्ट गरुड दशमी के दिन नागपाश का भेदन करते हैं। माघ शुक्ल एकादशी को विराम कर द्वादशी के दिन हनुमान द्वारा धूम्राक्ष का बध होता है, त्रयोदशी के दिन अकंपन का बध होता है, माघ शुक्ल चतुर्दशी से कृष्ण पक्ष के आगमन के पूर्व नीलवानर द्वारा प्रहस्त का वध किया जाता है। माघकृष्ण द्वितीया से चतुर्थी के मध्य राम द्वारा युद्ध में प्रताड़ित हो रावण पलायन करता है। पंचमी से अष्टमी तक रावण द्वारा प्रबोधित कुम्भकर्ण नवमी के दिन युद्ध में प्रवृत्त होता है और चतुर्दशी तक युद्ध करता है। राम युद्ध भूमि में बहुत से वानरों के भक्षण करने वाले उस राक्षस को मारते हैं और अमावस्या के दिन शोकाकुल राक्षस युद्ध में प्रवृत्त नहीं होते।

फाल्गुन प्रतिपदा से चतुर्थी तक चार दिनों में नरान्तक प्रभृति पाँच राक्षसों का वध हुआ। पँचमी से सप्तमी के मध्य अतिकाय मारा गया। अष्टमी से द्वादशी तक बहुत से राक्षस, निकुम्भ कुम्भ, मकराक्ष, प्रभृति मारे गए। फाल्गुन सित द्वितीया के दिन शुक्रजित विजयी हुआ। तृतीया से सप्तमी तक औषधि लाने की व्यग्रता के कारण युद्ध बन्द रहा। अष्टमी के दिन रावण ने माया मैथिली का वध किया और रामचन्द्र को शोक का आवेग हुआ। त्रयोदशी को लक्ष्मण ने इन्द्रजित का वध किया। चतुर्दशी को दशकन्धर माया के व्यवहार में तल्लीन रहा और अमावस्या के दिन युद्ध में प्रवृत्त हुआ। चैत्र शुक्लाष्टमी तक बहुत से राक्षसों की मृत्यु हुई और चैत्र शुक्ल नवमी को लक्ष्मण को शक्ति लगी। (इस परम्परा में लक्ष्मण मेघनाद के वाण से विद्ध नहीं हुए।) विभीषण

की मन्त्रणा से हनुमान ने द्रोण पर्वत से औषधि लाकर लक्ष्मण का तापमोचन किया, दशमी को रात्रि में युद्ध बन्द रहा। एकादशी के दिन इन्द्र का सारथी मातलि रथ लेकर राम के सम्मुख प्रस्तुत हुआ। द्वादशी से कृष्ण चतुर्दशी पर्यन्त ११ दिनों तक रथारूढ़ राम ने रावण को मारा और घोर संग्राम के उपरान्त विजयी हुए। रावणादि का अन्तिम संस्कार अमावस्या को सम्पन्न हुआ। माघ शुक्ल पक्ष की द्वितीया से लेकर वैशाख कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी पर्यन्त सत्तासी दिन तक युद्ध हुआ, बीच में १५ दिन तक युद्ध बन्द रहा। इस प्रकार कुल ७२ दिनों तक युद्ध हुआ। वैशाख शुक्ल प्रतिपदा को राम रणभूमि में रहे और द्वितीया को लंका के राज्य पर विभीषण को अभिषिक्त किया। तृतीया को सीता की शुद्धि हुई, देवों ने उन्हें वर प्रदान किया और इसके अनुमोदनार्थ दशरथ का आगमन हुआ। वैशाख की चतुर्दशी को पुष्पक पर आरूढ़ राम अयोध्या वापस हुए और चौदहवें वर्ष की पूर्णता पर वैशाख शुक्ल को भारद्वाज आश्रम में राम आए। षष्ठी के दिन राम भरत से नन्दिग्राम में मिले तदुपरान्त सप्तमी को अयोध्या की राजगद्दी उन्हें प्राप्त हुई। राम से विरहित सीता ने ११ मास तक लंकापुरी में निवास किया। राज्याभिषेक के समय राम की अवस्था ४२ वर्ष एवं सीता की अवस्था ३३ वर्ष रही। राज्याभिषेक के उपरान्त पुराणकार के अनुसार राम ने 'दशवर्ष सहस्राणि दशवर्ष शतानि च' राज्य का पालन किया।

स्कन्दपुराण के इस स्थान पर (ब्राह्म खण्ड) राम-कथा के इन घटनाओं के तिथि-क्रम के उल्लेख के अतिरिक्त रामराज्य के उत्कर्ष का संक्षेप में परम्पराबद्ध किन्तु प्रभावशाली वर्णन किया गया है। राम के राज्य में सद्गुणों एवं शुभकर्मों की समष्टि प्रस्तुत थी। सभी प्रसन्न मन, धन-धान्यादि, पुत्र-पौत्रादि से सम्पन्न थे, पर्जन्य कामनाओं की तुष्टि करने वाले थे, अन्य गुण-दायक थे, गायें प्रचुर दूध देनेवाली थीं, वृक्ष सदा फल देते थे, रामराज्य में किसी प्रकार की व्याधि नहीं थी। नारियाँ पतिव्रता थीं, मनुष्य पितृभक्त थे, द्विज वेद पारंगत, क्षत्रिय द्विजसेविन, तथा वैश्यादि भी वर्णों के अनुकूल आचरण करनेवाले थे। वर्णशंकर नहीं होते थे, नारियाँ वन्ध्या नहीं होती थीं, विधवाओं का विलाप नहीं सुनाई पड़ता था तथा लोग माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते थे। समाज में वृद्धों की अवहेलना नहीं होती थी, भूमि का हरण नहीं होता था। लोग दूसरे की पत्नियों के प्रति पापबुद्धि से प्रवृत्त नहीं होते थे न अपवाद ही फैलता था, न दरिद्रता एवं रोग का ही विस्तार था। अन्ततः किसी प्रकार का आनाचार नहीं था और सर्वत्र वेद पारंगत ब्राह्मणों का सम्मान होता था। इस प्रकार पुराणकार ने रामराज्य के माध्यम से आदर्श सामाजिक व्यवस्था का रूप ही खड़ा कर दिया है।

पद्मपुराण के पातालखण्ड के छत्तीसवें अध्याय में 'अरण्यकेन लोमश महर्षि प्रोक्त समय समेत रामचरित वर्णनम्, का प्रकरण है। यहाँ रामचरित की घटनातिथियों का वर्णन ९२ श्लोकों में है जबकि स्कन्द पुराण ब्राह्म खण्ड में यह सामग्री १०९ श्लोकों में थी। पद्मपुराण के उपर्युक्त स्थल पर स्कन्द पुराण की उपर्युक्त सामग्री का ही शाब्दिक परिवर्तन कर संकलन कर दिया गया है। कतिपय स्थलों पर श्लोकों की पुनरावृत्ति भी कर दी गई है। सीताहरण के समय उनके विलाप की स्थिति को चित्रण करनेवाला श्लोक समान रूप से दोनों स्थानों पर प्रयुक्त है—

राम रामेति मां रक्ष रक्ष मां रक्षसाहृताम्।
यथाश्येनः क्षुधाक्रान्तः क्रन्दन्तीं वार्तिकां नयेत्॥

इस क्रम में सीताहरण सभी स्थलों पर वृन्द संज्ञक मुहूर्त्त में बतलाया गया है। राम रावण से युद्ध के लिए विजय नामक मुहूर्त्त में प्रस्थान करते हैं। पद्मपुराण के इस प्रसंग में अध्याय के अन्त में स्कन्दपुराण ब्राह्म खण्ड की भाँति रामराज्य का वर्णन नहीं किया गया है। यहाँ अध्यायान्त में अगस्त्य को भी राम-कथा के निर्माता व्याख्याता के रूप में स्मृत किया गया है— 'देव्यामग्रे रामकथाः करिष्यति मनोहराः'। किन्तु पद्म पुराण के इस अध्याय की समापन सामग्री से उसकी अर्वाचीनता तथा रामभक्ति साम्प्रदायिकता की भावना स्पष्ट होती है। रामनाम के स्मरण से उनके चरित के गायन तथा उनके चरण कमलों में आस्था से, धन्य एवं कृतकृत्य होने की सशक्त अभिव्यक्ति यहाँ हुई है—

सोहं स्मरामि रामस्य चरणावन्वहं मुहुः
गायामि तस्य चरितं मुहुर्मुहुरतन्द्रितः
पावयामि जनानन्यान्गानेन स्वान्तहारिणा
हृष्यामि तन्मुनेर्वाक्यं स्मारं स्मारं तदीक्षया
धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं सभाग्योऽहं महीतले
रामचन्द्र पदाम्भोज दिदृक्षा में भविष्यति।

—पद्मपुराण पाताल खण्ड अ० ३६ श्लोक

अग्निवेश रामायण कुल १०५ श्लोकों का एक छोटा-सा ग्रन्थ है जिसमें रामकथा के घटना तिथियों का स्कन्दपुराण एवं पद्मपुराण के उपर्युक्त संदर्भ में छिटफुट उल्लेख है।

कथा की दृष्टि से कोई अभिनव प्रयोग न होते हुए भी इस अग्निवेश रामायण में कतिपय प्रसंगों का अत्यन्त प्रभावशाली वर्णन हुआ है। प्रारम्भ में अग्निवेश रामायण का रचयिता सरस्वती और गणेश की वन्दना कर मुनि वाल्मीक द्वारा प्रणीत रामायण के सार वर्णन का संकल्प करता है—

"श्री शारदा चरण पद्म युगं विधाय
चित्ते गणेश चरणौ प्रणयेन नत्वा।
रामायणीयमखिलं मुनिभिः प्रणीत
माद्यैरहं तदिह सारतरं प्रवक्ष्ये।"—अग्निवेश रामायण—१

पूर्व में दिति के गर्भ से उत्पन्न हिरण्यकश्यप विश्रवा के पुत्ररूप में सुरसुता के गर्भ से रावण रूप में उत्पन्न हुआ और उसी के वध हेतु नृसिंहावतार श्री राम का अभ्युदय हुआ।

"पूर्वं यो दितिजो नरार्द्ध वपुषा सिंहेन निस्तारितः।
सोयं विश्रवसं सुतो सुरसुता गर्भोऽभवद्रावणः।
तेनातीव वराज्जगत्रयमिदं दुष्टेन संतापितं।
जातस्तद्वध हेतवे दशरथाच्छ्री रामनामाहरिः।"—(अग्निवेश रामायण—३)

अग्निवेश रामायण के कतिपय सन्दर्भों में उसकी साम्प्रदायिक भावना एवं परवर्ती काल की रचना होने की बात पुष्ट होती है। विष्णु कारण मात्र मनुष्य हैं और कतिपय कारणों से मनुष्य

की मन्त्रणा से हनुमान ने द्रोण पर्वत से औषधि लाकर लक्ष्मण का तापमोचन किया, दशमी को रात्रि में युद्ध बन्द रहा। एकादशी के दिन इन्द्र का सारथी मातलि रथ लेकर राम के सम्मुख प्रस्तुत हुआ। द्वादशी से कृष्ण चतुर्दशी पर्यन्त ११ दिनों तक रथारूढ़ राम ने रावण को मारा और घोर संग्राम के उपरान्त विजयी हुए। रावणादि का अन्तिम संस्कार अमावस्या को सम्पन्न हुआ। माघ शुक्ल पक्ष की द्वितीया से लेकर वैशाख कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी पर्यन्त सत्तासी दिन तक युद्ध हुआ, बीच में १५ दिन तक युद्ध बन्द रहा। इस प्रकार कुल ७२ दिनों तक युद्ध हुआ। वैशाख शुक्ल प्रतिपदा को राम रणभूमि में रहे और द्वितीया को लंका के राज्य पर विभीषण को अभिषिक्त किया। तृतीया को सीता की शुद्धि हुई, देवों ने उन्हें वर प्रदान किया और इसके अनुमोदनार्थ दशरथ का आगमन हुआ। वैशाख की चतुर्दशी को पुष्पक पर आरूढ़ राम अयोध्या वापस हुए और चौदहवें वर्ष की पूर्णता पर वैशाख शुक्ल को भारद्वाज आश्रम में राम आए। षष्ठी के दिन राम भरत से नन्दिग्राम में मिले तदुपरान्त सप्तमी को अयोध्या की राजगद्दी उन्हें प्राप्त हुई। राम से विरहित सीता ने ११ मास तक लंकापुरी में निवास किया। राज्याभिषेक के समय राम की अवस्था ४२ वर्ष एवं सीता की अवस्था ३३ वर्ष रही। राज्याभिषेक के उपरान्त पुराणकार के अनुसार राम ने 'दशवर्ष सहस्राणि दशवर्ष शतानि च' राज्य का पालन किया।

स्कन्दपुराण के इस स्थान पर (ब्राह्म खण्ड) राम-कथा के इन घटनाओं के तिथि-क्रम के उल्लेख के अतिरिक्त रामराज्य के उत्कर्ष का संक्षेप में परम्पराबद्ध किन्तु प्रभावशाली वर्णन किया गया है। राम के राज्य में सद्गुणों एवं शुभकर्मों की समष्टि प्रस्तुत थी। सभी प्रसन्न मन, धन-धान्यादि, पुत्र-पौत्रादि से सम्पन्न थे, पर्जन्य कामनाओं की तुष्टि करने वाले थे, अन्य गुण-दायक थे, गायें प्रचुर दूध देनेवाली थीं, वृक्ष सदा फल देते थे, रामराज्य में किसी प्रकार की व्याधि नहीं थी। नारियाँ पतिव्रता थीं, मनुष्य पितृभक्त थे, द्विज वेद पारंगत, क्षत्रिय द्विजसेविन, तथा वैश्यादि भी वर्णों के अनुकूल आचरण करनेवाले थे। वर्णशंकर नहीं होते थे, नारियाँ वन्ध्या नहीं होती थीं, विधवाओं का विलाप नहीं सुनाई पड़ता था तथा लोग माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते थे। समाज में वृद्धों की अवहेलना नहीं होती थी, भूमि का हरण नहीं होता था। लोग दूसरे की पत्नियों के प्रति पापबुद्धि से प्रवृत्त नहीं होते थे न अपवाद ही फैलता था, न दरिद्रता एवं रोग का ही विस्तार था। अन्ततः किसी प्रकार का आनाचर नहीं था और सर्वत्र वेद पारंगत ब्राह्मणों का सम्मान होता था। इस प्रकार पुराणकार ने रामराज्य के माध्यम से आदर्श सामाजिक व्यवस्था का रूप ही खड़ा कर दिया है।

पद्मपुराण के पातालखण्ड के छत्तीसवें अध्याय में 'अरण्यकेन लोमश महर्षि प्रोक्त समय समेत रामचरित वर्णनम्, का प्रकरण है। यहाँ रामचरित की घटनातिथियों का वर्णन ९२ श्लोकों में है जबकि स्कन्द पुराण ब्राह्म खण्ड में यह सामग्री १०९ श्लोकों में थी। पद्मपुराण के उपर्युक्त स्थल पर स्कन्द पुराण की उपर्युक्त सामग्री का ही शाब्दिक परिवर्तन कर संकलन कर दिया गया है। कतिपय स्थलों पर श्लोकों की पुनरावृत्ति भी कर दी गई है। सीताहरण के समय उनके विलाप की स्थिति को चित्रण करनेवाला श्लोक समान रूप से दोनों स्थानों पर प्रयुक्त है—

राम रामेति मां रक्ष रक्ष मां रक्षसाहृताम्।
यथाऽश्येनः क्षुधाक्रान्तः क्रन्दन्तीं वार्तिकां नयेत्॥

इस क्रम में सीताहरण सभी स्थलों पर वृन्द संज्ञक मुहूर्त्त में बतलाया गया है। राम रावण से युद्ध के लिए विजय नामक मुहूर्त्त में प्रस्थान करते हैं। पद्मपुराण के इस प्रसंग में अध्याय के अन्त में स्कन्दपुराण ब्राह्म खण्ड की भाँति रामराज्य का वर्णन नहीं किया गया है। यहाँ अध्यायान्त में अगस्त्य को भी राम-कथा के निर्माता व्याख्याता के रूप में स्मृत किया गया है— 'देव्यामग्रे रामकथाः करिष्यति मनोहराः'। किन्तु पद्म पुराण के इस अध्याय की समापन सामग्री से उसकी अर्वाचीनता तथा रामभक्ति साम्प्रदायिकता की भावना स्पष्ट होती है। रामनाम के स्मरण से उनके चरित के गायन तथा उनके चरण कमलों में आस्था से, धन्य एवं कृतकृत्य होने की सशक्त अभिव्यक्ति यहाँ हुई है—

सोहं स्मरामि रामस्य चरणावन्वहं मुहुः
गायामि तस्य चरितं मुहुर्मुहुरतन्द्रितः
पावयामि जनानन्यान्गानेन स्वान्तहारिणा
हृष्यामि तन्मुनेर्वाक्यं स्मारं स्मारं तदीक्षया
धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं सभाग्योऽहं महीतले
रामचन्द्र पदाम्भोज दिदृक्षा में भविष्यति।

—पद्मपुराण पाताल खण्ड अ० ३६ श्लोक

अग्निवेश रामायण कुल १०५ श्लोकों का एक छोटा-सा ग्रन्थ है जिसमें रामकथा के घटना तिथियों का स्कन्दपुराण एवं पद्मपुराण के उपर्युक्त संदर्भ में छिटफुट उल्लेख है।

कथा की दृष्टि से कोई अभिनव प्रयोग न होते हुए भी इस अग्निवेश रामायण में कतिपय प्रसंगों का अत्यन्त प्रभावशाली वर्णन हुआ है। प्रारम्भ में अग्निवेश रामायण का रचयिता सरस्वती और गणेश की वन्दना कर मुनि वाल्मीक द्वारा प्रणीत रामायण के सार वर्णन का संकल्प करता है—

"श्री शारदा चरण पद्म युगं विधाय
चित्ते गणेश चरणौ प्रणयेन नत्वा।
रामायणीयमखिलं मुनिभिः प्रणीत
माद्यैरहं तदिह सारतरं प्रवक्ष्ये।"—अग्निवेश रामायण—१

पूर्व में दिति के गर्भ से उत्पन्न हिरण्यकश्यप विश्रवा के पुत्ररूप में सुरसुता के गर्भ से रावण रूप में उत्पन्न हुआ और उसी के वध हेतु नृसिंहावतार श्री राम का अभ्युदय हुआ।

"पूर्वं यो दितिजो नरार्द्ध वपुषा सिंहेन निस्तारितः।
सोयं विश्रवसं सुतो सुरसुता गर्भोऽभवद्रावणः।
तेनातीव वराज्जगत्रयमिदं दुष्टेन संतापितं।
जातस्तद्वध हेतवे दशरथाच्छ्रीरामनामाहरिः।"—(अग्निवेश रामायण—३)

अग्निवेश रामायण के कतिपय सन्दर्भों में उसकी साम्प्रदायिक भावना एवं परवर्ती काल की रचना होने की बात पुष्ट होती है। विष्णु कारण मात्र मनुष्य हैं और कतिपय कारणों से मनुष्य

देह धारण कर लीला करते हैं। प्रभुतत्व का चरित्र विचित्र और अगम्य है वही ज्ञानी एवं अज्ञानी की भाँति लीला में निमग्न हैं—यह विचारणा राम के साम्प्रदायिक महत्व के अनुकूल है—

"विष्णुः कारण मानुषोऽपि मनुजां चेष्टां वितन्वन् जनै-।
रज्ञातात्म विचित्रवीर्यधिष्णो ज्ञानी च मूढ़ो भृशम्।
भ्रात्रोपाहृतचेतनः पुनरसौ तूणं कृपाणं धनुः।
सज्जीकृत्य विनिर्गतः प्रियतमा लोकाय बद्धोद्यमः।।"

—(अग्निवेश रामायण—१४)

माया मानव रूप धारी तुलसी के राम की सीतान्वेषण में तत्परता उपर्युक्त भावधारा का समीपतः अनुमोदन करती हुई प्रतीत होती है—

"कुन्देन्दीवर सुन्दरातिबलौ विज्ञानधामावुभौ।
शोभाढ्यौ वरधन्विनौ श्रुतिनतौ गोविप्रवृन्दप्रियौ।
मायामानुष रूपिणौ रघुवरौ सद्धर्म वर्मौहितौ।
सीतान्वेषण तत्परौ पथिगतौ भक्तिप्रदौ तौ हिनः।।"

—(रामचरितमानस)

अन्य रामपरक रचनाओं के सदृश यहाँ भी राम सीताहरण के उपरान्त आश्रम के लता-गुल्मों से सीता का पता पूछते हैं और विरह कातर होते हैं। यहीं पर जटायु का आहत स्थिति में उन्हें दर्शन होता है और वे उन्हें सालोक्य मुक्ति प्रदान करते हैं—

'कृत्वा चातिक कर्म तस्य सकलं नीतः सुरेन्द्रालयम्।'

जानकी के विछोह में राम क्रोधावेश से सम्पन्न हो उठते हैं और लक्ष्मण से कहते हैं कि यदि मेरी जानकी जीवित हैं तो विश्व का जीवन है अन्यथा लोकपालों सहित समस्त विश्व को भस्म कर दूँगा।

"जाया में यदि जीवति क्वचिदियं विश्वंतदा जीव्यता।
नो चेदीश्वर लोकपाल सहितं भस्मी करिष्येखिलम्।"

सम्भवतः इस कथन की प्राचीन पृष्ठभूमि अग्निवेश रामायण रचयिता के सम्मुख रही। वाल्मीकि रामायण में इस स्थल पर राम ने कहा है कि यदि देवगण पूर्व की भाँति सुन्दर दांतोंवाली मैथिली को हमें नहीं लौटाते तो मैं देव गन्धर्व, नाग एवं पर्वतों के साथ सारे जगत को परिवर्तित कर दूँगा।—

पुरेव में चारुदतीमनिन्दितां।
दिशन्ति सीतां यदिनाद्य मैथिलीम्।
सदेव गन्धर्व मनुष्य पन्नगं
जगतसशैलं परिवर्त यांम्यहम्।

(रामायण—अरण्य ६४।७७)

अग्निवेश रामायण में राम को इस प्रकार क्रोधसम्पन्न रूप में देखकर लक्ष्मण उनसे निवेदन करते हैं कि आप विष्णु हैं और माया के कारण आपने शरीर धारण किया है। आप को क्रोध न कर क्षमा करनी चाहिये। पुनः लक्ष्मण ने सूर्यवंश में प्रादुर्भूत प्रजापालक राजाओं की स्मृति दिलाकर राम का क्रोध शमन करने का प्रयास किया।

इस ग्रन्थ में राम को वालि वध के लिये पश्चात्ताप् सम्पन्न बतलाया गया है। राम को कई प्रकार के दुःखों से सम्पन्न बतलाया गया है—राज्याभिषेक के स्थान पर वनवास, सीता सहित वनवास, सीता का वियोग एवं तात मित्र की मृत्यु, अधर्म सहित बालि-वध। राम के जीवन की ये दुःखद घटनाएँ चार मास तक उन्हें श्रृंगमाल्य पर्वत पर पीड़ा प्रदान करती हैं। किष्किंधा में निवास करने वाले राम को प्रचलित विशेषणों से संयुक्त कर यथा—वल्कलचीर धारण करने वाले, नीलोत्पल श्यामल शरीर वाले, सुनयन, आजानुबाहु—आदि बतलाकर भगवान शंकर से पटतर की गई है।

> **"श्रीरामः कुशसंस्तराश्रिततनुः पर्यङ्क बद्धासनः।**
> **स्वस्थो वल्कलचीर भृत्सुनयनो नीलोत्पलः श्यामलः।**
> **आजानुस्थितदीर्घबाहुयुगलः सर्वश्रियालंकृतो।**
> **विभ्रद्भ्रु जटोत्तमाङ्ग शिखरः कैलासनाथो यथा।"**
>
> **—अग्निवेश रामायण—४३**

'रामाभिधानं हरि' राम की सेवा में तत्पर वानरगण जिनकी संख्या अठारह महापद्म बतलाई गई है वे सब यहाँ भी देवताओं एवं शिव के अंश बतलाएँ गये हैं।

इस छिटफुट प्रसङ्ग को छोड़कर अग्निवेश रामायण में रामकथा की घटना तिथियों की चर्चा उपर्युक्त स्कंद पुराण एवं पद्मपुराण की सामग्री की भाँति ही संक्षेप में प्रस्तुत की गई है। इस रामायण में भी व्याह के समय राम की अवस्था १५ वर्ष और जानकी जी की अवस्था ६ वर्ष बतलाई गई हैं। राम को दशरथ ने जब राज्याभिषेक प्रदान करना चाहा था उस समय राम की अवस्था २७ वर्ष और जानकी जी की अवस्था १८ वर्ष की थी। रावण वधकर वनवास के बाद लौटने पर राज्यप्राप्ति के समय यहाँ भी राम की अवस्था ४२ वर्ष और सीता की ३३ वर्ष बतलाई गई है। शेष तिथियों का भी उल्लेख इसी प्रकार संक्षिप्त एवं समानान्तर है। प्रसिद्ध मुहूर्त्तादि की चर्चा वाल्मीकि रामायण, स्कन्द पुराण एवं पद्म पुराण की तद्वत सामग्री के अनुरूप ही की गई है। सीता हरण इन सभी स्थलों पर वृन्द संज्ञक मुहूर्त्त में बतलाया गया है—

> **"माघे शुक्ल चतुर्दशीय दिवसे वृन्दे मुहूर्त्ते तथा।**
> **मायावंचितबांधवद्वयमृते शून्ये तदीयाश्रमे।**
> **सीतां तत्र विलोक्य तावसवपु कृत्वा सुरूपांसतीं।**
> **हृत्वा विह्वललोचनां विलपतीं रक्षोऽन्तरिक्षं ययौ।"**
>
> **—अग्निवेश रामायण—१२**

वाल्मीकि रामायण में इस विन्द मुहूर्त्त की विशिष्टता का उल्लेख भी हुआ। जटायु ने राम से सीता का रावण द्वारा इस मुहूर्त्त में अपहरण अनिष्टकर नहीं बतलाया है क्योंकि इस मुहूर्त्त में

खोई हुई सम्पत्ति शीघ्र ही उपलब्ध हो जाती है। रावण ने सीता का अपहरण कर अपने लिये ही कठिनाई उत्पन्न की है क्योंकि जिस प्रकार मछली मौत के लिये ही बंशी पकड़ लेती है उसी प्रकार रावण ने भी सीता का अपहरण कर स्वतः नष्ट होने का उपक्रम किया है :—

येन यानि मुहूर्तेन सीतामादाय रावणः।
विप्रणष्टं धनं क्षिप्रं तत्स्वामी प्रतिपद्यते।
विन्दो नाम मुहुर्त्तोऽसौ न च काकुत्स्थ सोऽबुधत।
त्वत्प्रियां जानकीं हृत्वा रावणो राक्षसेश्वरः।
झसवद् वडिशं गृहणन् क्षिप्रमेव विनश्यति॥

—वाल्मीकिरामायण, अरण्य काण्ड

अग्निवेश रामायण के अन्त में फलश्रुति या ग्रन्थ के महत्वाख्यापन में उसे अग्निवेश द्वारा गीत कहा गया है। इसमें राम के जीवन की घटना तिथियों को उपर्युक्त रामयणीय एवं पौराणिक पृष्ठभूमि में उपजीव्य बनाया गया है। इसकी रचना अर्वाचीन समय में हुई है और इसमें अन्य साम्प्रदायिक रामयणों की भाँति रामायण की राम-कथा के अतिरिक्त पौराणिक सामग्री की ओर भी रचनाकार का आकर्षण प्रतीत होता है। उसने संग्रहात्मक प्रवृत्ति के साथ अपनी काव्यात्मक प्रतिभा द्वारा उसी का गान उद्देश्य बनाया है।

चार

•

खड़ीबोली लोककथाओं में अलौकिक तत्व

सत्या गुप्त

खड़ीबोली प्रदेश का लोककथा-साहित्य उस प्रदेश की विराट् सम्पत्ति है। इस साहित्य में जितना महत्व धार्मिक एवं नीति कथा-साहित्य को दिया गया है उतना ही महत्व अन्य प्रकार के कथा-साहित्य को भी जैसे-बालकथाएं, सामाजिक हास्य, जादू की कहानियाँ तथा अलौकिक कथाएँ आदि। वास्तव में इस दृष्टि से लोक-कथाकार और श्रोता दोनों ही हर प्रकार की कथाओं के प्रति बड़े उदार हैं। जितनी रुचि के साथ वे दर्शन की बातों को सुनते हैं उतनी ही रुचिपूर्वक तिलस्म

आदि के किस्सों को भी। इस दृष्टि से श्रोता और लोक-कथाकार दोनों को ही अपने बारे में बुद्धिवादी होने का भ्रम नहीं है। जितनी सरसता का संचार प्रेम-कथा साहित्य करता है --पशु-पक्षी संबंधी कथाएँ भी उससे किसी दशा में कम सरसता उत्पन्न नहीं करती। सबसे बड़ी बात यह है कि लोक-मानस हर प्रकार की कथाओं से अपने मतलब की बात निकाल लेता है चाहे वे अलौकिक कथाएँ हों या पशु-पक्षी संबंधी या धार्मिक हों और श्रोता चाहे बूढ़ा हो या नौजवान या बच्चा। इसका कारण यह भी हो सकता है कि वे लोककथा के सृजनकर्त्ता अथवा उससे संबंधित किसी भी प्रकार के इतिहास में उतनी रुचि नहीं लेते जितना कथा मात्र में। फिर इस बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि जितनी उनकी आस्था अपने कथा-साहित्य में है उतनी और किसी में नहीं। जब रात को चौपालों में ग्रामीण सम्मिलित होते हैं और समय काटने के लिए कहानी-किस्से कहे जाते हैं यदि उस समय उनके चेहरों को परखा जाये तो लगता है कि वे अपने इस कथा-साहित्य के प्रति उतने ही श्रद्धावनत हैं जितने कि किसी भी घर के बुजुर्ग के प्रति हुआ जा सकता है। जितनी भी कथाएँ श्रोताओं के सामने आती हैं वे सब बुआ की भाँति किसी बुजुर्ग के मुख से ही निकलती हैं, चाहे वह पितामह हों या पितामही अथवा गाँव का और कोई बड़ा-बूढ़ा। किसी छोटे मुँह से इन कथाओं का सुनाया जाना अच्छा भी नहीं लगता। कहानी सुनाते समय यदि कोई बुद्धिवादी इतिहास अथवा और किसी निष्कर्ष पर इन बातों को कसना चाहे तो लोकमानस उस अतिरिक्त बुद्धिमान व्यक्ति की बात बच्चों जैसी ही लगेगी।

इन लोककथाओं के माध्यम से ग्रामीण अपने अतीत से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं और जो चित्र उनके मस्तिष्क में निर्मित होता है, वह निश्चित ही उनका अपना घरेलू चित्र होता है। यदि किसी अलौकिक कथा के 'दाने' अथवा परी का उल्लेख होता है तो लोकमानस के मस्तिष्क में एक घरेलू-सा चित्र निर्मित हो जाएगा अर्थात् परी दो पंखे वाली सुन्दर और कोमल-सी एक स्त्री होगी और दाना-दो सींगों का एक लहीम-शहीम व्यक्ति होगा जिसके मुख में दो दांत हाथी की तरह बाहर निकले होंगे और उसके अपने भोजन के लिए मांस की आवश्यकता होगी। ये सब बातें एक बुद्धिवादी व्यक्ति को प्रतीक के रूप में दिखलाई दे सकती हैं अथवा कोरी कल्पना मात्र भी, परन्तु लोकमानस के लिए वह सत्य है। जब पशु-पक्षी बोलते हैं अथवा किसी पक्षी की गर्दन खा लेने से राज्य मिलने की संभावना हो सकती है तो लोकमानस ऐसा पक्षी पाने के लिए लालायित हो उठता है। इस बात में वह कभी संदेह नहीं करता कि ऐसा पक्षी धरती पर नहीं है। 'कहानियाँ कहना' या 'बुझव्वल-बूझना' ये दोनों ही बातें लोकमानस के लिए एक प्रकार से आधुनिक बौद्धिक-गोष्ठियों की तरह ही कही जा सकती हैं। जितना बौद्धिक अंश उन लोगों में होता है वह सब इन लोककथाओं के माध्यम से एकत्रित एवं अभिव्यक्त किया जाता है।

उनकी कथाओं के चरित्र यदि अलौकिक हैं तो भी उनके लिए विश्वसनीय एवं घरेलू हैं। जब कहानी का कोई पात्र नौकरी तलाश करने के लिए चलता है और उसे रास्ते में साधु, दाना, परी या ऐसी रहस्यमयी बुढ़िया मिल जाती है जो किसी राज्य का शासन पा लेने में सहायक सिद्ध होती है, तो यह बात भी उनके लिए लौकिक ही है। वे हँसकर इस बात को उड़ा नहीं देते बल्कि बहुत गंभीरतापूर्वक ऐसे साधन को प्राप्त करने की बात सोचने लगते हैं। हो सकता है—यह सोचना सोने से पूर्व कुछ देर तक ही उनके जीवन में थ्रिल उत्पन्न करने में समर्थ हों और अगले

दिन सबेरे वह सब कुछ भूल जाय। परन्तु कल्पना मात्र ही उसे सुख पहुँचाती है और अगले दिन के कार्यों में जीवन की नई परिकल्पना के साथ जुट जाते हैं। जिस थ्रिल का अभाव इन लोगों के जीवन में रहता है उसको वे इन कहानियों के माध्यम से प्राप्त कर पाने में समर्थ होते हैं। जिस 'गुलबकावली' या 'राजा विक्रमादित्य की कल्पना करना' तथा कथित बुद्धिवादी व्यक्ति के लिए नितान्त असम्भव होता है वह लोकमानस को लोककथाओं के द्वारा सहज ही प्राप्त होता है। 'अमीजल' 'उड़ना घोड़ा', 'परियों का अखाड़ा' 'जादू का सोटा' 'दाने को जान का प्रतीक तोता'--इन सब वस्तुओं को लोकमानस अपनी चौपाल में बैठा बैठा ही सहज देख लेता है। कथा के पात्रों के साथ उसका तादात्म्य स्थापित हो जाता है और वह अनुभव करता है कि जो कुछ कथा में हो रहा है वह या तो उसको देख रहा है या फिर स्वयं उसका एक अंग है। जो आदर्शवादी गुण लोकमानस में होता है वह लोककथाओं में भी निहित रहता है, और प्रत्येक श्रोता अपने आपको भोला-पारवती मान कर सत्य के प्रतीक पात्र की सहायता करने के लिए तत्पर रहता है।

जिन लोककथाओं में अलौकिक तत्व होते हैं उनको भी लोकमानस अलौकिक के ही रूप में नहीं लेता, बल्कि वे सब उसको ऐसे लगते हैं जैसे थोड़ी-सी साधना के बाद वह उन सबको प्राप्त कर सकता है। यहाँ तक कि वह आदमी से जादू के द्वारा बकरा बना लेने वाली बात को भी सत्य से परे नहीं समझता।

उसके लिए वह दुःसाध्य हो सकता है पर असंभव नहीं। मृत व्यक्ति को जीवित कर लेने की बात वैज्ञानिकों के लिए असंभव है किन्तु लोकमानस के लिए लोककथा के फार्मूले से ऐसा कर लेना आसान है। एक शरीर से दूसरे शरीर में प्राणों को परिवर्तित कर देना 'जहाने आलम' की कथा सुनने वाले को असंभव नहीं लग सकती। इसी प्रकार अपने शरीर को ऐसा बना लेना कि कटार लगने से खून की एक बूंद भी न निकले, ये भी लोककथा के माध्यम से सहज सम्भाव्य है। लोक-कथा का श्रोता किसी भी कुएँ को परियों का वासा मान सकता है। यह सब तथ्य लोकमानस के सम्मुख एक अमित विश्वास का क्षेत्र निर्मित कर देते हैं यद्यपि किसी भी लोक कथाकार अथवा श्रोता ने न कभी किसी 'दाने' से भेंट की होगी और न 'परी' से, न उसने अमीजल ही देखा होगा और न उड़ने वाला घोड़ा। परन्तु फिर भी वह सब बातें उसके लिए अविश्वसनीय नहीं हैं। जितना अधिक यथार्थ के निकट लोकमानस रहता है उतना ही वह अपने इन पात्रों के साथ भी। यदि यह प्रश्न किसी ऐसे व्यक्ति से किया जाय तो वह यही उत्तर देगा कि यह सब लोककथा के चरित्र-संसार में रहे हैं और साधना करने पर अभी भी मिल सकते हैं। उनके जीवन में इन अलौकिक तत्वों का इतना अधिक समावेश होता है कि कभी-कभी अपने जीवन तक में वे लोग ऐसी घटनाओं को घटते हुए पाते हैं जैसे--किसी वृक्ष पर भूत का डेरा, अथवा 'दाने' या 'जिन' का रात को घूमना, अलौकिक शक्ति वाले सर्प को घर का बड़ा-बूढ़ा समझना। इस प्रकार के अलौकिक तत्व लोक-जीवन में स्थान-स्थान पर देखने को मिलते हैं। कुछ अलौकिक तत्वों के माध्यम से, लोकमानस अपने जीवन को तथाकथित वैज्ञानिकता के अधिक निकट समझता है क्योंकि उसकी धारणा है कि जो भी बातें उसके लिए कल्पनातीत हैं वे किसी न किसी अलौकिक वस्तु से संबंधित हैं जैसे--जब रेलगाड़ी चली तो रेल का चलना लोकमानस को किसी अलौकिक शक्ति का प्रतिफल-सा

लगा। आकाश में उड़ते हुए हवाई जहाज की कल्पना भी उनके लिए किसी शक्तिशाली दाने के उड़नखटोले से कम नहीं थी।

लोकमानस में छिपे इन अलौकिक तत्वों को, लोककथाओं में जादू, सिद्ध पुरुष, दाना या प्रेतात्मा, मंत्रशक्ति आदि माध्यमों से व्यक्त किया जाता है। इन वाक्यों में एक ऐसा समाज रहता है, जो साधारण जीवन से बहुत अधिक भिन्न होता है। यद्यपि उस समाज के रीति-रिवाज आदि भी साधारण लोकमानस के समाज से भिन्न होते हैं और उनका अधिक भाग अमानवीय भावनाओं का ही होता है फिर भी लोकमानस उसको बड़े चाव से सुनता है और अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करता है। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जब कोई दानव किसी सुंदर परी अथवा राजकुमारी को अपने वश में कर लेता है और उसे ऐसा रूप प्रदान करता है कि वह किसी मानवीय व्यक्ति से न बोल सकती है और न उसके निकट आ सकती है, परिणाम स्वरूप वह मृत-देह के रूप में पड़ी रहती है जिसे दाना जादू के द्वारा समय-समय पर जीवित कर लेता है या किसी कोई जानवर के रूप में पिंजरे आदि में टाँग रखता है और अन्ततः कोई व्यक्ति इसका रहस्य जान लेने पर अंत में उसका उद्धार करता है।

इस प्रकार की लोक-कथाओं का स्थूल वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है--

१. जादू की कथाएँ
२. सिद्ध पुरुष सम्बन्धी कथाएँ
३. दानव या परियों की कथाएँ
४. प्रेतात्मा सम्बन्धी कथाएँ

१. जादू की लोक कथाएँ--अधिकतर जादू की कहानियाँ श्रोता के मन में आश्चर्य की भावना उत्पन्न करती हैं। जादू की कहानियों का यह तत्व लगभग सार्वभौमिक है। हर कहानी में ऐसी अभूतपूर्व शक्तियाँ एवं साधन होते हैं जिससे कहानियों का पाठक या श्रोता आश्चर्यचकित रह जाता है, जैसे--सारंगी बजाने से झिलमिल का पेड़ उग आना, बांसुरी बजाने से उस पेड़ पर सोने चाँदी के पत्ते लग जाना और हीरे-जवाहरात के फूल खिल जाना। कहानी के ये तत्व किसी भी व्यक्ति को चमत्कृत करने के लिए पर्याप्त हैं। आदमी से जानवर बना देने की बात, मृत व्यक्ति को जीवित कर देना, रात ही रात में महल निर्मित हो जाना, यह सब तत्व व्यक्ति में एक प्रकार का थ्रिल उत्पन्न करने में समर्थ है। जादू की कल्पना, मनुष्य को उसकी अपनी दबी हुई इच्छाओं को मानसिक एवं काल्पनिक स्तर पर पूरी करने में सहायता प्रदान करता है और इस प्रकार लोकमानस के जीवन का कल्पना-पक्ष इसके कारण अपूर्ण नहीं रह पाता।

२. सिद्ध पुरुष सम्बन्धी कथाएँ--इन कथाओं में लोककथाकार ने कुछ ऐसे व्यक्तियों का, ऐसे सिद्ध पुरुषों का निर्माण किया है, जो अपनी सात्विक अथवा तामसिक साधना के बल पर सब कुछ कर पाने में सफल हैं। वह उससे परमार्थ सम्बन्धी कार्य नहीं कराता अपितु सांसारिक वस्तु को प्राप्त करने में उसकी सहायता करता है यथा--किसी परी से विवाह करना, जादू का डंडा प्राप्त करना, पुत्रहीन राजा का उसकी कृपा से संतान प्राप्त करना आदि। ये बाबा लोग यदि प्रसन्न हो जाते हैं तो आदमी को समृद्धशाली बनाने में समर्थ हैं और रूष्ट हो जाते हैं तो उसको भस्म अथवा

पत्थर का भी बना सकते हैं। इन लोगों का नैतिक स्तर अधिक ऊंचा नहीं होता। इनकी इच्छाओं का स्तर भी साधारण दिखाया गया है। ये लोग किसी भी रानी को अपनी स्त्री बनाने के लिए लालायित रहते हैं अथवा स्वार्थवश किसी व्यक्ति की उपलब्धि को स्वयं प्राप्त कर लेने के लिए तत्पर रहते हैं।

३. दाना और परियों की कथाएँ—'दाना' लोकमानस की एक ऐसी कल्पना है जो जीवन की उदात्त एवं तामसिक शक्तियों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। 'दाना' जादू तो जानता ही है साथ ही अतुल बलशाली भी है। उसकी शक्ति के सामने बड़े-बड़े महारथियों को पान का बीड़ा उठाने में हिचक होती है। उसके घर में निवास के कारण दाने की बेटी किसी 'मानस' से मुक्त रूप से प्रेम नहीं कर पाती। क्योंकि उसके बाप को 'मानस गंध' से भी घृणा है अतः अपने प्रेमी की जान बचाने के लिए वह उसे मक्खी आदि बना कर दीवार से चिपका देती है। इस प्रकार दाना की बेटी में भी जादू जानने के लक्षण परिलक्षित होते हैं। प्रायः उसकी बेटी परी अथवा अनन्य सुन्दरी होती है। दाने की जान सात समुद्र पार किसी पक्षी में रहती है जिसको मारने के लिए उस मानस को अथक प्रयत्न करना पड़ता है और अंत में वह मार गिराया जाता है।

परियों की कल्पना लोककथाकार की मनोरम कल्पना है। परियाँ जहाँ एक ओर क्रूर होती हैं या उनकी रक्षा 'दाने' करते हैं वहाँ वे दूसरी ओर बड़ी दयालु भी होती हैं। उनके पास जीवन जीने के दिव्य साधन होते हैं जो मनुष्यमात्र के लिए अप्राप्य हैं और मनुष्य किसी सिद्ध पुरुष के माध्यम से अथवा अन्य किसी अलौकिक शक्ति के सहारे इन परियों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और अन्त में कोई शौर्यवान् व्यक्ति उसको प्राप्त कर लेता है। परियों की कहानियाँ बूढ़ों से ले कर बच्चों तक को प्रिय होती हैं।

४. प्रेतात्मा संबंधी कथाएँ—प्रेतात्मा संबंधी कथाओं में भी मरने के बाद मृतात्मा भिन्न-भिन्न रूपों में सम्मुख आती है और अपनी इच्छित वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। कहीं-कहीं पर वह बदला भी लेती है। इन कहानियों से हिन्दू धर्म के, आत्मा के पुनर्जन्म संबंधी धारणाओं की पुष्टि होती है, जिसको लोकमानस ने संपूर्ण हृदय से संस्कारवत् ग्रहण कर लिया है।

अलौकिक लोककथाओं में कुछ ऐसे भी पशु-पक्षी देखने को मिलते हैं जो भविष्य की बातें जानते रहते हैं, तथा सर्वज्ञता के प्रतीक होते हैं। उनके अंगों का भी उपयोग होता है, इस प्रकार के पक्षियों में हीरामन तोता, चकोत-चकोतरी आदि मुख्य हैं।

लोककथाएँ लोकमानस के हृदय में पलने वाले सभी प्रकार के अंधविश्वासों एवं अलौकिक घटनाओं पर आधारित होती हैं। इन लोककथाओं के माध्यम से जाना जा सकता है कि लोकमानव किस प्रकार की अलौकिकता एवं असामान्य बातों पर विश्वास करता है तथा इनको अपने जीवन की अभिन्न अनुभूतियों के रूप में ग्रहण करता है।

पाँच

राठोड़ पृथ्वीराज का महाराणा प्रताप को प्रेषित पत्र

अगरचन्द नाहटा

भारतीय इतिहास-गगन में महाराणा प्रताप एक तेजस्वी नक्षत्र के रूप में चमक रहे हैं। कठिन से कठिन विपत्ति के समय भी उन्होंने अपना प्रण बनाए रखा और स्वतन्त्रता के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया। कई ग्रथों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि एक बार महाराणा का मन कुछ विचलित-सा हो गया था, उस समय उन्हें ऐसी कोई प्रेरणा मिली थी जिससे उनमें नया जोश उमड़ पड़ा। यह प्रेरणा किससे मिली, इस विषय में जो उल्लेख मिलते हैं उनके सम्बन्ध में प्रस्तुत लेख में विचार किया जा रहा है।

राजस्थान के आधुनिक इतिहास लिखने का श्रीगणेश पाश्चात्य विद्वान् जेम्स टॉड ने किया था। उन्होंने अपने "Annals and Antiquities of Rajasthan" नामक ग्रंथ की सामग्री सन् १८१९ से संग्रह करनी प्रारंभ की थी। सन् १८२२ में उन्होंने अपने ग्रंथ का ढाँचा तैयार कर लिया था। उदयपुर के महाराणा भीमसिंह ने भी उन्हें इतिहास संबंधी सामग्री एकत्र करने में बड़ी सहायता दी थी। मान्यवर ओझाजी ने लिखा है "सन् १८१९ के अक्टूबर महीने में टॉड साहब जोधपुर को रवाना हुए और नाथद्वारा, कुंभलगढ़, घाणेराव, नाडोल में होते हुए वहाँ पहुँच गए, वहाँ पर उन्होंने दो शिलालेखों की खोज की और ताम्रपत्रों, हस्तलिखित पुस्तकों और सिक्कों को प्राप्त किया। इसी प्रकार का कार्य पुष्कर और अजमेर में भी उनका हुआ। इन्हीं दिनों में टॉड साहब तिल्ली के बढ़ जाने पर बीमार पड़े। लेकिन इस इतिहास की सामग्री जुटाने का काम बराबर करते रहे। एक दिन जब उनकी तिल्ली में साठ जोंकें लगी हुई खून पी रही थीं उस समय भी वे चारपाई पर लेटे हुए ब्राह्मणों और पटेलों से बातें करते हुए प्राचीन ऐतिहासिक घटनाओं को सुन कर लिखने का काम करते रहे। स्थान-स्थान पर उनको शिलालेख, सिक्के और इस प्रकार की दूसरी चीज़ें मिलीं जो राजस्थान के इतिहास लिखने के लिए बहुत काम की साबित हुईं।

राजस्थान के बहुत से भागों में पहुँच कर उन्होंने इस प्रदेश के पुराने इतिहास की सामग्री एकत्रित की। वे जहाँ कहीं पहुँचते, बड़े-बूढ़े और जानकारों के साथ बैठ कर बातें करते और जो काम की बातें मालूम होतीं उन्हें वे उसी समय लिख लेते... महाराणा भीमसिंह ने इतिहास संबंधी सामग्री एकत्र करने में टॉड साहब को बड़ी सहायता दी। उन्हीं के द्वारा पुराण,

महाभारत, रामायण, पृथ्वीराज रासो आदि अनेक पुस्तकों की सामग्री टॉड साहब को प्राप्त हुई थी।

सन् १८२२ की १ जून को टॉड साहब ने उदयपुर से प्रस्थान किया था उससे पहले ही उन्होंने अपने इस ग्रंथ 'राजस्थान' का ढाँचा तैयार कर लिया था।

टॉड ने महाराणा प्रताप के अकबर को भेजे हुए पत्र के संबंध में लिखा है "अपनी कठिनाइयों को दूर करने के लिए एक पत्र के द्वारा राणा प्रताप ने अकबर से माँग की। प्रताप का भेजा हुआ यह पत्र बादशाह अकबर को मिला। उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। अकबर की समझ में आया कि प्रताप का स्वाभिमान अब खत्म हो गया। इसलिए इस प्रसन्नता में अकबर ने अनेक प्रकार के सार्वजनिक उत्सव किए। उस पत्र को बादशाह ने पृथ्वीराज नामक एक श्रेष्ठ राजपूत सरदार को भी दिखाया। पृथ्वीराज बीकानेर के राजा का छोटा भाई था और वह इन दिनों में अकबर बादशाह के यहाँ कैदी था। उसके कैदी होने का कारण यह था कि उसमें राजपूती स्वाभिमान था। अन्य राजाओं की तरह वह अकबर की अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार न था।

अकबर ने प्रताप का यह पत्र बड़े अभिमान के साथ पृथ्वीराज को दिखाया। इसका कारण था, अकबर समझता था कि पृथ्वीराज भी अत्यंत स्वाभिमानी है। पृथ्वीराज सदा से राणा प्रताप का सम्मान करता था और राणा ने मुगल बादशाह के मुकाबले में जिस स्वाभिमान का प्रदर्शन किया था, पृथ्वीराज उसकी आराधना करता था। राजपूतों के पतन के दिनों में राणा प्रताप ने जिस राजपूती गौरव की रक्षा की है, उससे प्रसन्न हो कर पृथ्वीराज बड़े स्वाभिमान के साथ बातें किया करता था।

पृथ्वीराज एक अच्छा कवि था और स्वाभाविक रूप से भावुक था। बादशाह के हाथ से उस पत्र को पाकर पृथ्वीराज ने पढ़ा। उसका मस्तिष्क चकराने लगा। उसके हृदय में भीषण पीड़ा की अनुभूति हुई। अपनी बढ़ती हुई अधीरता को संभाल कर अपने स्वाभाविक स्वाभिमान के साथ निर्भीकतापूर्वक उसने बादशाह से कहा कि "यह पत्र प्रतापसिंह का नहीं है। मैं उसे भली प्रकार जानता हूँ। किसी शत्रु ने राणा प्रताप सिंह के यश के साथ यह जालसाजी की है और आपको धोखा दिया है। आपके सम्पूर्ण साम्राज्य को पाने के लालच में भी वह ऐसा नहीं कर सकता!"

पत्र पढ़ कर पृथ्वीराज ने अकबर का आदेश लेकर दरबार के एक दूत के हाथ अपना पत्र प्रताप के पास भेजा। उस पत्र का अभिप्राय जैसा कि अकबर ने समझा, प्रताप की असलियत जानने का था। परन्तु पृथ्वीराज ने अपने पत्र के द्वारा प्रताप को उसके उस स्वाभिमान का स्मरण कराया था जिसके लिए उसने अपने परिवार और साथ के राजपूतों के साथ भयानक विपदाओं का सामना किया था। पृथ्वीराज ने यह पत्र राजस्थानी भाषा की कविता में लिखा था। यह पूरा पत्र कहीं पर भी प्राप्त होने की अवस्था में नहीं रहा, इसलिए उसका जो अंश पाया जाता है उसका अर्थ संक्षेप में इस प्रकार है—

"हिन्दुओं का सम्पूर्ण भरोसा एक हिन्दू पर ही निर्भर करता है। राणा ने सब-कुछ छोड़ दिया है और इसी से आज भी राजपूतों का गौरव बहुत-कुछ सुरक्षित रह सका है। यदि प्रताप ने ऐसा न किया होता तो आज राजपूतों की बची हुई मर्यादा भी सुरक्षित न रह सकती थी। राजपूतों

पर आज भयानक संकट है। हमारे घरों की स्त्रियों की मर्यादा छिन्न-भिन्न हो गयी है और बाजार में वह मर्यादा बेची जा रही है। उसका खरीदार अकेला अकबर है। बादशाह ने सीसोदिया वंश के एक स्वाभिमानी पुत्र को छोड़ कर सब को मोल ले लिया है। परन्तु वह प्रताप को खरीद नहीं सका। वह राजपूत नहीं है, जो नौरोजा के लिये अपनी मर्यादा का परित्याग कर सकता है। फिर भी कितने ही राजपूतों ने अपनी मर्यादा भंग कर दी है। इस बिक्री में राजपूतों के बहुमूल्य पदार्थ बिक चुके हैं। क्या अब चित्तौर का स्वाभिमान भी इस बाजार में बिकेगा? प्रताप ने अपना सर्वस्व त्याग किया है, क्या अब वह अपने स्वाभिमानी गौरव को बेचना चाहता है। जो अब तक बिके हैं और जिनकी मर्यादा बाजार में खरीदी गयी है, वे साहसहीन थे—उन्होंने अपने आपको शक्तिहीन समझा था। इसीलिए, उनके जीवन का यह उपहास हुआ। क्या अब हमारे वंश का भी यही दृश्य होने वाला है? आज तक संसार राणा प्रताप के स्वाभिमान, पुरुषार्थ और साहस को देख कर चकित है। क्या संसार का वह आश्चर्य समाप्त होने वाला है? इस जीवन में कुछ भी अनित्य नहीं है। सब का नाश होने वाला है। बाजार में जिसने राजपूतों के गौरव की खरीद की है, वह भी एक दिन मिटने वाला है। उस दशा में हमारे वंश का गौरव राणा प्रताप के द्वारा ही फिर सम्मान प्राप्त करेगा। उस दिन की प्रतीक्षा में राजस्थान के सम्पूर्ण राजपूतों की आँखें लगी हुई हैं।"

राठोर पृथ्वीराज की इस ओजस्वी कविता को पढ़ कर प्रताप के अंतस्तल में उत्साह की अटूट लहरें उठने लगीं। उसे एकाएक मालूम हुआ, मानो मेरे शरीर में दस हजार राजपूतों की शक्ति ने एक साथ प्रवेश किया है। वह तुरन्त अपने मन में कह उठा: "मैं कभी भी अपने स्वाभिमान को नष्ट न करूँगा।"

उपरोक्त उद्धरण से इतना तो निश्चित है कि अब से १५० वर्ष पहले भी यह सर्वत्र प्रसिद्धि थी कि राठोड़, पृथ्वीराज ने महाराणा को प्रेरणादायक एवं ओजस्वी पत्र लिख भेजा था। यद्यपि टॉड को वह पत्र पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं हो सका पर उसने जो उस पत्र का सारांश लिखा है वह वास्तव में पृथ्वीराज के प्रताप संबंधी एक डिंगल गीत पर आधारित था।

पृथ्वीराज ने प्रताप को कुछ दोहे पत्र के रूप में भेजे थे। यह भी सर्वत्र प्रसिद्ध है पर वे दोहे कौन से थे और संख्या में कितने थे, इस संबंध में दो-तीन तरह के उल्लेख मिलते हैं, जिन्हें नीचे उद्धृत किया जा रहा है। उनसे यह सिद्ध हो जायगा कि उक्त प्रवाह केवल टॉड ने ही सुना हो, यह बात नहीं है, पर वह व्यापक रूप में प्रसिद्ध रहा है।

टॉड के बाद राजस्थान के कई राज्यों का इतिहास लिखने वाले चारण रामनाथ रतनू हैं। उनका 'इतिहास राजस्थान' नामक ग्रंथ सन् १८९२ में प्रकाशित हुआ था। वे उक्त ग्रंथ के पृष्ठ ५२ में लिखते हैं, "बादशाही दरबार के प्रायः वीर पुरुष प्रताप सिंहजी की प्रशंसा करने लग गए थे। वरन् नवाब खानखाना ने मारवाड़ी भाषा में उनको यह दोहा भी लिख भेजा था—

ध्रम रहसी रहसी धरा, खिस जासे खुरसाण।
अमर विसंभर उपरै, राखी नेहचो राण।।

खुमाण रासो में यह पद्य अमरसिंह के प्रसंग में इस प्रकार दिया है—

अमर विसंभर उपरै, राखें निहचो राण।
घर बससी रहसी सुथर, खपजासी खुरसाण।।अ० ७।।

इसका अभिप्राय यह है कि 'हे महाराणा साहब, परमेश्वर पर विश्वास रखिए। आपका धर्म और देश दोनों बने रहेंगे और बादशाह हार जायगा।'

इसी प्रकार एक बार बीकानेर के महाराजा के छोटे भाई पृथ्वीराज ने भी जो अकबर के बड़े कृपापात्र थे, चौदह दोहे प्रतापसिंहजी की प्रशंसा में बना कर लिख भेजे थे। पृथ्वीराज जी ऐसे कवि थे कि उनके चौदह दोहों से प्रतापसिंह जी को चौदह सहस्र मनुष्यों की सहायता मिली। वे दोहे राजस्थान भर में प्रसिद्ध हैं।

इसके बाद जोधपुर के चारण कवि उमरदान ने सन् १९०० में महाराणा प्रताप सम्बन्धी कवि दुरसा आढा रचित छियत्तर दोहों वाली 'विरद छहत्तरी' नामक रचना को मौखिक रूप से संग्रहीत की। वे उक्त रचना की भूमिका में लिखते हैं, 'महाराजराणा प्रतापसिंहजी ने किसी कारण से अकबर को कहलाया कि हमको तंग मत करो। यह सुन बादशाह फूले न समाये। बीकानेर के पृथ्वीराजजी को फरमाया कि अब महाराणा हमारी कदमबोशी करने को आने वाला है। पृथ्वीराजजी को यह बात नागवार गुजरी। अपने डेरे आ कर महाराणा साहब को पत्र लिखा जिसमें २० दोहे और एक गीत था। उन दोहों में से एक है—

घर बांकी दिन पाधरा, मर्द न मुक्के माण।
घणा नरिंदों घेरियो, रहे गिरंदां राण।।

तथा गीत है—

हाटां मीर हमीर हरो।[१]

· · · · और आढा दुरसाजी, बारठ शंकरजी, लखोजी, सादू मालोजी, खड़िया तिलोकजी, लालस शंभूदानजी, आदि १० उत्तम कवियों के लेख भी अपने पास जो रतनू बाघाजी रहते थे उनके साथ महाराणा की सेवा में भेजे। वे पृथ्वीराजजी और दशों चारणों के लेख मुझे एक पुरुष के पास मिले हैं, परन्तु वह बड़ा लोभी है सो प्रत्येक दोहे का एक-एक रुपया ले कर मुझे यह दुरसाजी कृत छिहत्तर दोहे लिखाये और बाकी भी इसी शर्त से देना चाहता है। सो ये सोरठे अब मैं छपवा कर सब देश हितैषी सज्जनों की सेवा में समर्पण करता हूँ और आशा करता हूँ कि महानुभाव लोग मुझे सहायता दे कर महाराणा साहब की प्रशंसा भूमंडल में प्रकाश करावेंगे।"

सन् १९०६ में मुंशी देवीप्रसाद का 'राज रसनामृत' नामक ग्रन्थ का पहला भाग प्रकाशित हुआ। उसके पृष्ठ १३ में पृथ्वीराजजी ने दो सोरठे महाराणा के पास भेजे थे और उसके उत्तर में महाराणा ने दो दोहे लिख भेजे थे, उन्हें सार्थ प्रकाशित किया गया है।

टॉड के इतिहास का गुजराती अनुवाद रतनसिंह दीपसिंह परमार ने किया था और उसकी प्रथम आवृत्ति सं० १९७२ में सस्तुं साहित्य वर्धक कार्यालय, अहमदाबाद से प्रकाशित हुई थी।

उसमें पृथ्वीराज के भेजे हुए पत्र की टिप्पणी ठाकुर पूर्णसिंह लिखित मेवाड़ के इतिहास के पृष्ठ १७३ से १२ दोहे व सोरठे उद्धृत किए हैं।

सं० १९७४ में श्री रामनरेश त्रिपाठी का 'कविता कौमुदी' भाग १ प्रकाशित हुआ। उसमें पृथ्वीराज व उनकी पत्नी संबंधी विवरण दिया गया है। उसमें १४ दोहे और गीत, कवित्त अर्थ सहित दिए हैं। उनमें से १३ दोहे ठा० रामसिंहजी संपादित 'वेलि क्रिस्न रुक्मणी री' में छपे हैं। 'पातल राण प्रवाडमल' वाला दोहा नहीं लिया गया है।

तत्पश्चात् सन् १९२५ में मळसीसर के ठाकुर भूरसिंह शेखावत संग्रहीत 'महाराणा यश प्रकाश' नामक ग्रंथ लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस से छपा। उसके पृष्ठ ७८ से ९७ में पृथ्वीराजजी रचित १३ दोहे, २ गीत और १ कवित्त प्रकाशित हुए हैं। इन रचनाओं की प्राप्ति के संबंध में भूरसिंहजी इस ग्रंथ की भूमिका में लिखते हैं कि 'कविराजा भैरूदानजी[२] बीकानेर जिनसे कि महाराज पृथ्वीराज जी (जो बीकानेर महाराजा रायसिंहजी के कनिष्ट भ्राता हुए हैं और बड़े विद्वान् व अद्वितीय सहानुभूति करने वाले तथा प्रसिद्ध ईश्वरभक्त थे जिनको सद्‌गुणों के कारण क्षत्रियों के शिरोमणि कहने चाहिए) का रचा हुआ एक गीत और कुछ दोहे मिले कि जो अद्वितीय हैं।"

उक्त ग्रंथ में पृथ्वीराजजी के भेजे हुए दोहे और महाराणा से प्रत्युत्तर में प्राप्त दोहे तथा पृथ्वीराजजी की पत्नी का रचित एक दोहा तथा उसके उत्तर में पृथ्वीराजजी रचित एक कवित्त और अन्य दोहे व गीत अर्थ सहित दिए हैं। पाठकों की सुविधार्थ उन दोहों आदि को अर्थ सहित ज्यों का त्यों दिया जा रहा है।

निम्न दो सोरठिया दोहे पृथ्वीराजजी ने महाराणा को भेजे—

पातल जो पतसाह, बोलै मुख हूंता बयण।
मिहर पछम दिस मांह, ऊगै कासप राववत॥१॥
पटकूं मूछां पाण, कै पटकूं निज तन करद।
दीजे लिख दीवाण, इण दो महली बात इक॥२॥

टीका—"महाराणा प्रतापसिंह यदि पातसाह को अपने मुख से पातसाह कहें तो कश्यप जी के सन्तान भगवान सूर्य पश्चिम दिशा में उगें, अर्थात् जैसे सूर्य का उदय पश्चिम दिशा में कदापि सम्भव नहीं वैसे ही आप (महाराणा) का पातशाह वचन कहना भी नितान्त असम्भव है॥१॥

हे दीवाण ! मैं अपनी मूंछ पर पाण दूं, अथवा अपने शरीर पर करद (तलवार) डालूं। इन दोनों में से एक बात लिख दीजिए॥२॥"

उपरोक्त दो दोहों के उत्तर स्वरूप महाराणा प्रताप ने निम्न तीन दोहे पृथ्वीराजजी को लिख भेजे—

तुरक कहासी मुख पतो, इण तनसूं इकलिंग।
ऊगै जांही ऊगसी, प्राची बीच पतंग॥१॥

खुसी हूंत पीथल कमध, पटको मूंछां पाण।
पछटण है जेतै पतौ, कलमा सिर के वाण॥२॥
सांग मूंड सहसी सको, समजस जहर सवाद।
भड पीथल जीतो भलां, बैण तुरक सूं बाद॥३॥

टीका—"भगवान् 'एकलिंग' की शपथ है, इस शरीर से प्रतापसिंह के मुख से पातसाह तुरक ही कहावेगा। और भगवान् सूर्य का उदय जहाँ होता है, वहाँ ही पूर्व दिशा में होगा॥१॥

हे वीर पृथ्वीराज! आप प्रसन्न हो कर मूंछों पर पाण लगावें अर्थात् निःशंक होकर मान रखें और जब तक प्रतापसिंह है, केवाण (कृपाण) अर्थात् खड्ग को यवनों के शिरों पर जानें॥२॥

राणा प्रतापसिंह शिर पर भाला सहैगा क्योंकि अपने बराबर वाले का जस जहर के सदृश होता है, सो हे भट पृथ्वीराज! आप तुरक से वचनों के विवाद में विजय पावो॥३॥"

इस वृतान्त को सुन कर पृथ्वीराज जी की पत्नी ने उनको संबोधित कर एक दोहा कहा, जो यह है—

पति जिद की पतसाह सूं, यहै सुणी मैं आज।
कहां पातल अकबर कहां, करियो बड़ो अकाज॥

टीका—"हे प्राणपति! मैंने आज यह सुना कि आपने महाराणा साहब के संबंध में पातसाह से जिद (विवाद) ठानी है। परन्तु आज दिन भारत के राजाओं पर शासन करने वाले और असंख्य सेनाओं का स्वामी कहां। और थोड़े से क्षत्रिय वीरों के साथ वन्यवृत्ति से निर्वाह करने वाले राणा प्रतापसिंह कहां। अर्थात् पातसाह के मलिन विचार व अधिक शक्ति पर एवं महाराणा के दृढ़ अभिमान और सहायसम्पत्ति की विकलता (कमी) पर विचार कीजिये तो आपने बड़ा अकाज (अनर्थ) किया है। क्योंकि अब अकबर उन्हें अत्यन्त कष्ट पहुँचाने का यत्न करेगा।"

पत्नी के ये वचन सुन कर पृथ्वीराजजी ने एक कवित्त द्वारा महाराणा प्रतापसिंह की शक्ति और साहस पर अपने दृढ़ विश्वास का दर्शन कराया—

जबतें सुनेहैं बैन तबतें न मोको चैन,
पाती पढि नैंक सो विलंब न लगावैगो।
ले कै जमदूतसे समस्त राजपूत आज,
आगरे में आठों याम ऊधम मचावैगो।
कहै पृथ्वीराज प्रिया! नैंक उर धीर धरो,
चिरंजीवी रानाश्री मलेच्छन भगावैगो।
मन को मरद मानी प्रबल प्रतापसिंह,
बब्बर ज्यौं तडफ अकब्बर पै आवैगो॥

टीका—"हे प्रिये! पृथ्वीराज कहता है कि चित्त में थोड़ी धीरज रखो। मैंने जब से ये वचन सुने हैं कि 'महाराणा हमें बादशाह कहने लगा है' तब से मुझे चैन (सुख) नहीं पड़ता।

मेरा पत्र पढ़ कर वह वीर-शिरोमणि थोड़ा भी विलंब नहीं करेगा। किन्तु यमदूतों के समान शत्रु पक्ष के प्राण हरने वाले अपने सहयोगी (साथी) राजपूतों को साथ ले आज दिन भी (ऐसे समय में भी) आगरे में सर्वदा धावा देता रहेगा। चिरंजीवी राना म्लेच्छों को भगा देगा व उनकी श्री (लक्ष्मी) को उच्छिन्न कर डालेगा। वह मन का मर्द अर्थात् उत्साहसम्पन्न अभिमानी और महाबलशाली महाराणा प्रतापसिंह क्रोध से प्रज्वलित हो कर बब्बर नाहर के सदृश अकबर पर आक्रमण करेगा।"

महाराणा प्रताप संबंधी राठोड़ पृथ्वीराजजी द्वारा रचित और भी कई दोहे मिलते हैं जिनमें निम्न ११ दोहे 'महाराणा यशप्रकाश' में प्रकाशित हो चुके हैं उन्हें यहाँ मूल रूप में ही दिया जा रहा है।

धर बांकी दिन पाधरा, मरद न मूकै माण।
घणां नरींदां घेरियो, रहै गिरंदां राण[3]॥१॥

पातल राण प्रवाडमल, बांकी घड़ा विभाड़।
खूंदाडै कुण है खुरां, तो ऊभां मेवाड़॥२॥

माई अेहा पूत जण, जेहा राण प्रताप।
अकबर सूतो ओधकै, जाण सिराणै सांप॥३॥

अइरे अकबरियाह, तेज तुहालो तुरकडा।
नम नम नीसरियाह, राण बिना सह राजवी॥४॥

सह गावडियो साथ, अेकण बाडै बाडियो।
राण न मानी नाथ, तांडै सांड प्रतापसी॥५॥

पहु गोधलिया पास, आलूधा अकबर तणी।
राणो खि मैन रास, प्रघलो सांड प्रतापसी॥६॥

पातल पाघ प्रमाण, सांची सांगाहर तणी।
रही सदा लग राण, अकबर सूं ऊभी अणी॥७॥

चोथो चीतोडाह, बाटो बाजंती तणो।
माथै मेवाडाह, थारै राण प्रतापसी॥८॥

बाही राण प्रतापसी, बरछी लचपच्चांह।
जाणक नागर नीसरी, मुंह भरीयो बच्चांह॥९॥

वाही राण प्रतापसी, बगतर में बरछीह।
जाणक झींगर जाल में, मुंह काढ्यो मच्छीह॥१०॥

पातल घड पतसाहरी, अेम बिधूंसी आण।
जाण चढी कर बंदरां, पोथी बेद पुराण॥११॥

इनके अतिरिक्त डिंगलगीत भी हैं, उन्हें यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

'महाराणा यश-प्रकाश' के बाद श्री गौरीशंकर जी ओझा का 'उदयपुर राज्य का इतिहास'[२] सं० १९८६ में प्रकाशित हुआ। उसमें भी 'महाराणा यश-प्रकाश' के आधार से पृथ्वीराजजी के दो दोहे और महाराणा के तीन दोहे तथा एक गीत प्रकाशित किया गया है।

तदनंतर ठाकुर रामसिंह और सूर्यकरण पारीक संपादित 'वेलि-क्रिसन रुक्मणी री' हिन्दुस्तानी एकेडेमी से प्रकाशित हुई। उसकी भूमिका में १३ दोहे उद्धृत किए हैं, उनमें से आठ तो 'महाराणा यश-प्रकाश' वाले ही कुछ पाठान्तरों के साथ हैं और पाँच उनसे भिन्न हैं। वे दोहे इस प्रकार हैं—

अकबर समद अथाह, सूरापण भरियो सजल।
मेवाड़ो तिण मांह, पोयण फूल प्रतापसी॥

अकबर अेकण बार, दागल की सारी दुनी।
अणदागल असवार, रहियो राण प्रतापसी॥

अकबर घोर अंधार, ऊंघाणा हिंदू अवर।
जागै जगदाधार, पोहरै राण प्रतापसी॥

हिन्दूपति परताप, पत राखो हिन्दुवाण री।
सहे विपति संताप, सत्य सपथ करि आपणी॥[४]

चंपो चीतोड़ाह, पौरस तणो प्रतापसी।
सौरभ अकबर शाह, अड़ियल[५] आभिडया नहीं॥[६]

—दे० विरुद-छिहत्तरी पद्यांक २३ से २५

इस तरह 'महाराणा यश-प्रकाश' और वेलिकृष्ण रुक्मणी री' इन दोनों ग्रंथों में पृथ्वीराज जी कथित दोहों की संख्या १३ होने पर भी ५ दोहे दोनों में भिन्न-भिन्न हैं इसलिए संख्या १८ की हो जाती है। पर वास्तव में कवि ऊमरदानजी के संग्रहीत दुरसा आढा के ७६ सोरठों में संख्या २३, २४, २५ वाले दोहों को ठाकुर रामसिंहजी और सूर्यकरणजी ने पृथ्वीराजजी के दोहों में सम्मिलित कर लिया है। संभव है उन्होंने इन दोहों को मौखिक रूप से सुन कर संग्रहीत किया हो और 'विरद छिहत्तरी' को देखी न हो। वैसे विरद छिहत्तरी के दोहों की भी अभी तक कोई हस्तलिखित प्राचीन प्रति देखने में नहीं आई पर ऊमरदानजी ने उन्हें मौखिक रूप से संग्रहीत करने का उल्लेख किया है और प्रताप संबंधी अन्य १० कवियों की रचनाओं का भी उल्लेख किया है। इसलिए इन दोहों में कवि के नाम की कोई छाप तो है नहीं, तब आपस में गड़बड़ हो जाना स्वाभाविक है। विरद छिहत्तरी और पृथ्वीराजजी के सोरठों की हस्तलिखित प्रतियों की खोज किया जाना आवश्यक है और ऊमरदानजी उल्लिखित अन्य १० चारणों की प्रताप संबंधी कविताओं की भी खोज की जानी चाहिए।

मैंने इस संबंध में कुछ खोज की तो इनमें से ४ दोहे जैन कवि दौलत विजय के खुमाणरासो में प्राप्त हुए जिसकी रचना सं० १६७० के आसपास हुई थी। इन दोहों के साथ अन्य भी कई दोहे

खुमाणरासो में उद्धृत हैं। पर ये सब दोहे किस कवि के हैं इस विषय में कोई उल्लेख नहीं किया गया।

खुमाणरासो अब से २५० वर्ष पूर्व की रचना है उस समय भी ये दोहे लोक प्रसिद्ध रहे होंगे इसीलिए कवि ने अपनी रचना में सम्मिलित कर दिये हैं।

सुवस देस वसियो सहू, दल्ली गयो दुझल्ल।
अकबर गज शिर ऊपरें, अंकुश नृप पातल्ल॥३४७२॥

अड पायत ऊदल तणो, अधिपति अवली बांण।
पूर पवाडें पातलो, दाखे जस दुनियांण॥३४७३॥

त्रिजड हत्थ तरसिंघ तस, हेलावांन हमीर।
लुंबे लाख वरीसणो, वडो दुबाहो वीर॥३४७४॥

दलां रूप ढावो दुनी, दाता दिल दरियाव।
अदतारां अंकुश दीइं, सुज पातल सुभाव॥३४७५॥

अखुं दें अंधाह, राजवियो अकबर रहें।
करणु मां कंधाह, ऊही डावें ऊदोत॥३४७६॥

अकबर समुद अथाग, छायो नव खंड छोलिय।
खाग लडेत प्रयाग, अंबर लागो ऊदोत॥३४७७॥

अकबर समुद अथाह, साऊ जल उजली सिखर।
मेवाडो तिण मांह, पोयण कमल प्रताप सी॥३४७८॥

पातल पाथ प्रमांण, साची सांगाहर धणी।
रही सदा लग रांण, अकबर सु ऊभें अणी॥३४७९॥

अकबर घोर अंधार, आथमिया हींदू अवर।
जागे जागणहार, पोहरे रांण प्रताप सी॥३४८०॥

माई एहा पूत जण, जेहा रांण प्रताप।
अकबर सुता ओझकें, जांण सरांणे सांप॥३४८१॥

दीधी हार हमीर, पंचाइण नवियो पगें।
तिण नेपत रा नीर, अचरिज के हो ऊदौत॥३४८२॥

पोखें खत्री घणाह, खडियातां लागी खता।
तोनें उदा तणाह, अमला मारिग एहड़ा॥३४८३॥

रांणी नीजां रांम, आहें ले अकबर तणां।
चोखें चीतोडाह, पांणें तुझ प्रताप सी॥३४८४॥

इन दोहों में संख्या, ३४७८, ३४७९, ३४८० और ३४८१ वाले दोहे पूर्व उल्लिखित प्रकाशित दोहों में भी आ चुके हैं।

उपरोक्त उद्धरणों व विवेचन से यह स्पष्ट है कि राठौड़ पृथ्वीराज ने महाराणा प्रताप को ओजस्वी दोहों वाला पत्र भेजा था। यह वृत्त बहुत प्राचीन है।

संदर्भ-सङ्केत—

१. यह पंक्ति पृथ्वीराज के प्रसिद्ध गीत 'नरतेथ निमाण निलजी नारी' की तीसरी पंक्ति की है।

२. इनमें से दुरसा आढा पीथो आसियो गोरधन बोगसी तथा अज्ञात कवि रचित प्रताप के गीत 'राजस्थानी गीत' एव जाडा महडू आदि के 'प्राचीन राजस्थानी गीत' भाग ३ में तथा और कई गीत 'महाराणा यशप्रकाश' में प्रकाशित हो चुके हैं।

३. 'महाराणा यशप्रकाश' की टिप्पणी में लिखा है कि "स्वामी गणेशपुरीजी आदि साहित्य के आधुनिक विद्वानों का मत है कि यह दोहा पृथ्वीराज जी का ही बनाया हुआ है।"

४. 'महाराणा-यश प्रकाश' के पृ० १२५ में इसे अज्ञात कवि के मुक्तक के रूप में प्रकाशित किया है।

५ अलियल

६. 'महाराणा यश प्रकाश' के पृ० १२१ में इस सोरठे को सूरायजी ढापर्या रचित बतलाया है। इसी कवि के अन्य दोहे भी उक्त ग्रन्थ में प्रकाशित हुए हैं।

७. श्री नरोत्तमदासजी स्वामी संपादित 'राजस्थानी वीर गीत' के पृष्ठ ८० में इस दोहे को आढा दुरसा रचित बतलाया गया है, तथा और दो दूहे आढा दुरसा के इस दोहे के साथ और दिये हैं।

८. सोयो सोह संसार, असुरप ढोलै ऊपरै।
जागौ जगदातार, पोहरे राण प्रतापसी॥—(डॉ० पूर्ण सिंह लिखित मेवाड का इतिहास, पृ० १७३)।

छह

लावनी साहित्य

त्रिलोकीनारायण दीक्षित

लोक-साहित्य की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में हुई है। लावनी भी लोक-काव्य की एक अत्यन्त प्रमुख तथा महत्वपूर्ण शैली है। इसकी रचना लोकभाषा, हिन्दी की बोलियों और साहित्यिक भाषा में समान रूप से हुई है। संगीत राग कल्पद्रुम में लावनी को एक उपराग माना गया है। उसमें उल्लेख है कि "लावणी जोगिया जंगो अहंग सुहाना कोल्लिका"। लावनी या लावणी की परिगणना देशी राग के अन्तर्गत की गई है। 'देशी राग' को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'देशे देशे भिन्न नाम तद्देशोगानमुच्यते' (रा० १। पृ० १७) तात्पर्य यह है कि विभिन्न देशों में जो भिन्न-भिन्न नाम ग्रहण करे, वह देशी राग हैं। देशी राग को ग्राम्य राग भी कहा गया है। इस राग (लावणी) का सम्बन्ध लावणक देश से प्रगाढ़ रूप में था। इसका नामकरण भी लावणक प्रदेश के आधार पर हुआ। प्रसिद्ध गायक तानसेन ने जिन अनेक रागों या मिश्रित रागों को शास्त्रीयता प्रदान की उनमें लावनी भी एक था। लोक रागिनी के रूप में मान्य और स्वीकृत होने के साथ ही साथ लोक कवियों द्वारा यह प्रचुर रूप में समादृत हुई। यों तो, भक्त कवियों की यह प्रिय रागिनी रही है, पर निर्गुण भक्तों द्वारा इसे महत्वपूर्ण समर्थन सम्प्राप्त न हुआ।, लावनी के अनेक भेद और भी हैं। उदाहरणार्थ लावनी देशी, लावनी भूपाली, लावनी जगला लावनी रेखता, लावनी कळांगाडा आदि। लावनी-साहित्य का वर्ण्य विषय बड़ा व्यापक तथा विविधता पूर्ण है। उसमें दार्शनिक वेदान्त, योग संबंधी विषयों की अभिव्यक्ति भी हुई है और लौकिक-विषयों की भी। लौकिक-विषयों में प्राचीन भारतीय संस्कृति, ऐतिहासिक विषय वीरात्माओं की बलिदान की ओज एवं सजीवता से सम्पन्न कथाएँ तथा प्रेम के उभय रूप लौकिक तथा अलौकिक (इश्क मिजाजी एवं इश्क हक़ीक़ी) की अभिव्यक्ति लावनी साहित्य में बराबर उपलब्ध होती है। लावनी का यह सौभाग्य कहा जायेगा कि इसके अन्तर्गत साहित्यिक विशेषताओं के साथ ही साथ संगीत विषयक विशेषताओं का अद्भुत सम्मिश्रण है। लावनी के रचयिता एवं गायक अधिकतर संत महात्मा थे। इन संतों में हिन्दू और मुसलमान दोनों का समान रूप से योगदान था। इसीलिए इनमें हिन्दुओं के जीवन तथा संस्कृति के साथ-साथ मुसलमानों के जीवन और संस्कृति के चित्रों का पूर्णाभास सम्प्राप्त होता है। एक करुण रस ही लीजिए। लावनी साहित्य में जहाँ एक ओर

करुण रस के प्रवाह के हेतु राम वनगमन वर्णित हुआ है, वहाँ उसके साथ ही हसन-हुसैन की तृषार्त मृत्यु का भी वर्णन है। लावनियों में महान् विचारकों की उक्तियों और भावधारा का आनन्द भी प्राप्त होता है। उनमें जहाँ एक ओर वेद व्यास, तथागत गौतम, महावीर स्वामी, आचार्य शंकर की विचार धाराएँ लहरें ले रही, वहीं दूसरी ओर शेख सादी तथा मौलाना रूम की भावधारा भी प्रबहमान हैं। इसमें 'यूसुफ-जुलेखा', 'हीररांझा', 'लैला-मजनू', 'शीरी-फरहाद', की प्रेम कथाएँ भी बड़ी भावुकता के साथ वर्णित मिलती हैं।

लावनी-साहित्य के रचयिताओं में अधिकांश जन्मजात एवं प्रतिभा सम्पन्न ऐसे भी कवि हुए हैं जिन्हें अक्षर ज्ञान भी नहीं प्राप्त था। लावनी-साहित्य के लेखकों में ऐसे ही लोगों की प्रधानता थी। उसके लेखकों के दो सम्प्रदाय माने गये हैं या प्रतिष्ठित किये गये हैं। ये हैं 'तुर्रा', एवं 'कलगी'।

लावनी अपने दो और नामों से भी प्रसिद्ध है। ये हैं 'ख्याल' तथा 'मरैठी'। लावनी गायन के समय चंग बजाया जाता है। चंग एक प्रकार का बाजा होता है। यह चमड़े से घिरा एक गोल घेरा होता है। यह घेरा लकड़ी या लोहे के तारों का बनता है। बजाने वाला उसे एक हाथ से बजाता है और वह अपने अंगुलियों में छल्ले पहन कर उससे चंग के साथ संघर्ष करता हुआ या थपकी मार कर अद्भुत सम्मोहक राग उत्पन्न करता है।

तुर्रा एवं कलगी—ऊपर उल्लेख हो चुका है कि लावनी-गायकों के दो सम्प्रदाय हैं 'तुर्रा' तथा 'कलगी' इन दो सम्प्रदायों को दो थोक भी कहा गया है। तुर्रा सम्प्रदाय के गायक या कवि अपने को शिव का उपासक बताते हैं और 'कलगी' सम्प्रदाय के अनुयायी अपने को शक्ति का उपासक उद्घोषित करते हैं। दोनों सम्प्रदाय के कवि अपने को दूसरे से श्रेष्ठ बताते हैं। उभय वर्ग अपनी श्रेष्ठता निर्धारित करने के लिए अपने मत के समर्थन में सहस्रों लावनियों की रचना करते हैं। तर्कों द्वारा एक दूसरे पर श्रेष्ठता प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं और दूसरे की श्रेष्ठता के दावे को वह हीन प्रमाणित करते हैं। लावनी-साहित्य में इस प्रकार खंडनात्मक ध्वनि प्रचुर है। तुर्रा सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे महात्मा तुर्कगिरि तथा कलगी के प्रवर्तक थे संत शाहअली। तुर्कन गिरि वेदान्त से प्रभावित थे और शाहअली सूफी-दर्शन से प्रभावित थे। उभय तत्व विचारक कवि होने के साथ ही बड़े उदार विचार वाले तथा मनस्वी थे। तुर्रा और कलगी नामकरण के संबंध में भी एक किंवदन्ती है जिसका उल्लेख कर देना असंगत न होगा। प्रसिद्ध है कि यह दोनों महात्मा बड़े मित्र थे। रमते-रमते यह एक मराठा दरबार में जा पहुंचे। उदार चेता मराठा ने इनका बड़ा सम्मान किया और इनसे स्वरचनाओं के गान का आग्रह किया। दोनों संतों ने अपनी-अपनी रचनायें सुनाईं। मराठा दरबार का अधिष्ठाता उनसे अत्यन्त प्रसन्न हुआ और तुकनगिरि की एक बहुमूल्य तुर्रा तथा शाह अली को कीमती 'कलगी' भेंट की। उभय सन्तों ने उन्हें स्वीकार कर के चंग पर चढ़ा दिया। इस प्रकार तुर्रा और कलगी के सम्प्रदाय चल पड़े। इन उभय सन्तों ने लावनी का प्रचार किया। इनका समय लगभग सन् १७०० ई० है। यह दोनों उत्तर प्रदेश के निवासी थे परन्तु इनकी प्रतिभा का प्रकाश मध्य प्रदेश में विशेष रूप से प्रकाशित हुआ। संत तुकाराम और समर्थ रामदास के काव्य में भी इसी लावनी से साम्य रखते हुए छन्द मिलते हैं। उन्हें करवा कहा गया है और वे भी चंग पर ही गाये जाते हैं। लावनी की ही भाँति।

लावनी का प्रचार प्रायः १५० वर्ष पूर्व भारत में प्रचुर था। इसके प्रचार का सब से अधिक श्रेय है १० नामी अखाड़ों को। 'दस नाम' संन्यासियों की उपाधि थी। यह उपाधियाँ थीं (क) गिरि, (ख) पुरी, (ग) वन, (घ) अरण्य, (ङ) पर्वत, (च) सागर, (छ) भारती, (ज) तीर्थ, (झ) आश्रम, (ज) सरस्वती। हिन्दू संतों में लावनी नाम से ही विख्यात रहा। परन्तु मुसलमानों ने इसे लावनी और 'ख्याल' दोनों नामों से जाना और कहा। लावनी में २२ मात्राओं की गणना होती है परन्तु आगे चल कर लावनी में अनेक छंदों की परिगणना हुई। विशेष रूप से उल्लेखनीय यह है कि उर्दू, फारसी, मराठी, के अनेक छन्द आ गये हैं। लावनी के छः सम्प्रदाय हैं। लावनी गायकों और लेखकों ने लावनी की चार चौकों को मान्यता दी है। लावनी के प्रथम दो मिसरे को वह टेक कहते हैं। इन दोनों के अनन्तर चार मिसरे को 'चौक' कहा गया है और पांचवें को उड़ान कहते हैं। पांचवें के साथ ही टेक का दूसरा मिसरा सम्मिलित कर दिया जाता है। इस प्रकार एक लावनी में चार चौकें मानी गई हैं। चौकों में कभी चार कड़ी होती हैं कभी उससे अधिक भी। लावनी में चार चौक की रचना सर्वथा आवश्यक माना गया है। मात्राओं और चौकें प्रायः घट बढ़ भी जाती हैं। लावनी गायक जिस लावनी की रचना करते हैं उसमें वे मात्राओं की गणना पर विशेष ध्यान नहीं देते हैं। वे सामान्यतः ध्वनि का ध्यान रखते हैं। कभी-कभी ये स्वरों को गिरा या ह्रस्व कर के भी लावनी गाते हैं।

अखाड़ा—लावनी-गायकों के संगठन या जमाव को अखाड़ा कहा जाता है। हर अखाड़ा में एक उस्ताद व एक खलीफा होता है। खलीफा का चुनाव अखाड़े के शिष्य करते हैं और बाद को वे उसका अनुशासन पूर्णतया मानते हैं। खलीफा निर्वाचित होने पर सब शिष्यों द्वारा उसके सर पर पगड़ी बाँधी जाती है। खलीफा अखाड़े के अनुशासन को लागू करने के लिए दंड भी देता है। जब अखाड़े में कोई नया शिष्य दीक्षित होता है तो बड़ा उत्सव मनाया जाता है, मिठाई अन्य अखाड़ों में भी बँटती है। लावनी-गायकों का जहाँ जमाव होता है उसे दंगल कहा जाता है। अन्य अखाड़े वाले वहाँ आते हैं। बड़े-बड़े दंगलों में दूर-दूर से लोग आते हैं। वसन्तोत्सव पर आगरे में लावनी-गायकों का जो दंगल होता है उसमें दिल्ली, मेरठ, शिकोहाबाद, हाथरस, अलीगढ़, मथुरा आदि से लावनी-गायक आते हैं। उत्तर-भारत में कानपुर, मिर्जापुर तथा गोलागोकरननाथ में ऐसे दंगल होते हैं। लावनी-गायक प्रायः दूर-दूर प्रान्तों में भी जाते हैं। यथा कानपुर से गायक दिल्ली, बीकानेर, कलकत्ता आदि स्थानों पर लावनी-गायन के लिए जाया करते थे। एक अखाड़ा का उस्ताद दूसरे अखाड़े के उस्ताद का ध्यान रखता है। प्रतिस्पर्धा होने पर भी वे शिष्टाचार का उलंघन नहीं करते हैं। तुर्रा और कलगी में भी पास्परिक सौहार्द्र का भाव विद्यमान रहता है। तुर्रा और कलगी के पृथक-पृथक निशान होते हैं। वह निशान एक प्रकार का झंडा होता है। तुर्रे के निशान का रंग भगवा और कलगी का हरे रंग का होता है। दंगलों में प्रत्येक ओर के गायक पृथक-पृथक बैठते हैं। दंगल का प्रारम्भ मंगलाचरण से होता है। मंगलाचरण को गायक 'सखी दौड़' या 'दौड़े सखी' कहा जाता है। वास्तव में यह शब्द है 'दौरे-साक़ी'। 'दौरे साक़ी' में देवता विशेष की प्रार्थना या स्तुति की जाती है। फिर अखाड़े का परिचय, फिर गुरु की वंदना। 'सखी दौड़' या 'दौरे साक़ी' के दो भाग होते हैं। उदाहरणार्थ यहाँ कतिपय पंक्तियाँ दी जाती हैं।

सखी दौड़ गणेश बन्दना

सखी : लाड़ले गिरजा के दीजै आन संकट टाल जी
लाज रख लीजै गजानन गन्न शंकर लाल जी
लाल चन्दन का तिलक एक दन्त जड़ रहे लाल जी
लाल रंग है अंग जिनका नाचते दे ताल जी।

दौड़ : लाल गिरजा के करे निहाल, लगा है चन्दन शीश रसाल
लचकती चले गन्न जी चाल, लिया हीरन का हार गल डाल
लिये करखाड़ा एकी ढाल लालसा सिद्ध करें तत्काल

लाड़ले गिरजा के लाल
लाज रख जड़ दीजै ताल जी।

प्रत्येक अखाड़े में कुछ कवि होते हैं, जो लावनी लिखते हैं, और कुछ गायक होते हैं। परन्तु प्रत्येक अखाड़े में एक दो शायरों का होना अनिवार्य है। यही दंगल के लिए लावनियों की रचना करते हैं। गायक गाने से पूर्व उस्ताद से आज्ञा लेता है। उस्ताद उसे आज्ञा देता है और साथ ही विजय के लिए उसे आशीर्वाद भी देता है। लावनी-गायक जब अपना प्रथम चौक पूरा कर लेता है तो दूसरे अखाड़े का गायक उसका जवाब देता है। उत्तर देते समय ध्यान रखा जाता है कि जवाब में वही 'रंगत' या 'रफीद' हो जो पहले गायक ने प्रस्तुत की है। जब दो कुशल गायक मिलते हैं या आमने-सामने आते हैं तो प्रायः 'टेकें' ही लड़ा करती हैं चौक तक पहुँचने का उन्हें समय ही नहीं मिलता। चौके और टेक क्या होती हैं यह पहले उल्लेख किया जा चुका है। लावनी में जवाबी गाने कैसे प्रस्तुत किये जाते हैं। इसके दो एक उदाहरण देना असंगत न होगा।

१. गायक चुन्नी गुरू—नं० १. टेक :

हर हर करता जाय रावना चला है जोगी बनकरके,
सीता हरके चोर सठ बनाये हैं लक्षन खर के।

गायक पीरामल का उत्तर : जवाब टेक में—

बहुत उर हैरान किये सौ सौ चक्कर तेरे दर के,
मगर निकर के, न तुमने दरस दिये दिये अंखियाँ भर के॥

२. गायक चुन्नी गुरू : नं० टेक ३—

रावन आज्ञा पाय निशाचर बना कपट मृग छल करके,
राम सुमर के, मरा मारीच नीच लागत सर के।

गायक प्रभुदयाल, जवाब टेक में—

करुना निधि भक्तन हितकारी प्रगटे मानुष तन धर के,
केश पकर के, कंस को हना बीच में पल भर के।

लावनी में फटके बाजी—बड़े-बड़े दंगलों में लावनियों के माध्यम से रोचक वार्तालाप और वादविवाद भी होता है। इनमें कवि की वर्णन शक्ति का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। साथ ही कवि की व्यंगप्रियता का भी ज्ञान होता है। लावनी में व्यंग संधान या फब्ती कसने को फटकेबाज़ी भी कहा जाता है। ये व्यंग बड़े ही मर्मस्पर्शी और प्रभावित करने वाले होते थे। कहा जाता है कि एक व्यक्ति वंशी बाबू को बुलबुलों को पालने का बड़ा शौक था। एक बार वे लावनी दंगल में श्रोता के रूप में बैठे थे। लावनी गायक ने उनकी ओर लक्ष्य कर के एक व्यंग किया :—

आखिर एक दिन पड़े सख्त सैय्याद के तू पाले बुलबुल
और चार दिन हवा गुलजार के तू खाले बुलबुल

बंशी बाबू यह व्यंग सुन कर वहाँ से चले आये और उन्होंने घर आकर सब बुलबुलों को उड़ा कर मुक्त कर दिया। इसी प्रकार प्रसिद्ध है कि बाबा-काशी-गिरि तथा मियां बादल में एक बार बड़ी व्यंगपूर्ण वार्तालाप लावनी के माध्यम से हुई थी। अखाड़ा जमा था बाबा काशीगिरि ने मियां बादल पर व्यंग किया—

यह किधर से आई घटा किधर से पानी,
दो जवाब इसका आप जो हो गुरु ज्ञानी

बादल मियाँ ने उत्तर दिया :—

पढ़ पढ़ के फाजिल हुए राह न जानी
बादल की.........बरसता पानी

व्यंगपूर्ण उक्तियों से सम्पन्न ख्याल की रचना करने में भैरों सिंह तथा गोपीनाथ विशेष प्रसिद्ध थे। इन दोनों की लावनी से दो-दो पंक्तियां दी जाती हैं।

१. तत्व ज्ञान की उत्पत्ति खोजे मती कुमति की बातों से।
नहीं चूर कर देगा चंग, कलगी निशान कोई लातों से॥—भैरों सिंह

२. पढ़े लिखे कुछ नहीं और शायरी काहे ले काम लिया।
खतो खाल लंगूर नमत्त और नाम रख गुल्फाम लिया॥—गोपीनाथ

लावनी के छन्द—लावनी में हिंदी, संस्कृत, फारसी और मराठी आदि के अनेक छन्द पाये जाते हैं। महाराष्ट्र देश से मिलने वाले छन्द २२ मात्रा के होते हैं। इसे 'राधा वशीकरण' भी कहा जाता है। यहाँ पर इस प्रकार के दो-तीन उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

१. क्या श्यामगौर गुलबदन मदन का जोड़ा।
जिन शिवशंकर का कठिन राशन तोड़ा॥—गणेशप्रसाद

२. आजा आजा वो प्रबल शक्तिमा आजा।
अपने भक्तों पर भक्त भाव से भाजा॥—मैथिलीशरण गुप्त

इसी प्रकार 'खड़ी रंगत', 'रंगत लंगड़ी', 'रंगत महाराज', 'रंगत मेरी जानकी', 'रंगत बची', 'रंगत डिढ़ ख़मी', 'रंगत तिकडिया', 'रंगत संगीत', 'रंगत संगीत लंगड़ी', 'रंगत लंगड़ी संगीत', 'टुकडिया', 'रंगत खड़ी संगीत चौताला', 'रंगत राग देश', 'रंगत नवेली', 'रंगत शीतल', रंगत विरहनी', 'रंगत छैकडिया', 'रंगत तवील', 'रंगत तवील मुखफका', 'रंगत शिकश्ता', 'रंगत नैरंग', 'रंगत हक्कानी', के रूप में हजारों लावनियों की रचना हुई। उनकी रचना में सैकड़ों लावनी गायकों ने अपनी कल्पनाशक्ति, कलाप्रियता, व्यापकज्ञान शब्द सामर्थ्य और प्रतिभा का परिचय दिया। इन रंगतों में जो काव्य कौशल प्रकट हुए हैं, उसका उल्लेख न हिन्दी के छन्द शास्त्र संबंधी ग्रंथों में है न आलोचनात्मक ग्रंथों में। हिन्दी साहित्य का इतिहास भी उनसे शून्य है। पहले उल्लेख हो चुका है कि लावनी लेखक अधिकतर अशिक्षित लोग ही हुए हैं; परन्तु उन अशिक्षित लोगों की रचनाओं में भी कला है और उन लेखकों में भी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। लावनी में भी सुन्दर अलंकारों के प्रयोग हुए हैं। इस अलंकारिता को लावनी कलाकारों ने "सनअ़त" कहा है। लावनी-साहित्य में इसे बहुत महत्व प्रदान किया गया है। यह 'सनअ़त' कई प्रकार की होती है। उदाहरणार्थ तलाजमा, तिस हर्फी, ककहरा, उलटी तिस हर्फी, उलटा ककहरा, दुअंग, अठअंग अधर, अमात्र, मात्रा दार, बेनुकत, नुकतचीन, सिंहावलोन, ज़ंजीरें बन्द, लोम विलोम, गतागत, चित्रकाव्य आदि। विस्तार भय से इन सभी के उदाहरण देना सम्भव नहीं होगा लेकिन कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं। इनमें रेखांकित शब्दों में सन्निहित अर्थ पर ध्यान दीजिये—

जेवर:— **१. बन्दी है हमारे आने की ग़ैरों को बुलाना सीखे हो।**
इस बाली उम्र में गजब सनम बाला बतलाना सीखे हो।। —नत्था सिंह

पशु:— **२. हाथी हाथा का सिंह ने खत पहुँचाया।**
दिल शेर हुआ जब पिया मेरा घर आया।—प्रभुदयाल

शहर:— **३. दिल लिया अदा दिखला कर अब दम बतलाते हो साहब।**
किये किसने कानपुर आपके जो यह सितम दिखाते हो साहब।।—नत्था सिंह

जेवर एवं कपड़ा:—४. ग़ैरों से मिले सनम झूम के मैं सर से टकराता संग।
गुजर होय किस तरह गुलबदन रकीब के तुम रहते संग।।—चुन्नी गुरू

लावनी में तलाजमा—अब तलाजमा के कुछ उदाहरण और देखें। पहले लीजिये 'अधर'। 'अधर' में शब्दों के उच्चारण में होंट एक दूसरे का संस्पर्श नहीं करते हैं। पंडित रूपकिशोर की एक रचना यहाँ इस दृष्टि से दी जा रही है—

न जाने आली हरी ने कैसी कलह कठिनता लिये ठानी है।
निरास करके तजी दासी की चाह चेरी की चित घनी है।।

अब अमात्रा का उदाहरण लीजिये। इसमें मात्रा का प्रयोग नहीं होता। स्वर्गीय नारायणनन्द की एक रचना प्रसिद्ध है—

तज कर असत ग्रसत कर सतपथ मगन रहत मन सर धर रज।
रज धर चरण गहत मन, हर्षत, कहत मसल सब तज हर भज॥

इसी प्रकार मात्रादार है। मात्रादार में हर एक वर्णमात्राओं से युक्त होता है। उदाहरणार्थ—

बाली भोली तो तेरी पेशानी है।
तू खूबी खासा खूबाँ लासानी है॥—पन्नालाल

तलाजमा के प्रकार 'बेनुकत' तथा 'गतागत' भी हैं। यहाँ दोनों के उदाहरण दिये जाते हैं।' बेनुकत में एक भी अक्षर ऐसा नहीं होता जिसमें नुक्ता लगता हो। उदाहरणार्थ—

मलाल हो दूर दिल का सारा अगर दमे वस्ल आइयेगा।
मुराद का गुल हरा हमारा अदा दिखाकर खिलाइयेगा॥
—स्वर्गीय नारायणनन्द

अब 'गतागत' लीजिये। इसमें लावनी को उलट कर पढ़िये तो भी वही मिसरा बन जायेगा। उदाहरणार्थ—

रस रास रचो बन में नव चोर सरासर।
रच राच रहे न तजे तन हेर चराचर॥

लावनी की भाषा—लावनी लेखकों ने अपने काव्यरचना में भाषा का असाधारण अधिकार प्रदर्शित किया। इन अशिक्षित कवियों का फ़ारसी, संस्कृत, उर्दू तथा हिन्दी पर सराहनीय अधिकार था और उन्होंने समय-समय पर अपने काव्य में इस विशेषता का प्रदर्शन भी किया है। यहाँ भैरो सिंह की दो रचनायें दी जाती हैं जिसमें फ़ारसी और हिन्दी का खूबी के साथ प्रयोग हुआ है—

१. रकम हुम्द रब गश्त वर क़लम फर्ज वस्क कर पैग़म्बर।
रक्षक जनमन भक्षक खलवन अचल कष्ट तन अज़र अमर॥

२. जनाबे अक्सर जमाल मुतलक़ जलाल बर हक़ सफात बरतर।
विशाल मूरत दयाल विष्णु कृपा करो रक्षपाल रघुबर॥

अब उस्ताद नत्था सिंह की एक रचना देखिये जिसमें प्रत्येक पंक्ति के आधे भाग में फ़ारसी और आधे भाग में हिन्दी के शब्दों का प्रयोग भावाभिव्यक्ति के लिये हुआ है। उदाहरणार्थ—

निगार जेबा बबाग़ दीदम, स्वरूप सुन्दर अनूप जोबन।
नादिम परी गश्ता हूर ना दिम, लजत रतीपत निरख सुभग तन॥

इस प्रकार की दो रचनायें और देखिये—

१. आनन्द कन्द गजबदन सदा शुभ भेषम।
बरखा नये अज दीदार, तुराचूं वेशम॥—अम्बादत्त

२. शिव नन्दन जगबन्दन धनधन जन उर चन्दन श्रीगणेश।
शब्द उसूलस मुद्दआ करके उनद खिदमतस हमेशा॥—अनन्त गिरि

अभी तक आपने फारसी और हिन्दी भाषा के मिश्रित रूप में लावनी काव्य देखा, अब चार भाषाओं के सम्मिश्रण से लिखित एक उदाहरण देखिये। इसके लेखक भी भैरो सिंह ही हैं—

माई डियर तोविया शोक भंजन हुणसानूँ कुल अल हम,
मोर जियरवा इकडे झाला चपो बरवद सारकी सनम।

ये लावनी लेखक बड़े विनोद-प्रिय और मस्त प्राणी होते थे। इन्होंने अपने काव्य की रचना मौज में आकर विभिन्न भाषाओं में की है। अब आप अंग्रेज़ी में लिखित एक लावनी देखिये—

कैन यू गेट ईज़ यू डोन्ट नियर, देयर इज माई डियर।
मिस्ट विस्ट सी यूज़ सीक्रेटो सियर, आर यू माई डियर।
आई डोन्ट यू मी वी हीयर, नोट मिस्ट ही यू मी नियर।
माई डियर टु यू लू फीयर, कम हियर सर माई डियर।
आई यू लो माई फ्रेन्ड एन्ड यू आर फ्राम मी वेरी फार।
शुदम ब हिजरत ख्वार॥

शुद्ध फारसी में विरचित एक उदाहरण—

लुत्फ़ कुन लुत्फ़ तो बरमन अप दिलदार,
शुदम ब हिजरत ख्वार।
शुनीदा बाशी हालम ऐ दिलवर शुद अज़ पेश्तर बदतर,
मरजां चुनी मरा ऐ मह पैकर, हालेम जार बनी गर।
हाल गदाये जोशे खावर, गश्ता अजबस गश्ता अबतर,
गुमाँ रूखतचूँ माह मुनव्वर, बुवद मरीज़द गर दद बेहतर।
दर इश्कस दिलदार शुदम बीमार जिवस लाचार,
बल्कि अजबस लाचार, शुदम ब हिजरत ख्वार।

लावनी लेखकों में गोपाल सिंह प्रसिद्ध हैं। इन्हें विभिन्न भाषाओं का ज्ञान था। इन्होंने पाँच-पाँच छः-छः भाषाओं के मिश्रित रूप में अपनी लावनियों की रचना की है और अन्त में बड़े गर्व से कहा है, ख्याल बनाया पंच ज़बानी। उक्त कवि की एक चार ज़बानी लावनी को उदाहरणार्थ यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

निज़दे मनबियां शिताबिऐ दिलदार, ज़ुल्म मकुन हर बार,
दर इश्के तो ऐ महपारा, ख्वाब न आयद दीदे मारा—
गश्ता अम अकनू आवारा,
अर्ज़ गोश कुन जान मनम हैरान हाल दिल कुन इजहार,
ज़ुल्म मकुन हर बार॥१॥

कम सुन कम सुन ओ माई डियर आई सी टु-यू वेल्कम हियर,
इन्सपरेसन आईज टियर,
माई वन्डरफुल डियर, नाट कम हियर, यू विल गोइंग सो फार,
जुल्म मकुन हर बार निज दे मन बिया ॥२॥

रह रह साडा दिल घबरादा, मैंनूं पिया कहीं नजर न आँदा।
केडी जुदाई विच जिय जांदा,
आसडे दिल बिच चाह तू होडी मेडी काल आजा यक वार।
जुल्म मकुन हर बार निजदे मन विया ॥३॥

गुपाल सिंह कहे आ दिल जानी, तेरे इश्क में है हैरानी,
ख्याल बनाया चार जबानी।

लावनी में खड़ीबोली—लावनी साहित्य की रचना खड़ी बोली में भी हुई है। स्वामी नारायण नन्द का तो यहाँ तक कथन है कि खड़ी बोली के जन्मदाता लावनीकार ही थे। उनके शब्दों में ही उनका भाव पढ़िये—

"हिन्दी खड़ी बोली का रूप देने का श्रेय लावनी वालों को है। इसका सबूत यह है कि अब से डेढ़ सौ और दो सौ वर्ष पूर्व लिखित लावनी की भाषा जब हम देखते हैं तो हमारे मुख से लामुहाला यह शब्द निकल पड़ते हैं कि खड़ी बोली के निर्माण में लावनी वालों का प्रमुख हाथ है। और इस श्रेय को प्राप्त करने के वे अवश्य अधिकारी हैं।.....१५७ साल पूर्व लावनी-साहित्य में जिस भाषा का प्रयोग होता था वह खड़ी बोली का परिमार्जित रूप था।"

'लावनी' लिखने वालों में महात्मा रिसालगिरि को अपने इस प्रयास में बड़ा यश और बड़ा नाम हासिल हुआ। उनका जन्म अठारहवीं शताब्दी के मध्य और प्रचार कार्य की अवधि सन् १७७५ से १८१५ ई० तक रही। उनकी एक रचना से दो पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं। इसमें देखिये खड़ी बोली का रूप कैसा है—

शिव में शक्ति शक्ति में शिव शिव शक्ति चरण चित्त लाव।
समझ के माता पिता दूर कर दिल से द्वितीय भाव॥

कानपुर के सुप्रसिद्ध लावनी गायक मदारी लाल का आविर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी का प्रथम चरण माना जाता है। उनकी भाषा लावनी में खड़ी बोली का स्वरूप देखिये—

बिन प्रतिमा खाली नहीं देखा कोई फूल फुलवारी में,
भंवर दृष्टि तो तमाम देखा हमने बाग़ बहारी में।

आगरा निवासी हरदयाल सिंह प्रसिद्ध लावनी लेखक और मदारी लाल के संमकालीन थे। अब उनकी भाषा में खड़ी बोली के स्वरूप पर ध्यान दीजिये—

गाये ज्ञान जन धरत ध्यान झलकत जटान जग तारन गंग,
गरल कठिन चचरित अति हर्षत रहत दक्ष तनया अर्द्धंग।

लावनी-साहित्य से खड़ी बोली के कतिपय उद्धरण देकर बात को अधिक स्पष्ट करना आवश्यक है। निम्नलिखित उद्धरणों में खड़ी बोली का विकासमान रूप देखिये :—

१. इस तरह जो तुम रुख़ बेनक़ाब रखते हो,
सच कहो हया से क्या जवाब रखते हो।
काकुल में इस क़दर पेचो ताब रखते हो
खेमए हुस्न के से तनाव रखते हो।
गुँचये दहन का वह लुआब रखते हो,
अम्बर रखते हो या गुलाब रखते हो।

इन पंक्तियों के लेखक मुहम्मद थे जो बादल मियां जिनका उल्लेख पीछे हो चुका है—के योग्यतम शिष्य थे। मुहम्मद का जीवन काल सन् १८३० से १८७० ई० तक माना गया है। इनकी रचना में भाषा-प्रवाह ध्यान देने योग्य है। उस्ताद बादल के काव्य में भी खड़ी बोली का सुष्ठु रूप उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियां देखिये :—

निद्रा से अब उठो साँवरे भोर हो गया रात ढ़ली.
ज्योति झिलमिलाई दीपक की पनिहारी जल भरन चली।
साधु संत ने आसन मारे तप पर बैठे तपधारी
तिलक चढ़ाया तिलक वालों ने देवतों ने खोली तारी।
पनिहारी जमुना को जाती उठे घरों में नर नारी,
निश तारे छिप गये गगन में चलन लगीं चकियां सारी।

बादल मियां का जीवन काल सन् १८१० से १८७५ तक माना गया है। स्वामी ब्लाकटा नन्द जी का जन्मकाल सन् १८५० माना गया है। ये प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे पर शिक्षित नहीं थे। इनके निवास-स्थान थे वृन्दाबन तथा कानपुर। पं० प्रभुदयाल के यह शिष्य थे—लावनी रचना में। यह आर्यसमाज में प्रचारक का काम करते थे। उनके काव्य से यहाँ कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं। इनमें खड़ी बोली का परिमार्जित रूप देखिये :—

गूजर जाट बने सन्यासी पोथी बगल दबाई है,
मूड़ मुड़ाके एक धेले में कफलनी लाल रंगाई है।
पथ चले लाखों पाखंडी अद्भुत कथा बनाई है,
मुँह काला कर किसी किसी ने सर पर जटा रखाई है।
हुए नीच कुर्सीनशीन ऊँचों को नहीं तिपाई है,
जुगनूं पहुंचे आसमान पर जाकर दुम चमकाई है।

फाके करते सन्त मिले भड़ुओं को दूध मलाई है
उल्टा चलन चला दुनियां में सबकी मत बौराई है।

ये उद्धरण प्राचीन लावनीकारों के काव्य से दिये गये हैं। अब आधुनिक कवियों में से केवल एक की रचना से चार पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं। ये पंक्तियाँ हैं सत्यव्रत शर्मा अजेय के काव्य से। इस लावनी में खड़ी बोली का सुन्दर और शुद्ध रूप देखिये—

पद धोने को यह नयन सजल जल बरसा देंगे मनमाना।
सरवर समीप या सरिता पर फिर पड़ेगा इनको क्यों जाना।।
धर कोई वेष धर कोई रूप ईश्वर अनन्त आना आना।
बरसाना तुम बर-साना धन घनश्याम प्रेम धन बरसाना।।

वर्तमान लावनी के कवियों में स्वर्गीय बालकृष्ण शर्मा 'नवीन 'का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। जिस समय देश के क्षितिज पर पराधीनता के बादल छाये हुए थे उस समय नवीन जी की प्रतिभा ने लावनी के माध्यम से जनता में ज्योति का प्रसार किया। नवीन जी की भाषा में खड़ी बोली का परिमार्जितरूप प्रवाह और सजीवता देखने योग्य है।

लावनी का वर्ण्य-विषय— लोक-साहित्य, लोकजीवन या जनजीवन का प्रतिबिम्ब होता है। जनजीवन की धारा बड़ी व्यापक और बड़ी सरस होती है। उसके अन्तर्गत सभी रस, सभी तत्व आ जाते हैं। जन-जीवन में सब भाव सभी प्रवृत्तियाँ और सभी तत्व सन्निहित रहते हैं। यही कालान्तर में साहित्य या लोकसाहित्य से प्रतिबिम्बित होते हैं। मानव जिस ढंग से चिंतन करता है, व्यवहार करता है, और परिस्थितियों की जो जो उस पर प्रतिक्रिया होती है और जो जो तत्व उसे प्रभावित करते हैं, वे सभी लावनी के विषय हैं। लावनी में ऋतु, नायिका, प्रेम, घृणा, हास्य, रुदन, पश्चात्ताप और विभिन्न आवेगों का विवरण मिलता है। लावनी के व्यापक पट पर मानव-जीवन रंगीन और सुन्दर दिखाई देता है। अब यहाँ पर इन उपर्युक्त विषयों को लेकर उनके उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अपनी बात का समर्थन करना अपेक्षित है। सबसे पहले लावनी में ऋतु वर्णन ही ले लीजिये। लावनी में ऋतु वर्णन के अन्तर्गत शरद् और बसन्त का प्रचुर वर्णन है। इनमें से कतिपय उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं—

वसंत ऋतु—

जुबां पै हर एक मरदो जन की चे खुश सदाये बसंत आती,
जिधर को देखो नज़र उठाकर नज़र अदाये बसंत आती।
अजीब मौसम बसन्त में क्या हवा भी इठलाय कर चली है,
शुगुफ्ता होने के वास्ते बस दिलों में कलियों के बेकली है,
चमन में सब्जे हैं लहलहाते ये बात और एक ही भली है,
ज़मीं पे मालूम होता गोया बिछा हुआ फर्श मखमली है।—मणिलाल

२. कमल कुन्द कचनार केतकी केवड़ा कोका बेलिन में,
बगरो विकट बसन्त विपिन बन बन में हाट हवेलिन में।—चुन्नी गुरू

३. वरन वरन के सुमन फूल रहे लता बेल-द्रुम डारन में,
छायो आन बसन्त कन्त बिनु दर दीवार किवारन में।—रामदयाल

४. कब बसन्त आया कब उसने किया चपल गति से प्रस्थान,
खिले फूल कब कब उनका हो गया अश्रु कण सा अवसान।
बकुल मूल को गिरे सुमन में कब आच्छादित किया अहो,
मत्त कोकिला छिपि पत्तों में कब कूकी हो तुमी कहो।
क्या इस बार द्विरेफ पुंज ने किया न सुख से मधु का पान॥—वियोगी

पावस ऋतु—

१. घिर रही घटा घनघोर,
करे मोर शोर जल गिरे घोर ना साजन मोर विष पिऊँ घोर॥—प्रभुदयाल

२. बन विहंग रहे बहु बोल,
बोल बोल करते किलोल ऋतु पावस की रही पवन डोल॥—चुन्नी गुरू

ग्रीष्म—

१. तपत जेठ में भानु ज्वाल सम चलत बयार दुपहरी में,
बृक वरूथ वाराह सिंह दुख सहत अपार दुपहरी में।—नारायण

इन उद्धरणों में ऋतुओं का कोई क्रमबद्ध या सांगोपांग वर्णन नहीं मिलेगा। परन्तु यह भी सच है कि इन अशिक्षित कवियों की दृष्टि में ऋतुओं का व्यापक महत्व था। उनके भावुक हृदय पर ऋतु का प्रभाव पड़ता था और अपनी भावनाओं को उन्होंने सच्चाई के साथ अभिव्यक्त भी किया है।

लावनी में प्रेम का वर्णन—लावनी-साहित्य में उन व्याकुल प्रेमियों का प्रचुर वर्णन है जिनकी प्रिय प्रेयसि, उनसे दूर बहुत दूर है पर भावों के लोक में वे परस्पर बहुत निकट हैं। स्वामी नारायण से लेकर प्रतापनारायण मिश्र ने अपनी-अपनी प्रेममयी अनुभूतियों को बड़ी सरल एवं सहज भाषा में व्यक्त किया है। उदाहरणार्थ—

१. कभी इश्क में नींद न आवे कभी बेखबर सोते हैं,
मस्तानों का हाल यही है अब हंसते तब रोते हैं।—स्वामी नारायण

२. आँख लगी फिर नींद कहां और सब जाने यह सोते हैं,
मुंह पर अपने डाल डुपट्टा चुपके चुपके रोते हैं। स्वामी नारायण

३. प्यार करेंगे सदा तुम्हीं को तुम्हारे ही प्यारे होंगे।
किसी तरह से हम अब तुम से न कभी न्यारे होंगे।—प्रतापनारायण मिश्र

४. न सब्र जी को न ताब दिल को न आब चश्मे पुराब में है,
ये चश्म गिरियां जान मेरी अजब तरह के अज़ाब में है।—गोपाल सिंह

लावनी में धार्मिक भाव—लावनी में धार्मिक भावों की भी प्रचुर अभिव्यक्ति की गई है। उसके अन्तर्गत देवताओं की प्रार्थनायें तथा स्तुतियों की अभिव्यक्ति तो हुई ही है, साथ ही वेदान्त के भाव भी व्यक्त मिलते हैं। पंडित पन्नालाल प्रसिद्ध लावनी लेखक थे। उनकी लावनियों में वेदान्त के तत्व बहुत मिलते हैं और आत्मा-परमात्मा के भाव उनकी रचनाओं में सतत रूप से उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

१. अखंड अद्वैत आत्मा हूँ न जीव निर्गुण के जाल का हूँ,
न काल जीते न जन्म धारूं मैं ऐसे जोगी का बालका हूँ।

उस्ताद नत्था सिंह का नाम कई बार उल्लिखित हुआ। यहाँ पर उनकी लावनी से कतिपय पंक्तियाँ उदाहरणार्थ दी जाती हैं। शुद्ध चैतन्य की शाश्वत स्थिति पर यहाँ सुन्दर भाव मिलेंगे।

तू शुद्ध चैतन्य नित्य मुक्त और अचल सनातन अजर अमर है,
भई अविद्या से जीव संज्ञा वो ध्यान सरबस गया बिसर है।

स्वर्गीय नारायण उच्च कोटि के लावनी लेखक थे। साथ ही वे दर्शन जगत् में भी अधिकारी थे। उनकी लावनियों में दार्शनिक तत्व बड़ी रोचकता के साथ प्रस्तुत मिलते हैं। एक लावनी से यह कतिपय पंक्तियां दी जाती हैं:—

अनादि अविगत अभेद अद्वै अचल सनातन की चाल का हूँ,
अलख अगोचर अखंड अच्युत अजीत अज काल कालका हूँ।

कबीर ने जिस दृष्टि से हिन्दू और मुसलमान की समान रूप से वाह्याडम्बरों में संलग्न रहने के कारण आलोचना की थी, वही दृष्टिकोण अनेक लावनी लेखकों और गायकों में उपलब्ध होता है। ब्राह्मणों, मुसलमानों, काबा, काशी आदि की आलोचना लावनीकारों ने भी की है। उदाहरणार्थ कतिपय पंक्तियां यहां उद्धृत की जाती हैं:—

१. योंही भागे विरहमनों शेख फिरे कोई सूये हरम कोई सूये कनिश्त,
ज़रा ग़ौर तो कीजै हुसूल है क्या इन्हें ग़ैर नज़ारये संगया खिश्त।
—उस्ताद नत्था सिंह

२. न दौरो काबे की सिम्त शक्ले बिरहमनों शेख जायेंगे हम,
खुदा को खुद ही मैं देख लेंगे खुदी यह जिस दिन मिटायेंगे हम।
——स्वामी नारायण

३. न शंख बाजें न शंख होवे मढी ही में सुनसान हो रहा है,
जगा ले ऐ मन अलख पुरुष को गुफा में जो गुप्त सो रहा है।
——मु० नारायण

४. यों ही दौरों हरम में भटकते फिरे जहां जाना है वाँ की खबर ही नहीं,
वो तो घट ही के पट में निहां है मियां वले अंधों को आता नज़र ही नहीं।
——महात्मा अनन्त गिरि

५. है पास दिलदार ढूंढ़ता तू फिरे है दश्तों जबल के अन्दर,
वही मसल है ढंढोरा मुल्कों में लड़का अपने बगल के अन्दर।
——उ० नत्था सिंह

इस प्रकार की मार्मिक भावनाओं के अतिरिक्त स्तुतियों और प्रार्थनाओं की भी लावनी-साहित्य में प्रचुरता है। उदाहरणार्थ राम, कृष्ण, शिव, गणेश, महाबीर, सरस्वती, गंगा दुर्गा, पीरों, औलियों की महत्ता का गान भी लावनी-साहित्य में हुआ है। उदाहरणार्थ——

१. अगर बशर अपनी मुक्ति चाहे जुबाँ पै हर दम ये लफ्ज़ लाये,
नमःशिवाये नमःशिवाये नमःशिवाये नमःशिवाये॥ —गौहर

२. जो मुक्ति चाहे वो मंद प्राणी तो नाम जप शिव का ध्यान धर कर।
नमामि शंकर, नमामि शंकर, नमामि शंकर, नमामि शंकर॥—बहादुर सिंह

३. जय जगदम्बे न कर विलम्बे जय काली कल्याण करे,
रीते भरे भरे ढरकावे मेहर करे तो फेर भरे। —अज्ञात

४. श्रीकृष्ण गोपाल गोकुलानन्द गुरू गिरवरधारी,
गोपी गोचर ज्ञान विज्ञान आत्मा अवतारी।—बा० बनारसी

लावनी साहित्य में पौराणिक कथाओं तथा चरित्रों की भी अभिव्यक्ति मिलती है। उदाहरणार्थ देखिये निम्नलिखित पंक्तियां——

१. प्रण विदेह भृगुपति नाराजे बड़े बड़े राजों का गरूर,
साथ धनुष के रामचन्द्र ने किया तोड़ कर चकना चूर। —भैरो सिंह

२. शस्त्र गहाऊं आज कृष्ण को भंग प्रतिज्ञा करवाऊं,
सभा सहित पांडवों को जीतूं तो गंगा सुत कहलाऊं।—रिसाल गिरि

लावनी-साहित्य में उमर खैय्याम की विचारधारा—लावनी में उमर खैय्याम के अनुयायियों को रिंद कहा गया है। रिंद वे कहलाये जो धर्म और पूजा-नमाज़ का परित्याग कर केवल पीने खाने और माशूक में मशगूल रहते थे। प्रिय के पीछे तथा इश्क की शराब में ग़र्क रहने वाले लोगों ने भी लावनियों की रचना की। सब तरफ से निश्चिन्त होकर उन्होंने जो लावनी लिखी हैं, उनसे कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं:—

कभी न उतरे गा अब नशा ये कि पी है और बेशुमार पी है,
मैं होश में आऊं किस तरह से शराबे दीदार यार पी है।
ज़ाहिदों न काफिर और न मुसलमां हूं मैं
मैं हूं और ही शमां का परवाना
मैं रिंद हूं समझूं बराबर काबआबुतखाना
न जाऊं सूये मस्जिद न सूये बुतखाना
मेरी जान बराबर समझूं कुफ्र इस्लाम।
दोनों मजहब में रखूं अलहदा अपना मजहब मुदाम"

रिंदों ने रिंदाना मजहब चलाने का भी संकल्प किया, देखिये—

बुतखाने में अज़ान दे मस्जिद में शंख बजायेंगे
इस्लाम कुफ्र को कर शामिल रिंदाना मजहब चलायेंगे।

तथा—

भर भर प्याले दे शराब शाकिया सुबह से शाम तलक,
मैं वह पीने वाला हूं खाली कर दूं गोदाम तलक।

ये रिंद 'इश्क-यार' की शराब पीकर मतवाले रहते थे। एक रिंद लावनीकार का कथन है—

जो मस्त हुए हैं इश्क यार की मैं से,
हो पसन्द उन्हें यह शीरे की मय कैसे।

नवा जागृति और लावनी-साहित्य—लावनी साहित्य में नई चेतना के भी दर्शन होते हैं। लावनीकारों का ध्यान हिन्दू-मुसलमान की एकता की ओर भी गया। लावनी लेखकों में बहुत से ऐसे हैं जो मुसलमान होते हुए भी हिन्दू उस्ताद के शागिर्द हुए और बहुत से हिन्दू-मुसलमान उस्ताद के शागिर्द हुए। उन्होंने आत्मा की एकता की ओर विशेष ध्यान दिया। उदाहरणार्थ यहां कतिपय पंक्तियां उद्धृत की जाती हैं।

राम रहीम तुरा दोनों हैं जिसने उसका नाम रटा,
रहा शाद दोनों जग में दुख दूर हुआ और पाप कटा।

भक्तों पर होकर सहाय भक्ति दी और भगवान बना,
रहम किया जालिम पे इससे रहीम और रहमान बना॥१॥
रिसाल गिर उस्ताद द्याल चन्द की राहें बतलाईं
बादल अब्दुल ग़फूर ने मतलब की बातें उनसे पाई।
कादिर बख्श का वचन सदाया रज्जब खां ने यों फरमाया
मुहम्मद हादी ने बतलाया राम रहीम मुहम्मद गाया।
कहें तजम्मुल हाथ उठा॥२॥

लावनी-साहित्य में नव-जागरण के अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। इस साहित्य में राष्ट्रीयता की लहरें भी उपलब्ध होती हैं। कवियों ने शतशः लावनियों की रचना की जिसमें गांधी, सुभाष बोस, जवाहरलाल, लाजपत राय मालवीय जी, भगत सिंह, तथा बिस्मिल आदि की कुर्बानियों का उल्लेख महत्वपूर्ण शब्दों में किया गया है। निश्चय ही इस साहित्य के द्वारा जनता में राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार हुआ।

वर्तमान काल में लावनी की धारा अब मन्द पड़ गई है। उसकी धारा में न अब वेग है न व्यापक पाठ है। फिर भी ऐसा नहीं कि वह धारा बिल्कुल ही समाप्त या विलुप्त हो गई है। वर्तमान कवि अजेय ने लावनी के संबंध में सत्य ही कहा है कि—

हो चुका पतन हो चुका पतन कर जतन जमाना बदलेगा।
लावनी का हो उत्थान तभी जब अनपढ गाना बदलेगा।

हैं हंस बने कौवे कुछ नीर छीर का ज्ञान नहीं।
क्या लिखते हैं क्या पढ़ते हैं पढ़ने लिखने का ध्यान नहीं।

वेतुकी शायरी करते हैं इनकी कुछ अपनी तान नहीं।
अंधों में काना राजा हैं जिनको कुछ भी पहचान नहीं।

गर्दभ ने पहनी सिंह छाल कब झूठा बाना बदलेगा।
लावनी बनी स्वान्तःसुखाय अवनि पर कीर्ति कमाने को।

सब रिद्धि सिद्धि ठुकराने को, बस परब्रह्म को पाने को।
यह नहीं तमाशा बन्दर का लोगों का मन बहलाने को।

उस श्याम को जो न रिझा सका धिक्कार है ऐसे गाने को।
है सार नहीं जिन ख्यालों में बस उन्हें सुनाना बदलेगा।

सात

आधुनिक भाषाशास्त्र के संदर्भ मे 'प्रत्यय'

महाबीरसरन जैन

आधुनिक भाषाशास्त्र का प्रत्यय सम्बन्धी दृष्टिकोण संस्कृत व्याकरणों तथा हिन्दी के परम्परागत व्याकरणों से अधिक व्यापक एवं विस्तृत है। संस्कृत व्याकरणों तथा हिन्दी के परम्परागत व्याकरणों में उपसर्ग और प्रत्यय के अन्दर भेद किया जाता है। इन व्याकरणों के अनुसार उपसर्ग अव्यय शब्द हैं जो धातु अथवा शब्द धातु से बनते हैं तथा उनसे पहले लगकर उनके अर्थ को घटा, बढ़ा अथवा बदल देते हैं तथा प्रत्यय ऐसे आबद्ध रूप हैं जो धातु, मूलरूप अथवा प्रातिपादिक के पश्चात् लगकर उनके अर्थ को परिवर्तित कर देते हैं। आधुनिक भाषाशास्त्र के अनुसार तो समस्त आबद्ध रूप [Bound Forms] ही प्रत्यय हैं। आबद्ध-रूप को प्रत्यय का पर्यायवाची मान लेने पर, इसकी सीमाके अन्तर्गत न केवल उपसर्ग (व्युत्पादक पूर्व प्रत्यय) और व्युत्पादक पर-प्रत्ययों (संस्कृत व्याकरणों के अनुसार प्रत्यय) का ही समावेश होता है, अपितु विभक्तियों आदि आबद्ध तत्वों का भी प्रवेश हो जाता है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री के० एल० पाइक ने प्रत्यय की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"प्रत्यय वह पदग्राम है जो ध्वन्यात्मक एवं वैयाकरणिक रूप से उस पदग्राम के ऊपर निर्भर रहता है जिसमें यह जुड़ता है। सामान्यतः प्रत्ययों का अर्थ बहुत अधिक मूर्त नहीं होता है। यह पदग्राम अथवा पदग्रामों के समूह, जिस पर आश्रित रहता है—के प्रकृत्यर्थ को परिवर्तित करता है।"[1]

प्रत्यय सम्बन्धी उपर्युक्त परिभाषा से, प्रत्यय के स्वरूप और अर्थ-विस्तार के सम्बन्ध में निम्न बातों का स्पष्ट पता चलता है—

(१) प्रत्यय ध्वन्यात्मक एवं वैयाकरणिक दोनों दृष्टियों से किसी अन्य पद के ऊपर निर्भर रहता है, अर्थात् इसका स्वतंत्र रूप में प्रयोग नहीं होता है। दूसरे शब्दों में प्रत्यय, आबद्ध रूप [Bound Form] है, अर्थात् ऐसा उच्चार खण्ड जिसका अर्थसहित स्वतंत्र रूप में कभी प्रयोग नहीं होता है।

(२) इसका अर्थ बहुत अधिक मूर्त्त नहीं होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि इसकी स्वतंत्र अर्थवान् सत्ता नहीं होती है। इसके विपरीत यह मुक्त रूपों [Free

Forms) अर्थात् स्वतंत्र रूप से प्रयोगित अर्थवान् उच्चार-खण्डों के आश्रित ही प्रयुक्त होकर अर्थवान् बनता है। यही कारण है कि इसकी अर्थवत्ता अमूर्त्त ही होती है।

प्रत्ययों की कार्य-क्षमता के आधार पर हम उन्हें दो प्रमुख भागों में विभाजित कर सकते हैं:—

(क) व्युत्पादक प्रत्यय [(Derivative Affixes)

(ख) विभक्ति प्रत्यय [(Inflectional Affixes)]

पूर्व प्रत्यय [Prefixes] सदैव ही व्युत्पादक प्रत्यय होते हैं। पर प्रत्यय [Suffixes] व्युत्पादक भी होते हैं एवं वैभक्तिक भी। व्युत्पादक पर प्रत्यय किसी धातु अथवा प्रातिपदिक के पश्चात् जुड़कर दूसरे प्रकार की धातु अथवा प्रातिपदिक व्युत्पन्न करते हैं। इस प्रकार व्युत्पादक प्रत्यय, वे प्रत्यय हैं, "जो किसी मूल प्रातिपदिक अथवा व्युत्पन्न प्रातिपदिकों के पूर्व अथवा पश्चात् जुड़कर दूसरे प्रकार के प्रातिपदिक व्युत्पन्न करते हैं।"[२]

व्युत्पादक [(Derivative] एवं विभक्ति [Inflectional] प्रत्ययों के अन्तर को संक्षेप में इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है—

(१) उपसर्ग सदैव ही व्युत्पादक प्रत्यय होते हैं किन्तु पर प्रत्यय व्युत्पादक प्रत्यय भी होते हैं एवं विभक्ति प्रत्यय भी।

(२) व्युत्पादक प्रत्यय मूल प्रातिपदिक, धातु अथवा व्युत्पन्न प्रातिपदिक के पूर्व या पश्चात् जुड़कर दूसरे प्रकार की धातु अथवा प्रातिपदिकों का निर्माण करते हैं किन्तु विभक्ति प्रत्यय वैयाकरणिक रूपों की रचना करते हैं।

(३) विभक्ति प्रत्यय जिन मूल प्रातिपदिक, व्युत्पन्न प्रातिपदिक अथवा धातु में जुड़ते हैं, उनके सदैव अन्त में ही आते हैं। इस बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि विभक्ति-प्रत्ययों के आगे व्युत्पादक प्रत्यय कभी नहीं आ सकते, व्युत्पादक प्रत्ययों के आगे विभक्ति प्रत्यय आ सकते हैं।

(४) हिन्दी भाषा की बोलियों के अन्तर्गत व्युत्पादक एवं विभक्ति प्रत्ययों में वितरण-गत [Distributional] भिन्नता भी पायी जाती है। व्युत्पादक प्रत्ययों का वितरण अपेक्षाकृत सीमित है तथा भाषा के अन्तर्गत इनका प्रयोग यादृच्छिक रूप में होता है। इसके विपरीत, विभक्ति प्रत्ययों का वितरण बहुत अधिक होता है, अर्थात् ये विस्तृत रूप-वर्ग के निर्माता होते हैं तथा इनका प्रयोग नियमित रूप में होता है।

संदर्भ-संकेत

1. Pike, keneth; „Phonemics : A techinic for reducing Languages to writing." 1947, page 233.

2. Francis, W. Nelson; „The Structure of American English." 1958.

नये प्रकाशन

समीक्षकों की दृष्टि में

पराई डाल का पंछी
अमरकांत का लघु उपन्यास

प्रकाशक—प्रगतिशील प्रकाशन
१९७६, कटरा खुशालराय, किनारीबाजार,
दिल्ली-६
पृष्ठसंख्या-१८४
प्रथम संस्करण १९६२ ई०
मूल्य—३ रुपये ७५ नये पैसे

स्वतंत्रता के पश्चात् आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य के विकास में नयी पीढ़ी के जिन कथाकारों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, उनमें अमरकांत का नाम गौरव के साथ लिया जा सकता है। जीवन के प्रति जैसी गहरी दृष्टि और अनुभूति की जैसी तीव्रता इस तरुण कथाकार की कृतियों में मिलती है, वैसी आज की पीढ़ी के बहुत कम कथाकारों में देखने को मिलती है। उनकी रचनाओं में एक ऐसा मृदुल स्वर, एक ऐसी स्वस्थ जीवन-दृष्टि, एक ऐसी मंगलमय आस्था मिल जाती है जो आज के अनास्था और कुंठा के आवरण को चीरकर एक निश्चित दिशा का बोध करा देती है जिसके महत्व को यों ही नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। 'पराई डाल का पंछी' इसी स्वस्थ दृष्टिकोण से लिखा हुआ उसका दूसरा लघु उपन्यास है (पहला लघु उपन्यास है 'सूखे पत्ते') जिसमें एक ऐसे मध्यमवर्गीय अतृप्तकाम युवक के कार्य-व्यापारों एवं भावदशा का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है जो अपनी अपढ़ किन्तु स्वस्थ, सुन्दर तथा स्नेहशीला पत्नी को छोड़कर एक यूनिवर्सिटी गर्ल की ओर आकर्षित होता है। कथा यों है—

दीपक ए० जी० आफिस में क्लर्क है। वह स्वस्थ है, सुन्दर है तथा कुछ हद तक बात करने की कला में भी निपुण है। किन्तु इन सब के बावजूद उसमें कुछ ऐसे दुर्गुण हैं जो उसके आंतरिक जीवन को अत्यन्त ही कुरूप तथा अस्वस्थ बना देते हैं। वे दुर्गुण हैं उसकी झूठी अहमन्यता और महत्वाकांक्षा, स्वार्थपरता की भावना और प्रेम के प्रति एक सतही दृष्टिकोण। इसी कारण जब उसे लाचार होकर क्लर्की करनी पड़ी और इच्छा के विरुद्ध एक देहात की अपढ़ लड़की से शादी करनी पड़ी तो वह हीन तथा काम की भावना से कुंठित हो गया। यद्यपि उसकी पत्नी अहिल्या सुन्दर, स्वस्थ तथा स्नेहशीला थी किन्तु अपनी महत्वाकांक्षा के कारण वह उससे सन्तुष्ट नहीं हो

सका और हमेशा उससे उदासीन बना रहा। अपनी पत्नी से झूठ बोलना, उसकी कोमल भावनाओं को ठेस पहुँचाना तथा हर ग़लत बात के लिए उसीको दोषी ठहराना, जैसे उसकी एक आदत बन गयी है। अपने दोनों बच्चों के प्रति कर्तव्य भावना से भी वह विमुख है। झूठी महत्त्वाकांक्षा तथा झूठे आदर्शों के भुलावे में पड़ने तथा काम-ग्रंथियों की कुंठा के कारण वह सर्वदा किसी आधुनिक किस्म की फ़ैशनपरस्त और रोमांटिक लड़की का प्यार पाने के लिये बेताब रहता है और उनके सामने अपनी हेकड़ी बघारता रहता है। उसकी इस बेताबी की मात्रा यहाँ तक बढ़ जाती है कि वह अपने घनिष्ठ मित्र आनंदकुमार टंडन की मित्रता को भी भूल जाता है और उसकी आदर्श एवं सुशिक्षित पत्नी की सहृदयता का ग़लत अर्थ लगाकर उसका प्यार पाने के लिए आकुल हो उठता है तथा उसके सामने अपनी ओछी मनोवृत्तियों का प्रदर्शन भी करता है। फलतः टंडन की पत्नी निर्मला उससे कुछ खिंची-खिंची रहने लगती है। इसी बीच जब टंडन के घर पर उसके पहले के मित्र किंतु अब शत्रु विश्वनाथ तिवारी द्वारा उसकी छिछली मनोवृत्ति का पर्दाफाश होता है तो वह आत्मग्लानि से भर उठता है और आदर्श दाम्पत्य जीवन बिताने का संकल्प लेकर घर लौट आता है।

इसी बीच उसका परिचय मुहल्ले की एक नवयुवती रेखा से होता है जो यूनिवर्सिटी की छात्रा है और उसके घर आने-जाने लगी है। रेखा भी सस्ती भावुकता और रोमांटिक कल्पना वाली नारी है जिसके भीतर झूठी महत्वाकांक्षाएँ एवं छिछले आदर्श हिलोर मार रहे हैं। धीरे-धीरे यह परिचय गाढ़त्व में बदलता जाता है जिसकी मूल भित्ति है शारीरिक आकर्षण। दीपक उससे प्रायः यूनिवर्सिटी में मिलता है और उसके साथ रंगरेलियाँ करता है। यद्यपि इस बीच उसके मन में अहिल्या के प्रति थोड़ी कर्तव्य भावना अवश्य उदित होती है किन्तु यह उदयन स्वाभाविक न होकर मन की विकृति तथा रेखा के प्रति उसके आकर्षण को छिपाने का एक कवच मात्र है जिसको अहिल्या भाँप जाती है और दीपक के चरित्र के प्रति शंकालु हो उठती है। और एक दिन उसके इस सन्देह की पुष्टि भी हो जाती है जब वह दोनों को एक रात मिलते पकड़ लेती है। तब उसके भीतर की नारी विद्रोह कर उठती है। दीपक उस विद्रोह से आतंकित होकर उससे क्षमा माँगता है और पुनः ऐसा कार्य न कर उसके साथ प्रेममय निश्छल जीवन बिताने का संकल्प लेता है। रेखा को भी दीपक की नीचता एवं छिछली मनोवृत्ति का पता चल जाता है और वह भी उसे दूर भगा देती है।

'पराई डाल का पंछी' की कथा महज़ इतनी ही भर है, लेकिन लेखक ने जिस सफ़लता एवं कलात्मक ढंग से उसे प्रस्तुत किया है वह अपने आप में एक इकाई है। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली ने युवक-युवतियों को किस हद तक झूठी महत्वाकांक्षाओं तथा छिछले आदर्शों के पीछे भागने के लिये उन्मत्त बना दिया है—इसका स्पष्ट बोध इस कृति से हमें सहज ही हो जाता है। दीपक और रेखा ऐसे ही युवक-युवतियों के प्रतीक हैं जो आधुनिक शिक्षा के झूठे आदर्शों के पीछे पड़कर तथा सस्ते रोमांटिक उपन्यासों एवं घटिया किस्म की फिल्मों को देखकर प्यार को असाधारण और रहस्यमय वस्तु समझते हैं और अधःपतन की ओर जाते हैं। मानव-मन के विश्लेषण में तो लेखक को कमाल की सफलता मिली है। आज के काम-अतृप्त शिक्षित युवक दीपक का जैसा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण लेखक ने प्रस्तुत किया है वह उसकी सूक्ष्म एवं गम्भीर अन्तर्दृष्टि,

का परिचायक है। मन के परत-परत को खोलकर लेखक ने इस सफाई से हमारे सामने रखा है कि उसकी बात को मानने के लिये न तो अधिक सोचने की जरूरत पड़ती है और न किसी प्रमाण की ही। नारी मनोविज्ञान के चित्रण में तो वह अति सफल हुआ है और यह उसकी दुहरी सफलता है। नारी का मन तो अपने आप में ही जटिल है और किसी पुरुष कथाकार के लिए उसका विश्लेषण करना तो और भी जटिल है। किन्तु उपन्यासकार ने जिस कौशल और सूक्ष्मता से उसके मन को कुरेद-कुरेद कर हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है, वह उसकी गहरी पकड़ और पैनी दृष्टि की बोधक है। अहिल्या के माध्यम से एक स्नेहशील पतिपरायण गृहिणी तथा रेखा के माध्यम से सस्ती भावुकता एवं महत्वाकांक्षा वाली यूनीवर्सिटी गर्ल के मनोविज्ञान को लेखक ने बड़े साफ-सुथरे ढंग से हमारे सामने रखा है।

किन्तु उपन्यास की जो सबसे बड़ी विशेषता है, वह है उसका मूल स्वर—स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों या दूसरे शब्दों में दाम्पत्य जीवन के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण। इस स्वस्थ दृष्टिकोण के कारण ही टंडन और उसकी बी० ए० पास पत्नी निर्मला, विचारों में यदा-कदा मतभेद होने के बावजूद भी सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं और दीपक सुन्दर, स्वस्थ एवं स्नेहमयी गृहिणी पाकर भी असन्तुष्ट तथा असंतुलित है। इस दृष्टि से उपन्यास का एक अपना महत्त्व है।

उपन्यास की भाषा अत्यन्त ही सरल, सुबोध तथा प्रवाहमय है और पात्रों के व्यक्तित्व के अनुकूल है। स्त्रियों के संवादों में ग्रामीण मुहावरों तथा देशज शब्दों का प्रयोग भाषा की स्वाभाविकता को और बढ़ा देता है। उपन्यास में लेखक ने विश्लेषणात्मक तथा नाटकीय दोनों शैलियों का प्रयोग समान रूप से किया है और दोनों में उसे सफलता भी मिली है। विश्लेषणात्मक शैली के कारण पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में उसे अत्यधिक सफलता मिली है।

ऐसी सुन्दर तथा स्वस्थ कृति के लिए अमरकांत बधाई के पात्र हैं।

गोविन्दजी
६८, रामबाग
इलाहाबाद-३

कविरत्न सत्यनारायण की जीवनी बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा लिखित	प्रकाशक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद मूल्य—चार रुपया

बनारसीदास चतुर्वेदी पुराने खेवे के प्रसिद्ध पत्रकार रहे हैं। साथ ही उन्होंने कुछ रेखा-चित्र एवं संस्मरण भी लिखे हैं। उनके रेखाचित्रों में हल्की रेखाएँ तथा यशःवर्द्धी चित्रात्मकता पायी जाती है। इसी तरह उनके संस्मरणों में अतीत के प्रति एक सौम्य भाव और व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धागर्भित रागात्मकता मिलती है। अपने रेखाचित्रों में और अपने संस्मरणों में भी वे उस यात्री की तरह लगते हैं, जो सर्वत्र हरीतिमा, शाद्वल समतल भूमि, मंद-मंद प्रवाहित नदियाँ, रेशम की तरह शांत बहते झरने देखता चलता है। जिसके पथ में कहीं भी कोई भयानक घाटी, जर्जर पुल, खूँखार जानवर नहीं मिलते। शायद वे कलुष को माँज-धोकर पेश करते हैं, यही उनकी सुरुचि है, नैतिकता-सम्पन्न विवेक है। शायद इसीलिए उनके कृतित्व में शान्तिदायी रंगों के हल्के रेखांकन हैं, गहरे रंग कहीं नहीं है और न ही रंगों के विरोध से कुछ अलग या नया रचा गया है। यदि उनकी कृति से कोई रंग बनता है तो केवल उजला या रेशम का रंग। बस।

प्रस्तुत जीवनी में ये सभी विशेषताएँ मिलती हैं। एक ओर उनका मनस्वी पत्रकार है, जो घटनाओं का सुरुचिपूर्ण चयन करता है, एक ओर उनका यात्रिक है, जो संवेदना के लिए सम्भावनाएँ जुटाता चलता है और एक ओर है उनका रेखाचित्रकार जो यशःवर्द्धी चित्रात्मकता के लिए हल्के रंगों का सदुपयोग करता है और उनके भीतर का अतीतदर्शी एक सुन्दर संस्मृति सदैव के लिए छोड़ जाने के लिए ऐसे विवरण पेश करता है जो केवल बहते हुए जल से, हरीतिमा से या उजले-पीले रेशम से ही रचा जा सकता है।

यह एक संयोग ही है कि एक सौम्य, सरल, मिर्जई के भीतर से झाँकती मानवीयता के निकष पर कसी हुई प्रतिभा कविरत्न सत्यनारायण की जीवनी बनारसीदास चतुर्वेदी के हाथों लिखी गयी है। उनकी सौम्यता लेखक की सादगी में घुलकर एक अजब रंग ला सकी है, यह द्रष्टव्य है। और इन दो सरल व्यक्तित्वों के बीच दीनबन्धु एण्ड्रूयूज़ जैसे सरलतम व्यक्ति के प्रति समर्पण जैसे उस शांत तपःभूत चित्र को एक सुरुचिपूर्ण 'शेड' दे देता है यह और ध्यातव्य है।

पुस्तक के दो भाग हैं—भूमिका और अंतरंग। पुस्तक का प्रारंभ ब्रजकोकिल सत्यनारायण के प्रति लिखी गयी एक कविता से होता है। यानी प्रारंभ जीवनीकार से नहीं होता, एक प्रशंसक कवि से होता है, जिससे पाठक को उनके सम्पूर्ण कवि-व्यक्तित्व की गरिमा से परिचय प्राप्त हो जाता है। और पाठक 'कवि' गायक, गुरु, ज्ञानी' की शेष 'अमरकहानी' पढ़ने के लिए

प्रेरित हो उठता है। तदनन्तर एक संस्मरण है, उसी कवि का, जो उनके सामीप्य में रहा है। अस्तु।

पुस्तक के अलग-अलग अध्यायों में क्रमशः कविरत्न के जन्म, प्रारंभिक जीवन, विवाह, घरेलू समस्याएँ, साहित्यिक जीवन, पत्राचार स्वभाव, मानसिक उथल-पुथल, अध्ययन आदि पर सम्यक् सामग्री प्रस्तुत की गयी है। हर अध्याय में लेखक की अनुभूति रागात्मक स्तर से सम्पृक्त रही है और उसने स्थान-स्थान पर उद्धरणों द्वारा उसे पुष्ट करने की चेष्टा की है।

स्थान-स्थान पर कविरत्न के भविष्य में कुछ विशिष्टताओं का भी उल्लेख है—जैसे वे बचपन में भी कुरूप स्त्रियों से दूर रहना पसन्द करते थे। उनकी प्रतिभा इतनी तीव्र थी कि कभी-कभी उन्होंने अपने अध्यापकों की कविता में किंचित् सुधार करने का विनम्रतापूर्वक कार्य किया था। वे किसी का भी दिल दुखाना नहीं चाहते थे। स्वयं अपराधी बन जाना, लेकिन अपराधी को क्षमा कर देना, उनका स्वभाव था। वे हँसना और मज़ाक करना, खूब जानते थे और इस क्षेत्र में किसी भी कलाकार से अधिक बड़े थे। उनका दाम्पत्य जीवन एक प्रकार का बलिदान था और वे पत्नी को भी आजीवन न त्यागने, न पीड़ित करने के लिए कटिबद्ध थे। कठिन से कठिन अवसर पर भी उन्होंने अपने सगों को न दुःख दिया, न विश्वास हिलने पर उनसे कोई शिकायत की। वे रुग्ण रहे लेकिन अपने कृतित्व में उन्होंने अपने रुग्ण मन को कभी भी प्रश्रय नहीं दिया। वे 'एकेडेमिक' ढंग से नहीं अध्ययन कर सके, तो भी उन्होंने बड़े-बड़े लोगों का आदर पाया, अपने मन के अनुरूप पुरानी कृतियों का अनुवाद किया और अपने मौलिक कृतित्व में ऐसी ऊँचाई लायी, जो देश के लिए गौरव का विषय हो सकी। फिर भी वे विनीत थे। उनका विनय यहाँ तक कि ग्राम्य था। उनमें एक ऐसी सरलता थी, जिसके ठीक समानान्तर एक सहज माधुर्य प्रवाहित होता चलता था। यहीं उनके जीवन और काव्य में साम्य था। उनका काव्य सरलता, सहजता और मधुरता का ही अंतिम रस-स्रोत है, जिसमें उनकी सहज प्राप्त प्रतिभा ने मौलिकता भरी है, उसमें 'निज नूतनत्व' ला दिया है।

बीच-बीच में जीवनीकार ने कुछ ऐसी कविताएँ उद्धरण के रूप में प्रस्तुत की हैं, जिनका सम्बन्ध जीवनी की तिक्त-मधुर परिस्थितियों से रहा है। जैसे माता की मृत्यु पर, बीमार मित्र के अच्छे होने के लिए प्रार्थना, कुछ महान् व्यक्तियों के सम्मान में, हिन्दी के पक्ष में आदि-आदि। प्रायः देखा जाता है कि किसी अवसर-विशेष के लिए लिखी गयी कविताएँ बहुत उत्कृष्ट नहीं बन पातीं, किंतु इस प्रकार की प्रायः सभी कविताएँ सुन्दर ही नहीं, अपितु वे संरक्षणीय भी हैं। उनकी 'माता-विलाप' नामक कविता की तुलना सूरदास के किसी भी वत्सलता भरे पद से की जा सकती है—

तेरे बिना मातु कौ मेरी काजर आँख लगैहै।
हाथ-पाँव करि ऊजर माता को मुख मोर धुवैहै।।

और इसी प्रकार उनका गाँधी-स्तव, सरोजिनी-षट्पदी रामतीर्थ, रवीन्द्रनाथ आदि पर लिखी कविताएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। यही नहीं, उनकी पत्ररूप में लिखी कविताएँ भी कलात्मक रुचि से निम्न कोटि की नहीं हैं।

वस्तुतः उनकी अनुभूति इतनी प्रखर और दृष्टि इतनी पैनी थी कि बड़ी सहजता से वे हर क्षण का आखेट कर सकते थे। इसका एक कारण उनकी वह भावुकता थी जिसके केन्द्र से वे कभी हटे नहीं और बिना हटे उन्होंने तरह-तरह के अनुभव प्राप्त किये।

जीवनीकार ने एक स्थान पर लिखा है—"यदि मैं चित्रकार होता, तो सत्यनारायण और ऐण्ड्रयूज के हृदयालिंगन का चित्र खींचता और चित्र के नीचे लिखता—पूर्व और पश्चिम का मिलन।" किंतु चित्रकार की तूलिका को जीवनीकार ने मात दे दी है। सत्य यह है कि चतुर्वेदी जी ने शब्द से वह कार्य कर डाला है, जो एक चित्रकार करता।

किन्तु बनारसीदासजी ने जीवनी को केवल रेखाचित्र और संस्मरण का एक लम्बा रूप ही दिया, उसे जीवनी नहीं बनने दिया। उन्होंने कविरत्न के साहित्यिक कृतित्व का सम्यक् विवेचन नहीं किया, न ही उनके जीवन को काफ़ी गहराई से आकलन ही किया। साथ ही उन्होंने प्रारंभ और अन्त में पूरे के पूरे दूसरों के संस्मरण देकर पुस्तक का आकार अवश्य बढ़ा दिया, उनका अच्छा उपयोग नहीं किया। अच्छा तो ये होता कि उन संस्मरणों का कोई परिशिष्ट होता या उन्हें पुस्तकाकार छापा जाता या उनके उत्कृष्ट अंशों का जीवनी में उपयोग किया जाता। इससे पुस्तक शुरू से अन्त तक उतनी उत्कृष्ट नहीं हो पाती, जितनी कि आशा की जानी चाहिए।

पुस्तक का मूल्य कुछ ज्यादा है और प्रूफ़ की साधारण भूलें भी कहीं-कहीं हैं, सम्मेलन मुद्रणालय से इसकी आशा नहीं की जा सकती।

चतुर्वेदी जी की शैली सरल, गंभीर दृष्टि की द्योतक है। उसके ताने-बाने में लेखक की सरलता और कविरत्न का यश बुना हुआ है। उनकी भाषा प्रांजल और सहज बोधगम्य है। यदि कहा जाय तो कहा जा सकता है कि यदि खद्दर से भाषा बनायी जाय—एक सरल भाषा—आम लोगों की भाषा—पवित्र और देर तक टिकनेवाली भाषा— तो वह भाषा चतुर्वेदी जी की होगी।

लेकिन खद्दर की भाषा से सब कुछ नहीं रचा जा सकता। सम्पूर्ण जीवन के लिए कुछ और भी चाहिए। शायद इसीलिए यह जीवनी पसन्द तो की जायगी, किंतु संपूर्णता के परिप्रेक्ष्य में वह कमज़ोर मानी जायगी।

श्रीराम वर्मा
१७।२२, महाजनी टोला, इलाहाबाद

रजिस्ट्रार न्यूज़ पेपर्स ऐक्ट के नियम के अंतर्गत
विज्ञप्ति

१. प्रकाशन का नाम	"हिन्दुस्तानी"
२. प्रकाशन की तिथि	त्रैमासिक (जनवरी, अप्रैल, जुलाई, अक्तूबर)
३. मुद्रक का नाम	सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग
४. राष्ट्रीयता	भारतीय
५. पता	सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग
६. प्रकाशक	विद्या भास्कर, मंत्री तथा कोषाध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
७. राष्ट्रीयता	भारतीय
८. पता	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद
९. सम्पादक का नाम	श्री विद्या भास्कर, प्रबन्ध सम्पादक श्री बालकृष्ण राव, प्रधान सम्पादक डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, सहायक सम्पादक
१०. राष्ट्रीयता	भारतीय
११. पता	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद
१२. स्वामित्व	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

मैं, विद्या भास्कर, मंत्री तथा कोषाध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, घोषित करता हूँ कि उपरिलिखित मेरी जानकारी के अनुसार बिलकुल ठीक है।

विद्या भास्कर
मंत्री तथा कोषाध्यक्ष